गीतिकाव्य का विकास

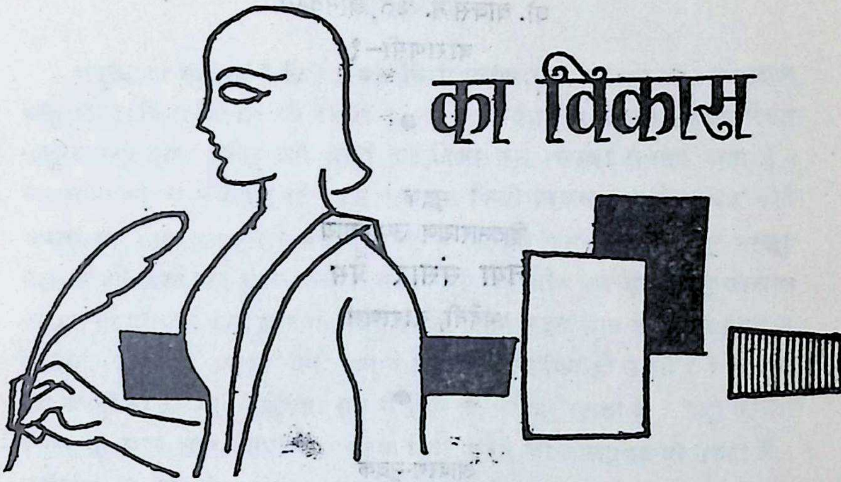
लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'

गीति काव्य का विकास

लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'

गीतिकाव्य का विकास

गीति काव्य



का विकास

पं० लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
ज्ञानवापी वाराणसी–१

प्रकाशक
ओम् प्रकाश बेरी
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पो. बाक्स नं. ७०, ज्ञानवापी
वाराणसी–१

मुद्रक
शिवनारायण उपाध्याय
नया संसार प्रेस
भदैनी, वाराणसी

आवरण-मुद्रक
श्री कृष्णचन्द्र बेरी
विद्यामन्दिर प्रेस (प्रा.) लि.
मानमन्दिर, वाराणसी–१

संस्करण
प्रथम–११००
नवम्बर : १९६१

आवरण-शिल्पी
मनोरंजन कांजिलाल

मूल्य
दस रुपए मात्र

वक्तव्य

मनुष्य का स्वभाव है कि वह जब किसी असाधारण, अद्‌भुत और विलक्षण वस्तु अथवा क्रिया-व्यापार को देखता है, तब वह स्वयं ही उसका आनन्द लेकर सन्तुष्ट नहीं होता अपितु उसे औरों को दिखा कर सच्चा सन्तोष पाता है। अन्तर्जगत् की भी स्थिति इससे भिन्न नहीं है। किसी विषय-वस्तु से सम्बद्ध कोई चमत्कारक भाव जब हमारे मन में आता है तब हम उसके अनुठेपन से उत्पन्न उल्लास को अपने लघु हृदय-पात्र में समेट नहीं पाते और उस अतिरिक्त उल्लास को हम यों ही व्यर्थ जाने देना भी नहीं चाहते। हम तद्वत् भाव दूसरों के हृदय में जगाकर उन्हें भी उसका भागी बनाने के लिये लालायित हो उठते हैं। मानव-मन अपनी-सी ही भाव-ग्राहकता सब में होने की अपेक्षा रखता है। यही कारण है कि वह अपने भाव दूसरों के सम्मुख प्रकट करने को लालायित हो उठता है। मनोलोक वा भावलोक की यह शाश्वत मान्यता है : सच्चा आनन्द संग्रह में नहीं वितरण में है। भावों की सार्थकता उनके प्रकाशन में है, गोपनीयता में नहीं। यहीं साहित्य का जन्म होता है, जहाँ मनुष्य सब के सहित किंवा सबके साथ-साथ आनन्द प्राप्त करना चाहता है।

वह भाव-लोक, जो लोक-सामान्य की उन्मुक्त विहार-भूमि में नहीं आता, जिससे सब के हृदय सीधा सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते, जहाँ कुछ विशिष्ट जन ही प्रवेश पा सकते हैं, साहित्य बाह्य वा साहित्येतर ही कहा जायगा। साहित्य तो सर्व-साधारण के हृदय की विहार-भूमि है। परिस्थिति-विशेष में पड़कर सबके हृदय में वही हर्ष, वही शोक, वही भय, वही विस्मय, वही आशा, वही आकांक्षा, वही करुणा और वही क्रोध उत्पन्न होता है। इष्ट का मिलन सबके लिए काम्य होता है और उसका विरह सबके लिए उद्वेगकर; किन्तु यदि इसके विपरीत कहीं देखा जाय तो उसे अस्वाभाविक ही कहा जायगा। वहाँ कौतुक जाग्रत होगा, संवेदनशीलता नहीं। मानव-सामान्य अनुभूति के मेल में न होने के कारण लोग उसे देख-सुनकर हँसेंगे, तद्भाव-भावित नहीं हो सकते।

गीति का जन्म लोक-सामान्य भाव-भूमि पर होता है। भाव की तीव्रता ही गीति की आत्मा है। वाणी के परिवेश में भाव का अयत्नज उद्‌गार गीति है। गीति को अपने साथ लिए हुए मानव धरती पर उतरा। मानव के साथ मन था और मन के साथ गीतियाँ। जिस मन पर काव्यगीतियों का प्रभाव न पड़े उसे

मानवेतर समझना चाहिए । इसी प्रकार जिस गीति का मानव-सामान्य मन पर प्रभाव न पड़े, उसे गीति के परिधान में होने पर भी समझ लेना चाहिए कि वह काव्य-गीति नहीं है और चाहे जो हो । इसीलिए सहृदय कवि गीति की रस-धारा को विरोधी तत्त्वों से बचाते हुए प्रकृत भाव-भूमि की रक्षा में सतत जागरूक रहते हैं । वहाँ रस से चमत्कार की उत्पत्ति होती है, किन्तु चमत्कार से रस उत्पन्न करने का अप्राकृत और हास्यास्पद प्रयास नहीं होता । रसमयी वाणी अलङ्कारों की अपेक्षा नहीं रखती, उन्हें निमन्त्रण देकर बुलाने नहीं जाती, वे बिना बुलाए ही पीछे हो लेते हैं ।

कुछ लोग भाव के अभाव की पूर्ति अलङ्कारों से करने की चेष्टा करते हैं । इस प्रकार का प्रयास सदैव हास्यास्पद सिद्ध हुआ है । भाव का प्रभाव प्रसरणशील होता है, गतिमान् होता है, आलङ्कारिक चमत्कार में गत्वरता नहीं होती, हृदय को बींधने वा बाँधने की क्षमता नहीं होती । प्रबन्ध काव्य के नीरस वर्णन-बहुल प्रसङ्ग को कवि अलङ्कृति द्वारा सजाकर पाठक के मन को थोड़ी देर के लिए उलझाने का यत्न कर भी सकता है; किन्तु गीतिकाव्य में ऐसे स्थल के लिए सर्वथा अनवकाश होता है । गीतिकाव्य का जन्म मानस की विशुद्ध भाव-भूमि पर हुआ है । यह भाव-भूमि असीम है, अनन्त है । आदिकवि से लेकर आज तक कवि गीतियाँ लिखते जा रहे हैं, किन्तु भाव-भूमि नित्य नूतन दिखाई पड़ती है । एक ही विषय पर और एक ही परिस्थिति में उद्भूत दो समर्थ कवियों के काव्य अपना पृथक्-पृथक् सौन्दर्य और अपनी पृथक्-पृथक् प्रभाव-भमि रखते हैं ।

जब पूर्ववर्ती कवियों से लाभ उठाते हुए भी परवर्ती कवि अपने अभिव्यक्ति-प्रकार की नूतनता सर्वथा सुरक्षित रखते चलते हैं, तब काव्य-क्षेत्र में स्वस्थ विकसनशील परम्परा का निर्माण होता चलता है । भाव-प्रकाशन के माध्यम का स्वरूप-परिवर्तन होते चलने पर भी परम्परा अक्षत और अक्षुण्ण रहती है : इसी का नाम विकास है । इसी परिप्रेक्ष्य में मैंने भारतीय गीतिकाव्य के विकास का अध्ययन प्रस्तुत किया है । इस अध्ययन-क्रम में वैदिक और लौकिक गीतियों का स्वरूप-भेद भी स्पष्ट होता गया है और समाज, देश तथा काल की पृष्ठभूमि में उनका स्वरूप-परीक्षण होता गया है ।

महर्षि वाल्मीकि से लेकर महाकवि भास और पाणिनि तक का काल 'अन्धकार युग' ही कहा जायगा जब कि उस अन्तराल में किसी गीतिकाव्य के अस्तित्व का पता ही नहीं चलता । किन्तु आगे यह विकास-परम्परा हमें अटूट क्रम से आज तक मिलती आ रही है । पूर्ववर्ती और परवर्ती कवियों की गीतियों का तुलनात्मक अध्ययन भी होता गया है । हमने देखा है, संस्कृत काल तथा प्राकृतकाल के-

कवियों ने बड़े ही मनोरम लाक्षणिक प्रयोगों, वक्रव्यापारशालिनी उक्तियों, और चित्र-विधायिनी भाषा के आदर्श उपस्थित किए हैं। संस्कृत-साहित्य में भी एक समय ऐसा आया था जब कवि काव्य की आत्मा से हटकर उसके शरीर के लिए चित्र-विचित्र शृंगार-प्रसाधन एकत्र करने में दत्तचित्त हो गए थे; किन्तु यह अच्छा हुआ कि वह फ़ैशन-परस्ती प्रबन्धकाव्य तक ही सीमित रही। गीति काव्य में भाव-पक्ष की उपेक्षा कभी नहीं हुई। हिन्दी-साहित्य में ठीक इसके विपरीत हुआ। भक्तिकाल के कतिपय मुक्तककारों में वह प्रवृत्ति यत्र-तत्र परिलक्षित होती है, किन्तु रीतिकाल के मुक्तककार तो प्रायः चमत्कार के आगे भावसृष्टि की ओर आत्मीयता की दृष्टि उठाना ही अनावश्यक समझने लगे। चमत्कार ही काव्य का सर्वस्व समझा जाने लगा। इसका प्रधान कारण तो था लक्षण ग्रन्थ के नियमों के निर्वाह को ही कवि-कर्म की इतिश्री मान लेना। कवि अपने अन्तःकरण के प्राधान्य के प्रति अविश्वासी हो चले थे। कवि जब अपने अनुभूत भावों के मोती काव्य-माला में गूँथता है, तभी काव्य की सच्ची श्रीवृद्धि होती है। गुण-दोष, अलङ्कार-चमत्कार, रस-रीति की शास्त्रीय परिभाषा पर दृष्टि गड़ाकर लिखा गया काव्य गीतिकाव्य नहीं होगा और चाहे जो हो। जहाँ कवि का अन्तःकरण अपने सहज उद्भूत भावों को भाषा का शरीर देता है, वहीं गीति-तत्त्व मिलता है।

यह गीति-तत्त्व बहुत दिनों बाद हिन्दी के छायावादी कवियों की कृतियों में उतरा। पहले तो अपरिचय के कारण कुछ लोग उसे देखकर झिझके, किन्तु धीरे-धीरे उसके वास्तविक स्वरूप से परिचित होने पर उसका हृदय खोलकर चारों ओर से स्वागत होने लगा। हिन्दी में एक सर्वथा नवीन युग की प्रतिष्ठा हुई। फिर मानव-सामान्य रुचि की कसौटी की मान्यता के स्थान पर संसार के कतिपय समृद्ध साहित्यों में रुचि विशेष के आदर्श पर बल दिए जाने से, समीक्षा के क्षेत्र में भी नए-नए सम्प्रदाय खड़े हो गए और फिर कवि कभी इधर फुदकने लगा, कभी उधर। ऐसे विचार-संघर्ष के युग में गीतिकाव्य फिर उपेक्षित हुआ; किन्तु प्रतिभाशाली कवि गीतिकाव्य के शाश्वत स्वरूप को तब भी नहीं भूल सके हैं और आज भी उत्तमोत्तम काव्यगीतियों का सर्जन हो रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक में कतिपय वैदिक गीतियों के स्वरूप को समझने के पश्चात् संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी साहित्य के गीतिकाव्य का क्रमिक विकास दिखाया गया है। इस प्रकार गीतिकाव्य के कई सहस्र वर्षों का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत और प्राकृत के बहुत से कवि ऐसे हैं जिनकी गीतियों के स्वतन्त्र संग्रह-ग्रन्थ नहीं मिलते, उनकी गीतियाँ या तो लक्षण ग्रन्थों में विवेचनार्थ

उद्धृत मिलती हैं, या किसी प्राचीन सङ्कलन-ग्रन्थ में संगृहीत। बहुत सी ऐसी गीतियाँ भी मिलती हैं जिनके रचयिता का पता ही नहीं। कुछ कवि ऐसे भी हैं, जिनके काव्य-ग्रन्थों के नामों का तो पता चलता है, किन्तु वे ग्रन्थ नहीं मिलते। उन नामों के साथ उनकी गीतियाँ लक्षण-ग्रन्थों में उद्धृत मिलती हैं। मैंने जहाँ-जहाँ ऐसी गीतियाँ दी हैं, वहाँ-वहाँ उन लक्षण ग्रन्थों का स्थल-निर्देश भी पाद-टिप्पणी में दे दिया है। यदि किसी पूर्ववर्ती कवि से कोई परवर्ती कवि कहीं लाभान्वित हुआ है, तो वहाँ भी मैंने उसे दिखाने का यत्न किया है। संस्कृत में महाकवि कालिदास ने अपने परवर्ती गीतिकाव्य को जितना प्रभावित किया उतना किसी अन्य कवि ने नहीं। इसी प्रकार मैंने देखा कि प्राचीन प्राकृत-गाथाओं के संग्रह 'वज्जालग्ग'से परवर्ती अपभ्रंश तथा हिन्दी के पुराने कवि जितने प्रभावित हुए उतने और किसी से नहीं। इसकी बहुत सी गाथाएँ लक्षण-ग्रन्थों में उद्धृत मिलती हैं। अपभ्रंश भाषा के काव्य 'सन्देशरासक' में तो वज्जालग्ग की गाथाओं के पद-के-पद ज्यों-के-त्यों ले लिए गए हैं। कबीर की बहुत-सी साखियाँ गाथाओं की रूपान्तर मात्र हैं। रहीम, तुलसीदास, बिहारीलाल के अनेक दोहे गाथाओं से स्पष्ट प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। मैंने उन स्थानों पर इसकी ओर निर्देश भी कर दिया है। इसी प्रकार 'चौरपञ्चाशिका' का भी परवर्ती कवियों की रचनाओं, पर कम प्रभाव नहीं है। प्राकृत की बहुत-सी गाथाएँ स्वानुभूतिपरक गीतियाँ हैं उन पर लक्षण-ग्रन्थों के शासन का कोई चिह्न दिखाई नहीं पड़ता, और उनका विषय प्रायः ध्वन्यात्मभूत शृङ्गार ही है। गाथा-संग्रहों में बहुत सी गाथाएँ कवयित्रियों द्वारा रचित हैं। मैंने कवयित्रियों के प्रकरण में प्राकृत और संस्कृत की प्रसिद्ध कवयित्रियों का उल्लेख किया है और उनके नाम से प्राप्त कतिपय गीतियाँ भी दी हैं।

आज हिन्दी के अनेक लेखक और समालोचक छायावाद युगीन काव्य की विशेषताएँ गिनाते हुए बड़े गर्व से कहते हैं कि इस युग में ही कवि-व्यक्तित्व को बन्धन से मुक्ति मिली; अर्थात् इस युग में आकर कवि खुलकर अपने हृदय के हर्ष-शोक, आशा-आकांक्षा, भूख-प्यास आदि को काव्य-रूप देने में समर्थ हुआ, इसके पूर्व परोक्षानुभूति के रूप में ही कवि कुछ कह सकता था। गीति काव्य के दीर्घकालीन इतिहास पर दृष्टि डालने से उनकी यह भ्रान्ति दूर हो जायगी। प्रतिभाशाली कवि स्वानुभूतिपरक गीतियाँ लिखने से कभी विरत नहीं हुए। हिन्दी के रीतिकाल में जब कवि-जन राधा-कृष्ण के ही नाम पर अपने मन का बुखार उतार रहे थे और अपने व्यक्तित्व को सामने लाने में हिचकते थे, उसी समय संस्कृत के महाकवि पण्डितराज जगन्नाथ ऐसी स्वानुभूतिपरक गीतियाँ देने में नहीं हिचके—

उपनिषदः परिपीता गीताऽपि हा हन्त मतिपथं नीता ।
तदपि न सा विधुवदना मानससदनाद्बहिर्याति ।।
——भामिनीविलास

इस दीर्घ कालावधि में गीतिकाव्य के क्षेत्र में न जाने कितने प्रयोग और परीक्षण हुए, भावाभिव्यञ्जन के न जाने कितने प्रकार अपनाए गए, यह पूरे गीतिकाव्य के इतिहास के देखे जाने पर ही जाना जा सकता है । किसी-किसी नवीन विचित्र प्रयोग का संकेत प्राचीन लक्षण-ग्रन्थों में स्पष्ट मिलता है । मैंने तत्तत् स्थलों पर उन पर विचार करने का यत्न किया है ।

हिन्दी पाठकों को ध्यान में रखकर मैंने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश एवं पुरानी हिन्दी की गीतियों के अर्थ हिन्दी में दे दिए हैं । विषय-भेद और अभिव्यक्ति-प्रकार-भेद के अनुसार गीतियों का वर्गीकरण किया गया है । प्राचीन कवियों का पूरा-पूरा जीवनवृत्त उपलब्ध सामग्री के आधार पर देने का यत्न किया गया है । गीतियों के विकास-क्रम के शोध में उपलब्ध गीतिकाव्यों, लक्षण-ग्रन्थों और नाटकों का विशेष रूप से अध्ययन किया गया है । आधुनिक गीतिकाव्य के अन्तर्बाह्य स्वरूप के अध्ययन के लिए प्राच्य और पाश्चात्य गीतिकाव्य की उन विशेषताओं की खोज-बीन की गई है जिनकी पृष्ठभूमि पर इन गीतियों का अवतरण हुआ । कतिपय प्रमुख गीतिकारों के काव्य में प्राप्य गीतितत्त्व पर संक्षेप में विचार-विमर्श किया गया है ।

भारतीय गीतिकाव्य की इस दीर्घकालीन परम्परा पर आनुक्रमिक अध्ययन प्रस्तुत करने वाला कोई ग्रन्थ अद्यावधि हिन्दी-साहित्य में मुझे देखने को नहीं मिला । इसीलिए यह शोधपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करने का मैंने प्रयास किया है । आशा है, इस ग्रन्थ से विद्वानों को परितोष और अध्ययनार्थियों को यत्किञ्चित् सम्बल मिलेगा ।

विनीत
'प्रवासी'

मानमन्दिर,
वाराणसी

विजयादशमी ८,२०१८.

विषयानुक्रम

विषय

—x—

विकास-भूमिका

सुख और दुःख की अनुभूति मानव वा जीवमात्र की सहज सहचरी है। इसकी अभिव्यक्ति के माध्यम अनेक हैं। अनुभूति की अभिव्यक्ति को चिरस्थायी रूप मिलता है वाणी द्वारा। वाणी अभिव्यक्ति का वह माध्यम है जिसके द्वारा अभिव्यंक्ता से चाक्षुष सम्बन्ध न होने पर भी भाव-लोक में हम उससे अभेद-सम्बन्ध स्थापित करने में सफल हो जाते हैं। जिस प्रकार शरीराङ्गों में मुख को श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है उसी प्रकार अङ्ग-धर्मों में वाणी को श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। बृहदारण्यक उपनिषत् में यज्ञिय अश्व के रूपकात्मक अङ्ग-वर्णन में अन्य अङ्गों के साथ उपमानों की तद्रूपता स्थापित की गई है किन्तु प्रथम मन्त्र के अन्त में वाणी उपमान और उपमेय दोनों ही बनकर अपनी अनन्वयता द्वारा सर्वोत्कृष्टता का भी परिचय दे रही है—

"उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः।......... वागेवास्य वाक्।"

(ब्रा० १, मं० १।)

मानव की आदि उपलब्ध वाणी 'वेद' है। किन्तु वेद में भाव-प्रकाशन गौण और विचार-प्रकाशन मुख्य है। अर्थात् मानव जब आचार्य वा गुरु-पद पर प्रतिष्ठित हो चुका था, यह उसकी उस समय की वाणी है। वह कहीं परमात्म-शक्तियों से निवेदन करता है और कहीं शिष्य-मण्डली को उपदेश-दान करता है। अपने निवेद्य और आदेश दोनों को विशेष प्रभविष्णु बनाने के लिए ही उसने छन्द का आश्रय लिया है, इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह के लिए अवकाश नहीं है। वेद का दूसरा नाम छन्द भी है। विश्व-विश्रुत वैयाकरण महर्षि पाणिनि ने वेद को प्रायः 'छन्द' नाम से ही अभिहित किया है।[1] वेद छन्दोबहुल रचना है, किन्तु वैदिक छन्द लौकिक छन्दों से सर्वथा भिन्न हैं, वहाँ लौकिक छन्दों की भाँति कठोर नियम नहीं हैं। वहाँ भी छन्दों के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं, इन प्रकारों के नाम भी संहिताओं में पाए जाते हैं। शुक्ल यजुर्वेद संहिता में वेद के प्रमुख सभी छन्दों का उल्लेख मिलता है और द्विपद, त्रिपद,

---

१. हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च छन्दसि ॥ २।४।२८॥ छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् ॥३।२।२७॥ अष्टा०, वैदिकी प्रक्रिया।

चतुष्पद, षट्पद आदि प्रकारों का भी संकेत किया गया है ।[1] साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वैदिक मन्त्र गेय हैं अर्थात् वे गीत-बद्ध हैं, मन्त्रों के आरम्भ में उनके स्वरों का भी निर्देश पाया जाता है । वेदज्ञ के लिए मन्त्रों में आए छन्दों और उनके स्वरूपों से परिचित होना नितान्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है ।

वेद मन्त्र-द्रष्टा कवियों के गीत हैं । इन आत्मज्ञ कवियों के पूर्वरचित लोक-गीत और लोक-कवियों की रचनाएँ, जो मौखिक रूप में जनता के बीच अवश्य ही चलती रही होंगी, आज उपलब्ध नहीं हैं । किन्तु इस अनुमित सत्य के प्रति संदेह करने का कोई कारण नहीं है कि मानव स्वानुभूत सुख-दुःख का प्रकाशन वाणी के माध्यम से अपनी मुग्धावस्था में अवश्य करता रहा होगा । यदि कोकिल, चातक आदि के गान और मयूरादि का उल्लासपूर्ण नृत्य सहज-सिद्ध है तो उस मानव का सुख-दुःखात्मक गान और नृत्य सहज-सिद्ध क्यों नहीं होगा, जो सृष्टि का सर्वाधिक भावुक प्राणी है । जिस मानव ने धीरे-धीरे स्वरों के स्वरूप और भिन्न-भिन्न प्राणियों की वाणी में उनका अवस्थान तक खोज निकाला, वह अवश्य ही प्रकृत्या मूलतः गायक रहा होगा ।[2] वैदिक काल में भी गान के दो प्रमुख प्रकार पाये जाते हैं, (क) ग्राम गान, और (ख) अरण्य गान । यह ग्राम गान लोक-गीत का ही पूर्वरूप है । यों तो ऋक्, यजुः के मन्त्र भी छन्दः प्रधान हैं, जैसा कि पाणिनीय शिक्षा कहती है कि छन्द वेद के चरण हैं[3] (इनके बिना वह चल ही नहीं सकता), किन्तु संगीत का पूर्ण विकास सामवेद में ही दिखाई पड़ता है, जैसा कि

---

१. गायत्रीत्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप्पङ्क्त्या सह ।
बृहत्युष्णिहा ककुप्सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ॥
द्विपदा याश्चतुष्पदास्त्रिपदा याश्च षट्पदाः ।
विच्छन्दा याश्च सच्छन्दाः सूचिभिः शम्यन्तु त्वा ॥
—शु० यजु० उत्तरार्द्ध, अध्याय २३, मं० ३३–३४ ।

२. षड्जो वेदे शिखण्डिः स्यादृषभः स्यादजामुखे ।
गावा रम्भन्ति गान्धारं क्रौञ्चाश्चैव तु मध्यमम् ॥
कोकिलः पञ्चमो ज्ञेयो निषादं तु वदेद्गजः ।
अश्वश्च धैवतो ज्ञेयः, स्वराः सप्त विधीयते ॥ —याज्ञवल्क्य-शिक्षा

३. छन्दः पादौ तु वेदस्य...... ॥ —पाणिनीय शिक्षा, श्लोक ४ ।

'साम' शब्द से ही प्रकट है, जिसका रूढ़ अर्थ ही 'गान' है। यह गान प्रत्येक मानवात्मा में परिव्याप्त है। भगवान् कृष्ण ने गीता में अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए वेदों में अपने को 'सामवेद' बताया।[1] गीत की महत्ता का प्रतिपादन इसी से हो जाता है। सर्वदर्शन संग्रह में ऋक् को पद्य, यजुः को गद्य और साम को संगीत कहा है।[2]

हृदय के उल्लास वा विषाद की तीव्रावस्था में गीत का प्रादुर्भाव होता है, इसीलिए गीतकार अपने गीत के माध्यम से अपनी अनुभूति की तीव्रता श्रोता और गायक के हृदय में सहज ही उतार देने में सफल होता है। न केवल प्रत्यक्षानुभूति की अभिव्यक्ति अपितु परोक्षानुभूति की अभिव्यक्ति द्वारा भी रस-सिद्ध कवि श्रोता और गायक को अनुभूति की उसी तीव्र दशा में पहुँचा देता है; हाँ, उस अनुभूति का लोकानुभूति होना आवश्यक है, अलौकिक अनुभूति साधारणीकरण के अभाव में लोक-हृदय को आकृष्ट करने में असमर्थ होती है। वेद लोक-हृदय के निकट की वस्तु नहीं, इसीलिए उसे रहस्य भी कहा गया है और लोक-सामान्य असमर्थता को भली भाँति समझ कर ही सबके वहाँ तक पहुँचने के यत्न का निषेध भी पूर्वाचार्यों ने किया है। आदि काव्य वाल्मीकीय रामायण लोकानुभूति की भूमि पर रचित है, इसे भी गीत-काव्य कहा गया है। कुश और लव ने इसे जब राम की राज-सभा में ललित कण्ठ से गाकर सुनाया था, उस समय सभा में उपस्थित सारी जनता की आँखों से आँसू की निर्झरियाँ अनिरुद्ध भाव से प्रवाहित हो चली थीं। इस लोकानुभूति की अभिव्यक्ति को पढ़ने और सुनने का अधिकार इसीलिए मानव मात्र को मिला। वेद और इतर वैदिक वाङ्मय की भाँति इसे कभी रहस्य नहीं कहा गया। अतः लोकानुभूति-प्रकाशक गीति का काव्य-लक्षण ही यह हुआ कि जो मानवमात्र के हृदय को अपनी ओर उसी भाँति आकृष्ट करने में समर्थ हो जैसे चुम्बक लोहे को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। यह तो छन्दोबद्ध काव्य मात्र की गेयता की बात हुई। किन्तु आगे चलकर गीतिकाव्य का एक विशेष प्रकार माना गया, जिसमें अल्पकालाश्रयी तीव्र भाव की अभिव्यक्ति

---

१. वेदानां सामवेदोऽस्मि''''''॥ —गीता, अ० १०, श्लो० २२।

२. वैदिकाश्च द्विविधा प्रगीता अप्रगीताश्च। तत्र प्रगीताः सामानि। अप्रगीताश्च द्विविधाः। छन्दोबद्धास्तद्विलक्षणाश्च। तत्र प्रथमा ऋचः। द्वितीया यजूंषि।
—सर्वदर्शन संग्रह, पाञ्जल दर्शन, ५३।

हो। इस अल्पकालाश्रयण की परिधि धीरे-धीरे सिमटती गई, पर साथ ही उसकी गेयता अक्षुएण रही। इस प्रकार गीतिकाव्य के विकास का एक अपना इतिहास है।

संस्कृत भाषा के गीति-काव्य

भावातिरेक ही गीति का जीवन है। इसमें वस्तुतत्त्व नगण्य होता है, भावतत्व ही गीतिकाव्य के रोम-रोम में आत्मा की भाँति परिव्याप्त होता है। यह नहीं भूलना चाहिए कि भाव-प्राधान्य के साथ गेयता इसका अपरिहार्य तत्त्व है। गेयता को दृष्टि में रखकर मुक्तक काव्य के दो भेद कर दिये गए, (१) वाच्य मुक्तक और (२) गीत मुक्तक। कविता-कामिनी-विलास कालिदास का मेघदूत ही ऐसा प्रथम काव्य है, जिसे गीतिकाव्य की संज्ञा दी गई है। उसमें कथांश अत्यल्प है और वेदना-विह्वल हृदय के अश्रुसिक्त भावों का उद्घाटन ही कवि का मुख्य लक्ष्य रहा है। इसके साथ ही मन्दाक्रान्ता की गीतात्मकता ने मिलकर उसे गीतिकाव्य के पद पर प्रतिष्ठित किया है। यक्ष जब अपनी पराधीनता को अपनी वेदना का कारण बताता हुआ, संसार में अपने को सबसे अधिक दुखी होने की बात कहता है, तब उससे पत्थर को भी पिघलाने की शक्ति उद्गीर्ण होती दिखाई पड़ती है।[1] यक्ष विश्व के प्रत्येक पदार्थ को भावना-विभोर देखता है, अपने तीव्र भाव की चरमावस्था में। जब वह यह कहता है—

> त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
> मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
> अस्रैस्तावन् मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
> क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः॥
>
> उत्तरमेघ, ४४

तब सचमुच ही 'अपि ग्रावा रोदिति–अपि दलति वज्रस्य हृदयम्' (पाषाण-खण्ड रो उठते हैं और वज्र का हृदय भी विदीर्ण हो उठता है)। मेघदूत इसीलिए एक सफल गीति काव्य है, क्योंकि उसमें मानव-हृदय के सुख-दुःखात्मक भावों की ही सफल अभिव्यक्ति हुई है। 'मेघदूत' के पश्चात् उसके अनुकरण पर लिखे गए संस्कृत के प्रायः आठ सन्देश-काव्य मेरे दृष्टि-

---

१. न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः।—पू० मे०, ८।

पथ में आ चुके हैं, किन्तु प्रत्यक्षानुभूति की वह तीव्रता उनमें से एक में भी नहीं है और न उनमें गीति-तत्त्व का वैसा मसृण निर्वाह ही हुआ है। यों तो काव्य-मार्ग अनेक हैं और सबका अपना माधुर्य होता है, उनमें परस्पर माधुर्यगत जो अन्तर होता है उसे विश्लिष्ट करके कहना बड़ा कठिन है और आचार्य दण्डी का तो कहना है कि ईख, दूध, गुड़ आदि के माधुर्यों के अन्तर के ही समान काव्य में विविध मार्गों का परस्पर भेद बताना स्वयं सरस्वती के लिए भी असम्भव है क्योंकि प्रत्येक की मधुरिमा अनन्त होती है—

इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्य्यस्यान्तरं महत्।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्याऽपि शक्यते॥

—काव्यादर्श, परि० १, १०२।

तथापि कालिदास के श्रव्य काव्यों में मेघदूत को देश और विदेश में जो आदर प्राप्त हुआ, वह उनके महाकाव्यों को भी न मिल सका। इससे यह तो सिद्ध किया जा सकता है कि गीतिकाव्य में मनोमुग्धकारिणी शक्ति सर्वाधिक है। किन्तु आगे चलकर जब हम हिन्दी-युग में पहुँचते हैं तब देखते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरित-मानस' को जो आदर प्राप्त हुआ वह न तो उनके गीति-काव्य को प्राप्त हुआ और किसी अन्य श्रेष्ठ गीतकार के ही गीतों को नसीब हो सका। अतः यही कहा जायगा कि काव्य-मार्गों के माधुर्य में भेद करना कठिन ही नहीं असम्भव भी है।

''मेघदूत' एक कल्पित यक्ष का हृदयोद्गार है, किन्तु उसके माध्यम से कवि स्वयं अपनी अनुभूतियों को ही शब्द-चित्रों में अङ्कित करता दिखाई पड़ता है, क्योंकि कथा-प्रबन्ध के लिए उस युग में वही शैली मान्य थी। परोक्षानुभूति का जन-मानस पर अलौकिक प्रभाव पड़ता है, काव्य के इसी अलौकिकत्व की रक्षा के लिए प्राचीनों ने अपने व्यक्तित्व को कल्पित वा ऐतिहासिक कथानक के अवगुण्ठन में छिपा रखना ही उचित समझा था। प्रत्यक्ष किंवा परिचित जन के भावोद्गार उतने प्रभविष्णु नहीं होते, जितने परोक्ष के। इसी से हम देखते हैं कि सच्चे महाकवियों की कृतियाँ ज्यों-ज्यों समय बीतता है अधिकाधिक आदर पाती जाती हैं और जो साधारण कवि होते हैं उनकी रचनाएँ समय के अन्धकार में तदाकार होकर अदृश्य हो जाती हैं। कहने का तात्पर्य केवल यह है कि परोक्षाख्यान का आश्रयण लेने का यह अर्थ नहीं होता कि कवि की उसमें प्रत्यक्षानुभूति होती ही नहीं। और सच तो यह है कि प्रत्यक्षानुभूति किंवा परोक्षानुभूति प्रकाशन-भूमि को बदल कर

छिपाई नहीं जा सकती। यदि कवि की व्यक्तिगत अनुभूति से व्यक्त भाव का सीधा सम्बन्ध नहीं है तो श्रोता वा पाठक पर उसका मार्मिक प्रभाव कदापि नहीं पड़ सकता। उलटे कवि पाठकों के उपहास का भाजन बन जायगा।[1] अतः यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि रस-विदग्ध कवि परोक्षानुभूति को भी प्रत्यक्षानुभूति के ही रूप में सफलतापूर्वक अङ्कित करता है।

मेघदूत के पश्चात् दूसरा प्रमुख गीति-काव्य जयदेव का 'गीतगोविन्द' ही मिलता है। इनकी स्थिति बारहवीं शताब्दी मानी जाती है। ये प्रमुख रूप से शृंगार रस के कवि हैं, इन्होंने अपने काव्यारम्भ में ही काव्य सुनने की शर्त सुनाकर शङ्का के लिए अवकाश ही नहीं रखा—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो 'यदि विलासकलासु कुतूहलम्।'
मधुर कोमलकान्त पदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥१।३॥

इन्होंने प्रत्येक गीत के राग और ताल की भी सूचना पहले ही दे दी है, इससे पता चलता है कि ये संगीत के प्रकाण्ड पण्डित भी थे। जयदेव की वाणी का आश्रय पाकर गीतिकाव्य सचमुच ही सार्थक हो गया है। इनकी गीतियों की भाषा में वैदर्भी रीति साकार उतर आई है। भाव और भाषा का इतना कर्ण-मनोहर मणिकाञ्चन संयोग बहुत कम देखा जाता है। इनकी गीतियाँ श्रोता और पाठक को एक दूसरे लोक में पहुँचा देती हैं, जहाँ केवल 'आनन्द' की ही सत्ता है। यही गीतिकाव्य की सार्थकता है। जब ये कहते हैं—

विहरति हरिरिह सरस वसन्ते।
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते॥
उन्मद मदनमनोरथ-पथिक - वधूजनजनितविलापे।
अलिकुलसंकुल-कुसुम-समूह-निराकुल-वकुल-कलापे॥
—गी० गो०, सर्ग १।४।

अथवा—

संचरदधर-सुधा-मधुरध्वनि-मुखरित - मोहन-वंशम्।
चलित-दृगंचल-चंचल-मौलि-कपोल-विलोलवतंसम्॥

---

१. अवधानातिशयवान् रसे तत्रैव सत्कविः।
भवेत्तस्मिन्प्रमादो हि झटित्येवोपलक्ष्यते॥
—ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, २९।

रासे हरिमिह विहितविलासम्।
स्मरति मनोममकृतपरिहासम्॥

चन्द्रकचारुमयूरशिखण्डकमण्डलवलयित-केशम्।
प्रचुर-पुरन्दर-धनुरनुरञ्जित-मेदुर-मुदिर सुवेशम्॥
—गी० गो०, स० २, गी० ५।

तब काव्य और संगीत-कला मिलकर अर्द्धनारीश्वर की भाँति प्रत्यक्ष होकर श्रोता की आत्म-सत्ता को अपने में मिला लेते हैं। एक गीतिकाव्यकार में वही शक्ति अपेक्षित है जो महाकवि जयदेव में थी। यहाँ 'वागर्थ' वस्तुतः सम्पृक्त हो गए हैं। गीतिकार तो सहस्रों मिल सकते हैं किन्तु गीतिकाव्यकार दो-चार ही मिल पाते हैं।

हिन्दी में गीतिकाव्य का अवतरण

जयदेव के पश्चात् हिन्दी-साहित्य का निर्माण वेग से होने लगा था। हिन्दी के स्वच्छन्दचेता भावुक गीतिकार कवि-जन जयदेव से आदर्श ग्रहण करने लगे थे। शृंगार-प्रधान गीतियाँ जो साहित्य की कोटि में आती हैं, लोक-जीवन में सदा से चली आती रही हैं। सिद्धों और योगियों में भी गीत रचे जाते रहे, किन्तु उनका क्षेत्र भाव-क्षेत्र से पृथक् ही रहा। जयदेव के पश्चात् साहित्यिक गीतिकार के रूप में विद्यापति ही दिखाई पड़ते हैं, जिनका संस्कृत, अपभ्रंश और लोक-भाषा तीनों पर पूर्ण अधिकार था। गीतों की रचना इन्होंने मैथिली बोली में की है, जो हिन्दी का ही एक रूप है। इनका जन्म सं० १३७० के आसपास माना जाता है। अतः इनका काव्य-रचना-काल चौदहवीं शताब्दी का अन्तिम समय तथा पन्द्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है। जिस प्रकार जयदेव को उनकी गीतियों के माधुर्य्य के कारण 'पीयूष-वर्ष' की संज्ञा प्रदान की गई,[1] उसी प्रकार विद्यापति को उनकी गीतियों के माधुर्य्य के परिणाम-स्वरूप 'मैथिल कोकिल' का विशेषण प्राप्त हुआ। इनकी काव्य-माधुरी के ही कारण इन्हें 'अभिनव जयदेव', 'कवि-शेखर' आदि उपाधियाँ काव्य-रसिकों द्वारा प्राप्त हुईं।

---

१. कतिपय विद्वान् प्रसिद्ध अलङ्कार-ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' के रचयिता को 'पीयूषवर्ष' मानते हैं। पीटर्सन महोदय ने इनके एक काव्य-ग्रन्थ 'सीताविहार' का उल्लेख किया है, किन्तु वह कहीं मिलता नहीं।—लेखक

विद्यापति के गीतों का संग्रह 'पदावली' नाम से विभिन्न विद्वानों ने किया है। इनके पदों के लालित्य और भावों की हृदयहारिता पर मुग्ध होकर बँगला भाषा के विद्वानों ने इनके बंगाली होने का बराबर आग्रह किया है। अब जाकर वह आग्रह अवश्य कुछ ढीला पड़ गया है। श्री विमानविहारी मजूमदार ने तो यह सिद्ध करने का प्रबल दुराग्रह किया है कि बँगला के कवि रंजन वैद्य ही 'विद्यापति' थे। वास्तव में विद्यापति के गीतों का माधुर्य्य ही ऐसा है कि वे सबके अपने हो गए हैं। विद्यापति ने संस्कृत और प्राकृत साहित्य के पूर्ववर्ती श्रृंगारी कवियों से—जैसे हाल, अमरुक, गोवर्द्धन, कालिदास आदि से—भाव लिए हैं और श्रव्यकाव्य के भावों को गीतिकाव्य का नूतन रूप दिया है। प्राचीन भावों के वन में उन्होंने वसन्त ला दिया है। आचार्य आनन्दवर्द्धन की यह उक्ति ही उनके विषय में यथार्थ सिद्ध होती है—

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥
—ध्वन्यालोक, उद्योत ४। ४

प्राचीन एक श्लोक को लेकर विद्यापति ने उसे किस प्रकार गीति में पल्लवित करके ढाला है, दर्शनीय है। श्लोक है—

धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि
विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु,
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि॥—विज्जका

मुग्धा नायिका नीवी-बन्ध पर प्रियतम के हाथ लगाते ही इस प्रकार आत्म-विस्मृता हो जाती है कि उसके पश्चात् किए गए पति के कृत्यों का उसे किञ्चिन्मात्र भी स्मरण नहीं रहता। विद्यापति की नायिका भी अपनी सखी से शपथपूर्वक कहती है—

कि कहब हे सखि आजु क विचार।
से सुपुरुष मोर कएल सिंगार।
हँसि-हँसि पहु आलिंगन देल।
मनमथ अंकुर कुसुमित भेल।
आँचर परसि पयोधर हेर।
जनम पंगु जनि भेंटल सुमेर।

जब निवि बंध खसाओल कान।
तोहर सपथ हम किछु यदि जान।
रति चिन्हे जानल कठिन मुरारि।
तोहर पुने जीअलि हम नारि।
कह कवि रंजन सहज मधुराई।
न कह सुधा मुखि तोर चतुराई।।

—वि० प०, सखी-संभाषण, ९५

पूर्ववर्ती कवि के भावाधार पर विद्यापति ने एक शृङ्गार-लोक की रचना कर दी है, जो गीतियों में ढलकर और भी चमक उठा है।

गीतिकार जयदेव का प्रभाव परवर्ती हिन्दी के सभी शृङ्गारी कवियों पर पड़ा है। विद्यापति तो उस महान् गीतिकार से सर्वाधिक प्रभावित हैं। गीतिकार होने तथा एक क्षेत्रीयता के नाते दोनों में विशेष भावसाम्य दिखाई पड़ता है। विद्यापति ने आलङ्कारिक कौशल का प्रयोग विशेष किया है, जयदेव में कामशास्त्र का अनुवर्तन और पद-लालित्य विशेष है। खंडिता नायिका-परक दोनों की भावैकता का एक उद्धरण देना अयुक्त न होगा। जयदेव की खंडिता की उक्ति है—

रजनि-जनित-गुरु-जागरराग-कषायितमलसनिमेषम्।
वहति नयनमनुरागमिव स्फुटमुदितरसाभिनिवेशम्।।
हरि-हरि याहि माधव याहि केशव मा वद कैतववादम्।
तामनुसर सरसीरुहलोचन या तव हरति विषादम्।।१।।
कज्जलमलिन विलोचन-चुम्बन-विरचित-नीलिमरूपम्।
दशनवसनमरुणं तव कृष्ण तनोति तनोरनुरूपम्।।२।।
वपुरनुहरति तव स्मरसंगर-खरनखरक्षतरेखम्।
मरकतशकलकलित-कलधौतलिपेरिव रतिजयलेखम्।।३।।
चरणकमलगलदलक्तकसिक्तमिदं तव हृदयमुदारम्।
दर्शयतीव बहिर्मदनद्रुम नव किसलय परिवारम्।।४।।
दशनपदं भवदधरगतं मम जनयति चेतसि खेदम्।
कथयति कथमधुनाऽपि मया सह तव वपुरेतदभेदम्।।५।।
बहिरिव मलिनतरं तव कृष्ण मनोऽपि भविष्यति नूनम्।
कथमथ वंचयसे जनमनुगतमसमशर-ज्वर-दूनम्।।६।।

गी०, स० ८, अष्ट० १७।

विद्यापति की राधा खण्डितावस्था में कृष्ण से कहती है—

आध आध मुदित भेल दुहु लोचन
　　बचन बोलत आध आधे।
रति आलस सामन तनु झामर
　　हेरि पुरल मोर साधे।
माधव चल चल चल तिहि ठाम
जसु पद-जावक हृदय क भूषन
　　अबहु जपत तसु नाम।
कत चन्दन कत मृगमद कुंकुम
　　तुअ कपोल रहु लागि।
देखि सौति अनुरूप कएल बिहि
　　अतए मानिए बहु भागि॥

विद्यापति-पदावली, १३५।

भाव-भूमि दोनों गीतिकारों की एक ही है, केवल अधीरा-धीरा नायिकाओं का अन्तर है। विद्यापति का भाव-लालित्य यहाँ व्यंग्योक्ति में है। 'हेरि पुरल मोर साधे' और 'मानिए बहुभागि' में जो व्यञ्जना है, वही उत्तम काव्य का जीवन है। गीति-काव्य लोक-जीवन का प्रमुख अङ्ग बनकर आदिकाल से चला आ रहा है। देशी बोलियों में उसकी रचना का नैरन्तर्य बराबर बना रहा। सूरदास के प्रथम लिखित समृद्ध गीति-साहित्य को देखकर इस बात की पुष्टि भलीभाँति हो जाती है। आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—

"यह रचना (सूरसागर) इतनी प्रगल्भ और काव्याङ्गपूर्ण है कि आगे होने वाले कवियों की शृङ्गार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठी सी जान पड़ती हैं। अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीतकाव्य-परम्परा का चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।"[1]

आचार्य-प्रवर का यह अनुमान पूर्ण सत्य है। सूरसागर जयदेव और विद्यापति के गीतिकाव्य का ही विकसित रूप है। लोक-जीवन से सम्बद्ध वैयक्तिक अनुभूतियों का उद्‌घाटन करनेवाले लोक कवियों के गीत किसी सुरक्षित आश्रय के अभाव में काल-गह्वर में तिरोहित होते जाते हैं और

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० २००, संशोधित और प्रवर्द्धित संस्करण।

सुरक्षित लिखित साहित्य को देखकर हम अनुमान द्वारा ही उन तक पहुँचकर उनकी कल्पना कर लिया करते हैं। प्राचीन काल में लोक-भाषा में जो लोक-गीत प्रस्तुत किये गए, संस्कृतज्ञ विद्वज्जनों द्वारा उनकी उपेक्षा की गई, इसी कारण आज वैसी गीतियाँ अलभ्य हैं। दण्डी ने, जिनका काल सातवीं शताब्दी अनुमित किया जाता है, व्यवहार में और काव्य में अपभ्रंश किसे कहा जाता जाता है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—

आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः।
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम्॥
—काव्यादर्श, १, ३६।

आभीरादि लोक-कवियों की रचनाओं को अपभ्रंश कहा जाता था और शास्त्र में संस्कृत से भिन्न सभी भाषाओं की रचनाओं को 'अपभ्रंश' की संज्ञा प्रदान की जाती थी। इन भाषाओं की रचना-पद्धतियाँ भी भिन्न-भिन्न थीं। संस्कृत की रचना सर्गबद्ध महाकाव्य और खण्ड काव्य के रूप में, प्राकृत की 'स्कन्धक' आदि में और अपभ्रंश की 'आसार' आदि में—

संस्कृतं सर्गबन्धादि प्राकृतं स्कन्धकादिकम्।
आसारादीन्यपभ्रंशो नाटकादि तु मिश्रकम्॥
—काव्यादर्श, परि० १, ३७।

अनेक विद्वानों का कथन है कि अपभ्रंश भाषा में निबद्ध काव्य का नाम 'कडवक' होता था और उनके अपने विविध छन्द भी थे—

अपभ्रंश-निबद्धेऽस्मिन्सर्गाः कुडवकाभिधाः।
तथाऽपभ्रंशयोग्यानि छन्दांसि विविधानि च॥
—सा० द०, ६।३२७।

इन विविध छन्दों में 'गीति' भी अवश्य ही रही होगी, जिनका परिष्कृत रूप बाद में संस्कृत में भी गृहीत हुआ। गीत और कथा (कहानी) दो ऐसी वस्तुएँ है, जिनका सम्बन्ध मानव-जाति से अति प्राचीन वा आदि काल से चला आ रहा है, उसके बहुत पहले से जब कि सर्गबद्ध काव्य से मानव-जाति का प्रथम परिचय हुआ। ये जनता के पारिवारिक वा वैयक्तिक जीवन से सम्बद्ध थीं, अतः इन्होंने पारिवारिक घरेलू भाषा में ही आकार ग्रहण किया। इस घरेलू भाषा या लोक-भाषा को ही अपभ्रंश की संज्ञा मिली। पाणिनि के अष्टा-ध्यायी सूत्रों के भाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने भी, जिनका उद्भव दण्डी से शता-

ब्दियों पहले हुआ था, अपने महाभाष्य में अपभ्रंश भाषा का उल्लेख किया है। उन्होंने अपभ्रंश की अनेक शाखाओं की स्थिति का संकेत किया है—

"तत्र गौरित्यस्य गावी गोणी गोपोतलिकेत्येवमादयो बहवोऽपभ्रंशाः।"

—पातञ्जल महाभाष्य

इस अपभ्रंश भाषा वा जन-भाषा का पहला नाम 'प्राकृत' ही रहा होगा, जैसा कि विद्वज्जन उसकी व्याख्या करते हैं, "प्राकृतानामिदम् प्राकृतम्" किंवा "प्राकृतानामसंस्कृतानां भाषा प्राकृतभाषा।" अतः यह सिद्ध है कि जैसे गीति का सम्बन्ध लोक-जीवन से था उसी प्रकार ये लोक-जीवन से सम्बद्ध भाषा में लिखे गए। लोक-भाषा के काव्य में गृहीत होने के कारण ही हिन्दी-साहित्य में गीति-काव्य का विपुल वैभव आ सका। गीतियाँ वैयक्तिक जीवन से सम्बन्ध रखती हैं, अतः इनका परिग्रहण वैयक्तिकता से सम्बद्ध काव्य-भूमि में ही हुआ, प्रबन्ध में नहीं। इस युग में आकर प्रबन्ध काव्य में भी जो गीतियों से काम लेने का बलात् यत्न किया जा रहा है, वह गीति की प्रकृति की अनभिज्ञता का ही परिणाम कहा जायगा, क्योंकि गीति के सहस्राब्दियों के संस्कार को छुड़ाकर प्रबन्ध में घसीटकर हम उनके संस्कार-निष्पन्न स्वभाव को नहीं बदल सकते। हम देखते हैं कि किसी भी समर्थ कवि ने अपने प्रबन्ध में जहाँ गीतियों से काम लिया है वहाँ उसके प्रबन्धत्व को आघात पहुँचा है। गीतियाँ स्वच्छन्दता से खुलकर खेलनेवाली होती हैं, उन्हें शृंखला में बाँधा नहीं जा सकता।

हिन्दी-गीतियों का विकास

पहले कहा जा चुका है कि गीतियाँ लोक-जीवन का अञ्चल पकड़े निरन्तर चला करती हैं। हिन्दी भाषा के उद्भव के साथ ही गीतियाँ भी उसमें ढलने लगीं। प्रारम्भ में उनका संबन्ध लोक-जीवन से ही था और लोक-कवियों द्वारा वे धीरे-धीरे उन्नति के शिखर पर पहुँच चुकी थीं। 'सूरसागर' जैसा प्रथम समृद्ध गीति-सागर देखकर हमारा प्रत्यय दृढ़ हो जाता है, यह सोचकर कि इसकी पृष्ठ-भूमि में अवश्य ही वह प्रभूत गीति-काव्य रहा होगा जिसने इस सर्वाङ्गपूर्ण गीतिकाव्य के उद्भव को सम्भव किया। 'सूरसागर' रसों, भावों, रीतियों नायिका-भेदों, अलङ्कारों, व्यञ्जनाओं आदि का यथार्थतः सिन्धु ही है।

हिन्दी-गीति का सबसे लिखितरूप जो प्राचीन उपलब्ध है, वह अमीर खुसरो द्वारा रचित है। उनकी गीतियों के भाव यह बताते हैं कि ये ही वे गीतियाँ

हैं जो जनता के बीच विचरण करती रही हैं। इसका पता जनता के बीच बहुत पहले से चले आते हुए लोक-गीतों से चल जाता है, जिनमें वियोग-वेदना और करुणा की प्रधानता होती है और जो गायक वा श्रोता को कठोर कर्म-जगत् से दूर पहुँचा दिया करते हैं। सभी प्रान्तों के ग्रामीण नारी-समाज में ऐसे गीतों का प्रचलन अब भी है। पं० रामनरेश त्रिपाठी द्वारा सङ्कलित ग्राम-गीतों में यह देखा जा सकता है। वे गीत अथवा गेय काव्य जो जनता की जिह्वा पर ही लिखे जाते हैं, समयानुसार भाषा के स्वरूप को बदलते रहते हैं, इसका प्रस्तुत प्रमाण 'जगनिक' कवि का 'आल्हा' या 'आल्ह खंड' है, जिसकी भाषा का एक ही समय में स्थानानुसार भिन्न-भिन्न रूप आज भी देखा जा सकता है। हाँ, भाव तो ज्यों-का-त्यों मिलेगा। खुसरो के गीतों की भाषा भले ही बदल गई हो, पर लोक-गीतों के भाव अब भी उनमें हैं। उदाहरण-'स्वरूप एक गीति लीजिए—

मोरा जोबना नवेलरा भयो है गुलाल।
कैसे गर दीनो बकस मोरी माल॥

सूनी सेज डरावन लागे, बिरहा-अगिन मोहि डस-डस जाय।

ऐसे असंख्य गीत आज भी लोक-जीवन में प्रचलित हैं। फाग, चैता, कजली और स्त्रियों के विविध कार्य-क्षेत्रों के गीतों में हमें ऐसे ही भाव मिलते हैं। धार्मिक विविध अवसरों के गीत अपनी कुछ अलग ही विशेषता रखते हैं।

जयदेव और विद्यापति की गीतियाँ लोकगीतों की भूमि से पृथक् अपनी भूमि रखती हैं, जिसका सम्बन्ध शिक्षित समुदाय के साहित्य से है। उनकी गीतियाँ आत्माभिव्यञ्जक न होकर राधा और कृष्ण को ही आलम्बन बनाकर चली हैं। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य में आलम्बन के विचार से गीतियों की दो धाराएँ पृथक्-पृथक् देखने में आती हैं। पहली है आत्माभिव्यञ्जक वा स्वानुभूतिपरक और दूसरी पराभिव्यञ्जक वा परोक्षानुभूतिपरक। इसे स्पष्ट करने के लिए अच्छा यह होगा कि हम दोनों को पृथक्-पृथक् रखकर उनके विकास पर विचार करें। स्वानुभूतिपरक गीति-पद्धति के विकास पर हम बाद में विचार करेंगे, क्योंकि वही पद्धति सम्प्रति हिन्दी-साहित्य में प्रचलित है। परोक्षानुभूतिपरक गीतियाँ अब बहुत कुछ अतीत की वस्तु बन चुकी हैं

———

विकास-भूमि का विस्तार

परोक्षानुभूतिपरक गीति-पद्धति

'काव्य' आदिकाल से व्यंग्यार्थपरक उक्ति को कहा गया है। चाहे उसे कोई 'सगुणशब्दार्थ' कहे, चाहे 'रसात्मकवाक्य' किंवा 'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द', किंतु सबके कथन का मूल भाव यही है कि विशिष्ट आनन्दानुभूति को जगानेवाले अर्थ की व्यञ्जना जिस उक्ति से हो वही काव्य कहा जायगा। अर्थात् काव्य की नींव ही व्यंग्य माना गया है, सीधी उक्ति वा कथन नहीं। इसीलिए कवि सदा अपने को परोक्ष में रखकर अपने मनोनीत पात्र द्वारा अपने भावों का प्रकाशन करता रहा। इसीलिए एक ही कथा-वस्तु को लेकर काव्य-रचना करनेवाले विभिन्न कवियों द्वारा रचित काव्यों में हम विभिन्न अनुभूतियों और विभिन्न विचारों की अभिव्यक्ति पाते हैं। परोक्षानुभूतिपरक काव्य में हम इसी विचार का समर्थन पाते हैं। दूसरे के हृदय में पहुँच कर जो व्यक्ति उसकी सुख-दुःखात्मक भावनाओं के साथ आत्मीयता स्थापित कर सकता है वही सच्चा कवि हो सकता है, अपने सुख-दुःख में तो सभी हँस-रो लेते हैं, आततायी और परपीड़क भी अपने पुत्रादि के कष्ट से दुखी देखे जाते हैं। अतः सच्चे कवि की पहचान के लिए परोक्षानुभूति के सफल एवं प्रभविष्णु अङ्कन को ही प्रमाण माना गया।

लोक-गीतों में भी यही बात पाई जाती है। माता, पिता, सखी और चिरपरिचित भू-भाग तक से विवाहिता कन्या का वियोग, पति वा प्रियतम से पत्नी वा प्रेयसी का वियोग, बटोही, पक्षी, बादल, पवन आदि द्वारा प्रिय वा प्रेयसी के सन्देश, प्रिय के परदेश से लौट आने पर फिर उसे कभी न छोड़ने की भावना, पुत्र के वियोग में माता की वेदना आदि विषय दुःखात्मक लोक-गीतियों के विषय हैं। पुत्र-जन्म, यज्ञोपवीत, विवाह, आदि पर्व और उत्सव के समय गाए जानेवाले गीत जीवन की सुखात्मक अनुभूतियों के गीत हैं। इन सभी भावों की रचनाएँ हमें शिक्षितों के साहित्य में भी मिल जाती हैं, किन्तु गीतियाँ अपने सौरस्य में कुछ विशिष्ट बाँकपन लिए होती हैं। प्राकृत और अपभ्रंश भाषा में लिखी जो शृङ्गारपरक स्फुट कविताएँ पाई जाती हैं, उनमें

ग्रामगीतों के लालित्य की छाया स्पष्ट देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए अपभ्रंश वा पुरानी हिन्दी का एक दोहा लीजिए—

पिय हउं थक्किय सयलु दिणु तुह बिरहग्गि किलंत।
थोडइ जल जिम मच्छलिय तल्लोविल्लि करंत॥
—सोमप्रभसूरि

एक मैथिली ग्रामगीत में विरहिणी आकाश में उमड़ते बादलों को देखकर कहती हैं—

आयल कारी-कारी रे घन गरिजय बादल।
थर-थर काँपय काँपय रे सखि उर अब हारी॥
बिसरल-बिसरल सुधि सब रे मोहि तेजल मुरारी,
लहरल-लहरल मोहि अब रे बिरहा अगियारी।
पहुँ मोरा सखि कित छाजय रे मोहि करिके भिखारी,
बाँचत-बाँचत प्रान नहिं रे दुख भेल अब भारी॥
—मैथिली लोकगीत

पुरानी कविता में जो व्यथित विहरिणी का चित्र है, वही बड़े स्वाभाविक ढंग से ग्रामगीत में उतारा गया है। एक दूसरे गीत में राधा और कृष्ण को आलम्बन बनाया गया है, विरहिणी राधा का जीवन भार हो उठा है, वह अपनी वेदना स्वयं प्रकट करती हुई कहती है—

सादर सयन कदम तर हो पथ हेरउँ मुरारी,
हरि बिनु झाँझरि भेलहुँ हो मायर भेल भारी।
पूजल केस के बान्हत तो के देत सँभारी ?
नयनहिं काजर दहायल हो, जीवन भेल भारी।
जाहु ऊधो मधुपुर हो हुनकहि परिचारी,
चन्द्रकला नहि जीवत हो बध लागत भारी॥ —वही।

भानुभट्ट विरहिणी नायिका का जो चित्र उपस्थित करते हैं, वह इस ग्रामगीत के भाव से कितना साम्य रखता है, द्रष्टव्य है—

प्रादुर्भूते नवजलधरे त्वत्पथं द्रष्टुकामाः
प्राणा पंकेरुहदलदृशः कण्ठदेशं प्रयान्ति।
अन्यत्किं वा तव मुखविधुं द्रष्टुमुड्डीय गन्तुं
वक्षः पक्षं सृजति बिसिनीपल्लवस्यच्छलेन॥
—रसमञ्जरी।

यहाँ भी प्राण कण्ठदेश में आ रहे हैं, नायिका राह देख रही है, दर्शन की उद्दाम लालसा है, किन्तु ग्रामगीत की-सी रस-वृष्टि यहाँ नहीं है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ग्रामगीतों में भी बहुधा परानुभूतिपरक चित्र ही उपस्थित किये गए हैं, किन्तु रस-धारा में पाठक के निमज्जन में ईषन्मात्र भी कमी नहीं आने पाती। साहित्य के क्षेत्र में आने पर परोक्षानुभूतिपरक रचनाकारों में प्रमुखरूप में विद्यापति, सूरदास, तुलसीदास, अष्टछाप के कतिपय अन्य कवि, सत्यनारायण 'कविरत्न', भारतेन्दु' आदि ही दिखाई पड़ते हैं। इन कवियों के गीतों में प्रमुखतया राधा-कृष्ण और सीता-राम आलम्बन हैं, शृंगार के क्षेत्र में और अन्य क्षेत्रों में प्रायः राम और कृष्ण ही आलम्बन हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा ने एक स्थान पर निर्वैयक्तिक भावनापरक रचनाओं की प्रभविष्णुता पर अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया है—

"वास्तव में गीत के कवि को आर्त क्रन्दन के पीछे छिपे दुःखातिरेक को दीर्घ निश्वास में छिपे हुए संयम से बाँधना होगा तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उसी भाव का उद्रेक करने में सफल हो सकेगा। गीत यदि दूसरे का इतिहास न कहकर वैयक्तिक सुख-दुःख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है इसमें सन्देह नहीं। मीरा के हृदय में बैठी हुई नारी और विरहिणी के लिए भावातिरेक सहज प्राप्य था, उसके बाह्य राजरानीपन और आन्तरिक साधना में संयम के लिए पर्याप्त अवकाश था। इसके अतिरिक्त वेदना भी आत्मानुभूति थी, अतः उसका 'हेली मैं तो प्रेम दिवानी मेरा दरद न जाने कोय' सुनकर यदि हमारे हृदय का तार-तार उसी ध्वनि को दोहराने लगता है, रोम-रोम उसकी वेदना का स्पर्श कर लेता है तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं।"[1]

आत्मानुभूति का सम्बन्ध कवि-हृदय से सीधा होता है, उसमें अधिक सचाई की अपेक्षा की जाती है। यदि कवि के मर्म-भेदी भाव वाणी से सीधे अकृत्रिम रूप में उतर सकें तो उसकी मर्मस्पर्शिता के प्रति सन्देह के लिए अवकाश ही नहीं रहता। किन्तु एक बात ध्यान देने की है, हमारे यहाँ जिस ग्रन्थ को आदिकाव्य माना गया उसमें कवि के आत्माख्यान की प्रस्तुति नहीं है। कहने वाला दूसरे के जीवन-चरित को अपनी वाणी देता है, और जब दो बालक उस रचना को अपने मधुर कण्ठ से गाकर सुनाने लगते हैं तब भाव-

१. यामा, अपनी बात, पृ० ७।

नाओं द्वारा परिचालित सामान्य जनों की बात ही क्या, जितात्मा ऋषि-जनों की आँखों से भी आँसू की वर्षा होने लगती है।[1] आज भी रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि की कथाएँ अशिक्षित जनता भी आत्मविस्मृत भाव से घण्टों सुनती रहती है। किसी की अपनी जीवन-कथा सुनने के लिए जन-समूह में यह औत्सुक्य कभी नहीं दिखाई पड़ा। वाल्मीकि के पूर्व भावमयी वचन-रचनाएँ प्रस्तुत नहीं रही होंगी, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु उनकी जैसी महती कृति तब तक नहीं आ सकी थी, इसमें सन्देह नहीं। परोक्षानुभूतिपरक काव्य सामूहिक रूप से जन-मन पर प्रभाव डालता है, इसका कारण काव्य-नायक की विशिष्टता होती है, अतः उसके कार्य सार्वलौकिक अनुभूति के विषय सहज ही हो जाते हैं, किन्तु किसी सामान्यजन के भावों में बहु-हृदय-स्पर्शिनी शक्ति नहीं भी हो सकती है। यदि यह कहें कि भारतीय समाज में आदर्श और मर्यादा की दृष्टि से विशिष्ट जन के विशिष्ट भावों और कार्यों का भावपूर्ण वर्णन परोक्षानुभूति के रूप में अङ्कित करना ही 'काव्य' माना गया था, तो इसमें चकित होने की कोई बात नहीं है। आदर्श और मर्यादा के उल्लंघन को प्रोत्साहन देने वाली रचनाओं को काव्य में भी पहले के आचार्यों ने स्थान नहीं दिया था, क्योंकि मर्यादा-भङ्ग से समाज-भङ्ग और समाज-भङ्ग से मानवता के ही विनाश का भय था। धीरे-धीरे काव्य में अमर्यादित बातें भी घुसने लगी थीं, किन्तु उन्हें लोक-नायक भगवान् के ही माध्यम से उपस्थित करने का साहस कविजन कर सके, अन्यथा विद्वत्समाज में कोलाहल मच जाने का भय था। परानुभूति को स्वानुभूति में परिणत कर लेने की क्षमता रखने वाला ही वाणीपुत्र 'कवि' कहलाने का अधिकारी माना जायगा, यह शर्त अवश्य लगा दी गई थी और यही कवि की कसौटी मानी गई। आचार्य आनन्दवर्धन ने तारस्वर से ऐसी घोषणा की थी—

---

१. ऋषीणां च द्विजातीनां साधूनाञ्च समागमे।
यथोपदेशं तत्त्वज्ञौ जगतुस्तौ समाहितौ ॥
महात्मानौ महाभागौ सर्व-लक्षण-लक्षितौ।
तौ कदाचित्समेतानामृषीणां भावितात्मनाम् ॥
आसीनानां समीपस्थाविदं काव्यमगायताम्।
तच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे वाष्पपर्याकुलेक्षणाः ॥
साधु साध्विति तावूचुः परं विस्मयमागताः।
ते प्रीतमनसः सर्वेमुनयोधर्मवत्सलाः ॥
—वाल्मी०, बा० कां०, स० ४।१३,१४,१५।१६

२

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
कौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ।।
—ध्वन्यालोक, उद्योत १, श्लो० ५ ।

यदि कोई मुक्तगीत के रूप में ऐसी स्फुट रचनाएँ प्रस्तुत भी करता था तो विद्वद्वर्ग द्वारा राधा-कृष्ण को नायक और नायिका के रूप में आक्षिप्त कर लिया जाता था ।

हिन्दी-साहित्य में विद्यापति का उल्लेख पहले हो चुका है । उन्होंने तो जयदेव के 'राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः'[1] के आदर्श पर पहले ही कह दिया—

नन्द क नन्दन कदम क तरु-तर
धिरे-धिरे मुरलि बजाव,
समय सँकेत निकेतन बइसल
बेरि बेरि बोलि पठाव ।[2]

विद्यापति और जयदेव की ही गीति-परम्परा को अपने मार्ग के अनुकूल समझकर सूरदास आदि कृष्ण-भक्तों ने भी अपनाया । वे ही राधा और कृष्ण काव्य के आलम्बन बने । पुष्टिमार्गी भक्तों के काव्य में एक विशेषता और दृष्टिगोचर हुई, जो जयदेव और विद्यापति में नहीं दिखाई पड़ी थी, वह थी, निर्गुणमार्ग का विरोध । कृष्ण के लीलारूप को ही अपनाकर उसी के भीतर निर्गुण के परिहास की भी मनोहारिणी भूमि निकाल ली गई, उद्धव-सन्देश के व्याज से । उद्धव को दूत बनाकर उनके प्रति विरहिणी व्रजाङ्गनाओं की व्यंग्योक्तियों द्वारा कृष्णकाव्य में एक नूतन चमत्कार आ गया और सूर-सागर में 'भ्रमरगीत' अंश शेष सम्पूर्ण काव्य से अधिक चमक उठा । निर्गुणियों की अटपटी बानियों में उलझे हुए जनता के हृदय को मुक्ति के साथ-ही-साथ अलौकिक आनन्द भी उपलब्ध हुआ । यों तो निर्गुण सम्प्रदाय के कतिपय भक्तों ने भी लोक के शृङ्गारी पक्ष के माध्यम से अलौकिक प्रेम (?) की ओर संकेत करनेवाले गेय पद लिखे थे, पर उनमें लोक-हृदय को रस-मग्न करने की क्षमता नहीं थी । कुछ चमत्कार-प्रियता और कुछ गान-प्रियता ने ही कतिपय अशिक्षित जनों को खँजड़ी पर ताल लगाने के लिए बाध्य किया, हृदय की सहज आकर्षण-वृत्ति ने नहीं । यह तो आज भी गाँवों में यत्र-तत्र

१. गी० गो०, मङ्गलाचरण ।
२. विद्यापति-पदावली, वन्दना १ ।

निम्नवर्ग में देखा जा सकता हैं। स्वकीय भौतिक जीवन के दुःखमय होने के कारण परोक्ष-जगत् की अबूझ बातें भी उन्हें कुछ क्षणों के लिए अपनी ओर खींचती ही हैं। व्रज के कवियों की प्रेमलक्षणा भक्ति से उद्भूत गीतों ने समग्र हिन्दू जनता को अपनी ओर खींच लिया। इसमें सन्देह नहीं कि व्रज के कवियों से पहले सूफी कवियों के रहस्यात्मक प्रेमपरक आख्यान-काव्यों की ओर जनता सामन्यतया आकृष्ट हो चली थी, व्रजगीतों के माधुर्य्य ने उन्हें अपनी ओर खींच लिया। रहस्यवादी काव्यों का आकर्षण उनका रहस्यात्मक वा परोक्षसत्ता के प्रति प्रेम नहीं था, अपितु उनका आकर्षण आख्यान मात्र था, जो हिन्दू-घरों में जाने कब से चला आ रहा था। लोक-भाषा ने भी उस आकर्षण को बढ़ाने में पर्याप्त योग दिया। जन-हृदय को उधर से फेरने के लिए व्रज-कवियों ने गीत को ही विशेष उपयुक्त समझा, क्योंकि गीत और आख्यान दो ही ऐसी वस्तुएँ हैं, जिनका मानव-हृदय से बहुत बचपन से साथ है। इनमें गीत का स्थान आख्यान वा कहानी से कहीं ऊँचा और महत्त्व का है।

प्रेम-लक्षणा भक्ति के प्रचार के लिए कृष्ण के जीवन का जो अंश ग्राह्य हो सकता था, वह था केवल बाल-लीला और प्रेम-लीला सम्बन्धी। मानव-जीवन में इन दोनों ही का सर्वमान्य महत्त्व है। कृष्ण-जीवन के ये दोनों अंश पूर्णतया सूर के गीतों में उतर आए। इसीलिए सूर का प्रकाश अन्य कृष्ण-भक्त कवियों की अपेक्षा अधिक लोकव्यापी हुआ। सूर को वह रस-विदग्धता और वाणी का वरदान प्राप्त था कि उनकी कविता में कहीं ऐसा नहीं प्रतीत होता कि कवि के काव्य में परोक्षानुभूति का अङ्कन हो रहा है। सूर स्वयं यथास्थान यशोदा, कृष्ण, राधा और व्रज-गोपिकाओं के रूप में ही गीत रचते प्रतीत होते हैं। यों तो कितने ही ऐसे कवि हैं जो स्वानुभूति के प्रकाशन द्वारा भी मीरा और घनानन्द की कौन कहे; देव, पद्माकर, मतिराम, ठाकुर और रसखान की भाव-प्रवणता तक भी नहीं पहुँच पाते। सूरदास का बाल-लीला का एक पद लीजिए—

"मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ ?।
मो सों कहत मोल को लीनो तोहि जसुमति कब जायौ ?॥
कहा कहौं इहि रिस के मारे खेलन हौं नहिं जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तेरो तात ?
गोरे नन्द, जसोदा गोरी, तू कत श्यामल गात ?

चुटकी दै वै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुस्कात।
तू मोहीं को मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।"[१]

इन पंक्तियों को पढ़कर कौन सहृदय कह सकता है कि ये बातें बालक कृष्ण के मुख से निकली नहीं हैं? एक गोपी उद्धव से क्या कह रही है? देखिए गोपी स्वयं कह रही है अथवा और कोई उसकी कहानी सुना रहा है। हाँ, एकाग्रता तो आवश्यक है ही—

ऊधौ हम आजु भई बड़भागी।
जिन अँखियन तुम स्याम बिलोके, ते अँखियाँ हम लागीं॥
जैसे सुमन बास लै आवत, पवन मधुप अनुरागी।
अति आनन्द होत है तैसे, अंग-अंग सुख रागी।
ज्यौं दरपन में दरस देखियत, दृष्टि परम रुचि लागी।
तैसें सूर मिले हरि हमकौं, बिरह-बिथा तन-त्यागी॥[२]

श्याम को जिन आँखों ने देखा है, उन आँखों को देखकर श्याम के मिलन का अनुभव करना साधारण प्रेमिका के बूते की बात नहीं है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कृष्ण की लीला का गान करके सूरदास ने जो रस की धारा प्रवाहित कर दी, उसकी कोई तुलना हिन्दी-सहित्य में नहीं मिलती। परानुभूति को स्वानुभूति में बदल देना महाकवि का ही कार्य है, साधारण कवि का नहीं।

सूरदास के अनन्तर परोक्षानुभूतिपरक प्रमुख गीतिकार के रूप में तुलसीदास ही हमारी दृष्टि को खींचते हैं। महात्मा सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास ने भी स्वानुभूतिपरक गीत प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत किए हैं, उनका उल्लेख हम आगे करेंगे, यहाँ परोक्षानुभूति का ही प्रसङ्ग है। तुलसीदास जी ने परोक्षानुभूतिपरक दो गीतिकाव्य लिखे हैं, एक है 'गीतावली' या 'रामगीतावली' और दूसरी है 'कृष्ण-गीतावली'। तुलसीदास जी की सबसे बड़ी विशेषता लोक-जीवन के विविध पक्षों में उनके हृदय की रमणशीलता है। वे न केवल माता, पिता, प्रिय परिजनों के प्रेम-सौहार्द का चित्रण करते हैं अपितु अपरिचित नर-नारियों के हृदय में भी पहुँचने की उनमें पूरी-पूरी क्षमता विद्यमान है। राम, सीता और लक्ष्मण को गाँव की राह निकलते देख ग्राम-नारियों की

१. सूर सागर, दशम स्कंध, पद-संख्या ८३३।
२. सूरसागर, द० स्कं०, पद-संख्या ४१५०।

सहज उत्सुकता का पता गोस्वामी जी जैसे भाव-मूर्ति महाकवि के अतिरिक्त और किसे लग सकता है ? यहाँ उनकी दृष्टि राम, सीता और लक्ष्मण पर ही केन्द्रित न रहकर उनके प्रभाव-क्षेत्र तक जा पहुँचती है। तीन अतिशय सुन्दर बटोहियों को, जिनमें एक स्त्री भी है, देखने की नारियों में जो सहज ललक होती है उसे गोस्वामी जी ने शब्दों के चलचित्र में उतारकर रख दिया है—

तू देखि देखि री ! पथिक परम सुन्दर दोऊ।
मरकत-कलधौत-बरन, काम कोटि कांतिहरन,
चरन-कमल कोमल अति, राजकुँवर कोऊ॥
कर सर-धनु कटि निषंग, मुनिपट सोहैं सुभग अंग,
संग चन्द्रबदनि बधू, सुन्दरि सुठि सोऊ॥
तापस बर वेष किए, सोभा सब लूटि लिए,
चित के चोर, बय किसोर, लोचन भरि जोऊ॥[1]

गीति की गति ग्राम-नारियों के हृदय की उच्छल भाव-लहरियों को सहृदय के अन्तश्चक्षु से सम्मुख मूर्तिमती कर देती है। भाषा का वैशद्य कवि-हृदय की प्रसन्नता को प्रकट कर रहा है। यह है हर्ष का चित्र। एक करुण चित्र भी देखिए—

जननी निरखति बान धनुहियाँ।
बार-बार उर-नैननि लावति प्रभुजू की ललित पनहियाँ॥
कबहुँ प्रथम ज्यों जाइ जगावति कहि प्रिय बचन सबारे।
उठहु तात ! बलि मातु बदन पर, अनुज सखा सब द्वारे।
कबहुँ कहति यों "बड़ी बार भइ जाहु भूप पहँ भैया।
बन्धु बोलि जेंइय जो भावै गई निछावरि मैया॥"
कबहुँ जानि बन-गमन राम को रहि थकि चित्र-लिखी सी।
तुलसीदास वह समय कहे तें लागति प्रीति सिखी-सी॥[2]

सचमुच सुत-वत्सला माता का हृदय वाणी में उतर आया है। राम-चरित-मानस में कौसल्या माता का ऐसा करुणोत्पादक चित्र कहीं नहीं आ सका है। यहाँ माता के दैन्य, उन्माद, स्मृति, जड़ता से पूर्ण चित्र इतना हृदय-द्रावक है कि सहृदय का हृदय ही अनुभव कर सकता है। इसी से तुलसीदास की

---

१. गीतावली, अयोध्याकाण्ड, १६।
२. गीता०, अयो० कां०, ५२।

गीतियाँ लोक-जीवन को कितना प्रभावित कर सकी हैं और कर रही हैं, यह उत्तर-प्रदेश के पूर्वाञ्चल के जनपदों से परिचित प्रत्येक व्यक्ति जानता है।

गोस्वामी जी लोक-जीवन के हर-एक रग-रेशे से परिचित थे। लोक-जीवन के भीतर जाकर उन्होंने पूरी सहृदयता से उसका अनुभव किया था, इसीलिए उसकी प्रत्येक छोटी-बड़ी आवश्यकता से भी वे परिचित थे। हिन्दू-संस्कृति और धर्म को अधःपात से रोकने के लिए उन्होंने जन-जीवन को राममय बना देने को ही सबसे उपयुक्त उपाय निश्चित किया। संस्कृत के पूर्ववर्ती कवियों ने महापुरुषों के जीवन का अङ्कन करते समय विभिन्न महत्त्वपूर्ण अवसरों पर महत्त्व के सांस्कृतिक मङ्गलमय आयोजनों में वैदिक और लौकिक कृत्यों की सूचना तो दी है किन्तु उनका विवृत स्वरूप उपस्थित नहीं किया है, वैसा करने के लिए उन्हें प्रबन्ध काव्यों में स्यात् अवकाश और अवसर भी नहीं था। वे उनका नामोल्लेख मात्र करके आगे बढ़े। उन्होंने यह तो बताया कि माङ्गलिक अवसरों पर बड़े उत्साह के साथ गन्धर्व और स्त्रियाँ गीत गाया करती थीं, किन्तु वे गीत कौन-से थे, इसे जानने का आज अनुमान के अतिरिक्त अन्य कोई लिखित प्रमाण नहीं उपलब्ध है। महर्षि वाल्मीकि ने राम जन्म पर कहा —

"........................। राज्ञः पुत्रा महात्मानश्चत्वारो जज्ञिरे पृथक्॥
गुणवन्तोऽनुरूपाश्च रुच्याप्रोष्ठपदोपमाः।
जगुः कलञ्च गन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणः॥
रथ्याश्च जनसंबाधा नटनर्तकसंकुलाः।
गायनैश्च विराविण्यो वादनैश्च तथापरैः॥'[1]

विद्वत्समाज में तो संस्कृत के महान् कवियों की रचनाओं का भी गीति के रूप में उपयोग हो जाता है; जैसा कि आज भी हमें यदा-कदा देखने को मिल जाता है किन्तु सांस्कृतिक पर्वोत्सव तथा अन्य अवसरों पर जिस प्रकार आज लोक-गीतों का व्यवहार होता है, वैसा पहले भी होता रहा होगा, किन्तु उन गीतों का मूलरूप आज अलभ्य है। व्यास ने कृष्ण-जन्म पर भी ऐसे गीतों का उल्लेख श्रीमद्भागवत में किया है। कालिदास ने भी अपने ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न उपयुक्त अवसरों पर इसका उल्लेख किया है। 'रघुवंश' महाकाव्य में रघु के जन्म के अवसर पर वे कहते हैं—

१. वाल्मी० रा०, बा० का०, सर्ग १८।

न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि ॥[1]

रघु की दिग्विजय-यात्रा के अवसर पर—

इक्षुच्छाय-निषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् ।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥[2]

मेघदूत में अनेक स्थलों पर ऐसे गीतों के गान का उल्लेख है । एकाध स्थल देखिए—

"सङ्गीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगंभीरघोषम् ।"[3]
"उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां,
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चिद्
भूयोभूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥"[4]

कहीं 'गेय' के स्थान पर 'गीत' पाठ मिलता है । इस प्रकार शिक्षितवर्ग के साहित्य से पता चलता है कि गीतियों की रचना लोक में काव्य से बहुत पुरानी है । बहुत सी गीतियाँ तो भाषा का परिधान बदलती हुई आज तक चली आ रही हैं, ऐसा स्वतः प्रतीत होता है । जैसे हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण में आए अपभ्रंश के कतिपय दोहों का अब बिल्कुल ही आधुनिकीकरण हो गया है, मुख-परम्परा द्वारा—

वायसु उड्डावन्तिअए, पिउ दिट्ठउ सहसत्ति ।
अद्धा बलया महिहि गय, अद्धा फुट्ट तड़त्ति ॥
—हैमप्राकृत–व्याकरण ८।४।३५२

भाषा की परिवर्तनशील धारा में पड़कर आज राजपूताने में इस दोहे का यह रूप हो गया है—

काग उड़ावण जाँवती, पिय दीठो सहसत्ति ।
आधी चूड़ी काग गल, आधी टूट तड़ित्ति ॥

भाव-व्यञ्जना तो वही अपभ्रंशकालीन कवियों की ही है, किन्तु भाषा का पूरा काया-कल्प हो गया है । अतः मनोयोग से यदि ग्रामगीतों का अध्ययन किया

१. रघुवंश, सर्ग ३। ४ ।
२. रघुवंश, सर्ग ४। २० ।
३. उत्तर मेघ, १ ।
४. उत्तर मेघ, २६ ।

जाय तो कतिपय गीतों में काव्य की प्राकृत और अपभ्रंशकालीन छाया स्पष्ट पाई जा सकेगी। भिन्न-भिन्न उद्यानशोभी वृक्षों के, नारियों की विभिन्न क्रियाओं द्वारा, विकसित होने की जो प्राचीन कवि-प्रौढ़ोक्ति संस्कृत साहित्य में पाई जाती है, उसमें भी नमेरु वृक्ष के पुष्पित होने का कारण उसके सम्मुख नारियों का गान कहा गया है।[1] यह गान भी लोकगीतों का होगा। वृक्ष के पुष्पित होने का प्राकृतिक कारण गीत न होने पर भी राज-महिषियाँ उसके फूलने का समय आते ही उसके नीचे जाकर गाती अवश्य ही थीं, जैसा कि प्राचीन श्रव्य और दृश्य काव्यों में पाया जाता है।

गोस्वामी तुलसीदास ने विभिन्न अवसरों पर स्त्रियों के गाने के लिए लोक-गीत प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत किए। यों तो उनका राम-चरित-मानस लोक-जीवन में केवल श्रव्य वा पाठ्य-काव्य के ही रूप में व्यवहृत नहीं होता, उसे जनता ने गीतिकाव्य का रूप भी दे रखा है। देहातों में पुरुष-वर्ग चौपालों में बैठकर विभिन्न राग-रागिनियों में बाँधकर ताल-मात्राओं के साथ झाँझ और ढोलक पर उसका गान पूरी रस-मग्नता के साथ करते हैं। संगीत के ज्ञाताओं को तो मैंने ध्रुपद, त्रिताल, चौताल, झपताल से लेकर दादरा और ठुमरी तक की लय में बाँधकर गाते अगणित बार सुना है। काशी में एक बार मैंने घर में बैठकर स्त्रियों को भी कोकिल-कण्ठ से विभिन्न वाद्यों के साथ 'मानस' को घंटों गाते सुना है। विवाह के अवसर पर बारातियों के भोजन करते समय 'मानस' की चौपाइयों को 'गारी' की धुन में बाँधकर अनेक स्थानों पर स्त्रियों को गाते सुना और देखा है। राम-विवाह में बारात के भोजन करने के ही प्रसङ्ग की जो चौपाइयाँ गोस्वामी जी ने लिखी हैं, उन्हीं को 'गारी' के लिए स्त्रियाँ आज भी चुनती हैं। उनका गारी-गान यहाँ से आरम्भ होता है—

"पुनि जेवनार भई बहु भाँती। पठए जनक बोलाइ बराती॥
परत पाँवड़े बसन अनूपा। सुतन्ह समेत गवन कियो भूपा॥
सादर सबके पाय पखारे। जथाजोगु पीढ़न्ह बैठारे॥"

रा० च० मा०, बा० ३२८

---

१. स्त्रीणां स्पर्शात्प्रियंगुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्,
पादाघातादशोकस्तिलककुरबकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम्।
मन्दारो नर्मवाक्यात्पटुमृदु-हसनाच्चम्पको वक्त्रवाता-
च्चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात्कर्णिकारः॥

—मेघ०, मल्लिनाथी टीका, उ० मे०, १७

से आरम्भ करके—

"जेंवत देहिं मधुर धुनि गारी। लै लै नाम पुरुष अरु नारी॥
समय सुहावनि गारि बिराजा। हँसत राउ सुनि सहित समाजा॥"

—वही

यहाँ तक; और शिव-विवाह-सम्बन्धी उसी अवसर की ये चौपाइयाँ—

"तब मयना हिमवंत अनंदे। पुनि पुनि पारबती पद बन्दे॥
नारि पुरुष सिसु जुवा सयाने। नगर लोग सब अति हरषाने॥

× × × ×

विविध पांति बैठी जेवनारा। लागे परुसन निपुन सुआरा॥
नारि बृन्द सुर जेंवत जानी। लगीं देन गारीं मृदु बानी॥"

—वही

इत्यादि। इस प्रकार हम देखते हैं कि गोस्वामी जी उत्तराखंड के पूर्वोत्तर भाग की हिन्दी-भाषी जनता के जीवन के साथ जिस प्रकार एकात्म हो गए थे वैसे ही उनकी कृतियाँ भी, विशेषतया 'मानस' इस भाग के जन-जीवन में बिल्कुल ही घुल-मिल गया है। पाठ्य काव्य के अतिरिक्त वह यहाँ का लोकगीत भी है। गोस्वामी जी ने लोकगीति के रूप में ठेठ जन-भाषा में रामललानहछू, जानकी मंगल और पार्वती मंगल की रचना की। ऐसा अनुमान है कि 'सोहर' आदि गीत तो तुलसीदास जी के पहले से चले ही आते थे, किन्तु उनमें उच्छृङ्खलता कुछ अधिक रहती होगी। इसी कारण गोस्वामी जी को 'सोहर' भी लिखने पड़े। नहछू की क्रिया स्त्रियों के बीच होने वाली विनोदात्मक क्रिया है। पुरुष उस अवसर पर (नहछू आदि के अवसर पर) वहाँ नहीं रहते, इसलिए उसमें श्रृंगारिकता का पुट विशेष होना स्वाभाविक है। तुलसीदास जी ने अश्लीलता तो बहुत कुछ निकाल दी किन्तु श्रृंगारिकता के बिना उस अवसर की उपयोगिता ही समाप्त हो जाती इसलिए उसका कुछ प्रगल्भरूप तो उन्हें भी अपनाना अनिवार्य हो ही गया, क्योंकि गोस्वामी जी

---

१. वर के घर से बारात के चलने के पहले नाइन वर के नख काटती है। उस समय वर अपनी माँ की गोद में बैठा रहता है। वर को माता की समवयस्का स्त्रियाँ उससे विनोदपूर्ण हास-परिहास करती हैं। उस समय स्त्रियाँ इसके लिए पूर्ण स्वच्छन्द रहती हैं। पुरुषों से परोक्ष स्त्री-समाज निःसंकोच होकर हास-परिहास में आत्म-विभोर हो जाता है।—लेखक

लोक-हृदय के सच्चे पारखी जो थे। नहछू[1] के अवसर के लिए लिखी गई उनकी गीतियाँ तनिक देखिए—

गोद लिहे कौसिला बैठि रामहि वर हो।
सोभित दूलह राम सीस पर आँचर हो॥

नाउनि अति गुनखानि तौ बेगि बोलाई हो।
करि सिंगार अति लोनि तौ बिहँसति आई हो॥

कनक-चुनिन सों लसति नहरनी लिए कर हो।
आनँद हिय न समाइ देखि रामहि वर हो॥

× × ×

काहे रामजिउ साँवर, लछिमन गोर हो।
कीदहुँ रानि कौसिलहि परिगा भोर हो॥

—रामललानहछू, १०-१२

'पार्वती मंगल' और 'जानकी मंगल' में स्त्रियों द्वारा मंगल-अवसर पर गाई जाने वाली मंगल गीतियाँ हैं। सोहर (सोहिलो) के रूप में स्त्रियाँ या नटिनें इन्हें पुत्र-जन्म पर भी गाती हैं। इन 'मंगलों' की विशेषता यह है कि इनमें कहीं भी भयानक दृश्य नहीं लाए गए हैं। शृंगार के विरोधी स्थलों को कवि बचा गया है। पार्वती-मंगल का एक विनोदपूर्ण स्थल देखिए। द्वार-पूजन के पश्चात् बारात जनवासे चली गई और वर ले जाया जाने लगा 'कोहबर'-घर में, कि सासु ने आकर द्वार पर ही वर का रास्ता रोक लिया—

"बहुरि बराती मुदित चले जनवासहि।
दूलह दुलहिनि गे तब हास-अवासहिं॥
रोकि द्वार मैना तब कौतुक कीन्हेउ।
करि लहकौरि गौरि हर बड़ सुख दीन्हेउ॥
जुआ खेलावत गारि देहिं गिरिनारिहि।
अपनी ओर निहारि प्रमोद पुरारिहि॥"[1]

इसी प्रकार जानकी-मंगल भी विनोद से आपूर्ण काव्य है। इन तुलसी-रचित गीतियों का प्रचार जनता के बीच हुआ, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु नारी-समाज के विशेष शिक्षित न होने के कारण इन गीतियों में आगे चलकर काफी

१. पार्वती मंगल, ८२-८३।

उलट-फेर हो गया। मूल कृतियाँ कहीं-कहीं विशेष साहित्यिकता लिये हुए हैं, प्राकृत हाथों में पड़कर वे भी सहज प्राकृत हो गईं। उनके आधार पर कुछ नई गीतियाँ भी बनती गईं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्यिक गीतिकारों में लोक-जीवन वा ग्राम-जीवन के विविध अंगों में तुलसीदास जी ने जैसा आदरपूर्ण स्थान पाया वैसा अन्य किसी कवि ने नहीं। इसमें उनकी असाधारण प्रतिमा के साथ-साथ उनकी व्यापक लोक-दृष्टि का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। आचार्य मम्मट ने कवि की पूर्णता के लिए जिन साधनों का उल्लेख किया है[1], उनमें काव्य-शास्त्र-ज्ञान के साथ लोक-ज्ञान वा लोकानुभव की मात्रा तुलसीदास जी में सभी कवियों से गम्भीर और विस्तृत थी। इसीलिए महाकवि होने के साथ ही साथ वे महान् लोक-नायक भी हो गए।

राधा-कृष्णपरक गीति-रचयिताओं में सूरदास के पश्चात् सर्वाधिक प्रशंसित स्वामी हितहरिवंश हैं। इन्होंने राधा-वल्लभी सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन किया था। इनके कुछ रचे पद 'हित चौरासी' ग्रन्थ में सङ्कलित किये गए हैं। अपनी गीति-माधुरी के ही कारण वृन्दावन के भक्त-समाज में ये कृष्ण की वंशी के अवतार मान लिये गए थे। राधा के नख-शिख पर इनका एक पद देखिए, इनकी भाषा संस्कृत-पदावली-गुम्फित है—

ब्रज-नव-तरुनि-कदम्ब-मुकुट-मनि स्यामा आजु बनी।
नख-सिख लौं अँगु-अंग माधुरी मोहे स्याम धनी॥
यों राजति कवरी गूँथित कच कनककंज-बदनी।
चिकुर चन्द्रिकन बीच अरध विधु मानौ ग्रसित फनी॥
सौभग रस सिर स्रवत पनारी पिय सीमंत ठनी।
भृकुटि काम-कोदंड नैन-सर कज्जल-रेख-अनी॥
भाल तिलक ताटंक गंड पर नासा जलज मनी।
दसन-कुंद सरसाधर-पल्लव पीतम मन-समनी।
'हितहरिवंस' प्रसंसित स्यामा कीरति बिसद घनी।
गावत स्रवननि सुनत सुखाकर बिस्व-दुरित-दवनी।

—हितचौरासी।

---

१. शक्तिर्निपुणतालोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥
—काव्यप्रकाश, उल्लास १।३।

कृष्ण भक्त कवियों में 'श्रीभट्ट' का स्थान भी गीतिकारों में विशेष महत्त्व का है। इनकी गीतियाँ लोकगीतों की अत्यन्त समीपी प्रतीत होती हैं। व्रज भाषा का सीधा-सादा ठेठ रूप इनमें उतरा है। सच तो यह है कि हृदय की वाणी सदा ही अपने सहज अकृत्रिम रूप में ही सामने आया करती है। भाव ही उसके अलङ्कार होते हैं। इनके छोटे-छोटे सौ पदों का 'युगल शतक' नामक संग्रह गीतिकाव्य-क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

कृष्ण-भक्ति-परम्परा के भक्त कवियों के पश्चात् गेय पदों की रचना प्रायः बन्द ही हो गई। यदि किसी भक्त कवि ने कुछ लिखा भी तो वह गीतिकाव्य की विशेषता से रहित हो गया है। भावों का उद्वेल वाणी से सहज रूप में निःसृत दिखाई नहीं पड़ता। शताब्दियों के पश्चात् इधर 'भारतेन्दु' जी ने जो अपने को 'सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधा रानी के' मानते थे, पदों की रचना अच्छे परिमाण में प्रस्तुत की। उनके गेय पद शृंगारपरक और भक्ति-परक दोनों ही प्रकार के मिलते हैं। नाटकों में तो गीत हैं ही, 'प्रेम फुलवारी', 'प्रेम मालिका', 'प्रेमप्रलाप', आदि में गेय पदों का ही संग्रह है, इनमें कृष्ण-भक्त कवियों के ही अनुकरण पर निर्मित रचनाएँ हैं। 'भारतेन्दु' के पश्चात् पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' ही गीति-काव्यकार के रूप में सामने आते हैं। अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नन्ददास के 'भ्रमरगीत' की शैली पर इन्होंने 'भ्रमर दूत' नामक काव्य लिखा है, जिसमें तत्कालीन देश-दशा का बड़ा ही मर्म-स्पर्शी चित्र तो है ही, इनके व्यक्तिगत जीवन की भी झाँकी स्थान-स्थान मिल जाती है। इसके पश्चात् अंग्रेजी शासन-काल में नई शिक्षा के प्रसार से नव-शिक्षित वर्ग विदेशी प्रतिभाओं के सम्पर्क में धीरे-धीरे आने लगा। प्राचीन हिन्दी गीतिकारों ने अपने हृदय राम वा कृष्ण को समर्पित कर दिए थे, अतः उन्हीं के जीवन के मर्मस्पर्शी खंडों को अपने काव्य का वर्ण्य बनाया था और पुरातन काल से चली आती हुई दीर्घ काव्य-परम्परा का पालन करते हुए अन्य कवियों ने भी अपने हृदय के भावों को सीधे न कहकर परोक्षतः कहने को ही कवि-कर्म्म मान लिया था। पश्चिमी साहित्य की अत्यन्त प्रभावशालिनी आत्माभिव्यञ्जक काव्य-शैली से अवगत होकर भारतीय कवियों ने भी पाश्चात्य गीति-पद्धति पर अपने व्यक्तिगत भावों को काव्य के साँचे में ढाला। आगे आत्मानुभूति-परक गीति-परम्परा के प्रसङ्ग में इसका पर्यालोचन होगा।

---

(२) विकास-भूमि का विस्तार

आत्मानुभूतिपरक गीति-पद्धति

गीति-परम्परा, जैसा कि पहले कहा गया है, अति प्राचीन है, अर्थात् वेदों से भी पहले की। वेद तो उस समय की देन हैं जब भारतीय मानव विद्या और ज्ञान के शिखर पर पहुँच गया था, भावलोक का अतिक्रमण करता हुआ ज्ञान-लोक में आसन जमा चुका था। जिस प्रकार वाणी-वैभव से सम्पन्न कवि भाव की उद्दीप्ति के स्वर्णिम क्षणों में ही मर्म-स्पर्शी रचनाएँ प्रस्तुत कर पाता है, सर्वदा वैसा नहीं कर सकता—उस समय उसकी मानसिक स्थिति असाधारण हो जाती है, अपने व्यक्तिगत वर्तमान से सर्वथा असम्पृक्त, उस दशा को हम असाधारण के स्थान पर अपौरुषेय भी कह सकते हैं—उसी प्रकार ज्ञान की उद्दीप्ति के क्षणों में ऋषियों के मुख से जो वाणी स्वतः फूट पड़ी थी, उसी का सङ्कलन हुआ 'वेद'। 'वेद' शब्द ही ज्ञान की अभिव्यक्ति का द्योतक है। उस ज्ञान-लोक में भी भावों का सर्वथा बहिष्कार देखने में नहीं आता। सामवेद में कुछ गीत ऐसे भी हैं जिनमें मानव-हृदय के भावों के उद्गार सुनने को मिलते हैं। मैं ऐसे दो-एक मन्त्रों को परीक्षणार्थ उपस्थित करता हूँ—

आ ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित् सधस्तात्।
अग्ने त्वां कामये गिरा।
पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि दिशो विश्वा अनु प्रभुः।
समत्सु त्वा हवामहे।
समत्स्वग्निमवसे वाजयन्तो हवामहे।
वाजेषु चित्रराधसम्॥

—सा० वे०, उत्तरार्चिक, खण्ड ६,
अध्या० ८, प्रपा० ४, मं० १२।

"हे अग्निदेव, आपका वत्स-स्वरूप मेरा मन आप से अत्यन्त दूर होने पर भी आपसे बँधा हुआ है। आपकी प्राप्ति के ही निमित्त मैं प्रार्थना कर रहा हूँ। आपका प्रभुत्व सर्वत्र व्याप्त है। आपके मिलन-मार्ग में यद्यपि

मेरे सम्मुख अनेक विघ्न आ रहे हैं, तथापि मैं आपकी आराधना तो करता ही हूँ। मैं अद्भुत शक्ति-प्रद आप का स्मरण करता हूँ, जो संघर्षों का सामना करने के लिए हमें ज्ञान और सामर्थ्य प्रदान करते हैं"।

प्र ते धारा असतश्चतो दिवो न यन्ति वृष्टयः।
अच्छा वाजं सहस्रिणम्॥
अभिप्रियाणि काव्या विश्वा चक्षाणो अर्षति।
हरिस्तुञ्जान आयुधा॥
स मर्मृजान आयुभिरिभो राजेव सुव्रतः।
श्यनो न वसु षीदति॥
स नो विश्वा दिवो वसूतो पृथिव्या अधि।
पुनान इन्दवा भर॥

— सा०वे०, उत्तरार्चिक, अ० १९, खं० ५, प्र० ८, मं० १८।

यहाँ गायत्री छन्द की रचना 'षड्ज' स्वर में 'पवमान सोम' के निमित्त संगीत रूप में निवेदित की जाती है। 'अवत्सार' ऋषि सोम से कहते हैं —

"हे आनन्दमूर्ति सोम! ज्ञान-लोक से आती हुई तेरी आलोक-धाराएँ सैकड़ों ज्ञानों को लिए हुए उसी प्रकार आ रही हैं जिस प्रकार वर्षा की धाराएँ सैकड़ों अन्नों को लिए हुए आकाश से धरती पर आती हैं। सोम! तू प्रिय रचनाओं का साक्षात्कार करता हुआ आयुध (ज्ञान-शस्त्र) से बन्धनों को काटता हुआ विचरण करता है।

"तू सुव्रत राजा की भाँति साधनों द्वारा मार्जित किया हुआ है, तू श्येन (बाज) पक्षी की भाँति स्वच्छन्दतापूर्वक लोकों में विचरण करता है। हे आनन्दस्वरूप सोम! तू द्युलोक और पृथ्वीलोक के सभी वैभवों को देकर मुझे आपूर्ण कर दे।"

इन मन्त्रों में हम देखते हैं कि भक्त-हृदय का पूर्ण उल्लास, उसकी उद्दाम कामना फूट पड़ी है, श्रद्धामयी वाणी में। 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' का भाव ही यह है कि क्रान्तदर्शियों ने वैदिक मन्त्रों का दर्शन अपने अन्तर्जगत् में किया और वही उनकी वाणी द्वारा निर्झर की भाँति अरोक बरस पड़ा। ऊपर के मन्त्रों में हम वाणी को भी सहज ही अलंकृत पाते हैं। किन्तु यह भी सत्य है कि परिष्कृत छन्दों में बने वेद-मन्त्र आत्मानुभूतिपरक होते हुए भी सर्वसाधारण के लिए आनन्दप्रद नहीं हैं। वे देवता, जिनके प्रति ये सूक्त

बने, परमानन्दस्वरूप परमात्मा की विभिन्न शक्तियाँ ही हैं, जिनमें कुछ दृश्य, कुछ स्पृश्य और कतिपय सर्वथा अदृश्य हैं। जो अदृश्य हैं, उनकी रूप-कल्पना के साथ कर्म-कल्पना भी कर ली गई है। पर कुल मिलाकर वेदों का विषय शुद्ध ज्ञान का ही विषय है। वेदों में जो 'कवि' शब्द का प्रयोग हुआ है, वह क्रान्तदर्शी ऋषि या परमात्मा के ही अर्थ में हुआ है। जन-सामान्य लौकिक भावनाओं के अतिरेक का उद्रेक तो लौकिक कवियों द्वारा लौकिक काव्यों में हुआ और इसीलिए उसके अधिकारी बड़े से छोटे तक नारी-पुरुष सभी माने गए। वाल्मीकीय रामायण, जो प्रथम काव्य माना गया, उसके प्रथम सर्ग में जिज्ञासु वाल्मीकि को सम्पूर्ण राम-चरित सुनाकर देवर्षि नारद ने उसकी फलश्रुति कहते समय चतुर्वर्ण को उसका अधिकारी घोषित किया—

> पठन्द्विजो वागृषभत्वमीयात्स्यात्क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात्।
> वणिग्जनः पण्यफलत्वमीयाज्जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात्॥
>
> —वा० रा०, सर्ग, १।१००।

जिस रचना का विषय जनसाधारण का अनुभूति-क्षेत्र होता है, वह सभी के लिए पाठ्य और श्रव्य हुआ करती है। आगे चलकर व्यक्तिगत भावनाओं से सम्बद्ध जिन गीतों का विकास हम पाते हैं, उनका उद्गम-स्थल ग्राम-गीत ही थे, जो लोक-भाषा के परिधान में सर्वसाधारण से अपनापन जोड़े हुए थे। जिस प्रकार प्राकृत भाषा संस्कृत भाषा की जनयित्री है,[1] उसी प्रकार प्राकृत गीत संस्कृत वा साहित्यिक गीतों के जनक हैं। प्राकृत भाषा के गीतों का माधुर्य कुछ और ही है। जिस प्रकार ग्राम गीतों का पूर्ण रसास्वादन वे ही कर सकते हैं, जो ग्राम-जीवन में घुल-मिल गए हैं, जिन्हें ग्राम-भाषा के

---

१. (क) "यद्योनिः किल संस्कृतस्य सुदृशां जिह्वासु यन्मोदते,
यत्र श्रोत्र-पथावतारिणि कटुर्भाषाक्षराणां रसः।
गद्यं चूर्णपदं पदं रतिपतेस्तत्प्राकृतं यद्वचस्-
ताँल्लाटाँल्ललिताङ्गि पश्य नुदती दृष्टेर्निमेषव्रतम्॥"

—राजशेखर।

(ख) सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो य णेन्ति वायाओ।
एन्ति समुद्दंचिय णेन्ति सायराओच्चिय जलाइं॥

—गउडवहो, प० सं० ९३।

विशिष्ट शब्दों, उनकी व्यञ्जनाओं और मुहावरों एवं कहावतों से पूर्ण परिचय है, उसी प्रकार प्राकृत भाषा में निबद्ध गीतों का आनन्द भी उसकी प्रकृति से सुपरिचित जन ही ले सकते थे। जिनका सम्बन्ध लोक-भाषा से छूट चुका था, उन्हें संस्कृत काव्यों में ही विशेष रस मिलता था, किन्तु जो संस्कृत और प्राकृत दोनों पर समानाधिकार रखनेवाले सहृदय थे, उन्होंने बिना किसी प्रकार के सङ्कोच के प्राकृत भाषा की मधुरिमा को श्रेष्ठ आसन पर बिठाया, संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् राजशेखर कहते हैं—

परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो।
पुरुस-महिलाएँ जेत्तिअमिहंतरं तेत्तिअमिमाणं॥

—कर्पूरमञ्जरी, प्रस्ता०, ७।

"संस्कृत-बन्ध कठोर होते हैं, किन्तु प्राकृत-बन्ध तो अत्यन्त सुकुमार होते हैं, सच तो यह है कि संस्कृत में पुरुष की-सी कठोरता और प्राकृत में नारी का-सा सौकुमार्य होता है।" नाटक में प्रत्यक्षानुभूति होती है, परोक्षानुभूति नहीं, इसीलिए प्रत्यक्षानुभूति की स्वाभाविकता की रक्षा के लिए वहाँ नारी पात्रों से संस्कृत भाषा का व्यवहार वर्ज्य माना गया। सौकुमार्य-मूर्ति नारी के मुख से कठोर संस्कृत-शब्दावली का उच्चारण अस्वाभाविकता ला देता। इसीलिए चाहे गद्य हो अथवा गीति, नारी के लिए प्राकृत का ही विधान किया, गया। महाराज भोज ने भी कहा—

न म्लेच्छितव्यं यज्ञादौ स्त्रीषु नाप्राकृतं वदेत्।
सङ्कीर्णान्नाभिजातेषु नाप्रबुद्धेषु संस्कृतम्॥

—सरस्वती-कण्ठभरण, परि० २।८

गीति का सहज माधुर्य भी नारी-कण्ठ से निःसृत प्राकृत का ही सहचर है। एक प्राचीन कवि ने कहा है—

ब्रह्मेन्द्रोपेन्द्रादि-गीर्वाणवन्द्यो भक्तानां भूयाच्छ्रिये चन्द्रचूडः।
स्त्रीणां सङ्गीतं समाकर्णयन् केतूदस्ताम्भोदं सदध्यास्त ईशः॥[1]

गीति का विकास-क्रम जानने के लिए हमें संस्कृत नाटकों अथवा प्राकृत सट्टकों में आए हुए गीतों की ओर ध्यान देना होगा। उन गीतों में स्वानुभूति का चित्रण सत्कवियों की लेखनी द्वारा बड़ी सफलता से किया गया है। 'गाहा सत्तसई' में गीति की भाव-भूमि तो है, किन्तु उसमें गेयता का गुण नहीं है।

१. भोजदेव ने सरस्वती-कण्ठाभरण में दोष के प्रकरण में इसे उद्धृत किया है।

वहाँ गाहा में नाद-सौन्दर्य का अभाव है। भास, कालिदास आदि वैदर्भी रीति-सिद्ध कवियों के नाटकों में गीति का माधुर्य प्राकृत में मिलता है। भास की 'स्वप्न-वासवदत्ता' और कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में कतिपय गीतियाँ बड़ी ही भावपूर्ण हैं, भाषा भी उनकी सहज ही लाक्षणिक हो गई है। हंसपदिका की एक भावपूर्ण गीति दुष्यन्त के चित्त को अस्थिर बना देती है और तब जब कि वे शकुन्तला को भूल चुके हैं। गीति है—

अहिणव-महुलोलुवो भवं
तह परिचुम्बिय चूअमंजरिं।
कमलवसइमेत्तणिव्वुदो
महुअर विम्हरिओ सि णं कहं॥
—अ० शा०, अं० ५।१

"हे अभिनव मधु के लोभी भ्रमर, तुमने एक बार ही आम्र-मञ्जरी का परिचुम्बन कर के अब कमल में रहते हुए, उसे भुला क्यों दिया?" इस गीति को सुनकर दुष्यन्त कहता है, विरही न होने पर भी इसे सुनकर मेरा चित्त उत्कंठित क्यों हो उठा?

ऐसे गीतियों में मधुर लोक-गीति की प्रतिध्वनि सुनी जा सकती है, जो संस्कृत गीतियों में नहीं मिल पाती। आज प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत से हिन्दी-वालों का निकट का सम्बन्ध है, अतः उसके माधुर्य के रसास्वादन की असमर्थता का दायित्व उनकी अपरिचिति पर है, न कि उस भाषा पर। मैं यह नहीं कहता कि संस्कृत गीतियों में माधुर्य्य का सर्वथा तिरोभाव है, मेरा कहना इतना ही है कि गीति के माधुर्य्य का संस्कार लोकभाषा को परम्परया प्राप्त है।

पहले कह आया हूँ, स्वानुभूतिपरक गीतिकाव्य का प्रतिनिधि ग्रन्थ संस्कृत भाषा में कालिदास का मेघदूत ही है। यक्ष की कल्पना तो केवल रूढ़ परम्परा के पालनार्थ ही कर ली गई है, वास्तव में मेघ से सन्देश कहने वाला तो कवि ही है। अतः मेघदूत को स्वानुभूतिपरक गीतिकाव्य ही माना जायगा। स्फुट गीतियाँ दृश्यकाव्यों में बहुसंख्यक हैं। शूद्रक के मृच्छकटिक और राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी की कतिपय गीतियाँ बड़ी ही श्रुतिमधुर और मर्म्मस्पर्शी हैं। राजकुमारी 'कर्पूरमञ्जरी' की सादगी में भी जो सहज सौन्दर्य्य है, उसी का चिन्तन करता हुआ राजा कहता है—

कि मेहला वलअ सेहर णेउरेहिं,
कि चंगिमा अ किमु मंडणडंबरेहिं।
तं अण्णमत्थि इह किं पि णिअं विणीणं
जेणं लहंति सुहअत्तण मंजरीओ॥
—क० मं०, जव० ३।१३

"मेखला, वलय आदि नाना प्रकार के आभूषणों से कहीं सौन्दर्य-वृद्धि थोड़े ही होती है, नितम्बिनियों में इन बाह्य प्रसाधनों से सर्वथा परे कोई और ही वस्तु होती है, जो उन्हें सौन्दर्य प्रदान करती है।" ऐसा प्रतीत होता है कि यह उक्ति लोक में पहले से चली आ रही थी। यह उक्ति अपनी सरलता में लोक-हृदय का परिचय देती है। राजशेखर से कुछ ही पूर्व होने वाले आचार्य आनन्दवर्धन ने भी कुछ ऐसी ही बात कही है—

मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥

लावण्य या सौन्दर्य शरीर का बाह्यारोपित धर्म नहीं। विरहिणी कर्पूर-मञ्जरी अपनी सखी कुरङ्गिका से कहती है—

विसव्व विसकंदली विसहर व्व हारच्छडा,
वअस्ससमिव अत्तणो किरति तालविंताणिलो।
तहा अ करणिग्गअं जलइ जंतधाराजलं,
ण चंदणमहोसहं हरइ देहदाहं च मे॥—जव० ३।२०

"विसकन्दली विष-सी, मुक्ताहार सर्प-सा, ताल-समूह से होकर आता हुआ शीतल समीर का झोंका शर-वर्षा-सी करता हुआ, धारा-यन्त्र का जल तपता-सा प्रतीत होता है। और कहाँ तक इस विषम वियोग की निर्दयता का वर्णन करूँ चन्दन की महौषधि भी मेरे देह-दाह को दूर नहीं कर पा रही है।"

सातवाहन हाल, जिसका समय प्रथम शताब्दी इस्वी माना गया है, कहता है कि जो लोग अमृतवर्षी प्राकृत काव्य को पढ़ने और सुनने में असमर्थ हैं, उन्हें शृंगार रस-सम्बन्धी तत्त्व-चिन्तन करते हुए स्वयं लज्जित होना चाहिए।[1] हाल की 'गाहा सत्तसई' एक संग्रह ग्रन्थ है। उन्होंने लिखा है

१. अमिअं पाउअ कव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणन्ति।
कामस्य तत्त तंति कुणंति ते कहं ण लज्जंति॥
—गाहा सत्तसई, १।२

कि प्राकृत की एक करोड़ गाथाओं में से चुनकर मैंने सप्तशती प्रस्तुत की है।[1] इस सप्तशती में वास्तव में प्राकृत भाषा की लघु गीतियाँ ही हैं, जिनमें छन्द के बिन्दु-बिन्दु में शृंगाररस का सिन्धु लहराता है। एक गाथा में नायिका कहती है कि हे सुन्दर! तुम यद्यपि धवल हो, गोरे हो (रंगहीन हो), तथापि तुमने मेरे हृदय को रँग दिया (मेरे हृदय को अपना अनुरक्त या प्रेमी बना लिया) और मेरे इस रागमय (प्रेमपूर्ण) हृदय में आकर भी तुम श्वेत के श्वेत ही रह गए। मेरे हृदय के रंग में रञ्जित नहीं हो सके (मैं तो तुम्हें देखते ही तुम्हारी अनुरक्ता बन गई, किन्तु तुम्हारे ऊपर मेरे प्रेम का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा। तुम कितने निष्ठुर हो)—

धवलो सि जइ वि सुन्दर तह वि तुए मज्झ रंजिअं हिअअं।
राअ भरिए वि हिअए सुहअ णिहित्तो ण रत्तो सि॥

गाहा० ७।६५

सत्तसई की गाथाओं में शृंगार-सम्बन्धी रचनाओं की प्रमुखता है, किन्तु बहुत-सी गाथाएँ नीतिपरक भी हैं। इन्हें देखने से पता चलता है कि प्रथम शताब्दी ईस्वी के पहले ही प्राकृत भाषा में कविता का चरम विकास हो चुका था। आज तक के उपलब्ध संस्कृत-साहित्य में मुक्तक रचनाएँ प्रबन्ध की अपेक्षा कम हैं, जब कि 'हाल' का कहना है कि उसने एक करोड़ गाथाएँ एकत्र की थीं। संस्कृत में गीतों या गीतियों की रचना दृश्य काव्य में होती आ रही थी। इस प्रकार मुक्त गीतियों को हम सर्वप्रथम भास के नाटकों में पाते हैं। कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक की प्रस्तावना में अपने तीन पूर्ववर्ती नाटककारों का उल्लेख किया है, भास, सौमिल्लक और कविपुत्र का।[2] अतः ये तीन कवि कालिदास से भी पुराने और प्रसिद्धि-प्राप्त थे। भास के अतिरिक्त दो नाटककारों की कृतियाँ आज उपलब्ध नहीं हैं। महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री के अनुसार इनका काल चाणक्य और पाणिनि से भी पहले का है। इनका 'स्वप्नवासवदत्ता' नाटक उच्चकोटि की रचना है। उसमें संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में सुन्दर गीतियाँ उपलब्ध हैं। इसी प्रकार सौमिल्लक और कविपुत्र की रचनाएँ भी उच्च कोटि की रही होंगी। किन्तु गीतिकाव्य अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा कालिदास की सिद्धवाणी का आश्रय पाकर। इनके

१. वही, १।३
२. प्रथितयशसां भास-सौमिल्लक-कविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानस्य कवेः कालिदासस्य कृतौ कथं बहुमानः।

—मालविकाग्निमित्र, प्रस्तावना।

संस्कृत गीतिकाव्य 'मेघदूत' का उल्लेख पहले हो चुका है और नाटकों की भी कतिपय प्राकृत-भाषाबद्ध गीतियाँ उद्धृत की जा चुकी हैं। कालिदास ने जिस 'दूत काव्य' वा 'सन्देश काव्य' का प्रणयन किया, वह इस शैली का प्रथम काव्य माना जाता है और इस शैली के उद्भावक भी वे ही माने जाते हैं। इस उद्भावना के मूल का पता लगाते हुए संस्कृत के विश्रुत टीकाकार कोलाचल मल्लिनाथ ने मेघदूत के प्रथम गीत की व्याख्या करते हुए कहा है कि रामायण के सीता के प्रति राम के हनुमत्सन्देश को सोचकर ही कवि ने मेघ-सन्देश की रचना की है।[5] हो सकता है कि कवि के हृदय में हनुमत्सन्देश से ही प्रेरणा मिली हो, किन्तु मेरा विश्वास है कि यह प्रेरणा महाकवि को लोकगीतों वा ग्रामगीतों से मिली होगी। आज भी ग्रामगीतों में ऐसे सन्देशपरक गीतों की कमी नहीं है। उनमें पपीहा, कोकिल, काग, कबूतर, बादल, पवन आदि को दूत बनाया गया है। अतः गीतिकाव्य की रचना की प्रेरणा भी महाकवि को गीतिकाव्य से ही मिली होगी।

संस्कृत नाटककारों ने कहीं-कहीं अपने नाटकों में प्राकृत भाषा की प्राचीन गीतियों का उपयोग किया है, कालिदास ने भी ऐसा किया है। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में राजा पुरूरवा उन्माद की दशा में बादल से बातचीत करता है, अन्य मानवेतर पदार्थों से बातें करता है, कालिदास पर यह लोकगीतों वा ग्रामगीतों के प्रभाव का परिणाम ही प्रतीत होता है। हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण में कतिपय ऐसी गीतियाँ मिलती हैं, जिनमें विरही बादल से बातें करता दिखाई पड़ता है और कहीं-कहीं सन्देश की चर्चा भी पाई जाती है। दो-एक कविताओं की बानगी लीजिए—

जई ससणेही तो मुअइ अह जीवइ निन्नेह।
त्रिहिं वि पयारेहिं गइअ धण किं गज्जहि खल मेह॥

—प्राकृतव्याकरण, ८।४।३६७।

विरही नायक गरजते हुए बादल से सक्रोध कहता है, "हे दुष्ट बादल! यदि मेरी प्रिया मुझसे सच्चा प्रेम करती रही होगी तो (तुझे देखकर) अवश्य ही मर चुकी होगी और यदि अब भी जीवित होगी, तो स्पष्ट है कि उसके हृदय में मेरे प्रति प्रेम नहीं है, अतः दोनों ही प्रकार से मैं उसे खो चुका हूँ।

---

५. "सीतां प्रति रामस्य हनुमत्सन्देशं मनसि निधाय मेघसन्देशं कविः कृतवान्।"— मे० दू०, श्लोक १ की टीका।

अब तू व्यर्थ गर्जन क्यों कर रहा है ?" एक दूसरे दोहे में नायिका निराश-सी होकर प्रिय की दिशा में जाते हुए पथिक से एक बार सन्देश भेजने की बात सोचती है, फिर कहती है ऐसा सन्देश भेजना और मँगाना भी व्यर्थ है जिससे प्रिय का सम्मिलन न हो, भला पानी के नाम से भी कहीं प्यास बुझती है ?

संदेसें काइं तुहारेण जं संगहो न मिलिज्जइ।
सुअणंतरि पिएं पाणिएण पिअ पिआस कि छिज्जइ॥

—हे० प्रा० व्या०, ८।४।४३४।

आज के ग्रामगीतों में भी ऐसे सन्देशों की कमी नहीं है, जो युगों से अपना वेश बदलते चले आ रहे हैं। ग्रामगीतों की भी कुछ बानगी देखें—

अरी अरी कारी कोइलि तोरी जाति भिहावन रे।
कोइलरि बोलिया बोलउ अनमोल त सब जग मोहै रे॥१॥
अरी अरी कारी कोइलिया आंगन मोरे आवहु रे।
आजु मोरे पहिला बियाहु नेवत दइ आवहु रे॥२॥
नेउतेउँ अरगन परगन अरे ननिआउर रे।
कोइलरि एकु न नेउतेउँ बीरन भइया जिनसे मइँ रूठिउँ रे॥३॥
अरी अरी सखिया सहेलरि मंगल जनि गावहु रे।
सखिया आजु मोरा जियरा उदास बीरन नाहीं आएउ रे॥४॥
आगे के घोड़वा भइया मोरे डोलिया भउज रानी रे।
एहो बीच में सोहै भतिजवा त भरिगा है माड़उ रे॥५॥[1]

"अरी-अरी काली कोयल ! तुम्हारी जाति (देखने में तो) भयावनी है; किन्तु तुम्हारी बोली इतनी अमूल्य (मधुर और मादक) है कि सुनकर सारा संसार मुग्ध हो जाता है ! अरी-अरी काली कोकिल ! तुम आज मेरे आँगन में आओ। मेरे घर आज पहला ब्याह है, मेरी ओर से जाकर तुम नेवता (निमन्त्रण) तो दे आओ। मैंने सारे परगने में (सम्बन्धियों में) निमन्त्रण भेज दिए हैं, ननिहाल में भी मेरा न्यौता चला गया है, किन्तु अपने उस प्यारे भाई को मैंने न्यौता नहीं भेजा, जिससे (जिसके न आने के कारण) मैं उससे रूठ गई थी। अरी, अरी सखियो, सहेलियो ! यह मंगल गीत बन्द कर दो, मेरा हृदय व्यथित है क्योंकि मेरा प्यारा भाई नहीं आया।

१. कविता-कौमुदी, ग्रामगीत, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पृ० ४११।

(अहा, कितनी प्रसन्नता की बात है कि) मेरा भैया आगे-आगे घोड़े पर सवार, पीछे पालकी में मेरी रानी भाभी और बीच में मेरा प्यारा भतीजा तीनों ही साथ-साथ आ पहुँचे, (इतने सम्बन्धियों के उपस्थित रहने पर भी जो मेरा विवाह-मण्डप सूना-सूना लग रहा था) इनके आते ही मण्डप भर गया है।

बदली द्वारा सन्देश—

"अरे अरे कारी बदरिया तुहइ मोरि बादरि।
बदरि जाइ बरसहु ओहि देस जहाँ पिय छाए ॥"[१]

विरहिणी ने बादल की घटा को प्रेम के साथ प्रियतम के पास भेजा, प्रिया की वेदना का सन्देश बदली से पाते ही प्रियतम परदेश से चल पड़े। अपने घर आए, द्वार खटखटाया, भीतर विरह-शय्या पर पड़ी हुई विरहिणी ने वहीं से प्रश्न किया, 'तुम कोई कुत्ता-बिल्ली हो वा श्वशुर पहरेदार हो'? उत्तर मिलता है, मैं न तो कुत्ता या बिल्ली हूँ और न ही तुम्हारा पहरेदार श्वशुर, मैं तो तुम्हारा नायक प्रियतम हूँ, बदली से तुम्हारा सन्देश पाकर दौड़ा आ रहा हूँ—

"ना हम कुकुर बिलरिया न ससुरू पहरिया।
धन, हम हईं तुहरा नयकवा बदरिया बुलायसि ॥"[२]

किसी गीति में विरहिणी भौंरे से, किसी में श्यामा चिड़िया से और कहीं चील्ह पक्षी से प्रियतम के पास सन्देश भेजती मिलती है। सर्वत्र अलौकिक आनन्द की धारा उच्छल मिलती है। ग्राम-कवियों और कवयित्रियों के हृदय की वेदना इन गीतों में साकार हो उठी है—

अरे अरे स्यामा चिरइया झरोखवै मति बोलहु।
मोरी चिरई! अरी मोरी चिरई! सिरकी भीतर बनिजरवा,
जगाइ लइ आवहु—
मनाइ लइ आवहु ॥[३]

"हे श्यामा चिड़िया! यहाँ मेरी खिड़की पर तुम्हें बोलने की आवश्यकता नहीं है, यहाँ मत बोलो। हे मेरी प्यारी चिड़िया! मेरा बनजारा, गृहहीन

१. कविता कौमुदी पं० रामनरेश त्रिपाठी,—ग्राम गीत, पृ० १११।
२. वही, पृ० १११।
३. वही, पृ० ९०।

परदेशी, मुझसे रुष्ट होकर दूर सिरकी के भीतर सो रहा होगा, उसे जाकर ले आओ, उसे मेरी ओर से विरह-निवेदन करके मना ले आओ।" दूसरे स्थान पर देखते हैं कि विरहिणी नायिका अपने घर की खिड़की से बाहर आकाश में आँखें गड़ाए देख रही है, बादल रिमझिम-रिमझिम बरस रहे हैं, काली घटा चारों ओर से ओनई हुई है, आकाश और धरती एकाकार हो रहे हैं। पतिप्राणा का हृदय व्याकुल हो उठता है। वह बदली (मेघ-घटा) को अपनी प्रिय सखी बनाती है, क्योंकि उसी की अनुकम्पा से उसके प्राणों की रक्षा हो सकती है। जो व्याकुलता घटा ने आकर उसके हृदय में उत्पन्न कर दी है, वही बेचैनी यदि वह उसके प्रियतम के समक्ष जाकर उनमें उत्पन्न कर दे तो क्या वे उसे भूलकर एक क्षण भी दूर टिके रह सकेंगे। यक्ष-रूपी कालिदास ने भी तो यही कहा था—

'कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम्...।'[1]

ग्रामीणा के मन में यह विश्वास है कि उसका प्रियतम उसे भूलकर चैन की वंशी बजा रहा होगा, किन्तु इस अमोघ अस्त्र के सम्मुख वह क्षण भर भी टिक न सकेगा। आत्मविस्मृता सुन्दरी करुण हृदयद्रावक स्वर में बदली के सम्मुख अपनी प्रार्थना उपस्थित करती है—

कारिक पियारि बदरिया झिमिकि दैवा बरसहु।
बदरी जाइ बरसहु ओहि देस जहां पिया कोड़ करैं॥
भीजै आखर बाखर तमुआ कनतिया—
अरे भितरां से हुलसै करेज समुझि घर आवैं॥[2]

और प्रेम-वेदना के रससिद्ध गायक, वाणी के वरद पुत्र घनानन्द ने भी तो इसी बादल को देखकर अपने निष्ठुर 'बिसासी' के पास सन्देश ले जाने की इससे विनीत प्रार्थना इस प्रकार की थी—

पर काजहिं देह को धारि फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधिनीर सुधा के समान करौ सबही बिधि सज्जनता सरसौ॥
घनआनँद जीवन-दायक हौ कछु मेरियौ पीर हिये परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवानहू लै बरसौ॥[3]

---

१. पूर्व मेघ, ८।
२. क० कौ०, ग्राम० गी०, पृ० ६०।
३. सुजानहित प्रबन्ध, छन्द-संख्या ३३७।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य-क्षेत्र में सन्देश-काव्य के निर्माण का बीज लोक-साहित्य से ही आया है। इसीलिए सम्भवतः ग्राम साहित्य में ऐसी व्यक्तिपरक रचनाएँ देखकर ही आचार्य भामह ने इनमें 'अयुक्तिमत्' दोष माना था—

अयुक्तिमद्यथा दूता जलभृन्मारुतेन्दवः।
तथा भ्रमर–हारीत–चक्रवाक–शुकादयः॥
अवाचोऽव्यक्तवाचश्च दूरदेशविचारिणः।
कथं दूत्यं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते॥[1]

आचार्य भामह (समय चौथी-पाँचवीं श० ईस्वी के बीच) के पूर्व कालिदास का 'मेघदूत' लिखा जा चुका था, किन्तु यहाँ ये भ्रमर, हारिल, चकवा, शुक, बादल, पवन, चन्द्रमा आदि तक को गिना रहे हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि ग्रामगीतों में इन सबसे सम्बद्ध दूत-काव्य इनकी दृष्टि में आ चुके थे, क्योंकि मेघदूत' के पश्चात् दूतकाव्यों में 'धोयी' कवि का 'पवनदूत' ही मिलता है, जिसका रचना-काल बारहवीं शताब्दी ईस्वी है। आचार्य भामह ने कालिदास के 'मेघदूत' के अतिरिक्त भी अच्छे संस्कृत कवियों के दूत काव्य भी देखे होंगे, जैसा कि निम्नलिखित श्लोक में उनके 'सुमेधोभिः' बहुवचनान्त प्रयोग से प्रतीत होता है, जब कि वे दोष-परिहार का विधान करते हुए लिखते हैं—

यदि चोत्कण्ठया यत्तदुन्मत्त इव भाषते।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते॥[2]

काव्य की रचना वास्तव में कुशाग्रबुद्धि पाठक वा श्रोता को ही दृष्टि में रखकर होती है। समर्थविदग्धजन ही रसास्वादन कर पाने में समर्थ होते हैं, इसीलिए आचार्य कुन्तक ने काव्य का प्रयोजन बताते हुए कहा—

धर्मादि-साधनोपायः सुकुमार-क्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥

—व० जी०, १।३॥

१. काव्यालङ्कार, प्र० १, श्लो० ४२, ४३, ४४॥

२. "अतएव दिङ्नागाचार्यादर्वाचीनत्वेन बाणभट्टाच्च प्राचीनतया श्रीमान् भामहाचार्यश्चतुर्थपञ्चमशतकयोर्मध्यभाग एव प्रादुर्बभूवेति साधु वक्तुं शक्यते।"—काव्यालंकार 'प्रास्ताविक भाग, पृ० ६, ले० पं० बटुकनाथ शर्मा तथा पं० बलदेव उपाध्याय।

काव्य अभिजात जनों के हृदयों का आह्लादन करने वाला होता है, सबके हृदयों का नहीं। अर्थात् वह सबके मनोरञ्जन-योग्य साधारण वस्तु नहीं है। साधारण वस्तु, क्रिया, भाव आदि को असाधारण रूप में रखना ही कवि-कर्म है, इसीलिए उसका प्रभाव भी असाधारण होता है। इसी से काव्य को वक्रोक्तिपरक कहा गया है—

उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते॥

—व० जी,० उन्मेष १, का० १०।

इसी कारिका की व्याख्या में आचार्य कुन्तक ने कहा है—

"वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।..........
.......विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।"—वही

अभिधा का वैचित्र्य ही वक्रोक्ति है, वह प्रसिद्ध अभिधान से परे की वस्तु है। भारतीय कवि-कर्म में यह भावना प्रारम्भ से बद्धमूल प्रतीत होती है और इसी कारण हम प्राचीन आत्माभिव्यञ्जक कवि-व्यक्तित्वपरक रचना को भी परोक्षाभिधायिनी के रूप में पाते हैं। इसमें काव्य-रसिकों में दो मत नहीं हो सकते। इसी विचार से मैं उन दूतकाव्यों को, जो कालिदास की अनुकृति पर रचे गये और जिनमें कवि का व्यक्तित्व स्पष्ट ही सामने आ जाता है, काल्पनिक कथावस्तु के हल्के अवगुण्ठन को पार करके, आत्मानुभूतिपरक ही मानता हूँ। ऐसे ही नाटक वा अभिनेय-काव्य में भी जिस स्थल पर कवि की अनुभूति मुखर हो उठती है, उसे आत्मानुभूतिपरक काव्य कहा जायगा। अपने देश भारत के प्रति भारतवासी कालिदास के हृदय में जो प्रेम हो सकता है, वह अलकावासी यक्ष में तो स्वप्न में भी सम्भव नहीं।

मेघदूत का प्रभाव-क्षेत्र

कालिदास का समय

कवि-कुलगुरु कालिदास ने अपनी दिगन्त-व्यापिनी सूक्ष्मदर्शिनी दृष्टि, गुणग्राहिणी प्रज्ञा और अनुभूति-प्रवण हृदय से ग्रामगीतों से प्रेरित होकर अभिजात शिक्षित समुदाय के लिए आत्माभिव्यक्ति की जो राह निकाली वह इतिहासोद्भूत-वृत्ताश्रित काव्य मार्ग से कहीं अधिक आह्लादकारिणी और प्रभावशालिनी सिद्ध हुई। उस स्वच्छन्द राह पर आगे चलकर चलनेवालों में

धोयी वा धोयीक कवि ही मिलता है, जिसके 'पवनदूत' काव्य ने काव्य-रसिकों में बड़ी ख्याति अर्जित की। धोयी ने तो पूर्णतया उसी पद्धति पर चलकर वैसा ही काव्य प्रस्तुत किया, किन्तु उससे शताब्दियों पूर्व कालिदास के 'मेघदूत' का प्रभाव उच्च कोटि के कवियों की कृतियों में स्पष्टतया परिलक्षित होता है। अब तक के उपलब्ध काव्य-साहित्य में मेघदूत का सर्वप्रथम प्रभाव कविवर 'वत्सभट्टि'— निर्मित मन्दसोर के प्रशस्ति काव्य में उपलब्ध होता है। वह प्रशस्ति लिखी गई है सन् ४७३ ई० में। कालिदास के काल-निर्णय में अब विद्वानों का बहुमत यही है कि वे ५७ वर्ष ई० पू० उज्जयिनी-नरेश विक्रमादित्य की सभा को सुशोभित करते थे। पहले के विद्वानों को समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त इन्हीं विक्रमादित्यों का पता था; अतः वे कालिदास का स्थिति-काल चौथी-पाँचवी शती निश्चित करते थे। इधर की खोज से ई० श० से पूर्व होने वाले 'शकारि' सम्राट् विक्रम का पता निश्चित रूप से चल गया। 'गाहा सत्तसई' के लेखक (संग्रहकर्ता) सातवाहन 'हाल' का समय प्रथम शताब्दी ईस्वी निश्चित है और शती की बहुत-सी गाथाएँ हाल के पहले की भी हैं, उन्हीं में से एक गाथा में दानी विक्रमादित्य का स्पष्ट उल्लेख है। वह गाथा है—

"संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खं।
चलणेण विक्कमाइत्त चरिअँ अणुसिक्खिअं तिस्सा॥"

—'गाहा-सत्तसई', ५।६४।

इसके अतिरिक्त मेरुतुङ्गाचार्य की पद्यावली, प्रबन्धकोश, शत्रुञ्जय-माहात्म्य आदि बाह्य साक्ष्य और कवि की कृतियों के अन्तःसाक्ष्य द्वारा भी यह स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास ५७ वर्ष ई० पू० विद्यमान थे। अब वत्सभट्टि पर महाकवि के मेघदूत का प्रभाव देखिए—

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्ध-गम्भीर-घोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः॥

—उत्तरमेघ, १।

कालिदास मेघ से कहते हैं कि जो-जो विशेषताएँ तुम धारण करते हो, जैसे बिजली, इन्द्रधनुष, गम्भीर गर्जन, जल और उच्चता, ये सब कुबेर की नगरी अलका के प्रासाद भी धारण करते हैं, उनमें रहनेवाली सुन्दरियाँ,

चित्र, मृदङ्ग-ध्वनि, मणिखचित धरा और गगनचुम्बी उच्चता—ये सब तुम्हारी उपर्युक्त विशेषताओं से होड़ लेती हैं। अब वत्सभट्टि की एक कविता लीजिए—

"चलत्पताकान्यबलासनाथान्यत्यर्थ शुक्लान्यधिकोन्नतानि ।
तडिल्लता-चित्र-सिताभ्रकूट-तुल्योपमानानि गृहाणि यत्र ॥"

—मन्दसोर का प्रशस्ति-काव्य

कालिदास की उपर्युक्त मन्दाक्रान्ता की भावच्छाया स्पष्टतया इस उपेन्द्र-वज्रा में देखी जाती है। यह है भावाभिव्यञ्जन की शैली का एकदेशीय प्रभाव, किन्तु दूतकाव्य की शैली में आत्मानुभूति के अभिव्यक्ति-प्रकार का पूरा-पूरा प्रभाव-विस्तार हमें बारहवीं शताब्दी से मिलने लगता है, इसके पूर्व का अब तक कोई दूतकाव्य उपलब्ध नहीं हो सका है।

इस ग्राम्य शैली के ग्रहण में पहले कालिदास को भी 'अयुक्तिमद्' दोष प्रतीत हुआ था; क्योंकि मानवीय भाषा के कथन और ग्रहण में सर्वथा असमर्थ पात्रों द्वारा अपने हृदय को निगूढ़ भावनाओं का प्रेषण बुद्धिग्राह्य प्रतीत नहीं होता। किन्तु मानव-मनःस्थिति के कुशल अध्येता कालिदास ने विरह-व्यथित हृदय की उन्मादावस्था के यथार्थ स्वरूप को पहचाना, स्वतः उसका अनुभव किया और कहा कि इसमें अयुक्तिमत्ता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। वे स्वयं शङ्का का उत्थापन करते हैं और तुरत ही उसका निरसन भी कर देते हैं—

"धूम-ज्योतिः-सलिल-मरुतां सन्निपातः क्व मेघः,
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे,
कामार्ता हि प्रकृति-कृपणाश्चेतनाऽचेतनेषु ॥"[1]—पू० मे०, ५

---

१. धूम, जल, अनल औ अनिल मिले हैं जब,
तब यह बादल का रूप बन पाया है।
भेजना सँदेश चाहिए तो मतिमान ही से,
यही मतिमान पुरुषों ने बतलाया है॥
किन्तु इस बात का विचार यक्ष ने न किया,
बादल से भेजना सँदेश ठहराया है।
होते बिरही जो प्राण-धन से हैं दूर,
उन्हें चेतन-अचेतन का ध्यान कब आया है॥
—अनु० 'प्रवासी'

कालिदास के इसी कथन से प्रभावित होकर भामह को यह दोष गुण में बदल देना पड़ा, यह कहकर—

श्रीरामचन्द्र ने जिस हनुमान् द्वारा सन्देश भेजा था, वे ऋक्, यजुस् और साम के साथ ही साथ समस्त व्याकरण-शास्त्र के ज्ञाता थे, वे समस्त गुणों की खान थे। भगवान् राम उनकी बातें सुनकर उनकी प्रशंसा इन शब्दों में करते हुए, लक्ष्मण को उनसे बात करने की आज्ञा देते हैं—

"नानृग्वेद-विनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं प्रभाषितुम्॥
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहुव्याहरतानेन न किञ्चिदपशब्दितम्॥
न मुखे नेत्रयोर्वापि ललाटे न भ्रुवोस्तथा।
अन्येष्वपि च गात्रेषु दोषः संविदितः क्वचित्॥
अविस्तरमसन्दिग्धमविलम्बितमद्रुतम्।
उरस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमे स्वरे॥
संस्कारक्रमसम्पन्नामद्रुतामविलम्बिताम्।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहारिणीम्॥
अनया चित्रया वाचा त्रिस्थान-व्यञ्जनस्थया।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि॥
एवंविधो यस्य दूतो न भवेत्पार्थिवस्य तु।
सिध्यन्ति हि कथं तस्य कार्याणां गतयोऽनघ॥
एवं गुणगणैर्युक्ता यस्य स्युः कार्यसाधकाः।
तस्य सिध्यन्ति सर्वार्थो दूत-वाक्य-प्रचोदिताः॥"

—वाल्मीकीय रामायण, किष्किं० कां०, ३।२८–३५।

खड्गहस्त शत्रु भी हनुमान की श्लक्ष्ण वाणी को सुनकर प्रीतमना हो सकता है, जिस राजा के ऐसा कार्य-साधक दूत हो, उसके सारे कार्य सिद्ध हो सकते हैं, यह भगवान् राम का कथन है। अतः मल्लिनाथ के अनुमान की निस्सारता सुव्यक्त हो जाती है। महाभारत के हंसदूत से भी कालिदास ने 'सन्देश-काव्य' का आदर्श ग्रहण नहीं किया, क्योंकि हंस भी मानुषी गिरा से अलंकृत था। श्रीहर्ष का 'नैषध चरित' अवश्य उसी की देन है। अतः कालिदास को

यदि चोत्कण्ठया यत्तदुन्मत्त इव भाषते।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते॥

—काव्यालंकार, १।४४।

आदर्श मिला लोक वा ग्राम-साहित्य से। हाँ, बाद के सभी दूतकाव्यों का आदर्श 'मेघदूत' ही रहा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

कविराज धोयीक या धोयी

धोयी कवि, जिसका पवनदूत 'मेघदूत' के बाद का प्रथम संस्कृत दूत-काव्य है, राजा लक्ष्मण सेन (१२ वीं शताब्दी) की राज-सभा में रहता था। उसे 'कविराज' की उपाधि मिली थी। गीत गोविन्द की 'रसिक-प्रिया' नाम्नी टीका प्रस्तुत करते हुए महाराज कुम्भ ने (१४ वीं शताब्दी) प्रथम सर्ग के चतुर्थ श्लोक की टीका में लिखा है—

"इति षट् पण्डितास्तस्य राज्ञो लक्ष्मणसेनस्य प्रसिद्धा इति रूढ़िः।"—
—र० प्रि०, टीका, १४

उमापतिधर, जयदेव, शरण, गोवर्धन, श्रुतिधर और धोयी, ये टीकाकार के अनुसार राजा लक्ष्मण सेन के सभा-पण्डित थे। परम्पराप्राप्त एक श्लोक से पता चलता है कि राजा लक्ष्मण सेन की सभा में पाँच रत्न थे—

"गोवर्द्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः।
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य च॥"

इस श्लोक में पूर्वोक्त विद्वानों में से श्रुतिधर और धोयी का नामोल्लेख नहीं है, किन्तु अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि 'कविराज' नाम 'धोयी' के ही लिए आया है। बुद्धलोग 'राघव-पाण्डवीय' काव्य के रचयिता को कविराज कहते हैं, किन्तु उसके आत्म-कथन द्वारा ही स्पष्ट हो जाता है कि वह राजा लक्ष्मणसेन का सभा-रत्न न होकर 'कादम्बराज विक्रमसेन' का राज-कवि था।[1] उस कवि का वास्तविक नाम 'माधव भट्ट' था।[2] धोयी का स्पष्ट उल्लेख जयदेव ने अपने गीत-गोविन्द के आरम्भ में ही किया है—

"वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः सन्दर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव, शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतेः।

---

१. "इति श्री हलधरणीप्रसूत-कादम्बकुलतिलक-चक्रवर्तिवीर-कामदेवप्रोत्साहित-कविराजविरचिते राघवपाण्डवीये .....।"
—सर्गान्तनिर्देशिका, राघवपाण्डवीय काव्य।

२. संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पं० बलदेव उपाध्याय-रचित, पृ० २६८।

शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्द्धन—
स्पर्द्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोयी कविक्ष्मापतिः ॥
—गी० गो०, १।४

'धोयी कविक्ष्मापतिः' से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि धोयी को 'कविराज' कहा जाता रहा है। इसके अतिरिक्त 'पवनदूत' में भी इनके कविराजत्व की पुष्टि करनेवाले अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। जैसे—

"दन्तिव्यूहं कनक-लतिकां चामरं हैमदण्डं
यो गौड़ेन्द्रादलभत कविक्ष्माभृतां चक्रवर्ती।
श्रीधोयीकः सकलरसिकप्रीतिहेतोर्मनस्वी
काव्यं सारस्वतमिव महामन्त्रमेतज्जगाद ॥
—प० दू०, १०१।

इस श्लोक में काव्य-समाप्ति के पश्चात् कवि ने अपना परिचय प्रस्तुत किया है और अपने को 'कविक्ष्माभृतां चक्रवर्ती' अर्थात् कविराज-चक्रवर्ती कहा है। अपने काव्य के दीर्घजीवन की कामना प्रकट करता हुआ आगे वह कहता है—

"यावच्छंभुर्वहति गिरिजा-संविभक्तं शरीरं
यावज्जैत्रं कलयति धनुः कौसुमं पुष्पकेतुः।
यावद्राधारमणतरुणी-केलि-साक्षी-कदम्ब-
स्तावज्जीयात् कविनरपतेरेष वाचां विलासः ॥"
—प० दू०, १०३।

यहाँ उसने 'कविनरपतेरेष वाचां विलासः' अर्थात् 'कविराज का यह वाग्विलास' कहा है। ये सब दृढ़ प्रमाण हैं जो धोयीक को 'कविराज' सिद्ध कर रहे हैं। 'सदुक्तिकर्णामृत' नामक संग्रह ग्रन्थ में पवनदूत के उपर्युक्त १०१ वें श्लोक से मिलता जुलता श्लोक प्राप्त है, जिसका पूर्वार्द्ध तो तनिक से हेर-फेर के साथ बिल्कुल इसी का पूर्वार्द्ध ही है, उत्तरार्द्ध इससे बदल गया है, जो एक और भ्रान्ति को दूर करने में सहायक हो रहा है। वह श्लोक यों है—

"दन्तिव्यूहं कनककलितं चामरं हैमदण्डं
यो गौड़ेन्द्रादलभत कविक्ष्माभृतां चक्रवर्ती।

ख्यातो यश्च श्रुतिधरतया विक्रमादित्यगोष्ठी-
विद्याभर्तुः खलु वररुचेराससाद प्रतिष्ठाम् ॥[1]

इसके उत्तरार्द्ध से यह भी विदित होता है कि 'श्रुतिधर' भी धोयी का एक अपर नाम था, इनसे भिन्न श्रुतिधर नामधारी कोई अन्य विद्वान् लक्ष्मणसेन की सभा में नहीं था, जैसा कि गीतगोविन्द के टीकाकार महाराज कुम्भ ने माना है।

पवनदूत का गीतिकाव्यत्व

अनेक जैन और बौद्ध कवियों पर भी कालिदास के 'मेघदूत' का गम्भीर प्रभाव दिखाई पड़ता है, किन्तु उनकी कृतियाँ शुद्ध काव्य की कोटि में नहीं आतीं, उनमें आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण ही प्रमुख और अभीष्ट है, दूत-काव्य की शैली मात्र का ग्रहण उन्होंने किया है। उनका उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे। 'पवनदूत' मेघदूत की परम्परा का प्रथम उच्चकोटि का काव्य है, यह पहले कहा जा चुका है। मेघदूत के समान इसकी कथा काल्पनिक न होकर ऐतिहासिक है, यद्यपि केवल महाराज लक्ष्मण सेन को छोड़कर, जो काव्य के नायक रूप में गृहीत हैं, उनकी दक्षिण-विजय-यात्रा का प्रमाण इतिहास में कहीं मिलता नहीं, जिसके आधार पर कवि ने दक्षिण-पवन के दूतत्व की सार्थकता सिद्ध की है। अतः ऐतिहासिक विजय-यात्रा की प्रामाणिकता के अभाव में इसे भी हम कवि-कल्पना का ही विलास मानेंगे। यात्रा को काल्पनिक मान लेने पर भी आत्मानुभूति के चित्रण का इसमें अभाव ही है, क्योंकि इसमें सन्देश भेजनेवाला नायक नहीं, अपितु नायिका है। ग्राम-गीतों में भी हम सन्देश भेजती हुई नायिकाओं को ही पाते हैं, नायकों को नहीं। कालिदास ने उस परिपाटी को बदलकर अपना काव्य आत्मानुभूतिपरक अथच विशेष प्रभावशाली बना दिया है।

इसकी कथा इतनी ही है, 'गौड़ेश्वर महाराज लक्ष्मण सेन दाक्षिणात्य नरेशों पर विजय प्राप्त करने के लिए गए। वहाँ उन्होंने सभी राजाओं पर विजय प्राप्त की। विजय करके जब वे लौट रहे थे, तब मलय पर्वत-निवासिना

---

१. राजा लक्ष्मण सेन के धर्माध्यक्ष बटुदास के पुत्र श्रीधर दास द्वारा संकलित 'सदुक्तिकर्णामृत' से। इसमें कुल २३७० श्लोक संगृहीत हैं, जो वैष्णव कवियों द्वारा निर्मित हैं। यह प्रवाहों में विभक्त है। इसका संकलन-काल तेरहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

गन्धर्व कन्या 'कुवलयवती' उन्हें देखते ही उन पर आसक्त हो गई। महाराज के चले आने पर मदन-बाण से पीड़ित होकर वह उन्मत्त हो गई और उसी दशा में उसने दक्षिण पवन को अपना दूत बनाकर अपनी करुण दशा का वर्णन करके प्रियतम के पास जाने की प्रार्थना की।" मलय पर्वतस्थ गन्धर्वों की पुरी 'कनकनगरी' नाम से विख्यात थी, जो सौन्दर्य में अमरावती से होड़ लेती थी। कामदेव के कुसुमबाण से भी कोमल कुवलयवती लक्ष्मणसेन के सौन्दर्य को देखकर काम-बाण का लक्ष्य बन गई। इसी बात को कवि के शब्दों में सुनिए—

"तस्मिन्नेका कुवलयवती नाम गन्धर्वकन्या,
मन्ये जैत्रं मृदुकुसुमतोऽप्यायुधं वा स्मरस्य।
दृष्ट्वा देवं भुवनविजये लक्ष्मणं क्षौणिपालं,
बाला सद्यः कुसुमधनुषः संविधेयी बभूव॥"

—प० दू०, २।

कालिदास का यक्ष मेघ की प्रशंसा करता हुआ उसे अधिगुण बताकर यह विश्वास प्रकट करता है कि दूत बनकर सन्देश ले जाने की उसकी प्रार्थना मेघ के समक्ष निष्फल नहीं हो सकती। कुलीन व्यक्ति एक दुखिया के हित-साधन से पराङ्मुख नहीं हो सकता—

"जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां,
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनाऽर्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं,
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाऽधमे लब्धकामा॥
सन्तप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः
सन्देशं मे हर धनपति-क्रोध-विश्लेषितस्य।"

—पू० मे०; ६–७।[1]

इसी प्रकार कुवलयवती भी पवन की, जगत्प्राण और दक्षिण आदि विशेषणों द्वारा प्रशंसा करके विश्वास प्रकट करती है कि मेरी प्रार्थना ऐसे महानुभाव द्वारा, ठुकराई नहीं जा सकती और फिर ऐसे पुण्य-श्लोक जनों का जन्म ही परार्थ होता है। देखिए—

१. मेघदूत की छन्द-संख्या मैंने 'क्षेमराज श्री कृष्णदास श्रेष्ठी' के बम्बई वाले संस्करण से दी है। भिन्न-भिन्न प्रकाशनों की छन्द-संख्या में थोड़ा-थोड़ा अन्तर मिलता है।—लेखक

"त्वत्तः प्राणाः सकलजगतां दक्षिणस्त्वं प्रकृत्या,
जङ्घालं त्वां पवन मनसोऽनन्तरं व्याहरन्ति ।
तस्मादेव त्वयि खलु मया सम्प्रणीतोऽर्थिभावः
प्रायो भिक्षा भवति विफला नैव युष्मद्विधेषु ॥
× × ×
प्रादुर्भावस्त्रिजगति खलु त्वादृशानां परार्थः ॥"

पवनदूत ४–६ ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धोयीक ने न केवल दूतकाव्य की कालिदास-कल्पित शैली अपनाई है, अपितु बहुत से स्थलों के भाव भी ज्यों-के-त्यों अपना लिए हैं । कतिपय स्थल द्रष्टव्य हैं—

"संसर्पन्तीं प्रकृति-कुटिलां दर्शितावर्त्त-चक्रां
तामालोक्य त्रिदशसरितो निर्गतामम्बुगर्भात् ।
मा निर्मुक्तासित-फणि-वधू-शङ्कया कातरो भू-
र्भीतः सर्वो भवति भुजगाक्ति पुनस्त्वादृशो यः ॥"

—प० दू०, ३४ ।

मलयवती पवन से कहती है कि जहाँ गंगा और यमुना का संगम है उस लोक-पावन देश में भक्ति-नम्र होकर जाना । वहाँ गंगा जी से पृथक् होती हुई प्रकृत्या कुटिल (टेढ़ी मेढ़ी धारावाली, टेढ़े स्वभाववाली) उस यमुना को भौंर रूपी नाभि-प्रान्त दिखाती हुई देखकर काली सर्पिणी की शङ्का से सभीत मत होना (अपितु उसकी इच्छा पूरी करना) । कालिदास का यक्ष मेघ को उज्जयिनी होकर जाने की प्रार्थना करता हुआ कहता है कि उज्जयिनी की राह में ही निर्विन्ध्या नाम की नदी मिलेगी, उसकी तरङ्गों के क्षोभ से पक्षियों का गूँजता हुआ कलरव उसकी करधनी की झङ्कार बन रहा होगा, वह अपने आवर्त (भौंर) रूपी नाभि-प्रान्त को तुम्हें दिखाएगी । अतः उसके साथ मिलकर आनन्द लूटो, क्योंकि नारियों का पुरुषों के प्रति प्रदर्शित विभ्रम ही तो उनके प्रेममय अभिलाष का प्रकाशक है—

"वीचि-क्षोभ-स्तनित-विहग-श्रेणि-काञ्ची-गुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलित-सुभगं दर्शितावर्त-नाभेः ।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणय-वचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥

—पू० मे०, २८ ।

मलयवती, राजा के पास पहुँचकर सन्देश सुनाने के उचित अवसर का निर्देश करती हुई, पवन से कहती है—

"आसाद्यातः कमपि समयं सौम्य वक्तुं विविक्ते
देवं नीचैर्विनयचतुरः कामिनं प्रक्रमेथाः ।"

—प० दू०, ६१ ।

एकान्त में राजा को अन्य चिन्ताओं से मुक्त पाकर विनयपूर्वक धीरे-धीरे मेरा सन्देश सुनाना आरम्भ करना । यक्ष कहता है कि नींद पूरी हो जाने पर शीतल पवन-संचार से उसे जगाना और जब वह खिड़की पर तुम्हारी ओर निश्चल दृष्टि से चकित होकर देखने लगे तब अपनी स्तनित-वाणी में धैर्य के साथ इस प्रकार बात शुरू करना—

'विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे ।
वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः ॥—उ० मे०, ३६ ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धोयीक पर कालिदास का पूरा-पूरा प्रभाव है । किन्तु कतिपय स्थल ऐसे भी मिलते हैं जहाँ वह सौन्दर्य-वृद्धि की दृष्टि से कालिदास से पृथक् अपनी नूतन दृष्टि की सूचना देते दिखाई पड़ते हैं । दो-एक स्थल देखने का कष्ट करें—

"इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा,
त्वामुत्कण्ठोच्छ्वसित-हृदया वीक्ष्य सम्भाव्य चैवम् ।
श्रोष्यत्यस्मात्परमवहिता सौम्य ! सीमन्तिनीनां,
अन्तोदन्तः सुहृदुपनतः सङ्गमात्किञ्चिदूनः ॥"

—उ० मे०, ३७

"तुम्हें मेरा मित्र समझकर वह एकाग्रचित होकर तुम्हारी बातें सुनेगी, क्योंकि मित्र द्वारा प्राप्त प्रियतम का सन्देश मिलन से कुछ ही घटकर होता है ।" यहाँ यक्ष की प्रियतमा उसकी परिणीता वधू है, अतः कवि ने प्रियतम के सन्देश को 'सङ्गमात्किञ्चदूनः' कहा है और गन्धर्व-कन्या नूतन अपरिचित प्रेयसी है जो अपने प्रणय-सन्देश को प्रिय के पास भेज रही है, अतः वहाँ कवि ने कालिदास की बात बदलकर अपनी मनोवैज्ञानिक सूझ का परिचय दिया है । मलयवती कहती है—

"सद्यः कृत्वा पवन ! विनयादञ्जलिं मूर्ध्नि किञ्चिद्,
वक्तव्योऽसौ रहसि भवता मद्गिरा गौडराजः ।

त्वत्तः श्रोष्यत्यवहित-मनाः सोऽनुरक्ताङ्गनानां,
जायन्ते हि प्रणयिनि सुधा-वीचयो वाचकानि ॥''
—प० दू०, ६६

"हे पवन ! विनयपूर्वक सिर से अञ्जलि लगाकर गौड़राज से एकान्त में मेरी बातें कहना। तुम्हारी बातें वे बड़े ध्यान से सुनेंगे; क्योंकि नई प्रेमिका का प्रणय-निवेदन प्रेमियों के हृदय में अमृत की लहरियाँ उत्पन्न कर देता है।" यहाँ कितनी सटीक और प्रभावशाली उक्ति धोयीक ने प्रस्तुत की है, जो बिल्कुल नई है। अब अभिसारिका का एक-एक चित्र दोनों से लेकर मिलाइए। कालिदास अलकापुरी की कामिनी अभिसारिकाओं का वर्णन करते हुए कहते हैं कि रात में त्वरा से चलने के कारण कामिनियों की अलकों से गिरे हुए कल्पवृक्ष-कुसुमों, कानों से गिरे हुए स्वर्ण-कमल के दलों और सूत्र के टूट जाने से स्तन-प्रदेश से गिरे हुए हारों के मोतियों से जहाँ कामिनियों के नैश मार्ग का पता सूर्योदय होने पर लग जाता है—

गत्युत्कम्पादलक-पतितैर्यत्र मन्दार-पुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च।
मुक्ताजालैः स्तन-परिसरच्छिन्न-सूत्रैश्च हारै-
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥
—उ० मे०, ९।

इस प्रकार कालिदास की कामिनियों के अभिसरण का पता तो प्रातः काल लोगों को लग जाता है; किन्तु धोयीक की कामिनियाँ रात्रि में बराबर निःशङ्क अभिसरण करती हैं, उनके अभिसार का पता किसी को चलता ही नहीं, क्योंकि उनके पैरों के अलक्तक-राग और अलकों से गिरे हुए रक्ताशोक के गुच्छे प्रातःकालीन सूर्य की रक्तिम किरणों में मिलकर एकाकार हो जाते हैं—

भ्राम्यन्तीनां तमसि निविड़े वल्लभाकांक्षिणीनां,
लाक्षारागाश्चरणगलिताः पौर-सीमन्तिनीनाम्।
रक्ताशोकस्तवक-कलितैर्बालभानोर्मयूखै-
र्नालक्ष्यन्ते रजनिविगमे पौरमार्गेषु यत्र ॥

यहाँ मीलित अलङ्कार ने आकर चमत्कार-वर्द्धन किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि धोयीक एक प्रतिभा-सम्पन्न उच्चकोटि के कवि हैं। स्थान-स्थान पर इनकी मौलिकता नया चमत्कार उत्पन्न करती दिखाई पड़ती है।

कल्पना का योग होने पर भी 'पवनदूत' में कालिदास की-सी आत्मानुभूति नहीं है। इसी कारण इसमें मेघदूत के समान भावों की तीव्रता नहीं मिलती, जो गीतिकाव्य की आत्मा है। 'पवन दूत' को हम परोक्षानुभूतिपरक गीतिकाव्य ही कहेंगे। प्रबन्ध काव्य के लिए उपयुक्त पर्याप्त कथा-तत्त्व के अभाव के ही कारण 'दूतकाव्य' की गीतिमत्ता उनमें प्रबन्धत्व को दबा देती है। प्रबन्धात्मक भाव-धारा मुक्त गीतों से गम्भीर एवं समन्वित प्रभाव पाठक और श्रोता पर डालती है, यही दूतकाव्यों की विशेषता है।

अन्य दूतकाव्य

सन्देश-रासक

कवि-गुरु कालिदास की गीतियों में भाषा का जो प्रसन्न प्रवाह, उसकी पारदर्शिता के कारण भावों की हृदय में उतर आनेवाली सहज व्यञ्जना और काव्य का अयत्नसिद्ध स्वरूप मिलता है, धोयीक कवि में हमें वे गुण न्यूनाधिक मात्रा में तो मिलते हैं, किन्तु आगे चलकर हम देखते हैं कि कविता में भी अटपटी कसरतों के प्रदर्शन की ओर लोगों का मन जाने लगा था। हाँ, गीतिकाव्य के प्रकृत क्षेत्र लोकभाषाओं में सुन्दर रसमयी गीतियों की रचना हो रही थी। धोयीक कवि के आस-पास ही अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी में **अद्दहमाण** नामक एक कवि ने कालिदास के मेघदूत के ही आदर्श पर **'सन्देश-रासक'** नामक बड़े ही सुन्दर गीतिकाव्य की रचना की। 'सन्देश-रासक' की भूमिका से पता चलता है कि इसकी हस्तलिखित प्रति की टीका विक्रम सं० १४६५ की लिखी हुई प्राप्त है। अतः यह सिद्ध है कि काव्य का रचना-काल इससे पूर्व है। किसी ठोस प्रमाण के अभाव में विद्वानों ने अनुमान द्वारा भिन्न-भिन्न कालों का निर्देश किया है। डॉ० कात्रे का कहना है कि इसका रचना-काल ग्यारहवीं और चौदहवीं शताब्दी के बीच का होना चाहिए।[1] इस ग्रन्थ के सम्पादक श्री मुनि जिन विजय ने इसका रचना-काल बारहवीं शताब्दी विक्रमी के उत्तरार्द्ध और तेरहवीं शता० के पूर्वार्द्ध के बीच माना है।[2] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे ग्यारहवीं

---

१. The Karnatak Historical Review, Part 4, June and July 1937, No. 1-2.

२. रासक की भूमिका, पृ० ७।

वि० शती की रचना होने का अनुमान लगाया है।[1] यह काव्य 'अद्दहमाण' या 'अब्दुर्रहमान' कवि द्वारा लिखित है, जो सामोरु वा मुल्तान का निवासी और जाति का जुलाहा था। उसने अपने काव्य को पूर्णतया भारतीय संस्कृति के आदर्श पर रचा है। वह संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं पर अच्छा अधिकार रखता था। इसका पता उसके काव्य से ही स्पष्टतया चल जाता है। संस्कृत और प्राकृत के महाकवियों के भावों का आदान कवि ने बड़े अधिकार से किया है। हनुमन्नाटक में सीता से विप्रयुक्त राम ने शोक-दग्ध हृदय से कहा है—

हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेष-भीरुणा।
इदानीमावयोर्मध्ये सरित्सागरभूधराः ॥[2] —हनुमन्नाटक

अर्थात् प्रिये, मैंने तुम्हारे तनिक से वियोग के भय से अपनी छाती पर हार तक नहीं धारण किया और आज दुर्भाग्यवश मेरे और तुम्हारे बीच नदियों, समुद्रों और पर्वतों का अन्तर आ गया है। इसी भाव को लेकर अद्दहमाण अपनी विरहिणी नायिका से कहलाता है—

तइया निवडंत णिवेसियाइँ संगमइ जत्थ णहु हारो।
इन्हिं सायर-सरिया-गिरि-तरु-दुग्गाइँ अन्तरिया ॥
—सं० रा०, प्रक्रम २।९३।

नायिका है विजयनगर में और खंभात में पति के पास वह सन्देश भेजती है, यद्यपि विजयनगर और खम्भात के बीच कोई समुद्र नहीं है, तथापि पूर्ववर्ती कवि की उक्ति से प्रभावित होकर उसने भी 'सरिया, गिरि, तरु, दुग्गाइँ' के साथ 'सायर' को ला रखा, इससे विरहिणी की उन्मादावस्था की सूचना भी मिलती है। पूरा काव्य ठीक प्रक्रमों वा सर्गों में विभक्त है। काव्य का आरम्भ मङ्गलाचरण से होता है, फिर कवि आत्म-परिचय प्रस्तुत करता है और तदनन्तर पूर्ववर्ती कवियों को नमन करता है। वह अत्यन्त

---

१. हिन्दी-साहित्य, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० सं० ७१।

२. सुभाषित-सुधा-रत्न-भाण्डागार में इसे वाल्मीकि-रचित कहा गया है, अकाराद्यनुक्रमणिका, पृ० १६७, वहाँ यह इस रूप में है—

'हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा।
इदानीमन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः ॥
—विरहिण्याःप्रलापाः, ३, पृ० ११६।

विनीत शब्दों में कहता है कि मेरी कविता शुद्ध स्वान्तःसुखाय है। मैं जानता हूँ कि इसके द्वारा काव्य-रसिकों का आह्लादन नहीं हो सकेगा, तथापि जैसे कोकिल के लोक-रञ्जक गान छेड़ने पर भी कौवा काँव-काँव की कर्णकटु बोली बोलने से अपने को रोक नहीं पाता, उसी प्रकार मेरा भी हृदयोद्गार नीरस वाणी में व्यक्त करने के लिए मुझे विवश किए दे रहा है, अन्य कवियों के उत्कृष्ट काव्यों के होते हुए भी। ब्रह्म-मुख से निःसृत वेदों के होते हुए भी क्या और कवि काव्य-रचना से विरत हो जायँ?[1] मैं यह जानता हूँ कि मेरा काव्य बुध जनों को हीन कोटि का प्रतीत होगा, किन्तु साथ-ही अबुध जन भी अपनी बुद्धिहीनता के कारण इसमें प्रवेश नहीं कर पाएँगे। हाँ, जो लोग न तो मूर्खों की कोटि में हैं और न ही पण्डितों की श्रेणी में, उन मध्यवर्ग के लोगों के समक्ष यह काव्य पढ़ा जा सकता है—

णहु रहइ वुहा कुकपित्तरेसि,
अबुहत्तण अबुहह णहु पवेसि।
जि ण मुक्ख ण पंडिय मज्झयार,
तिह पुरउ पढिव्वउ सव्ववार॥ —प्रक्रम १। २१।

इस प्रकार काव्य का प्रथम प्रक्रम इसकी भूमिका वा प्रस्तावना मात्र है। कथनीय वस्तु का आरम्भ होता है द्वितीय प्रक्रम से। कुल कथा इतनी ही है—

विजयनगर की रहनेवाली एक बाला अपने प्राणेश्वर पति के परदेश चले जाने के कारण विरह से सन्तप्त है, क्षण भर के लिए भी उसका हृदय शान्त नहीं हो पाता। उसके प्रियतम जिस देश में गए हैं, उधर जाने वाले और उधर से आने वाले पथिकों की राह देखा करती है। कुछ दिनों के बाद उसी ओर जाने वाला एक बटोही उसे दिखाई पड़ जाता है। वह उसके पास जा पहुँचती है और बात ही बात में उसे ज्ञात होता है कि पथिक 'सामोरु' (कवि की जन्म-स्थली) से आ रहा है। 'सामोरु' का बड़ा आकर्षक वर्णन कवि ने किया है। फिर पथिक बतलाता है कि मुझे खंभात नगर जाना है। नायिका का मनचाहा होता है, क्योंकि उसका पति भी वहीं गया है। अब नायिका अपनी मनोदशा के विभिन्न कारुणिक चित्र उसके समक्ष प्रस्तुत करती है। उसका पति ग्रीष्म ऋतु में गया था, अब वसन्त आगया किन्तु प्राणेश्वर

१. सन्देश रासक, १।९, १७।

ने उसकी सुधि न ली। इसी व्याज से कवि ने षड्ऋतुओं का आकर्षक रूप में उद्दीपनात्मक वर्णन किया है। गायिका लाज में गड़ी जाती है कि वह विपत्तियों के पहाड़ से दब कर भी बची क्यों रह गई, वह सन्देश किस मुँह से भेजे। पथिक से सन्देश कह कर वह लौटते ही देखती है कि उसका जीवन-सर्वस्व दक्षिण दिशा से चला आ रहा है। हर्षातिरेक से वह आत्म-विभोर हो जाती है। आशीर्वादात्मक मङ्गल से कवि काव्य को समाप्त करता है।

इस सुखान्त काव्य में भारतीय साहित्य-परम्परा का पूरा-पूरा निर्वाह हुआ है। यही पहला मुसलमान कवि है जिसने भारतीय साहित्यिक भाषा में ऐसी समर्थ रचना प्रस्तुत की। काव्य का प्रतिपाद्य लौकिक प्रेम है. विप्रलम्भ शृंगार ही प्रधान रस है। भारतीय काव्य-परम्परा में गृहीत उपमानों का ही व्यवहार देखने को मिलता है, साथ प्रकृति-खण्डों के दृश्यों का चित्रण भी कवि का गम्भीर प्रकृति-प्रेम प्रकट करता है। किसी दृश्य वा रूप का बिम्बग्राही चित्र प्रस्तुत करने में इन्होंने भारतीय सफल कवियों से होड़ ली है। जिस प्रकार इस कवि ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से लाभ उठाया, उसी प्रकार हिन्दी के परवर्ती बहुत से कवियों ने इस कवि से बहुत कुछ ग्रहण किया है। विरहिणी नायिका विरहज्वर से अतिशय कृशांगी हो गई है, उसके पंचतत्त्व अब तक कभी के इस विरह-व्याधि से पंचतत्त्व में मिल गए होते यदि दर्शन की आशा रूपी ओषधि न होती तो—

तुह विरह पहर संचरिआइँ विहडंति जं न अंगाइँ।
तं अज्ज-कल्ल संघडण-ओसहे णाह तग्गंति॥
—सं० रा०, प्र० २। ८२।

कविवर देव की विरहिणी की भी यही दशा देखने में आ रही है—

साँसन ही सों समीर गयो अरु आँसन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तन की तनुता करि।
'देव' जियै मिलिबेई की आस कि आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन ते मुख फेरि हरे हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि॥
—भा० वि०

महावीर हनुमान् ने समुद्र पार करके अशोक वनिका में जब विरह-परिक्लिष्ट सीता को देखा, तब मन ही मन यही सोचा था—

सेयं कनकवर्णाङ्गी नित्यं सुस्मित-भाषिणी।
सहते यातनामेतामनर्थानामभागिनी॥
कामभोगैः परित्यक्ता हीना बन्धुजनेन च।
धारयत्यात्मनो देहं तत्समागम-लालसा॥
नैषा पश्यति राक्षस्यो नेमान्पुष्प-फल-द्रुमान्।
एकस्थ-हृदया नूनं राममेवानुपश्यति॥

—बा० रा०, सु० कां०, सर्ग १६।२१, २४, २५।

प्रणय-जगत् का यह एक चिरन्तन सत्य है कि प्रेमी और प्रेमिका विरहावस्था में भी मिलन की आशा में ही प्राण धारण करते हैं। उनकी अन्तिम कामना प्रिय-दर्शन की ही होती है। यह प्रेम की चरम परिणति है। किसी लोक-कवि की यह गीति अत्यन्त मार्मिक और लोक-प्रसिद्ध है, जो इसी भाव को लेकर कही गई है—

कागा सब तन खाइयो, चुनि-चुनि हाड़ औ माँस।
दो नैना जनि खाइयो, पिय-दरसन की आस॥

विरहिणी नायिका का एक बिम्बग्राही चित्र अद्दहमाण ने प्रस्तुत किया है, इसकी विशेषता यह है कि बाह्य रूप के द्वारा हम हृदय का आभ्यन्तर चित्र भी भली भाँति देख लेते हैं और इसके द्वारा कवि की सहृदयता की पूरी-पूरी परीक्षा भी हो जाती है—

विजय नयरहु कावि वर रमणि,
उत्तंग थिर थोर थणि, विरुड-लक्क, धयरट्ठ-पउहर।
दीनाणण पहु णिहइ जल-पवाह पवहंति दीहर।
विरहग्गिहि कणयंगि तणु तह सामलिम पवन्नु।
णज्जइ राहि विडंविअउ ताराहिवइ सउन्नु॥
फुसइ लोयण रुवइ दुक्खत्त
धम्मिल्ल उम्मुक्क मुह, विज्जंभइ अरु अंग मोडइ।
विरहानलि संतविअ ससइ दीह, करसाह तोडइ॥

—सं० रा०, प्र० २।२४, २५।

"विजयनगर की कोई सुन्दरी रमणी थी। ऊँचे उठे हुए, अश्लथ और बड़े-बड़े उसके स्तन थे। भिड़ की कटि के समान कटिवाली,[1] हंस के समान पग धरनेवाली (हंसगामिनी) वह बाला दीनानना (म्लानमुखी) होकर अपने प्रभु (प्राणेश्वर) का पथ देख रही थी। नेत्रों से दीर्घ जल-प्रवाह जारी था। उस स्वर्णकान्ता का तन विरहाग्नि से झुलस कर श्यामल पड़ गया था, निर्दय राहु ने मानों सम्पूर्ण ताराधिप (पूर्णिमा के चन्द्रमा) को विडंबित कर दिया हो। वह दुःख से रो रही थी और आँसू पोंछती जाती थी। खुली हुई केश-राशि मुख पर बिखर पड़ी थी। आलस्य के वशीभूत हो वह जँभाई ले रही थी और अंगों को मोड़ती थी। विरहानल में सन्तप्त होकर लम्बी उसाँसें भरती थी और कभी अँगुलियों को तोड़ती थी।"

प्रोषितपतिका नायिका का यह चित्र कवि की बड़ी सूक्ष्म पर्यवेक्षणशक्ति का परिचय देता है। नायिका के बाह्य व्यापार उसके सन्तप्त हृदय की विवशता, व्याकुलता, किंकर्तव्यमूढ़ता, अस्थिरता, दुःखातिशयता को द्योतित कर रहे हैं। कवि-गुरु कालिदास के यक्ष ने पहले अपनी प्रियतमा का 'तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी'।[2] आदि शब्दों में बड़ा ही चटकीला रूप-वर्णन किया है—यह रूप वह है जो उसने संयोगावस्था में देखा था, क्योंकि वही रूप ध्यान करने पर उसकी आँखों के सामने उतर आता था। बाद में जब वह उसकी वर्तमान स्थिति का अनुमान करता है तब कहता है कि उसका वह रूप जो मैंने पहले कहा है अब बिल्कुल ही बदल गया होगा। अब तो तुम उसे इस रूप में पहचान सकोगे, उसके अंगों की चञ्चलता खो गई होगी, बोलना भी कम हो गया होगा, विरह-वेदना की

---

१. यहाँ कटि-प्रान्त को सूक्ष्मता के लिए ही कवि ने नायिका को 'विरड-लक्क' (भिड़-सदृश लंकवाली) कहा है। इस प्रकार की उपमाएँ परवर्ती काल में खूब चलने लगी थीं। कवियों की दृष्टि उपमान के अङ्गी पर न जाकर उपमान-स्वरूप अंग पर ही अर्जुन के समान टिक जाती थी। वातावरण के प्रभाव का ध्यान ही उन्हें नहीं रहा था। भूषण कवि कहते हैं—

"सोंधे को अधार, किसमिस जिनको अहार,
चारि को-सो अंक लंक चन्द सरमाती हैं।"
—भू० ग्रं०, शि० भू०।

२. उत्तरमेघ, २२।

तीव्रता से देह सूख गई होगी, शरद् ऋतु की पूर्ण नयनाभिराम खिली हुई कमलिनी शिशिर ऋतु आने पर जिस प्रकार विगत-श्री होकर मुर्झा जाती है, वैसी ही वह भी बिल्कुल बदल गई होगी—

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं,
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिर-मथितां पद्मिनीं वाऽन्यरूपाम् ॥
नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया
निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम् ।
हस्त-न्यस्तम्मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ॥

—उ० मे०, २०–२१ ।

यक्ष-प्रियतमा 'श्यामा' अर्थात् युवती है, विजयनगर की विरहिणी 'वररमणि' है। यक्षिणी के स्तन इतने बड़े-बड़े हैं कि उसे उनके कारण 'स्तोक नम्र' हो जाना पड़ता है, इधर इस रमणी के स्तन ऊँचे, कठोर और बड़े-बड़े हैं। यक्षिणी 'मध्ये-क्षामा' (कृश कटि वाली) है और यह भिड़ के समान पतली लंक वाली है। अद्दहमाण की नायिका मुर्झाए चेहरे से पति का पन्थ निहार रही है, शायद वर्ष पूरा होने पर अथवा वसन्त के आने के कारण उसके लौटने का समय हो गया था; क्योंकि कवि ने वर्ष भर में होने वाली छहों ऋतुओं का वर्णन किया है और नायक ग्रीष्म में गया था। कालिदास का यक्ष भी एक वर्ष के ही लिए निर्वासित किया गया था (वर्षभोग्येण शापेन)।[1] विजय-नगर की 'वर रमणि' के हृदय में पति के आने का समय पूर्ण होने के कारण विशेष उद्विग्नता है, इसीलिए आँसू की धारा रुकती नहीं। वह बार-बार जँभाइयाँ लेती, अंग मोड़ती और अँगुलियों को तोड़ती है, किन्तु यक्षिणी को अभी पहाड़ जैसे चार महीने काटने हैं।[2] अतः उसमें तो चिन्ता के भार से शैथिल्य और जड़ता ही होगी, इसीलिए वह हथेली पर मुँह रखे अचेत-

१. कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनाऽस्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्त्तुः । —पू० मे०, १ ।

२. शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ,
शेषान्मासान्गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा ।—उ० मे०, ४७ ।

सी होगी, और बालों के बिखर आने से मुँह भी पूरा नहीं दिखाई पड़ेगा जैसे बादल से ढका हुआ चन्द्र-विम्ब हो। अद्दहमाण को यहाँ उपमा ढूँढ़ने की फ़ुर्सत नहीं है। वह कहता है 'धम्मिल्ल उम्मुक्क मुह' अर्थात् मुँह पर केश-राशि बिखरी थी। दोनों महाकवियों के चित्र अपने-अपने स्थान पर अत्यन्त मनोवैज्ञानिक अथच प्रभावशाली हैं। दोनों ही ने नायक का प्रवास-काल एक ही वर्ष रखा है। और दोनों के काव्य आशीर्वादात्मक मंगल से समाप्त होते हैं। यक्ष कहता है—

'इष्टान्देशाञ्जलद विचर प्रावृषा सम्भृत-श्री-
र्माभूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः॥"—उ० मे०, ५२।

अर्थात्—मेघ, तुम अपनी पूर्ण शोभा के साथ वर्षा भर अपने मन-चाहे देशों में विचरण करो और अपनी प्रियतमा बिजली से तुम्हारा क्षण भर भी वियोग न हो। अद्दहमाण नायिका को नायक से मिलाकर अपने काव्य के पाठकों और श्रोताओं को आशीर्वाद देते हैं कि जिस प्रकार उस सुन्दरी का कार्य अचानक ही क्षण भर में सिद्ध हो गया उसी प्रकार इस काव्य के पढ़ने और सुननेवालों का कार्य सिद्ध हो। उस अनादि और अनन्त (सच्चिदानन्द) की जय हो—

"जेम अचिंतिउ कज्जु तसु सिद्धु खणद्धि महंतु।
तेम पढंत सुणतयह, जयउ अणाइ - अणंतु॥"
—सं० रा०, प्र० ३। २२३।

इससे इतना तो स्पष्ट है कि अद्दहमाण ने कालिदास के 'मेघदूत' का पूर्णतया अनुशीलन किया था और उससे अत्यन्त प्रभावित था। 'संदेश-रासक' काव्य के निर्माण की प्रेरणा-भूमि मेघदूत ही है, किन्तु कवि ने आद्यन्त काव्य में अपनी उन्मुक्त प्रतिभा और कल्पना का उपयोग किया है।

अद्दहमाण मुलतान के पास किसी ग्राम का निवासी प्रतीत होता है। ग्राम्य प्रकृति के सुचारु चित्रण के साथ ही ग्राम्य जीवन का बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण काव्य में अनेक स्थलों पर मिलता है। कवि के जीवन-काल में विद्वद्वर्ग में संस्कृत और प्राकृत भाषा का ही बोल-बाला था, किन्तु कवि ने सामान्य साहित्यिकों और ग्रामवासियों को दृष्टि में रखकर अपने काव्य की रचना अपभ्रंश भाषा में की। जिस प्रकार कवि-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास और महाकवि केशवदास को संस्कृत से हटकर 'भाषा' में काव्य रचना करने

के लिए संकोच का अनुभव करना पड़ा था,[1] उसी प्रकार विद्वद्वर्ग के उपहास से बचने के लिए संभवतः इस कवि ने विद्वानों से इसे न पढ़ने की प्रार्थना की है और मध्यमवर्ग को पढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया है। अद्दहयाण अपने समय का महान् गीतिकार था। यह काव्य भी गीति-प्रधान काव्य है। मेघदूत की शैली पर लिखे गए अन्य काव्यों में प्रायः एक ही छन्द पाया जाता है किन्तु इस कवि ने अनेक गेय छन्दों का सफल प्रयोग किया है। कथांश की न्यूनता और भाव-चित्रण की प्रधानता के कारण हम इसे भी गीतिकाव्य ही मानते हैं, प्रबन्ध नहीं।

जितने सन्देश-काव्य हैं सबमें गीतितत्त्व की ही प्रधानता दिखाई पड़ती हैं। कथा-बन्ध का आग्रह सब में नहीं के बराबर है। उन्हें हम 'भाव-बन्ध' कह सकते हैं, 'कथा-बन्ध' नहीं। वियोगावस्था में हृदय में उत्पन्न होने वाले अगणित वेदनात्मक भावों का उद्घाटन ही दूतकाव्य-रचयिताओं का लक्ष्य है। मुक्तक रचना में कुछ काल के लिए रस-मग्नता की सामग्री होती है. किन्तु दीर्घकाल-स्थायी जो हृदयोद्वलकर समन्वित प्रभाव भाव-प्रबन्धों में होता है वह लघुकाय मुक्तकों में नहीं मिलता। काल्पनिक क्षुद्र कथा के संस्पर्श मात्र से भाव-निबन्धन में जो सुश्रृंखलता आ जाती है, उससे प्रणयी और प्रणयिनी का पूरा-पूरा चित्र आँखों के सामने आ उपस्थित होता है और आलम्बन से पाठक और श्रोता का हृदय अत्यन्त सामीप्य वा अभिन्नता का अनुभव करता है। यों तो पूज्य आचार्यों ने उच्चकोटि के मुक्तककारों की भी प्रशंसा मुक्तकण्ठ से की है और उन्हें प्रबन्धकारों के समकक्ष ला खड़ा किया है, जैसे आचार्य आनन्दवर्धन 'अमरुशतक' के रचयिता अमरुक कवि की रचनाओं पर संघटना के प्रकरण में अपनी सम्मति इन शब्दों में प्रकट करते हैं—

---

१. भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी॥

—रा० च० मा०, बा० कां०, दो० सं० ९।

गीताप्रेस, गोरखपुर।

भाखा बोलि न जानहीं, जिनके कुल को दास।
भाषा कवि भो मंदमति, पांवर केसवदास॥

—कविप्रिया, प्रभाव २। १७।

"मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथाह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररस-स्यन्दिनः प्रबन्धायमाणाः प्रसिद्धा एव।" —ध्व०, उद्योत ३। कारिका ७ की वृत्ति।

अर्थात् 'प्रबन्ध काव्यों के ही समान मुक्तकों में भी रसबन्ध की प्रतिष्ठा करनेवाले अनेक कवि मिलते हैं। जैसे अमरुक कवि के शृङ्गार रसवर्षी मुक्तक प्रबन्ध के सदृश प्रसिद्ध ही हैं।' इसी प्रकार शृङ्गार रस-मूर्ति जयदेव अपने समय के प्रख्यात कवि आचार्य गोवर्धन के शृंगारी मुक्तकों की प्रशंसा करते हुए उन्हें सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित कर देते हैं—

"शृङ्गारोत्तर-सत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्द्धन-स्पर्द्धी कोऽपि न विश्रुतः.....।"

—गी० गो०, ४।

अर्थात् 'शृंगार रस की उत्तम रचना में आचार्य गोवर्द्धन से होड़ लेने वाला कोई सुनने में नहीं आया।' किन्तु लोक-हृदय के आवर्जन की जो क्षमता भाव-बन्ध दूत-काव्य में मिलती है, उसका प्रमाण मेघदूत की विश्व-विश्रुति है ही। अन्य सन्देश काव्यों में सन्देश भेजनेवाले पुरुष ही मिलते हैं किन्तु 'पवन दूत' और 'सन्देश रासक' इन दोनों में सन्देश भेजनेवाली स्त्रियाँ हैं। इसका भी एक सुचिन्तित कारण प्रतीत होता है। सन्देश काव्य की दो प्रमुख विशेषताएँ देखने में आती हैं, एक है उसकी आत्मानुभूतिपरकता और दूसरी है उसकी गीतिमत्ता। किसी दूत काव्य में आत्मानुभूति का प्राधान्य है और किसी में गीति-तत्त्व का। महाकवि शूद्रक ने अपने 'मृच्छकटिक' नाटक में पुरुष के गाने पर बड़ी विनोदपूर्ण किन्तु पते की बात विदूषक से कहलाई है। चेट आर्यचारुदत्त की प्रतीक्षा करता है, जो कि संगीत सुनने के लिए गए थे। उसी समय वह एक गीत गाता है, जो बड़ा भावपूर्ण है। वह गीत है—

"शश्श-पलक्क बलद्दे ण शक्कि वालिदुं,
अण्ण पशत्त-कलत्ते ण शक्कि वालिदुम्।
जूद-पशत्त-मनुश्शे ण शक्कि वालिदुं,
जे वि शहाविअ दोशे ण शक्कि वालिदुम्॥"[1]

—मृ०, अं० ३।२।

---

१. जिस बैल को खेत चरने की आदत पड़ गई उसे, जो पर-स्त्री में आसक्त हो गया उसे और जिसे जुआ खेलने का चस्का पड़ गया उसे रोका, नहीं जा सकता, इसी प्रकार किसी का स्वाभाविक दोष दूर नहीं किया जा सकता।

इतने ही में चारुदत्त आ जाता है और विदूषक से उसके गाने की प्रशंसा करता है। इस पर नाक-भौं सिकोड़ता हुआ विदूषक गीत के माधुर्य्य के प्रति अपना वैमत्य प्रकट करता है और कहता है--

मम दाव दुवेहिं ज्जेव्व हस्सं जाअदि। इत्थि आए सक्कअं पढन्तीए, मनुस्सेण अ काअलीं गाअंतेण। इत्थिआ दाव सक्कअं पढन्ती, दिण्णणवणस्सा विअ गिट्टी, अहिअं सुसुआअदि। मनुस्सो वि काअलीं गाअंती, सुक्ख-सुमणोदामवेट्टिदो वुड्ढपुरोहिदो विअ मन्तं जवन्तो, दिढं मे ण रोअदि।''
—मृ०, अं० ३।

अर्थात् 'मुझे तो इन दोनों ही पर हँसी आती है, स्त्री के संस्कृत पढ़ने और पुरुष के काकली गाने पर। संस्कृत पढ़ती हुई स्त्री ऐसी लगती है जैसे अधिक नई सुँघनी सूँघ कर सू-सू कर रही हो और काकली गाता हुआ पुरुष सूखे फूलों की मालाओं से ढके हुए वृद्ध पुरोहित की भाँति मन्त्र जपता सचमुच मुझे अच्छा नहीं लगता।' गउडवहो' का रचयिता महाकवि वाक्पति-राज प्राकृत काव्य की प्रशंसा करता हुआ कहता है—

"णवमत्थदंसणं संणिवेस-सिसिराओ बन्ध रिद्धिओ।
अविरलमिणमो आभुवण-बन्धमिह णवर पययम्मि॥
— गउडवहो, प० सं० ९२।

अर्थात् 'नूतन अर्थ-दर्शन, सन्निवेश-माधुर्य्य और बन्ध की समृद्धि सृष्टि के आदि काल से केवल प्राकृत में पाई जाती है।' इससे यही प्रतीत होता है कि संगीत के स्वाभाविक माधुर्य्य की रक्षा के लिए धोयीक और अद्दहमाण ने अपने गीतों को नारी की वाणी प्रदान की है। अद्दहमाण ने तो प्रकृति की वाणी का आश्रय ग्रहण करके अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। इस कवि का तेरहवीं या चौदहवीं शताब्दी में होना अनुमित होता है। हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण में 'सन्देशरासक' के प्राप्त चार छन्द किसी पूर्ववर्ती कवि के भी हो सकते हैं, क्योंकि सन्देशरासक' का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता।

उल्लिखित दूत काव्यों के अतिरिक्त उदयन-रचित 'मयूर-सन्देश', वासुदेवकृत 'भृंग-सन्देश', वामनभट्ट बाण का 'हंसदूत' और विष्णुत्रात-विरचित 'कोक-सन्देश' प्रसिद्ध हैं। इनमें 'कोक-सन्देश' का रचयिता एक विदग्ध-हृदय कवि प्रतीत होता है। इस कवि का समय सोलहवीं शताब्दी

ईस्वी है। यह काव्य पूरा-पूरा मेघदूत का पदानुसरण करता है। उसी की भाँति यह काव्य भी पूर्व-भाग और उत्तर भाग नाम से दो भागों में विभक्त है। पूर्व भाग में १२० छन्द तथा उत्तर भाग में १८६ मन्दाक्रान्ताएँ हैं। कथा के लिए कवि की कल्पना है कि विहारपुर का कोई राजकुमार जो अपनी प्रियतमा के प्रगाढ़ प्रेम में आबद्ध होकर दिन-रात स्वैर रमण करता है, दैव-योग से किसी मन्त्रविद् के मन्त्र द्वारा दूर देश में खींच लिया जाता है। अपनी प्रिया से वियुक्त होकर वह अत्यन्त सन्तप्त हो उठता है। इतने ही में उसे एक कोक पक्षी (चक्रवाक) दिखाई पड़ जाता है और वह उसी से प्रार्थना करके अपना सन्देश 'कामारामपुर' नामक नगर में ले जाने को कहता है। पहले कोक की प्रशंसा की गई है, फिर उसे मार्ग बताया गया है। मार्ग में आनेवाले विशेष स्थान हैं—वारणा, सुन्दरा, सचन्द्रा राजधानी, शान्ताकारा, रम्या, लोकभद्र शिवक्षेत्र, अयोध्या और नाथक्षेत्र—जिसे पूर्णानन्त भी कहते हैं। पूरा काव्य मेघदूत से प्रतिच्छायित हैं; किन्तु यह कवि चमत्कारप्रिय विशेष दिखाई पड़ता है। यमक और श्लेष का प्रचुरता से प्रयोग किया गया है। कोक से प्रार्थना करते समय ही यमक का एक चित्र देखिए—

"विश्वासो मे भवति भवति प्राप्तिमात्रेण तस्मा-
द्वच्ये नुन्नो विवर ! विवरप्रेप्सुनाऽलं स्मरेण।
मत्प्रेयस्या हृदय-हृदयन्नाशु पार्श्वं सखे ! स्या
नूनं चित्तं सरति सरति प्रेष्ठदूतेऽङ्गनानाम् ॥"

—को० सं०, प्र० भा०, ९।

बीच में शिव जी के प्रति भक्तिपूर्ण उक्तियाँ मेघदूत के ही आदर्श पर रखी गई हैं। जैसे मेघ अपनी प्रिया विद्युत् के साथ भेजा गया था, उसी प्रकार कोक भी अपनी कोकी साथ भेजा गया है। अलकापुरी से ही होड़ लेता वर्णन 'कामारामा' नाम्नी नगरी का किया गया है। अलका की मुग्धाओं का वर्णन करते हुए यक्ष ने कहा—

"नीवी-बन्धोच्छ्वसित-शिथिलं यत्र विम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्न-प्रदीपान्
ह्रीमूढानां भवति विफल-प्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥"

—उ० मे०, ५

राजकुमार कामारामा की मुग्धाओं की लाज ढकता हुआ कहता है—

"उद्यद्दीपे नवमणिरुचा रोचिते केलिगेहे
नीवी-बन्ध-त्रुटन-रसिके प्राणनाथे निशायाम् ।
लज्जाभाराद् विधुरमनसां यत्र मुग्धाङ्गनानां
काञ्ची नीलोपल-रुचिरहो किञ्चिदाश्वासहेतुः ॥"

—को० सं०, उ० भा०, ८ ।

अन्त में मेघ के समान कोक को भी आशीर्वाद दिया गया है और उसे प्रिया से आदेश प्राप्त करने के पश्चात् इष्ट देशों में विचरण के लिए कहा गया है। इस प्रकार काव्य समाप्त किया गया है। इस काव्य में चमत्कार-प्रियता के कारण हृदय-पक्ष, जो गीतिकाव्य की आत्मा है, दब गया है। फिर भी काव्य-प्रेमियों के लिए यह मनोरञ्जक तो है ही।

'हंसदूत' अनेक कवियों ने प्रस्तुत किए हैं। वेदान्तदेशिक ने राम की ओर से सीता के पास हंस भेजा है। चैतन्य देव के विद्वान् शिष्य आचार्य रूप-गोस्वामी ने राधा की ओर से कृष्ण के पास 'हंस-सन्देश' भेजा है। यह काव्य सौ शिखरिणी वृत्तों में है।

आध्यात्मिक दूत-काव्य

कतिपय वैष्णव और जैन महात्माओं ने भी अपनी धार्मिक मान्यताओं और आध्यात्मिक विचारों के प्रतिष्ठापन और विश्लेषण के लिए भी दूत-काव्यों की सृष्टि की है। जैन कवि विक्रम ने तेरहवीं शती ईस्वी में 'नेमिदूत' नामक काव्य का प्रणयन किया। रूप गोस्वामी का हंसदूत भी धर्म के क्षेत्र में माधुर्य्य भावस्थ भक्ति की प्रतिष्ठा के ही लिए निर्मित हुआ है। 'हंस-सन्देश' में मनोहंस को भक्ति-सुन्दरी के पास प्रेषित किया गया है। ऐसे काव्य शुद्ध गीति काव्य की कोटि में नहीं आते। इनका महत्त्व धार्मिक दृष्टि से ही विचारणीय है।

शास्त्रीय संगीत का विधान काव्य में तालों के निर्देशानुसार 'गीतगोविन्द' के पूर्ववर्ती किसी काव्य में नहीं मिलता तथापि गीति-निर्माण की ओर से भारतीय कवि कभी पराङ्मुख नहीं हुआ। गीति का प्रकृत क्षेत्र-प्राकृत-समाज होने पर भी सच्चे सहृदय भारतीय संस्कृत (साहित्यिक) कवि का हृदय भी गीति की स्निग्धच्छाया में आसीन हुए बिना रह न सका। मुक्त गीतियों में सिन्धु की-सी व्यापकता और विस्तार भले ही न हो, गम्भीरता

के प्रति तो सन्देह नहीं किया जा सकता। गीति-काव्य के भी, विचार करने पर दो स्पष्ट रूप देखने में आते हैं, एक तो वह जिसमें भाव विशेष की एक धारा दूर तक चली चलती है, हम उसमें कहीं बीच में ही रुकना नहीं चाहते और न तो बीच में ही कहीं रोक देना कवि का अभीष्ट होता है। वह अपने पूर्ण भाव-बन्ध को हमें कर्णगोचर कराने के बाद ही विराम लेता है और पूर्ण भाव-बन्ध के समाप्त होने पर ही कवि की अभिप्रेत रसाभिव्यक्ति होती है। इस भाव बन्ध में कवि हमें प्रमुख भाव-भूमि में रखते हुए भी विविध भाव-भूमियों का दर्शन कराता हुआ चलता है। इस प्रकार ऐसे 'गीति-प्रबन्ध' का क्षेत्र विस्तृत होता है। श्रोताओ को कवि का प्रायः सम्पूर्ण हृदय देखने का अवसर मिल जाता है। मुक्त गीतियों में यह बात नहीं होती, उसमें हम कवि के हृदय का एक अंश मात्र, जो प्रमुख होता है, देख पाते हैं। सहृदयों का मन इन दोनों प्रकार के गीतिकाव्य का महत्त्व स्वीकार करता है। इस प्रकार गीतिकाव्य के दो प्रकार हुए : (१) सबन्ध गीति और (२) मुक्त गीति।

सबन्ध गीतिकाव्य

सबन्ध गीति-काव्य में प्रसङ्ग-प्राप्त गौण भावों के स्रोत भी आ-आकर प्रमुख भाव-धारा में मिलते हुए प्रमुख भाव के विशेष उत्कर्ष में सहायक होते हैं। इस सबन्ध गीति के भी दो प्रकार हैं—

(१) दीर्घबन्ध और (२) लघुबन्ध।

'दीर्घबन्ध' गीतिकाव्य के दो प्रकार होते हैं—

(१) बहुभावाश्रित और (२) एकभावाश्रित।

इसी प्रकार 'लघुबन्ध' गीति काव्य के भी प्रकट रूप में दो प्रकार हैं—

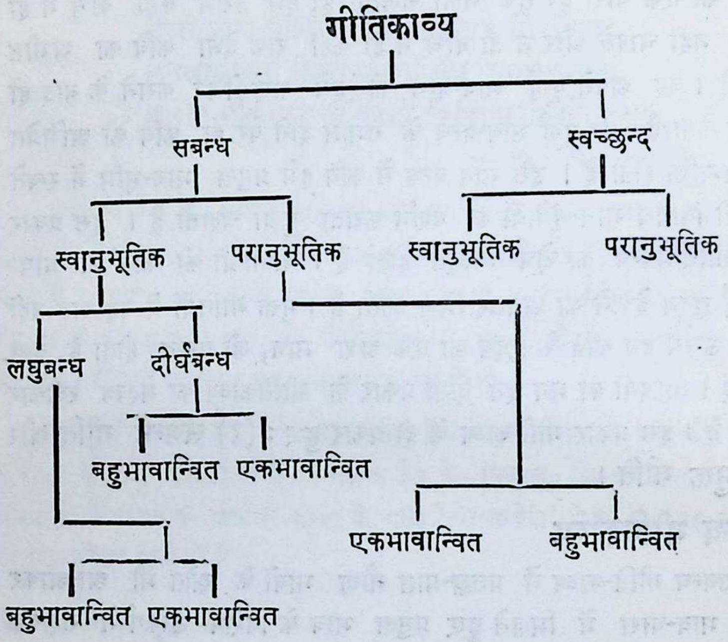
(१) अनेक-भावाश्रित और (२) एक-भावाश्रित।

मुक्त गीतियों के शुद्ध दो प्रकार हैं—

(१) स्वानुभूतिपरक (Subjective) और (२) परानुभूतिपरक (Objective)

गीतिकाव्य के जिन रूपों का विकास संस्कृत काल में हो चुका था, आगे चलकर प्रायः उपेक्षित ही रहे; किन्तु इधर 'छायावाद' युग में आकर उन विविध-रूपात्मक गीतों का विकास हमें बहुत दिनों के बाद फिर देखने को मिल सका है। गीतिकाव्य के विविध प्रकारों और अवान्तर प्रकारों के स्वरूप

परिचय की सुविधा की दृष्टि से हम यहाँ उसका एक तरुवर शाखाओं-प्रशाखाओं के साथ प्रस्तुत कर रहे हैं—



विशेष—आत्मकथन के रूप में प्रस्तुत किए जाने के कारण, नाटक की भाँति, दूतकाव्य स्वानुभूतिपरक ही होते हैं। यों तो काल्पनिक नाटक में कथा-श्रृंखला दूर तक चली चलती है, इसके विपरीत दूत काव्य में कथा-वस्तु होती ही नहीं। उसमें केवल पात्र और उसकी तात्कालिक स्थिति मात्र की कल्पना कवि को करनी पड़ती है। अतः बहुसंख्यक दूतकाव्य तो शुद्ध स्वानुभूतिपरक हैं ही किन्तु बाह्य रूप-विधान के साथ ही जो दूत-काव्य अपर-पक्षाश्रित हैं, उन्हें परानुभूतिक गीति काव्य की श्रेणी में रखा गया है। ऐसे दूत-काव्य कम ही हैं। जैसे, 'पवनदूत' और अपभ्रंश भाषा-बद्ध 'सन्देश रासक'।

सबन्ध गीतिकाव्य के 'परानुभूति-रूपाश्रित' प्रकार के 'बहु-भावाश्रित' काव्य के रूप में पवनदूत आदि काव्य दिखाए जा चुके हैं। वे बहु-भावान्वित काव्य हैं। इनमें संयोग, नायक-नायिकेतर जनों के जीवन का उल्लास, ऐतिहासिक उल्लेख, भक्ति आदि अन्य विविध भावों के रञ्जक चित्र उसी प्रकार सजाए गए हैं जिस प्रकार मेघदूत में।

स्वानुभूति गीतिकाव्यक

२. एक-भावान्वित दीर्घ-बन्ध गीतिकाव्य

एक-भावान्वित दीर्घबन्ध काव्य संस्कृत-साहित्य में महाकवि बिल्हण-रचित 'चौरपञ्चाशिका' में है। यह गीति-प्रबन्ध आद्यन्त विप्रलम्भ शृङ्गार का मूर्तरूप है। इस काव्य के कर्ता के विषय में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने इसके रचयिता के विषय में गम्भीरता से विचार-विमर्श किया है। भारतीय विद्वान् इसे 'चौर' नामक कवि की रचना मानते रहे हैं। उस 'चौर' कवि का वास्तविक नाम क्या था, इस पर उन्होंने विचार करने का कट नहीं किया। किन्तु इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं कि 'चौर-पञ्चाशिका' सहृदय जनों का प्राचीन काल से कण्ठहार रही है। हाँ, इसमें भी सन्देह नहीं कि परवर्ती अन्य क्षेपककारों की कृपा से इसने भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न आकार धारण कर लिया। इस प्रकार यह कृति और इसका कर्त्ता दोनों ही विवाद के विषय बन गए। पहले हम इसके कर्त्ता पर विचार करेंगे, जिससे इसकी रचना का समय-निर्धारण हो सके।

चौर कवि वा बिल्हण

जहाँ तक 'बिल्हण' का सम्बन्ध है, ये संस्कृत-साहित्य में एक महाकवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इनका 'विक्रमाङ्कदेव-चरित' संस्कृत-साहित्य का एक जगमगाता रत्न है। यह ऐतिहासिक महाकाव्य है और अठारह सर्गों में पूर्ण हुआ है। इसके अन्तिम सर्ग में कवि ने अपना पूरा परिचय प्रस्तुत किया है। इनके पिता का नाम ज्येष्ठकलश, पितामह का नाम राजकलश और प्रपितामह का नाम मुक्तिकलश था। ये काश्मीरी ब्राह्मण थे। जीविका की खोज में इन्हें मथुरा, कान्यकुब्ज, प्रयाग, काशी आदि स्थानों से होते हुए दक्षिण-भारत के कल्याणनगर के महाराज विक्रमादित्य (षष्ठ) के यहाँ जाना पड़ा। इस चालुक्यवंशीय राजा का राजत्व-काल सन् १०७६ से ११२७ ई० तक है। इनकी दूसरी कृति 'कर्णसुन्दरी' नाटिका अत्यन्त प्रसिद्ध रही है। बिल्हण-चरित और बिल्हणीय काव्य भी इनके ही कहे जाते हैं। 'चौर-पञ्चाशिका' के रचयिता के रूप में इनके प्रति कुछ लोग वैमत्य प्रकट करते हैं। उनमें डा० बुह्लर प्रमुख हैं। उनका कहना है कि जिस राजा को चौर कवि की प्रेयसी राजकुमारी का पिता कहा जाता है, उसके अनेक नाम पाए जाते हैं और 'विक्रमाङ्क-चरित' में भी इस प्रेमाख्यान का कुछ सूत्र नहीं मिलता, जो पञ्चाशिका

के विषय में प्रसिद्ध है। अतः 'चौर' नामक कोई दूसरा ही कवि इसका कर्ता होगा।[1] दूसरी ओर कीथ महोदय इस बात का जोरदार समर्थन करते हैं कि 'चौरपञ्चाशिका' का रचयिता महाकवि विल्हण ही था, जिसने 'विक्रमाङ्क-चरित' लिखा। हाँ, वे उस लोक-प्रसिद्ध जनश्रुति के प्रति अवश्य अनास्था प्रकट करते हैं, जिसके अनुसार कवि का प्रेम एक राजकुमारी से हो गया था और जब राजा को यह विदित हुआ तब उसने कवि को प्राण-दण्ड की आज्ञा दी। फिर कवि द्वारा उसी समय राजकुमारी के साथ हुए प्रेम का विवृत और मर्मस्पर्शी काव्य-बद्ध आख्यान सुनकर तथा अपनी पुत्री के सच्चे प्रेम का समाचार पाकर वह द्रवित हो गया और फिर प्रसन्नतापूर्वक दोनों को विवाह-बन्धन में बाँध दिया।[2]

---

1. There was no Doubt a चापोत्कट king of Anhilwad, Called वीरसिंह; but he died in 920A.D., one hundred years before Bilhana's real date........Besides the Mss. existing in Karnat country, Give different name for the king and daughter : मदनाभिराम and यामिनीपूर्णतिलका, who lived in लक्ष्मी मन्दिर in Capital of पाञ्चाल देश. Moreover, identical anecdote is told of another poet चौर to whom alse, in some Mss. in which पञ्चाशिका is ascribed. Finally in Bilhana's own accoount of his life-given in eighteenth canto of विक्रमाङ्क-चरित, no mention of the story is made." (Dr. Buhlar, introduction of विक्रमाङ्कदेव-चरित)।
2. Of purely erotic type is चौरपञ्चाशिका, which is certainly by Bilhana, author of Vikrama Charita. There is, of course, no truth in the picturesque tradition, which alleges that the poet contracted a secret union with a king's daughter, was captured and condemned to die, but won the heart of the sovereign by his touching verses, uttered, as he was led to execution, in which he recalls the joys of the love that had been. It is highly probable that there is no personal experiencee, at all, in these lines, whose warmth of feelings undoubtedly degenerates into license"

—Classical Samskrit Literature, P. 120.

श्री दुर्गाशङ्कर शास्त्री ने तो एक जाली श्लोक पाकर इस काव्य को ही जाली सिद्ध करने का प्रयास किया और कहा कि यह रचना काश्मीरी बिल्हण की नहीं है। उन्हें एक चौरपञ्चाशिका कहीं से मिली, जिसके अन्त में यह श्लोक है—

श्रीमद्विक्रमधीर राजकुमुदः चन्द्रप्रकाश-कृतः
भूतं वेदयुगं च चन्द्रसहितं अब्दे गते संख्यया।
एते अव्दगतेऽपि चौरकविना काव्यं कृतं संग्रहः
श्रीमत्पंडितधीरसत्सुधिकविः श्रीभट्टपञ्चाननः॥

इसमें दिया गया समय वि० सं० १४४५ है। ऐसा लगता है कि पद्य रचना के उत्साह में और पञ्चाशिका के प्रतिलिपिकार किसी श्रीभट्टपंचानन ने यह श्लोक सूचनार्थ और आत्मपरिचयार्थ सं० १४४५ में लिख डाला, जो अनेक अशुद्धियों से भरा है। अस्तु, अब हमें इन कतिपय विद्वानों के निष्कर्ष देख लेने के अनन्तर स्वयं स्वस्थ चित्त से विचार कर लेना चाहिए। 'विक्रमाङ्कदेव चरित' में जहाँ कवि ने आत्म-परिचय प्रस्तुत किया है, वहाँ बतलाता है कि कश्मीर छोड़ने के बाद उसे भिन्न-भिन्न भू-भागों में भटकना पड़ा। उत्तर से दक्षिण की ओर बढ़ते हुए वह कुछ दिनों के लिए गुजरात में रुक गया था। सम्भवतः 'कर्ण सुन्दरी' नाम्नी नाटिका उसी समय लिखी गई जिसमें कवि ने अनहिलवाड़ के वृद्ध राजा कर्णदेव का कर्णाट के राजा जयकेशी की पुत्री से विवाह होने का वर्णन किया है। 'विक्रमाङ्क-चरित' के एक श्लोक से पता चलता है कि कवि को गुजरात में, जब कि वह वहाँ गया था, कुछ कष्ट अवश्य मिला था। गुर्जरों के चरित्रगत दोषों का उद्घाटन करते हुए कवि कहता है कि राह में ही उनसे परिचय हो गया। जिसके परिणाम-स्वरूप कवि को मानसिक सन्ताप हुआ और वह तब तक दूर नहीं हो सका जब तक कवि ने भगवान् सोमनाथ का दर्शन नहीं कर लिया।[1] अतः यह मान लेना निराधार नहीं कहा जा सकता कि कवि कुछ दिनों तक महाराज कर्णदेव की राज-सभा को शोभित

---

१. कच्छाबन्धं विदधति न ये सर्वदैवाविशुद्धा-
स्तद्भाषन्ते किमपि भजते यज्जुगुप्सास्पदत्वम्।
तेषां मार्गे परिचयवशादर्जितं गुर्जराणां
यः सन्तापं शिथिलमकरोत्सोमनाथं विलोक्य॥
—वि० च०

करता रहा। उसके निवास-काल में ही कर्णदेव का विवाह 'सुन्दरी' नाम की राजकुमारी के साथ हुआ। नाटिका भी वहीं राजा के मनःप्रसादन के लिए लिखी गई। यह काश्मीरी विद्वान् राजकुमारी का शिक्षक भी नियुक्त किया गया हो तो कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। बाद में 'सन्तापार्जन' करने पर कवि दक्षिण की ओर चला गया और विक्रम की सभा में ससम्मान रहकर 'विक्रम-चरित' की रचना की।

एक अन्य अनुमान-प्रमाण भी यह सिद्ध करने के लिए दिया जा सकता है कि 'पञ्चाशिका' विल्हण की ही रचना है। विल्हण ने 'कर्णसुन्दरी' के अन्त में यह निर्देश किया है कि मैं कालि की वाणी के पथ का पथिक हूँ।[1] कालिदास के कुमार-सम्भव काव्य की परिणति वीर रस में ही है, तारकासुर के युद्ध और उसके वध को लेकर ही काव्य का निर्माण हुआ है। रघुवंश में भी वीर रस का अनेक स्थलों पर सुन्दर परिपाक प्रत्यक्ष है। विल्हण ने विक्रमाङ्कदेव चरित में केवल विक्रम (षष्ठ) का ही जीवन-वृत्त नहीं दिया है, अपितु उसके वंश की लम्बी परम्परा भी प्रस्तुत की है। जिस प्रकार 'रघुवंश' का प्रारम्भ एक लम्बी भूमिका से होता है वैसे ही 'विक्रमाङ्क-चरित' का भी आरम्भ होता है। कालिदास ने भूमिका में लिखा—

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिःश्यामिकाऽपि वा॥

—रघु० सर्ग १।

अर्थात् सहृदय विद्वज्जन ही इसकी परीक्षा कर सकते हैं जैसे स्वर्ण की परीक्षा अग्नि करती है। विल्हण ने कहा—

उल्लेख-लीला-घटना-पटूनां सचेतसां वैकटिकोपमानाम्।
विचार-शाणोपल-पट्टिकासु मत्सूक्ति-रत्नान्यतिथीभवन्तु॥
न दुर्जनानामिह कोऽपि दोषस्तेषां स्वभावो हि गुणासहिष्णुः।
द्वेष्यैव केषामपि चन्द्रखण्डं विपाण्डुरा पुण्ड्रक-शर्कराऽपि॥

—वि० च० सर्ग १। १९-२०।

---

१. यन्मूलं करुणानिधिः स भगवान्वल्मीकजन्मा मुनि-
र्यस्यैके कवयः पराशरसुतप्रायाः प्रतिष्ठां दधुः।
सद्यो यः पथि कालिदासवचसां श्री विल्हणः सोधुना
निर्व्याजं फलितः सहैव कुसुमोत्तंसेन कल्पद्रुमः॥

—कर्णसुन्दरी, प्रशस्ति, २।

अर्थात् यह काव्य चतुर रत्न-परीक्षकों के समान सहृदय काव्य-मर्मज्ञों के हाथों में सौंपता हूँ, उनके परिष्कृत विचार ही निर्णायक होंगे, और दुष्टों का तो स्वभाव ही गुणियों से जलने का होता है, उनकी तो कोई बात ही नहीं। आगे चलकर जब कवि सम्राट् आहवमल्ल का यशोवर्णन करता है, तब एक स्थान पर कालिदास की कही बात प्रकारान्तरित आलङ्कारिक रूप में यहाँ भी मिल जाती है। कालिदास का श्लोक है—

मन्दोत्कण्ठाः कृतास्तेन गुणाधिकतया गुरौ।
फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजाः॥ रघु०, सर्ग ४।९।

रघु के गुणों से मुग्ध होकर प्रजा-जन महाराज दिलीप को उसी प्रकार भूल गए जिस प्रकार आम के फल को देखकर लोग उसकी मञ्जरी को भूल जाते हैं। विल्हण कहते हैं—

अन्यायमेकं कृतवान् कृती यश्चालुक्य-गोत्रोद्भव-वत्सलोऽपि।
यत्पूर्व-भूपाल-गुणान् प्रजानां विस्मारयामास निजैश्चरित्रैः॥
—वि० च०, सर्ग १। १०१।

अर्थात् आहवमल्ल के चरित्र को देखकर प्रजा पूर्ववर्ती चालुक्यवंशीय राजाओं के गुणों को भूल गई।

इसके अतिरिक्त जिस वैदर्भी रीति के लिए प्राचीन काल से कालिदास प्रसिद्ध हैं, उसी पथ के पथिक विल्हण भी हैं और इस रीति की इन्होंने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा भी की है।[1] इस प्रबन्ध के अतिरिक्त इनकी 'कर्णसुन्दरी' नाटिका कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' से कथावस्तु और रचना-शिल्प की दृष्टि से बहुत कुछ साम्य रखती है। अतः कालिदास ने 'मेघदूत' की रचना करके जिस स्वच्छन्द कवि-प्रकृति का परिचय दिया था, अपनी उसी स्वच्छन्द प्रकृति के कारण इस कवि ने भी 'चौर-पञ्चाशिका' की रचना की होगी; क्योंकि यहाँ कवि को आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति का पूरा उन्मुक्त क्षेत्र मिल जाता है। श्रव्य काव्य-निर्माण में परानुभूतिपरकता होने के कारण कवि का पूरा-पूरा व्यक्तित्व खुलकर सामने नहीं आ पाता, किन्तु यहाँ तो मान्यता उसी परम्परा को मिली हुई थी। कालिदासानुगामी इस कवि ने भी उस बन्धन को दूर कर दिखाया। 'विक्रमाङ्क-चरित' की भूमिका में इन्होंने प्रौढ़ि-प्रकर्ष

१. विक्रमाङ्कदेव-चरित, सर्ग १, श्लोक-संख्या ९।

लाने वाली नवीन रीति को प्राचीन रीति से अधिक श्लाघ्य कहा है।[1] अतः अपने हृदय की प्रेम-वेदना की अभिव्यक्ति के लिए 'चौरपञ्चाशिका' की आत्मानुभूति-प्रधान रचना, जो 'मेघदूत' के ही समान ही विप्रलम्भ शृङ्गाराश्रित है, अवश्य की। स्वच्छन्दता-प्रियता में एक बात में तो ये कालिदास से भी आगे बढ़ गए हैं। वह यह कि कालिदास को तो आत्माभिव्यक्ति के लिए यक्ष की कल्पना करनी पड़ी किन्तु इस महाकवि ने अपने उद्गार अपने ही शब्दों में प्रकट किए। शुद्ध संस्कृत-साहित्य में आत्मानुभूति प्रधान यह प्रथम काव्य है, यहाँ कवि का व्यक्तित्व बन्धन को तोड़कर साहस के साथ सामने आ खड़ा हुआ है। हिन्दी के आधुनिक 'छायावाद' के पूर्व अन्यत्र यह बात देखने को नहीं मिली। यही कारण है, यह शुद्ध गीति-काव्य भाव-क्षेत्र में गहराई के विचार से 'मेघदूत' से भी आगे बढ़ गया है। यह 'एकभावान्वित' सबन्धगीति है। यों तो उसकी सभी कविताएँ मुक्त रूप में अलग-अलग रसोद्दीप्ति में समर्थ हैं, तथापि पूरा काव्य-बन्ध हृदय पर और भी गम्भीर प्रभाव डालने में समर्थ होता है, इसीलिए यह 'सबन्ध गीतिकाव्य' की श्रेणी में रखा गया है। बिना स्वानुभूति के काव्य में भाव की असीम गहराई कभी लाख यत्न करने पर भी आ ही नहीं सकती। इसकी कतिपय गीतियों को मैं सबके समक्ष रख कर मैं इसे प्रमाणित करना चाहूँगा—

अद्यापि तां निधुवन-क्लम-निःसहाङ्गी-
मापाण्डु-गण्ड-पतितालक-कुन्तलालिम्।
प्रच्छन्न-पापकृत-मन्थरमावहन्तीं
कण्ठावसक्त-मृदु-बाहु-लतां स्मराभि॥

—चौ० पं० ४।

अर्थात् सम्भोग के श्रम को सह सकने में असमर्थ, पीताभ कपोलों पर बिखरी हुई अलकावली से शोभित, प्रच्छन्न पाप-कर्म से कम्पित होकर मेरे कण्ठ में अपनी कोमल बाहु-लता डाल देनेवाली उस प्रिया को मैं अब भी भूल नहीं पाता।

---

१. प्रौढ़ि-प्रकर्षेण पुराण-रीति-व्यतिक्रमः श्लाघ्यतमः पदानाम्।
अत्युन्नति-स्फोटित-कञ्चुकानि वन्द्यानि कान्ता-कुचमण्डलानि॥

—विक्रमाङ्क-चरित, स० १। १५।

अद्यापि तां यदि पुनः श्रवणायताक्षीं पश्यामि दीर्घ-विरह-ज्वरिताङ्ग-यष्टिम् ।
अङ्गै रहं समुपगुह्य ततोऽतिगाढं नोन्मीलयामि नयने न च तां त्यजामि ॥
चौ० पं०, ६ ।

अर्थात् कानों तक फैले हुए विशाल नयनों वाली अपनी प्रियतमा को यदि मैं पा जाऊँ तो दीर्घ विरह-ज्वर से तप्त उस कृशाङ्गी को छाती से लगा लूँ, उसके अंगों को अपने अङ्गों में छिपा लूँ और उसकी मनोहारिणी छवि को आँखों में भर कर आँखें बन्द कर लूँ और फिर कभी भी न छोड़ूँ ।

अद्यापि तन्मनसि सम्परिवर्तते मे रात्रौ मयि क्षुतवति क्षितिपालपुत्र्या ।
जीवेति 'मङ्गलवचः परिहृत्य कोपात्कर्णे कृतं कनकपत्रमनालपन्त्या ॥
—चौ० पं०, ११ ।

"एक बार की बात है कि कवि के किसी अपराध पर राजकुमारी ने मान किया था और शय्या पर करवट बदल कर मौन पड़ी हुई थी, अपने कान का कर्णफूल भी निकाल कर दूर रख दिया था। इसी बीच कवि को छींक आ गई लोगों में ऐसा विश्वास चला आता है कि छींक अमंगल-जनक होती है, किन्तु यदि पास में रहने वाला कोई व्यक्ति 'जीव' अथवा 'शतंजीव' कह दे तो वह अमङ्गल मिट जाता है । उस समय कवि-प्रिया यद्यपि रूठी हुई थी तथापि पति के अमङ्गल की आशङ्का से उसने क्रोध त्याग कर तुरत 'जीव' (जीवित रहो) का उच्चारण किया और अपने उतारे हुए सौभाग्य के चिह्न-स्वरूप सोने के कर्णफूलों को कानों में तुरन्त पहन लिया ।" वह घटना अब भी ज्यों-की-त्यों मेरे मानस पट अंकित है । यह गीति कवि की अनुभूति का ज्वलन्त प्रमाण है । श्री एस. एन. पत्रीकर का कहना है कि उन्हें चौरपञ्चाशिका की जो पाँच प्रतियाँ मिलीं उनमें बहुत से पदों का एक-दूसरे में अभाव है किन्तु जो पद सभी प्रतियों में उपलब्ध हैं और जिनकी संख्या बहुत कम है, उनमें से एक यह भी है ।[1] कवि के भावों की तीव्रता इतनी शक्तिमती है कि वह प्राचीन मर्यादा-पथ का भी अतिक्रमण कर जाती है । भावना का यह उद्दाम वेग कविराट् कालिदास में भी नहीं मिलता । कवि-मानस को मथते हुए भाव उसके सहज उच्छ्वासों में उतर पड़े हैं । गीति काव्य में जिस भाव सम्पत् को अपेक्षा होती है, वह अपनी समस्त महिमा को समेटे हुए इस काव्य में प्रतिष्ठित है । यही कारण है कि बहुत से

1. This is one of the very few stanzas found in all the vertions. —S. N. Tarpatrikar, critical note on stanza No. ll, चौ० पं० ।

कवियों ने इस काव्य की अनुकृति पर प्रचुर परिमाण में कविताएँ प्रस्तुत कर दीं और इसके जवाब में 'पंचाशत्प्रत्युत्तर' भी राजकुमारी ओर से प्रस्तुत कर दिया गया। बुह्लर महोदय तो विल्हण के काव्य सौन्दर्य पर मुग्ध होकर इनका-गुण-कीर्तन करते हुए इनके काव्य संरक्षण के लिए सबको सावधान करते हैं—

"His composition deserves to be resqued from oblivion..........he possesses a spark of poetical fire. Really beautiful passages occur in every Canto. Bilhan's worse is flowing and musical, and his larguage, simple."

—Dr. Buhler, Introduction to विक्रमाङ्क-चरित।

अन्त में एक गीति और देकर मैं इस श्रेष्ठ गीतिकाव्य की चर्चा समाप्त करता हूँ। यह गीति टिहरी-निवासी पं० महीधर कवि वेदान्ती द्वारा सम्पादित संस्करण में ५१ वें पद्य के रूप में चौरपञ्चाशिका में रखा गया है, किन्तु श्री एस. एम. ताडपत्रीकर द्वारा सम्पादित संस्करण में यह परिशिष्ट सं० ४ में 'पाठान्तरेषु दृष्टानि अधिकानि पद्यानि' के अन्तर्गत दिया गया है। पद-बन्ध, प्रासादिकता और भाव-प्रकर्ष की दृष्टि से यह अवश्य ही काव्य की अन्तिम गीति होनी चाहिए। काव्य के अन्त में वृत्त-परिवर्तन—५० गीतियाँ 'वसन्ततिलका' में हैं और यह शार्दूलविक्रीडित' वृत्त है—भाव के ही समान इसकी परिणति का द्योतक है। कामना भी कवि की अन्तिम है—

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहः स्वं स्वं विशत्वालयं
याचित्वा द्रुहिणं प्रणम्य शिरसा भूयादिदं मे वपुः।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गणे-
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः॥

—चौ० पं० ५१।

अर्थात् "मेरा शरीर पञ्चत्व प्राप्त करे, इसके पाँचों महाभूत अपने महत् स्वरूप में मिल जायँ। किन्तु हे ब्रह्मा, मेरी यह अन्तिम प्रार्थना है कि मेरे शरीर का जल-तत्व उसकी उस वापी के जल में रखना जिसमें वह स्नान करती है, ज्योति-तत्व उसके दर्पण में सुरक्षित कर देना, आकाश-तत्त्व उसके आँगन में रख देना, पृथ्वी का अंश उस पथ में रख देना जिस पर वह

सञ्चरण करे और पवनांश को उसके पंखे में सँजो कर रख देना।" कितनी ऊँची भावना है, प्रेम का कितना दिव्य स्वरूप है, प्रणति की कोई सीमा नहीं है और है प्रिया के निमित्त आत्मोत्सर्ग का कितना महान् सन्देश तथा प्रियतमा से कभी वियुक्त व होने की कितनी मर्मभेदिनी आकांक्षा! इस काव्य के द्वारा विल्हण विप्रलम्भ के क्षेत्र में सर्वोच्च गीतिकार सिद्ध होते हैं। उत्तरोत्तर जटिल होते गए समाज के जड़ बन्धनों ने इस कृति की स्वरूप-रक्षा में अवश्य बाधा पहुँचाई है, और इस पद्धति पर गीति-काव्य प्रस्तुत करने वालों को अपना नाम तक देने का आगे साहस नहीं हो सका। किन्तु सहृदयों का कण्ठहार यह काव्य सदा से रहा है, इसका प्रमाण कविवर जयदेव की वह सूक्ति है, जिसमें उन्होंने 'चौरपंचाशिका-कार के कविता-कामिनी का चिकुर-निकर कहा है—

> यस्याश्चोरश्चिकुर-निकरः कर्णपूरो मयूरो
> भासो हासः कविकुल-गुरुः कलिदासो विलासः।
> हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः
> केषां नैषा कथय कविता-कामिनी कौतुकाय ॥
>
> —प्रसन्न राघव, प्रस्ता०, २२।

यहां जयदेव ने सर्वप्रथम चोर कवि [विल्हण] को सर्वोच्च स्थान दे दिया है, पदावली में भी प्रथम और कविता-कामिनी के केश-पाश के रूप में भी उसके अंगों में भी सर्वोच्च स्थान। वास्तव में यदि किसी कामिनी में उत्तर-लिखित आभूषण न हों तो उसका कामिनीत्व नहीं छिप सकता; हास, विलास हर्ष, काम रमणी के नित्य गुण-धर्म नहीं हैं, अवसर विशेष पर ही इनका उद्भव होता है, किन्तु केश-पाश नारी-शरीर का नित्य गुण है। इसके अभाव में अन्य गुण-धर्म निष्प्रभ और प्रभावहीन हो जाएँगे। अतः जयदेव ने विल्हण के उपमान के रूप में चिकुर-निकर को ला कर न्याय तो किया ही है, अपनी कवि-शक्ति और सहृदयता का परिचय भी प्रस्तुत कर दिया है। चिकुर-निकर बद्ध होने पर भी नेत्ररञ्जक, मुक्त होने पर भी हृदयवार्जक। उसी प्रकार चौर कवि की कवि प्रतिभा महाकाव्य और रूपक में बद्ध होने पर भी कौतुकपूर्ण और 'चौर-पञ्चशिका' के रूप में मुक्त गीतियों में तो और भी उन्माद-कारिणी।

पञ्चशिका का प्रभाव-क्षेत्र

विल्हण कवि की चौरपञ्चाशिका से प्रभावित होकर अनेक प्रतिभाशाली

कवियों द्वारा प्रभूत मात्रा में मुक्तबन्ध और सबन्ध दोनों प्रकार का काव्य प्रस्तुत किया गया विल्हण और राजकुमारी के प्रेमाख्यान को लेकर जो ललित काव्य लिखे गए हैं और जिन्हें विल्हण-रचित ही कहा जाता है, वे चाहे विल्हण के हों अथवा किसी अन्य कवि वा कवियों के, वह गीति-काव्य के सम्पूर्ण वैभव से पूर्ण है। उनमें एक काव्य का नाम 'विद्यासुन्दर' है। इसमें प्रारम्भ में कृष्ण-स्तुति द्वारा मङ्गल-पाठ है, फिर विद्या नाम्नी राजकन्या की प्रार्थना की गई है, जो विद्या के प्रेमी द्वारा ही रचित हो सकती है। वह इस प्रकार है—

राजात्मजे काम-कला कलापे संगीत-विद्या-रसिकेम्बुजाश्री।
हेमप्रभे पीननितम्बबिम्बे बिम्बोष्ठि रम्भोरु मयि प्रसीद॥

'चौरपञ्चाशिका' से होड़ लेने वाली गीतियाँ इसमें भी हैं। भ्रमर और कुसुम' कोकिल और आम्रमंजरी आदि अन्योक्तियों की मार्मिक शोभा दर्शनीय है। काव्य का विशेषांश प्रश्नोत्तरों में निबद्ध है। कालिदास के मेघदूत की एक गीति की भावच्छाया उससे भी कहीं अधिक उद्दाम रूप में यहाँ मिलती है। अलकापुरी की मुग्धाङ्गनाएँ प्रियतम द्वारा नीवी-बन्ध खोल दिए जाने पर लज्जाकुल होकर रत्न-प्रदीपों को बुझाने के लिए निष्फल चूर्ण की मूठ फेंकती हैं। यहाँ भी वैसे ही अवसर पर राजकुमारी फूँक मारकर दीपक को तो बुझा देती है किन्तु आभूषण के रत्न ने प्रकाश को किञ्चिन्मात्र भी कम न होने दिया। दोनों को आमने-सामने रखकर देखिए—

नीवी-बन्धोच्छ्वसित शिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृत-करेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्न-प्रदीपान्
ह्रीमूढ़ानां भवति विफल-प्रेरणा चूर्णमुष्टिः॥ —उ० मे०, ५।

दृष्टं तज्जघनस्थलं स्तनयुगं लज्जाभर-व्याकुला
बाला सत्कबरीसुपुष्प-विलसन्मल्लाहते दीपके।
चञ्चद्रत्न-सुतेजसा समभवद्दीपोपमे तत्स्फुटं
दृष्ट्वा कान्तिगुणाधिकं स्मितमुखी संत्यक्तलज्जाभवत्॥
—विद्या०, ३९।

श्री ताडपत्रीकर द्वारा सम्पादित 'चौरपञ्चाशिका' के परिशिष्ट, भाग एक में इस काव्य की 'पूर्वपीठिका' औत्तराह-पाठानुसार ७४ वृत्तों में निबद्ध है, जिसमें कवि की प्रेम-कथा दी हुई है। दूसरे भाग में 'दाक्षिणात्य-पाठानुसारी' प्रेमाख्यान सन्निबद्ध है। पहले प्रेमाख्यान में राजकुमारी का नाम 'शशिकला'

है, जो अनहिलपत्तन के राजा वीर सिंह और उनकी पट्टमहिषी सुतारा की पुत्री है। किन्तु इसमें राजकुमारी का नाम 'यामिनीपूर्ण तिलका' बताया गया है और वह पाञ्चालदेश के 'लक्ष्मीमन्दिर नगर' के राजा 'मदनाभिराम' और उसकी रानी 'मन्दारमाला' की पुत्री कही गई है। दोनों के आख्यान में बहुत अन्तर है, किन्तु कवि द्वारा अध्यापन का उल्लेख और सान्निध्यज प्रेम दोनों ही में समान रूप में अङ्कित है। दाक्षिणात्य पाठ में कवि की काव्य-क्षमता और उसके साथ रूप, वचन-चातुर्य्य आदि की प्रशंसा भी विशद रूप में प्रस्तुत है। विल्हण की काव्य-शक्ति को अप्रतिम कहा गया है—

"वासः शुभ्रमृतुर्वसन्तसमयः पुष्पं शरन्मल्लिका
धानुष्कः कुसुमायुधः परिमलः कस्तूरिकाऽस्त्रं धनुः।
वाणी तर्करसोज्ज्वला प्रियतमा श्यामा वयो यौवनं
मार्गः शाङ्कर एव पञ्चमलया गीतिः कविर्विल्हणः॥"
—वि० च०, १४।

अन्यत्र,

आकारे मदनः सुकाव्य-रचना चातुर्य्य युक्तौ गुरुः,
सद्भाषास्वपि दृश्यते च चतुरस्तं दृष्टवत्यस्त्रियः।
स्वप्राणेश्वर-सङ्गमं सुखकरं त्यक्त्वा न जीवन्त्यहो
तस्यान्ते सुकुमारया तनययाभ्यासः कलानां कथम्?॥
—वि० च०, १८।

पद्य-संख्या दोनों ही में १०० है। इसके पश्चात् परिशिष्ट, भाग ३ में राजकुमारी द्वारा विल्हण की पञ्चाशिका का उत्तर ५० पद्यों में किसी 'भूवर' नामधारी कवीश्वर द्वारा रचित दिया हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'चौरपञ्चाशिका' को लेकर अलग एक विशिष्ट साहित्य ही प्रस्तुत किया जा चुका है। विल्हण ने ही सर्वप्रथम कवि-व्यक्तित्व को काव्य में बन्धन-मुक्त करने का महान् साहस किया है। इनके हाथ में आकर गीतिकाव्य ने अपने सहज सुन्दर रूप को प्राप्त किया है।

उत्तरकालीन संस्कृत के कवियों पर इस गीति-काव्य का प्रभाव अवश्य पड़ा, और उसका प्रमाण हमें चौरपञ्चाशिकाश्रित परवर्ती रचनाओं में मिला, किन्तु बहुभावान्वित और एकभावान्वित 'सबन्ध-काव्य' के दोनों रूप हिन्दी में इधर आकर देखने को मिले, आगे चलकर उनका उल्लेख किया जायगा।

———

राधा का अवतरण

कवि-कुल-गुरु कालिदास के मेघदूत की शैली पर हिन्दी में काव्य-रचना नहीं हुई, किन्तु विल्हण की आत्मानुभूतिपरक 'सम्बन्ध' गीति-पद्धति का द्वार अवश्य ही उन्मुक्त हो गया। सदियों से दबे हुए कवि-व्यक्तित्व ने सर्वप्रथम 'मीराँबाई' को पाकर मुक्ति का पूरा-पूरा अनुभव किया। मीराँ ने 'लोक-लाज कुल की मरजादा' को विदा देने में तनिक भी हिचक नहीं दिखाई और सन्तों के साथ बैठकर अपने प्रणय का उद्गार निःसङ्कोच भाव से सुनाया। एक तो वे नारी थीं और उसके साथ ही साथ विवाहिता भी, किन्तु उनका हृदय दमघोंट कारागार को अपनी पूरी शक्ति से, अपूर्व साहस से तोड़कर बाहर निकल आया। मुक्ति के कवच में सुरक्षित उनके हृदय पर लोक के वाग्बाण आ-आकर अपनी पैनी नोकों से हाथ धो बैठे और वह आनन्द-विभोर स्वर्गीय प्रणय के गीत गाने से क्षण भर के लिए भी विरत नहीं हुआ। इनके गीत स्वच्छन्द गीति-काव्य की परम्परा में हैं, जिनके मूल और विकास का उल्लेख पहले हो चुका है। मीराँ के प्रेम के आलम्बन भगवत्ता-प्राप्त कृष्ण थे, जिनका उनके प्रत्यक्ष जीवन से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। हमारे पुराणों ने तो उनके साथ कुल-वधू गोपियों के स्वैर विहार को भी धार्मिक दृष्टि से उच्चादर्शनिष्ठ आचरण घोषित कर दिया था। श्रीमद्भागवत हिन्दू जाति का एक महान् धार्मिक ग्रन्थ माना जाता है, उसमें कृष्ण प्रच्छन्न जार-रूप में चित्रित किये गए हैं। देखिए—

बाहुप्रसार-परिरम्भकरालकोरू-नीवी-स्तनालभन-नर्मनखाग्रपातैः ।
क्ष्वेल्यावलोक-हसितैर्व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार ॥
—श्रीमद्भा०, स्कं० १०, अध्या० २९।४६

"श्रीकृष्ण ने हाथों को बढ़ाकर आलिङ्गन करके, अलकों, जाँघों, नीवी-बन्धनों, कुचों का स्पर्श करके, नख-क्षत करके, कटाक्षपातपूर्वक हँस-हँसकर व्रजसुन्दरियों में कामोद्दीपन करके उनके साथ रमण किया।" श्रीकृष्ण जब छिप जाते थे तब गोपियाँ उसी प्रकार व्याकुल हो जाती थीं, जिस प्रकार गज-यूथप के कहीं आँख से ओझल हो जाने पर हथिनियाँ सन्तप्त और व्याकुल हो जाती हैं और फिर वन-वीथियों में भटकती हुई अश्वत्थ, प्लक्ष, वट,

मालती, मल्लिका आदि से कृष्ण का पता पूछतीं, उनके पथ का निर्देश पाने के लिए याचना करती थीं। इसी अवसर पर कृष्ण किसी सबसे प्रिय गोपी को कन्धे पर उठाकर सबसे दूर भाग निकले थे और उसका अपने हाथों शृंगार करके उसके साथ स्वेच्छया रमण किया था—

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः।
अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम्॥
—भाग०, १०।३०।१।

× × ×

दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ प्लक्ष-न्यग्रोध नो मनः।
नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेम-हासावलोकनैः?॥
मालत्यदर्शि वः कच्चिन्मल्लिके जाति यूथिके।
प्रीतिं वो जनयन्यातः करस्पर्शेन माधवः?॥
—भाग०, स्कं०, १०।३०।५८।

केशप्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम्।
तानि चूडयता कान्तामुपविष्टामिह ध्रुवम्॥
रेमे तया ... . ---- ....।
—वही, अध्या० ३०। ३४, ३५।

पुराणों में आकर कृष्ण को रसिया का जो रूप प्रदान किया गया, वह महाभारत के कृष्ण से सर्वथा भिन्न है। इस महान् परिवर्तन की खोज करके अनेक इतिहासज्ञ विद्वानों ने यह सिद्ध किया है कि भारत में बाहर से आक्रामक के रूप में आनेवाली आभीर जाति के राधा और कृष्ण कुल-देवता थे, इनका विलासी रूप ही उनके यहाँ प्रतिष्ठित था। जब आभीर जाति भारत में बस गई तब जिस प्रकार आभीर जाति भारतीय यादवों में घुल-मिल गई उसी प्रकार उनके पूज्यदेव कृष्ण महाभारत के यदुवंशी कृष्ण के स्वरूप में मिलकर एकाकार हो गए।[1] धीरे-धीरे लोक के स्वभावतः शृंगारप्रिय होने के कारण कृष्ण के शृंगारी रूप को ही सर्व-मान्यता प्राप्त हो गई और महाभारतवाले कृष्ण का राजनीतिज्ञ-स्वरूप उससे आच्छन्न हो गया। 'राधा' जो आभीरों की कुलदेवी थीं, उनका ग्रहण पहले लोक-गीतों में हुआ। बहुत बाद में रसिक भक्तों द्वारा उनको प्रधान गोपी का रूप प्रदान कर दिया गया। जैसा कि सर्वविदित है, लोक-भाषा-बद्ध लोक-गीत धीरे-धीरे अतीत के गहर

१. देखिए, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी साहित्य'।

में समाते गए, उनका लिपिबद्ध रूप सुरक्षित नहीं रखा गया। अपढ़ जनता उन्हें स्मृति पर ही अङ्कित करती थी, और भाषा-परिवर्तन के साथ वे भी परित्यक्त और विस्मृत होते गए। जो भाषा जनता के बीच व्यवहृत थी, वही विशुद्ध प्राकृत थी, किन्तु उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर विद्वान् पण्डितों ने उसका संस्कृतानुसार संस्कार किया और उस संस्कृतीकृत रूप को लिखित साहित्य में स्थान दिया। यदि विशुद्ध प्राकृत वा अपभ्रंश में निबद्ध लोक-साहित्य आज उपलब्ध होता तो उसमें राधा-कृष्ण की लीलाओं का उन्मुक्त गान अवश्य मिलता। कहने का तात्पर्य यह कि लीला-विहारी राधा और कृष्ण को बहुत पहले से लोक-मान्यता प्राप्त हो चुकी थी और लोक-प्रतिष्ठित महापुरुष के स्वरूप के माध्यम से जनता में धर्म का सन्देश पहुँचाना सरल हो जाता है, भारतीय मनीषा सदा से इस सिद्धान्त की कायल रही है। इसी दूरदर्शिता को दृष्टि में रखकर अवतारों की परिकल्पना हुई, और इसी तथ्य को मानकर गौतम बुद्ध को प्रमुख दशावतारों में आगे चलकर प्रतिष्ठित कर दिया गया। अतः पहले से लोक के हृदय के भीतर प्रतिष्ठित राधा-कृष्ण के रसिया रूप को धर्म-क्षेत्र में प्रतिष्ठित करके मनीषियों ने उसे आध्यात्मिकता के आवरण में खुले रूप में मान्यता प्रदान कर दी अथवा यों कहें कि उन्हें मान्यता प्रदान करने के लिए बाध्य होना पड़ा। धर्म के सन्देश-वाहक 'भागवत' ने भी पहले तो खुलकर कृष्ण और गोपियों की केलि-क्रीड़ा का वर्णन किया, किन्तु प्रबुद्ध होती हुई जनता को आध्यात्मिकता की मीठी थपकी देकर फिर शान्त कर देने का बीच-बीच में यत्न भी किया अपनी चौकन्नी आँखों से कथा-धारा के बीच-बीच में श्रोताओं की ओर देख-देख कर। श्री मद्भागवत में ही देखिए—

"रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः।
कामिनां दर्शयन्दैन्यं स्त्रीणाश्चैव दुरात्मताम्॥

—भाग०, स्कं० १०, अध्याय ३०-३५।

"श्रीकृष्ण आत्माराम हैं और हैं अखण्डित, उन्होंने तो केवल कामियों की दीनता और स्त्रियों की दुरात्मता को दिखाने के लिए ही ऐसा किया।" अतः कृष्ण का श्रद्धेय, आतङ्ककारी, प्रभविष्णु महाभारत-वाला-स्वरूप एक ओर रख दिया गया और उनका प्रेमी का सामान्य लोक-समर्थित रूप ले लिया गया। आभीरों के देवता कृष्ण को तो भागवतकार ने अपनाया, पर उनकी देवी राधा को प्रत्यक्ष अपनाने का साहस नहीं किया; क्योंकि प्राचीन

मान्य ग्रन्थों में कहीं उस नाम का उल्लेख तक नहीं था। किन्तु जनता तो राधा को चाहती थी, उसे कैसे सन्तुष्ट किया जाय? यह विचार कर भागवत-कार ने राधा की कल्पना के लिए कृष्ण की एक अनन्य-प्रिया गोपी को गढ़ा, जिसमें लोगों को राधा का आभास मिल जाय। उसी को लेकर कृष्ण अन्य गोपियों को त्यागकर एकान्त में रमणार्थ निकल जाते हैं और उन्हें खोजती हुई गोपियों को कहना पड़ता है—

कस्याः पदानि चैतानि बालाया नन्दसूनुना।
अंस-न्यस्त-प्रकोष्ठाया करेणोः करिणा यथा॥
अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः॥

—भाग०, स्कं० १०, अध्या० ३०। २७, २८।

"कृष्ण के साथ जानेवाली किस गोपी के पैरों के ये चिह्न हैं? जिस प्रकार हथिनी हाथी के कन्धे पर अपनी सूँड़ रखकर जाती है उसी प्रकार कृष्ण के कन्धे पर हाथ रखकर वह गई है (क्योंकि दोनों के पैरों के चिह्न समानान्तर साथ-साथ आगे बने हुए हैं।) इसने अवश्य ही (पूर्व जन्म में) भगवान् विष्णु की आराधना की है, इसीलिए हम सब को छोड़कर गोविन्द उसे एकान्त में ले आए हैं।" उसी गोपी को कृष्ण अपने कन्धे पर बिठाकर ले गए हैं। लोक में कृष्ण-प्रिया के रूप में गृहीत राधा का सङ्केत मात्र भागवतकार ने यहाँ "अनयाऽऽराधितो' पद द्वारा किया है। स्पष्ट रूप में राधा का नाम न देना धार्मिक कवि का सङ्कोच ही प्रकट कर रहा है।

लोक द्वारा 'राधा' गृहीत होकर स्मरणीया हो गई थीं, इस का प्रमाण हमें 'हाल' द्वारा संग्रहीत 'गाहा-सत्तसई' की एक गाथा में मिलता है, जिसमें राधा का प्रमुख नायिका के रूप में स्पष्ट उल्लेख हुआ है। वह गाथा यह है—

मुहमारुएण तं कण्ह गोरअं राहिआएँ अवणेन्तो।
एताणँ बलवीणँ अण्णनँ वि गोरअं हरसि॥

—गा० सत्त०, १। ८९।

'हे कृष्ण, तुम अपने मुँह से फूँक-फूँक कर राधिका के गो-रज (गायोंके चलने से उड़कर पड़ी हुई धूलि) को दूर करते हुए इन अन्य गोपाङ्ग-नाओं के गौरव को भी दूर किए दे रहे हो।"

अब तक के उपलब्ध साहित्य में यह राधा का सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख है। 'गाथा' में कतिपय ऐसी गाथाएँ भी हैं, जिनमें कृष्ण और गोपियों का

शृंगारी रूप उल्लिखित है, किन्तु राधा का उल्लेख केवल उपर्युक्त गाथा में ही है। शृंगार रस का जो परिपाक गाथा की गीतियों में मिलता है, उसे देखकर यह प्रतीत होता है कि प्राकृत भाषा का साहित्य अत्यन्त समृद्ध था। नायिका और नायक प्रायः ग्रामवासी ही होते थे, जिनका नाम-निर्देशपूर्वक कोई उल्लेख नहीं होता रहा, इसीलिए 'सत्तसई' की गाथाओं में तीन-चार गाथाओं को छोड़कर और किसी में भी प्रेमी और प्रेयसी का नाम्ना उल्लेख नहीं है। एक गाथा देखिए—

धवलो सि जइ वि सुन्दर, तह वि तुए मज्झ रंजिअं हिअअम्।
राअ भरिए वि हिअए सुहण णिहित्तो ण रत्तो सि॥

—गा० सत्त०, ७। ६५।

नायिका नायक से कहती है, "हे सुन्दर, तुम यद्यपि धवल (गोरे) हो तथापि तुमने मेरे हृदय को रँग दिया है और मेरे राग (प्रेम, रङ्ग) से भरे हुए हृदय में रहते हुए भी तुम रंजित (अनुरक्त, रञ्जित) नहीं हुए।"

यहाँ स्पष्ट ही नायक कोई सामांन्य व्यक्ति है। गाथा के शृङ्गार रस का उद्गम वास्तव में लोकजीवन है। कृष्ण बहुत बाद में रसिक या प्रेमी के प्रतिनिधि रूप में गृहीत हुए। सातवाहन हाल के हाथ लगी एक करोड़ गाथाएँ यदि आज उपलब्ध होतीं तो लोक-जीवन के शृङ्गारिक पक्ष के साथ ही साथ विविध पक्षों का ठेठ स्वरूप हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता। किन्तु गाथा की प्राप्त कृष्णपरक अत्यल्प रचना द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि गाथा के सङ्कलन-काल तक कृष्ण-जीवन में मधुरपक्ष की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी की और राधा को भी जनता ने अपना लिया था। किन्तु विद्वद्वर्ग के साथ दूरी बनी ही हुई थी, राधा के विदेशी (वस्तु) होने के कारण। इसीलिए राधा के परिग्रहण का विशेष चाव संस्कृत कवियों में प्रायः एक हजार वर्ष तक दिखाई नहीं पड़ता। गाथा-संग्रह के कई सौ वर्षों बाद भट्टनारायण कवि के 'वेणीसंहार' नाटक के नान्दी पाठ के एक छन्द में 'राधा' का नाम मिलता है। विष्णु की प्रार्थना के पश्चात् कृष्ण के रसिक रूप का स्मरण करता हुआ कवि कहता है—

कालिन्द्याः पुलिनेषु केलिकुपितामुत्सृज्य रासे रसं
गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्रु कलुषां कंसद्विषो राधिकाम्।
तत्पादप्रतिमानवेशितपदस्योद्भूत रोमोद्गते
रक्षुण्णोऽनुनयः प्रसन्नदयितादृष्टस्य पुष्णातु वः।

—वे० सं०, अङ्क १।२।

"यमुना के तट पर केलि में कुपित होकर रास के रस को त्याग आँसू से भींगी आँखों से आगे-आगे जाती हुई राधिका के पीछे-पीछे चलते हुए और उनके ही पद-चिह्नों पर अपने चरणों को रख-रखकर चलने के कारण रोमाञ्चित तथा (पैरों पर गिरकर मनाने के कारण) प्रिया की प्रसन्न दृष्टि का प्रसाद पाने वाले कंसारिपु (कृष्ण) का अनुनय आप लोगों को बल-प्रदान करे।"

'वेणीसंहार' का आरम्भ ही कृष्ण के दूतत्व से होता है। कृष्ण के महाभारतवाले स्वरूप को ही कवि ने आरम्भ से ग्रहण किया है। वे पाराशर्य, नारद, तुम्बरु, जामदग्न्य आदि मुनि-देवों द्वारा अनुगम्यमान भगवान् होते हुए भी भरत-कुल की हितकामना से दूतपन स्वीकार करते हैं।[1] कवि ने कुछ आगे चलकर भीम के मुख से उनके यथार्थ स्वरूप का आभास इस प्रकार दिया है—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोत्सेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्ता-
त्तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्ति देवं पुराणम् ?॥

—वे० सं०, अं० १। २३।

"आत्माराम, निर्विकल्प समाधि में लीन और ज्ञान के प्राचुर्य्य से जिनके आभ्यन्तर की अज्ञान रूपी अन्धकार की गाँठें खुल गई हैं, ऐसे सत्त्वनिष्ठ योगी-जन भी जिन्हें अन्धकार और प्रकाश (अज्ञान और ज्ञान) से परे देखते हैं उस पुराण देव (श्री कृष्ण) को यह मोहान्ध (मूर्ख दुर्योधन) भला समझ ही कैसे सकता है ?"

भट्टनारायण ध्वन्यालोककार और काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्तिकार से पहले हुए हैं, क्योंकि दोनों ही ने अपने ग्रन्थों में 'वेणीसंहार' के वृत्त और प्रयोग उद्धृत किए हैं। ध्वनिकार ने तीन श्लोक लिए हैं और वामन ने शब्द-शुद्धि-निरूपण के लिए एक पद मात्र लिया है। पूरा श्लोक इस प्रकार है—

"जात्या काममवध्योऽसि चरणं त्विदमुद्धृतम्।
अनेन लूनं खड्गेन पतितं वेत्स्यसि क्षितौ॥"

—वे० सं०, अं० ३ ।४१।

---

१. प्रवेशकालः किल तत्र भगवतः पाराशर्यनारदतुम्बरुजामदग्न्यप्रभृतिभिर्मुनिवृन्दारकैरनुगम्यमानस्य भरतकुलहितकाम्यया स्वयं प्रतिपन्नदौत्यस्य देवकीसूनोश्चक्रपाणेर्महाराजदुर्योधनशिविरसन्निवेशं प्रति प्रस्थातुकामस्य।
—वे० सं०, अं० १।

इसमें 'वेत्स्यसि' को 'वेत्सि+असि' करके उन्होंने इसकी शुद्धता की पुष्टि की है, 'वेत्स्यसीति पदभङ्गात्' सूत्र द्वारा। अतः वामन जो आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती हैं, भट्टनारायण उनके भी पूर्ववर्ती हुए। चीनी यात्री 'हुएन्-त्सांग' सातवीं शती के पूर्वार्द्ध में जब भारत आया था, तब वामन की लिखी पाणिनि-सूत्रों की व्याख्याएँ पूर्णतया पढ़ी-पढ़ाई जाती थीं, विशेषतः छात्रोपयोगी होने के कारण, अतः इनका समय सप्तम शती का पूर्वार्द्ध होगा। कुछ विद्वान् अष्टम शतक के मध्यकाल में भट्टनारायण की स्थिति मानते हैं।[1] किन्तु इस पाश्चात्य विचारकों की नई खोज से वे छवीं शती के अन्त अथवा सातवीं शती के प्रारम्भ के ठहरते हैं। अतः संस्कृत-साहित्य में 'राधा' का उल्लेख यहाँ से आरब्ध माना जायगा।[2]

इसके पश्चात् 'कइराय वप्पइराय' (कविराज वाक्पतिराज) के प्रसिद्ध प्रबन्ध काव्य 'गउडवहो' के प्रारम्भिक स्तुति वा प्रार्थना भाग में हमें राधा का उल्लेख मिलता है। कृष्ण के साथ राधा का भी उनकी प्रिया के रूप में स्मरण कवि ने किया है। कृष्ण की वन्दना चार गाथाओं में इस प्रकार मिलती है—

सो जयइ जामइल्लायमाण-मुहलालि-वलय-परिआलं।
लच्छि-निवेसन्तेउर-वइंव जो वहइ वण-मालं॥
बालत्तणम्मि हरिणो जयइ जसो-आएँ चुम्बियं वयणं।
पडिसिद्ध-नाहि-मग्गुद्ध-णिग्गयं पुण्डरीयं व॥
णह-रेहा राहा-कारणाओ करुणं हरन्तु वो सरसा।
वच्छ-त्थलम्मि कोत्थुह-किरणाअन्तीओ कण्हस्स॥

—गउडवहो, मङ्गलाचरण, २०-२२।

"जो कृष्ण गुञ्जन करते हुए भ्रमरों से घिरी वक्षःस्थल के परिवेष के सदृश वनमाला धारण करते हैं, उनकी जय हो। बालकृष्ण के यशोदा द्वारा

---

१. संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृ० ४८९, परि० संस्करण ४, लेखक पं० बलदेव उपाध्याय।

२. कतिपय विद्वान् 'वेणीसंहार' के राधिकावाले श्लोक को प्रक्षिप्त मानते हैं, जैसा कि डा० भोलाशङ्कर व्यास ने अपने 'संस्कृत-कवि-दर्शन' नामक पुस्तक में जयदेव कवि के प्रसङ्ग में कोष्ठकों में कहा है, "जिसे प्रायः प्रक्षिप्त माना जाता है।"

चुम्बित उस मुख की विजय हो जो नाभि-मार्ग से प्रतिषिद्ध ऊर्ध्वनिर्गत कमल के समान (खिला हुआ) है। राधा द्वारा कृष्ण के वक्षःस्थल पर बनी हुई कौस्तुभमणि की किरणों-सी चमकती आर्द्र नख-रेखाएँ संसार के दुःखों को दूर करें।"

तं णमह जेण अज्जवि विलूण-कण्ठस्स राहुणो वलइ।
दुक्खमनिच्चरियं चिय अमूल - लहुएहिँ सासेहिँ ॥

"उन्हें नमस्कार करें जिन्होंने राहु का शिरश्छेद किया और उस शिरच्छेद के दुःख को राहु अब भी अपनी नन्हीं-नन्हीं सासों से ही व्यक्त कर पाता है (नाभि-प्रदेश के न रहने के कारण वह लम्बी साँसें भी नहीं ले सकता)।" इस अन्तिम छन्द में कवि ने कृष्ण को विष्णु से अभिन्न सूचित किया है।

वाक्पतिराज ने अपने काव्य में कन्नौज के राजा यशोवर्मा की गौड़-नरेश पर विजय का वर्णन किया है। काश्मीर के राजा ललितादित्य ने यशोवर्मा को ७३४ ई० में युद्ध में पराजित किया था, जिसका उल्लेख वाक्पतिराज ने नहीं किया है। यशोवर्मा को पराजय के पूर्व ही गौड़ पर विजय मिल चुकी थी, अतः इस काव्य का निर्माण ७३४ ई० के पहले ही हो गया होगा। इस प्रकार आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के भीतर-भीतर ही हम इस प्राकृत काव्य में राधा का ग्रहण पाते हैं। वाक्पतिराज के पश्चात् आचार्य आनन्दवर्द्धन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' में रसवदलङ्कार के विमर्श में एक गीति ऐसी दी है जिसमें राधा का उल्लेख हुआ है। वह गीति यह है—

तेषां गोपवधू-विलास-सुहृदां राधा रहःसाक्षिणां
क्षेमं भद्र कलिन्दशैल-तनया-तीरे लतावेश्मनाम्।
विच्छिन्ने स्मर-तल्प-कल्पन-मृदुच्छेदोपयोगेऽधुना
ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः॥

—ध्वन्या०, उद्योत २।

कृष्ण के मथुरा में आ जाने के पश्चात् कोई व्यक्ति व्रज से उनके पास आया, उसी के वहाँ का कुशल-समाचार पूछते हुए उन्होंने उससे यह भी पूछा, "हे भद्र, गोपियों के विलास के मित्र और राधा के अन्तरङ्ग साक्षी कालिन्दी तटवर्ती लता-कुञ्ज हरे-भरे तो हैं न? मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि काम-शय्या के निर्माणार्थ अब तोड़े न जाने के कारण उनके कोमल पल्लव

नीले पड़-पड़कर सूख जाते होंगे।" इसके अतिरिक्त एक और गीति में राधा का उल्लेख मिलता है।[1]

'कवीन्द्र-वचन-समुच्चय' नामक काव्य-संग्रह में विभिन्न कवियों की उत्तम रचनाओं का संग्रह किया गया है। यह संग्रह अन्य सभी संस्कृत-काव्य-संग्रहों से प्राचीन है। इसका संग्रह-काल ई० सन् की दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी का आरम्भ माना जाता है। इसमें जो शृङ्गारपरक रचनाएँ हैं, उनमें से चार में कृष्ण को नायकत्व प्रदान किया गया है किन्तु राधा का स्पष्ट उल्लेख किसी में भी नहीं है। संग्रह की कविताओं के सभी रचयिता दसवीं शताब्दी से पूर्ववर्ती हैं। इनकी राधापरकता को कतिपय विद्वान् मान्यता देते हैं। डॉ० शशिभूषण दास गुप्त ने 'श्रीराधार क्रमविकाश' नामक ग्रन्थ में इनका उल्लेख किया है।[2]

जयदेव की गीतियों की राधा का मूल—

इसके अनन्तर कवि-कुल-मण्डन महाकवि क्षेमेन्द्र ऐसे प्रथम महाकवि मिलते हैं, जिन्होंने आद्यन्त कृष्ण-चरित के मार्मिक पक्षों को अपनाकर अत्यन्त मनायोग और हार्दिकता से अनुपम काव्य-रचना की है। अपनी अपूर्व प्रतिभा, अद्भुत वाग्वैदग्ध्य, अतुल शब्द-चायिनी शक्ति, बहुवस्तु-स्पर्शिनी दृष्टि और विशाल सहृदयता से सम्पन्न इस महाकवि में हम कालिदास, भवभूति और जयदेव (गीतगोविन्दकार) का महत्त्वपूर्ण दर्शन पाते हैं। तीनों महाकवियों की विशेषताएँ इस महाकवि में आकर समाश्रित हो गई हैं। कालिदास में उपलब्ध वैदर्भी रीति और प्रसाद गुण से सम्पन्न शृङ्गार रस का उदात्त मनोहर परिपाक तथा नूतन उपमाओं की योजना, भवभूति का ओज एवं नाद-सौन्दर्य, और जयदेव की ललित पदावली प्रचुरता से अकेले इस कवि की विभिन्न कृतियों में सहज

---

१. दुराराधा राधा सुभग यदनेनापि मृजत-
स्तवैतत्प्राणेशाजघनवसनेनाश्रुपतितम्।
कठोरं स्त्रीचेतस्तदलमुपचारैर्विरम हे
क्रियात्कल्याणं भो हरिरनुनयेष्वेवमुदितः॥
—ध्वन्यालोक, उद्योत ३, का० ४१ में उद्धृत।

२. देखिए डॉ० शशिभूषणदास गुप्त-रचित "श्रीराधार क्रमविकाश", पृ० सं० ११६, प्रथम संस्करण।

ही उपलभ्य है। क्षेमेन्द्र महती प्रबन्ध-रचना में भी उतने ही कुशल हैं, जितने कि लघु आख्यायिकाओं की रचना में प्रवीण। व्यंग्यपरक चुटीली काव्य-रचना में पूरे संस्कृत-साहित्य में इनका कोई जोड़ नहीं है। जहाँ ये 'दशावतार-चरित' और 'बृहत्कथामञ्जरी' के साथ 'रामायण-मञ्जरी' और 'भारत-मञ्जरी' की महती कृतियाँ प्रस्तुत करते हैं वहीं 'समयमातृका' की रचना वाररामाओं के लिए भी रख देते हैं। इनका 'दशावतार-चरित' संस्कृत के शीर्षस्थ महाकाव्यों में अन्यतम महाकाव्य है। इनके इस काव्य का अनुशीलन करते समय मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि ये ही महाकवि गीतगोविन्दकार जयदेव के काव्य-गुरु हैं। गीतगोविन्द की 'अष्टपदी' का पूर्वरूप प्रस्तुत करने वाले ये ही प्रथम कवि हैं। कवि-कुल-गुरु कालिदास के सुकुमार मार्ग की स्वयमागत सहज अलंकृत-पद-न्यास वाली कविता इनकी वाणी से स्वतः उद्भूत हुई है। एकाध छन्द दे देना अनुचित न होगा। कालिदास महाराज दिलीप के गोचारण के प्रसङ्ग में हरी-भरी वन-भूमि की शोभा दिखाते हुए कहते हैं—

स पल्वलोत्तीर्ण-वराह-यूथान्यावास-वृक्षोन्मुख-बर्हिणानि।
ययौ मृगाध्यासित-शाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन्॥
—रघुवंश, सर्ग २

क्षेमेन्द्र अपने 'दशावतार-चरित' को कालिदासीय शैली में ही प्रस्तुत करते हुए 'श्रीरामावतार' नामक सर्ग में 'पुष्पक विमान पर बैठे हुए रावण को विलुप्त नगर के स्थान पर प्रकृति की शोभा दिखाते हुए कहते हैं—

"स तत्र चित्राणि पुराणि तानि न हेमहर्म्याणि न मन्दिराणि।
स्वप्नान्तराणीव कृतभ्रमाणि जन्मान्तराणीव गतान्यपश्यत्॥
तत्रालुलोके स तमालतालतालीस-हिन्तालनिरन्तरालम्।
वनं विशालं विवलत्पियालामालवली सन्ततवक्त्रमालम्॥"
—दशा० च०, श्रीरामावतार, ७८, ७९।

"रावण ने न वहाँ विचित्र पुरों को देखा, न उन कनक भवनों को देखा और न ही मन्दिरों को देखा, मानो वह दूसरे स्वप्नलोक के भ्रम में फँस गया हो अथवा उन पूर्वदृष्ट भवनों ने इन नव प्राकृतिक दृश्यों के रूप में नया जन्म ग्रहण कर लिया हो।" यहाँ प्रथम छन्द कालिदास के पद-भाव-माधुर्य की याद दिलाता है और द्वितीय छन्द जयदेव की वाणी में उतरता

दिखाई पड़ता है। जयदेव ने भाषा-माधुरी के लिए इसी आदर्श को ग्रहण किया।

जयदेव को महाकवि क्षेमेन्द्र से संगीत में उतरने वाली पदावली कहाँ मिली, इसे हम आगे बताएँगे, पहले हमें राधा की अवतारणा की परम्परा पर ही चर्चा करनी है। अस्तु, क्षेमेन्द्र ने दसों अवतारों को अपने महाकाव्य का विषय बनाया, किन्तु उनकी चित्तवृत्ति पूर्णतया रम सकी है कृष्ण-चरित में ही। महाकवि ने कृष्ण के एकपत्नीय चरित्र के ही प्रति अनुरक्ति नहीं दिखाई है, उसने उसे आद्यन्त संक्षिप्त रूप में किन्तु मार्मिक स्थलों को बड़े ही मनोयोग और सहृदयता के साथ काव्य-रूप दिया है। 'दशावतार-चरित' का आधारभूत ग्रन्थ है 'श्रीमद्भागवत'। क्षेमेन्द्र का धार्मिक विश्वास एकाङ्गी नहीं है, इसीलिए ये परम वैष्णव भागवताचार्य सोमपाद से दीक्षित होने पर भी परम शिवभक्त भी हैं। इन्होंने 'सुवृत्ततिलक' का आरम्भ 'शिव' की वन्दना से ही किया है।[1] प्रस्तुत काव्य में महाकवि ने भगवान् विष्णु के भागवत-वर्णित (महाभारत कथित नहीं)[2] प्रमुख आठ अवतारों तथा बुद्ध और कर्कि (कल्कि) अवतारों का भी वर्णन किया है, जिसका निर्देश भागवतकार ने इस प्रकार कर दिया था—

भूमेर्भरावतरणाय यदुष्वजन्मा जातः करिष्यति सुरैरपि दुष्कराणि।
वादैर्विमोहयति यज्ञकृतोऽतदर्हान् शूद्रान्कलौ क्षितिभुजो न्यहनिष्यदन्ते॥

—श्रीमद्भागवत, स्कं० ११, अध्याय ५। २१।

"अजन्मा विभु, जिसने यदुकुल में जन्म लिया है वही देवों द्वारा भी न हो सकने योग्य कामों को करेगा। वही यज्ञ करनेवालों को वादों से मोहित करेगा और कलियुग में शासन के लिए सर्वथा अयोग्य शूद्रों का विनाश करेगा।"

---

१. गणपतिगुरोर्वक्रश्चूडाशशाङ्ककलाङ्कुरः
स्फुट-फणिफणा-रत्नच्छायाछटाछुरणारुणः।
गिरिपतिसुतासंसक्तेर्ष्याविलासकचग्रह-
च्युत नखशिखालेखाकान्तस्तनोतु सुखानि वः॥

—सुवृत्ततिलक, विन्यास १। १।

२. महाभारत में दशावतार के अन्तर्गत 'हंसावतार' की गणना की है, बुद्ध की नहीं।

जिस प्रकार भागवतकार ने अन्य अवतारों की अपेक्षा कृष्ण-चरित का सविस्तर उल्लेख किया है, उसी प्रकार महाकवि क्षेमेन्द्र ने कृष्ण-चरित को ही प्रधानता दी है। कृष्ण-चरित के भीतर 'उषा-अनिरुद्ध' के प्रकरण में कवि ने रस की नूतन स्रोतस्विनी प्रवाहित कर दी हैं। भागवतकार ने केवल 'अनयाऽऽराधितो' मात्र कहकर राधा की ओर सङ्केत मात्र कर दिया था किन्तु इस महाकवि ने राधा का कृष्ण की प्रधान प्रेयसी के रूप में स्पष्ट उल्लेख किया है। इस काव्य की 'गोपी-कृष्ण-लीला' अत्यन्त हृदयहारिणी है। कृष्ण के अवतीर्ण होने पर गोकुल की शोभा इतनी बढ़ गई कि उसके सामने नन्दनवन भी हल्का पड़ गया। कवि उस शोभा का चित्रण इस प्रकार करता है—

स्निग्धश्यामास्तरुतृणभुवः सम्पतन्निर्झरौघा
मेघप्रेमोन्मुखशिखिमुख-स्थायिनो मन्थघोषाः।
गायद्गोपीस्तिमितहरिणीहारिणः काननान्ताः
कान्ताश्चक्रुः प्रमदसमयं यामुनाः कूलकच्छाः॥
—दशा०, श्रीकृष्णावतार, ४१।

"गोकुल की भूमि स्निग्ध श्यामल तरुवरों और घासों से आच्छादित हो गई, झरने अमन्द गति से प्रवहमान हो उठे, व्रज के भवनों से उठनेवाली दही मथने की संकुल ध्वनि को मेघ-गर्जन समझ मयूर ऊपर की ओर देखने लगे, मृगदृशी गोपियों ने अपने मधुर गीतों से यमुना-तीरवर्ती वनभूमि को और भी मोहक बना दिया।" बीच-बीच में ओजोगुणपूर्ण प्रवीर और रौद्र रसानुवर्ती पदावली से गुम्फित कवि-वाणी सचमुच ही चमत्कृत कर देती है। कालिय-दमन के समय सर्प का उग्ररूप देखिए—

पादाक्रान्तफणस्य फूत्कृतिविषावेगोष्ण-निःश्वासिनः
कोपक्लेशविशेषदन्तकषण-प्रोद्भूतधूमैर्हरेः।
कालभ्रू भ्रमभङ्गुरैर्वृतमभूत्पाताल-मूलोद्गतैः
कालैः कालियबान्धवैरिव जलं साहायकान्यागतैः॥
—दशा०च०, श्रीकृष्ण० ४९।

इसी प्रकार कुपित इन्द्र द्वारा घोर वृष्टि का दृश्य वातावरण की भीषणता को सामने ला खड़ा कर देता है। इसके अनन्तर कवि कृष्ण की प्रौढ़ युवावस्था का चित्र उपस्थित करता है। युवा कृष्ण के सौन्दर्यामृत का पान करके गोपियों को मदविभ्रम हो गया—

अथ प्रपेदे गोविन्दः प्रौढ़ मदमिव द्विपः ।
सहकारतरुः कान्तं वसन्तमिव यौवनम् ॥
तस्थ निर्भरतारुण्य-लावण्यं नयनामृतम् ।
पिबन्तीनामभूद्गोप-कान्तानां मदविभ्रमः ॥
—दशा०च०, सर्ग ८।६९, ७१ ।

महाकवि ने कृष्ण और गोपियों की लीला पर जो मधुर रचना की है, उसमें गीति-तत्त्व अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ आ उपस्थित हुआ है। कृष्ण के रसिक-स्वरूप का वर्णन अत्यन्त विदग्धता के साथ (श्लेष और छेकापह्नुति में) उनकी एक प्रियतमा गोपी अपनी बहिरङ्गिणी सखी से इस प्रकार करती है—

अन्तर्लोचनयोर्विशत्यविरतं लग्नश्च पाणौ गतिं
निबन्धेन रुणद्धि धावति मुहुर्दंशाभिकामोऽधरे।
सख्यः किं करवाणि वारणशतैर्नैवापयाति क्षणं
कृष्णः षट्चरणः प्रयाति चपलः पुष्पोच्चये विघ्नताम् ॥
कर्षत्यंशुक-पल्लवं परिहृतः प्रत्याहृतिं नोऽज्झति
प्रक्षिप्तश्चरणे लगत्यविरतं तिष्ठत्यदृष्टः पथि ।
अङ्गान्युल्लिखति प्रसह्य यदि वा लब्धाऽवकाशः क्वचि—
त्किं शौरिर्घनकुञ्जवञ्जुललता-जालान्तरे कण्टकः ॥
—वही, ७५-७६ ।

"प्रिय सखि, अपनी दुर्दशा का हाल मैं तुझे क्या बताऊँ ! मेरी आँखों के भीतर जा पहुँचता है, हाथ से लिपट जाता है, आगे बढ़ना दूभर कर देता है, बार-बार होंठ काटने के लिए (अधरामृत-पान के लिए) झपटता है। मैं करूँ तो क्या करूँ, हजार बार मना करने पर भी दूर नहीं हटता और इस प्रकार वह काला भौंरा (रसलोलुप कृष्ण) मेरे फूल चुनने में बाधा डालता फिरता है।"

यह वचन-विदग्धा गोपी राधा ही मालूम पड़ती है। इसी प्रकार गोपियों के विदग्धता से भरे प्रश्नोत्तर रस की वर्षा करते मिलते हैं। कृष्ण को दूती के साथ रमण करने वाले शठ नायक का रूप भी दिया गया है। आगे कवि ने राधा को ही कृष्ण की अधिक वल्लभा कहा है—

प्रीत्यै बभूव कृष्णस्य श्यामानिचय-चुम्बिनः ।
जाती मधुकरस्येव राधैवाधिकवल्लभा ॥

'जैसे भौंरे को सभी फूलों में जाती फूल सबसे अधिक प्रिय होता है उसी प्रकार गोपाङ्गना-समूह में विचरने वाले कृष्ण को राधा ही सर्वाधिक प्रिया हुई।" इसके पश्चात् अक्रूर कृष्ण और बलराम को ले जाने के लिए मथुरा से गोकुल आते हैं। उस समय उनके मार्ग में पड़ने वाले ग्रामीण दृश्य जिस सहृदयता और सूक्ष्म निरीक्षण से कवि ने उपस्थित किए हैं, वह सहृदयता और दृष्टि विरले महाकवियों में ही मिल पाती हैं। एक बिम्बग्राही चित्र देखिए—

अतिक्रम्याथ मथुरामक्रूरः प्रथितो रथी।
अवापाग्रसरत्सैन्यः पर्यन्तग्राम-मेखलाम् ॥
प्रत्यग्रपाकविनमत्कलमक्षेत्र - पंक्तिभिः ।
हरितालरजः पुञ्जरञ्जिताभिरिवाचिताम् ॥
कदलीश्यामलारामवटवाटलतावृताम्।
लम्बमानघनालाबुतुम्ब-कूष्माण्ड-मण्डलाम् ॥
वलत्कुटिलकल्लोलकुल्याकलकलाकुलाम।
द्रोणीसुशीतलतल-स्थली-शय्याश्रयाध्वगाम् ॥
अध्वन्यजग्धपूर्वेक्षु-शल्क-शुक्लीकृतस्थलाम्।
पाकपिङ्गलनारङ्गीवनैःसन्ध्यान्वितामिव ॥
ययौ स पश्यन्निःशङ्क-शुकाशन-निवारणे।
उदञ्चद्भुज-लक्ष्योच्चकुचाग्राः शालिपालिका ॥

— वही, १४१–१४६।

"अक्रूर मथुरा को पार करके गाँवों की सीमा में आ पहुँचे। उन्होंने देखा, दूर-दूर तक फैले खेतों में धान की पकी बालियाँ नीचे की ओर लटक गई हैं, मानों गाँवों की प्रान्त-भूमि पीले रंग में रँग दी गई हो। चारों ओर से घने वृक्षों और लताओं से वह भूमि घिरी हुई है। लौकी और कुम्हड़े के फल छप्परों से नीचे लटक रहे हैं। छोटी-छोटी वक्रगति से जाती हुई जल-प्रणालियों के जल-प्रवाह का कल-कल शब्द वायुमण्डल में व्याप्त हो रहा है। डोंगी नावें शीतल जल प्रवाह पर तैरती चली जा रही हैं। ईख की खोइयों से धरातल श्वेत दिखाई पड़ रहा है। नारङ्गी के पीले फलों से शोभित भूमि मानो सन्ध्या से घुल-मिल गई हो। धान की बालियों को अपनी चोंचों से नोंच-नोंचकर भाग खड़े होने वाले तोतों को उड़ाने के लिए हाथ को ऊपर झटकते समय जिनके ऊँचे कुचों के अग्रभाग उठे हुए दिखाई पड़ रहे हैं,

ऐसी धान रखानेवाली ग्रामीण सुन्दरियों को देखते हुए अक्रूर आगे बढ़े।" कवि-गुरु कालिदास के काव्य में प्रकृति का जैसा बिम्बग्राही चित्रण हम पाते हैं, उसका महाकवि क्षेमेन्द्र के काव्य में प्राचुर्य है।

राधा का नायिका के रूप में ग्रहण और संयोग तथा विप्रलम्भ की पृष्ठ-भूमियों पर उनके विविध रूपों का रमणीय चित्रण इस महाकवि से पहले किसी दूसरे कवि ने नहीं किया है। जयदेव के 'गीतगोविन्द' में राधा के संयोग शृंगारान्तर्गत ही विविध चित्र हमें देखने को मिलते हैं, उस विप्रलम्भ का एक भी चित्र जयदेव नहीं दे सके, जिसके द्वारा राधा के प्रेम ने दिव्यता प्राप्त की और जिस दिव्य प्रेम के कारण राधा का नाम कृष्ण के साथ सदा के लिए जुड़ गया। महाकवि क्षेमेन्द्र ने राधा के वास्तविक विरह को चित्रित करके राधा-कृष्ण-प्रेम को पूर्णता और दिव्यता प्रदान की है। कृष्ण मथुरा जाते समय राधा की विरहावस्था में कितने दुखी हो रहे हैं, इसका एक चित्र कवि इस प्रकार उपस्थित करता है—

यच्छन् गोकुलगूढकुञ्ज-गहनान्यालोकयन्केशवः
सोत्कण्ठं वलिताननो वनभुवा सख्येव रुद्धाञ्चलः।
राधाया न-न-नेति नीविहरणे वैक्लव्य-लक्ष्याक्षराः
सस्मार स्मरसाध्वसाद्‌सुततनो रावोक्ति [?] रिक्ता गिरः॥
—वही, १७१।

कृष्ण के विरह में गोकुल की सभी गोपियाँ स्वप्न में भी अपने को कृष्ण की भुजाओं में पाती हैं और सोते में उच्चकण्ठ से चिल्ला पड़ती हैं, "हे वञ्चक! छोड़ दे, मुझे छोड़ दे'—

गोविन्दे गुरुसन्निधौ परवशावेशादनुक्त्वा गते
सुप्तानां वकुलस्य शीतल तले स्वैरं कुरङ्गीदृशाम्।
स्वप्नालिङ्गन-सङ्गतेऽङ्गलतिका-विक्षेप-लक्ष्या मुहु-
र्मुग्धा वञ्चक मुञ्च मुञ्च कितवेत्युच्चैरुरुच्चैर्गिरः॥
—वही, १७५।

कृष्ण के वियोग में राधा किस प्रकार नई वर्षा ऋतु ही हो गई हैं, इसे दिखाते हुए कवि ने अपनी महती प्रतिभा और काव्य-कला-चातुरी का परिचय दिया है—

राधा - माधव-विप्रयोग - विगलज्जीवोपमानैर्मुहु-
र्वाष्पैः पीनपयोधराग्रगलितैः फुल्लत्कदम्बाकुला ।
अच्छिन्न-श्वसनेन वेगगतिना व्याकीर्यमाणैः पुरः
सर्वाशा-प्रतिबद्ध-मोह-मलिना प्रावृण्नवेवाभवत् ॥
—वही, १७६ ।

इस प्रकार हम देखते हैं जिस राधा-कृष्ण प्रेम के गान का चरम उत्कर्ष बहुत से विद्वान् पहले-पहल जयदेव में देखते रहे हैं, वह और भी परिपुष्ट रूप में क्षेमेन्द्र के गीतों में जयदेव से प्रायः एक शताब्दी पूर्व ही उतर चुका था।

जयदेव की तालबद्ध गीतियों का पूर्वरूप

जिन ताल-बद्ध-गीतों के सर्जन और कोमल-कान्त-पदावली के आश्रयण ने गीतगोविन्दकार को इतना विश्रुत बना दिया, ठीक वैसी ही ताल-बद्ध और वैसी ही कोमल-कान्त पदावली से युक्त एक अष्टपदी से छोटी गीति 'दशावतार-चरित' में मिलती है। प्रबन्धत्व की रक्षा की दृष्टि से ही क्षेमेन्द्र ने जयदेव जैसी लम्बी गीतियाँ नहीं दी हैं। गीति जिस प्रसङ्ग में उतारी गई है, उससे इस गीति-परम्परा के प्राचीन रूप और इसकी उद्गम-स्थली की भी ठीक-ठीक सूचना मिल जाती है। इस गीति को एकान्त में ग्रामीण गोपियाँ कृष्ण के वियोग में समवेत स्वर में गाती हैं। गीति की पृष्ठ-भूमि उपस्थित करता हुआ कवि कहता है—

गोविन्दस्य गतस्य कंसनगरीं व्याप्ता वियोगाग्निना
स्निग्ध-श्यामल-कूल-लीनहरिणे गोदावरी-गह्वरे ।
रोमन्थस्थित-गोगणैः परिचयादुत्कर्णमाकर्णितं
गुप्तं गोकुलपल्लवे गुणगणं गोप्यः सरागा जगुः ॥
—दशा०च०, सर्ग ८।१७२ ।

"गोविन्द के मथुरा चले जाने पर उनकी विरहाग्नि से संतप्त होकर यमुना के तटवर्ती स्निग्ध-श्यामल हरे-भरे कुञ्ज में गोपियों ने 'राग के साथ' (ताल-बद्ध रूप में) कृष्ण के गुप्त गुणों का इतना मधुर गान किया कि गायों ने जुगाली करना बन्द कर दिया और कान खड़े करके वे भी मुग्ध होकर सुनने लगीं।" गीति यह है—

ललित-विलास-कला-सुख-खेलन-
ललना - लोभन - शोभन - यौवन-
मानित-नवमदने ।
अलि-कुल-कोकिल-कुवलय-कज्जल-
काल - कलिन्द-सुता - विवलज्जल-
कालिय-कुल-दमने ।
केशि-किशोर-महासुर-मारण-
दारुण-गोकुल-दुरित-विदारण-
गोवर्धनधरणे ।
कस्य न नयनयुग रतिसज्जे
मज्जति मनसिज-तरल-तरङ्गे
वर-रमणी-रमणे ॥
—वही, १७३ ।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार की मधुर गीतियाँ गाँवों में स्त्रियों की सम्पत्ति थीं । इस गीति के अतिरिक्त अन्यत्र भी काव्य में क्षेमेन्द्र ने कोमल ललित पद-शय्या प्रचुरता से रची है, जिनमें कुछ ऊपर आ चुकी है । ऐसी कोमलकान्त पदावली से अलंकृत और शृंगार रस से पूर्ण हृदयावर्जक कविता इसी काव्य में उषा-अनिरुद्ध के प्रणय-व्यापार को लेकर प्रस्तुत की गई है । जयदेव ने उस स्थल से भी लाभ उठाया है । जयदेव की कविताएँ काव्य-कला की एकरूपता ही सर्वत्र परिव्याप्त है, कवि की वह अन्तर्मुखी वृत्ति, जो हृदय के गूढ़ भावों की विविध भंगुर-भङ्गिमाओं से संवलित काव्य प्रस्तुत करने में समर्थ होती है, जयदेव में कहीं दिखाई नहीं पड़ती । उनका काव्य-सौन्दर्य्य संस्कृत की ललित पदावली पर ही टिका हुआ है, जो कानों में रस की वृष्टि करता है पाठक और श्रोता के हृदय में उद्वेल उत्पन्न करने वाले जो आभ्यन्तर गुण कालिदास और क्षेमेन्द्र के काव्य में सहज उपलब्ध हैं, जयदेव के काव्य में नहीं हैं । जयदेव शृंगार के केवल सम्भोग पक्ष के कवि हैं, अतः वे उत्तम काव्य-रचयिताओं की श्रेणी में नहीं आते । क्षेमेन्द्र सम्भोग और विप्रलम्भ दोनों क्षेत्रों में उत्तम काव्य प्रस्तुत करने तथा अन्य काव्यगुणों की दृष्टि से भी जयदेव से बहुत ऊँचे कवि ठहरते हैं । मेरा विश्वास है कि जयदेव इन्हीं महाकवि के एकक्षेत्रीय सफल अनुकारी शिष्य हैं । 'उषा' का एक स्वप्न-चित्र देखिए, जिससे जयदेव कम प्रभावित नहीं हुए थे—

लज्जामज्जन-विह्वला ननननेत्यल्पप्रलापोद्गति-
र्नीवी-मुक्ति-निरोध निर्धुति-विधौ पाणिः क्वणत्कङ्कणः।
शीतेनेव विकूजिता जवजुषः श्वासस्य शीत्कारिता
तस्या भ्रंशभयोच्चलत्कलकला काञ्ची सकम्पाऽभवत्॥
—वही, २३७।

"उषा प्रथम समागम के समय अपने प्रियतम के नीवी खोलने के लिए हाथ से नीवी पकड़ते ही लज्जा में डूबती घबराकर 'नहीं-नहीं-नहीं' खण्डित अक्षरों में बोल पड़ी। नीवी को प्रियतम के हाथ से छुड़ाने के लिए जब उसने हाथ झटके से बढ़ाया तो हाथ का कङ्गन रुनझुन शब्द कर उठा। साँसों से उसी प्रकार 'सी-सी' की ध्वनि निकल पड़ी जैसे ठंढक लगने से होती है, कटि-प्रान्त की करधनी इस प्रकार हिल उठी मानो टूटने के भय से काँप रही हो।"

क्षेमेन्द्र ने इस स्वप्नगत प्रथम समागम के लिए वसन्तऋतु ही चुनी है। वसन्तऋतु का बड़ा ही उन्मादकारी वातावरण उन्होंने पहले-पहले प्रस्तुत किया है। यह चटकीला आकर्षक वासन्ती वैभव उद्दीपन के ही रूप में लाया गया है। जयदेव ने भी क्षेमेन्द्र के ही चरण-चिह्नों पर चलकर वसन्त के इसी रूप को राधा-कृष्ण के रास-विलास के लिए अपना लिया है। प्रसङ्गानुकूल क्षेमेन्द्र ने वसन्त का बड़ा ही मनोरम और भाव-भूमि के अनुकूल अत्यन्त प्रभावशाली एवं बिम्बग्राही रूप काव्य में उतारा है। क्षेमेन्द्र की सबसे महती विशेषता यह है कि वे जितने बड़े सहृदय हैं उतने ही महान् कलाकार भी हैं। उनकी सहृदयता ने कला को और कला ने सहृदयता को चरम उत्कर्ष प्रदान किया है। अप्रस्तुत-योजना के लिए वे दूर की दौड़ नहीं लगाते प्रस्तुत वातावरण से ही रमणीय अप्रस्तुत लेकर वे भाव की तीव्रता को सहज ही चतुर्गुण करने में समर्थ सिद्ध होते हैं और इस प्रकार अपने पाठकों को कल्लोलित रस-सिन्धु में निमग्न करके किंवक्तव्य-विमूढ़ बना देते हैं। उनका वासन्ती सौन्दर्य-चित्रण देखिए—

अथाययौ यौवनकृद्वल्लीनां कुसुमाकरः।
कुर्वाणः सरसां प्रीतिलतां जन-मनोवने॥
चञ्चच्चूतरजः - पुञ्ज-पीताम्बर-मनोहरः।
अतसीकुसुम श्यामः शुशुभे नवमाधवः॥

नम्रानना नवोद्भूत-रजसा स्तवकस्तनी।
मालती यौवनवती कन्येवोच्छ्वासिनी बभौ॥
ववुर्मलय-निःश्वासा इव चन्दनचुम्बिनः।
पवनाः पन्नगीदंश-शङ्कयेव शनैः शनैः॥
कूजत्कोकिलकण्ठ-वंश-विरुतैः स्फायिन्यवाप्ते परं
चूतामोद-मदाकुलालि-पटली-वीणा-स्वन-स्वादुताम्।
शिक्षाचक्षण – दक्ष – दक्षिणमरुद्दत्तोपदेशक्रमै—
र्मञ्जर्यो ननृतुर्मधूत्सव-लसत्पुष्पायुधाराधने ॥—
वही, २३०—२३४।

"लताओं को यौवन प्रदान करनेवाला वसन्त मानवों के मन के वन में प्रीति की वल्लरी को सरस बनाता हुआ आ पहुँचा। वातावरण में छाई हुई आम की मञ्जरियों के रजःपटल का पीताम्बर धारण किए हुए, तीसी के फूलों के समान श्यामल अङ्गोंवाला नवागत वसन्त आँखों को अपनी ओर खींचने लगा। मालती (लता) के कुच फूलों के गुच्छों में खुल-खिल उठे, वह रजोवती (फूलों के मकरन्द कणोंवाली और रजोधर्मिणी) हो गई। लज्जा से उसकी आँखें सदा धरती से ही बातें करती रहने लगी हैं और इस रूप में वह प्रणयिनी नवयुवती नायिका-सी शोभा की वृष्टि करने लगी है। मलय-वन से होकर आनेवाले पवन (त्रिविध समीर) मानो सर्पिणी के काट खाने के भय से चन्दन-वासित लम्बी साँसें छोड़ते हुए धीरे-धीरे चलने लगे हैं। वसन्त के उत्सव में शोभायमान कामदेव की आराधना में कोकिल मधुर कण्ठ से गान करने लगे। बाँस वंशी बजाने लगे। आम की मञ्जरियों का मकरन्द-रस पीकर मत्त बने भौंरों के समूह अपने गुञ्जन की ध्वनि में वीणा की माधुरी लाने लगे, और अपने इतने सहयोगियों (सामाजिकों) के बीच शिक्षण-कला में दक्ष दक्षिण पवन से नृत्य की चूडान्त शिक्षा प्राप्त कर लेनेवाली मञ्जरियाँ अपनी नृत्य-कला का प्रदर्शन करने लगीं।"

ऐसे ही मनोज्ञ वातावरण में यौवनवती उषा अनिरुद्ध को पा लेती है और फिर काम-कला में दीक्षित नायक-नायिका रतोत्सव मनाते हैं। गीतिकार जयदेव ने राधा-कृष्ण के मनचीते रतोत्सव मनाने के लिए महाकवि क्षेमेन्द्र के ही वासन्ती वातावरण को अपनाया, भागवतकार के शारदी वातावरण को नहीं। भारत के लोक-जीवन में भी वसन्त जितनी प्रभूत मात्रा में हर्ष और उल्लास लेकर आता है उसके सामने शरद् ऋतु का हर्षोल्लास बहुत हल्का

पड़ जाता है, इसीलिए भारतीयों ने वसन्त को राजा का सम्मान दिया है। देखिए, यही वसन्त जयदेव की वाणी से भी उतरता दिखाई पड़ता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि जयदेव पर वात्स्यायन के कामसूत्र का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा है और उन्होंने रति का वर्णन कामसूत्र के नियमों के अनुकूल किया है। जयदेव की कविता में सच्चे प्रणयी के हृदय की अनिर्वचनीय भावाकुलता किंवा भाव-संकुलता नहीं मिलती, मिलता है तो केवल वासना का उद्दाम वेग। पहले जयदेव की रासवाली वसन्त-श्री को देखिए—

ललित–लवङ्ग–लता–परिशीलन-कोमल-मलय-समीरे।
मधुकर–निकर–करम्बित–कोकिल–कूजित-कुञ्जकुटीरे॥
विहरति हरिरिह सरस वसन्ते।
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते॥
उन्मद–मदन–मनोरथ-पथिकवधूजन–जनित–विलापे।
अलिकुल–संकुल–कुसुम–समूह-निराकुल--वकुलकलापे॥
मृगमद–सौरभ–रभस–वशंवद–नवदलमाल–तमाले।
युवजन-हृदय-विदारण-मनसिज-नखरुचि किंशुकजाले॥
मदन–महीपति–कनकदण्ड-रुचि–केसर–कुसुम-विकासे।
मिलित-शिलीमुख-पाटलिपटल–कृतस्मर–तूण–विलासे॥

× × ×

स्फुरदति–मुक्तलता–परिरम्भण–मुकुलित–पुलकित–चूते।
वृन्दावन–विपिने–परिसर–परिगत–यमुना–जल–पूते॥
श्री जयदेव-भणितमिदमुदयति हरि-चरण-स्मृति-सारम्।
सरस–वसंत–समय–वन–वर्णनमनुगतमदन–विकारम्॥

गी० गो०, सर्ग १, अष्टपदी ३।

पहले महाकवि क्षेमेन्द्र-रचित जो वसन्त-वर्णन दिया गया है, उसी को कान्त पदावली में जयदेव ने प्रस्तुत किया है। जिस वासन्ती वातावरण को क्षेमेन्द्र ने 'पुष्पायुधाराधन' के अनुकूल कहकर उपस्थित किया है, उषा और अनिरुद्ध की काम-क्रीड़ा की पृष्ठभूमि में, उसी वातावरण को गीतिकार जयदेव ने भी राधा-कृष्ण की रति-केलि के पूर्व 'अनुगतमदनविकारम्' उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाते हुए कहकर ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। महाकवि क्षेमेन्द्र के भाव-चित्र जयदेव ला ही नहीं सकते थे, हाँ पद-शय्या परिश्रम-

पूर्वक अवश्य उपस्थित की गई है। जब जयदेव के भाव-पक्ष की ओर हम दृष्टि फेरते हैं, तो हृदय में उद्वेल लाने वाले किसी भाव के दर्शन नहीं होते, पद-लालित्य वा शब्द-माधुरी के ही फेर में पड़ जाने से एक ही वर्ण्य वस्तु की पुनरावृत्ति अवश्य मिल जाती है, जिसमें कोई नूतनता नहीं। जैसे भौंरों की भीड़ के लिए, 'मधुकरनिकर-करम्बित', फिर 'अलिकुल-संकुल', पुनः 'मिलितशिलीमुख', इसी प्रकार 'मदनोद्दीपन का अनेक बार वाच्य रूप में उल्लेख भाव-सौन्दर्य की दृष्टि से कविता के लिए हानिकारक हो गया है और क्षेमेन्द्र के समान काव्य उत्तम कोटि में नहीं पहुँच सका है। केवल पदावली को सुनकर वाह, वाह की झड़ी लगाना और बात है तथा काव्य की आत्मा को पहचानना और बात।

राजकुमारी उषा स्वप्न-मिलन के अनन्तर व्याकुल हो उठती है, उस अज्ञात प्रियतम के वियोग में उसके प्राण भी भार-स्वरूप हो गए हैं। प्रिय का विरह असह्य हो उठता है, अन्त में प्रिय सखी चित्रलेखा के पूछने पर वह अपनी मर्म-व्यथा सुनाती है। वियोगिनी मुग्धा की दशा कैसी हो गई है—

सा सोत्कम्प-कुचन्यस्तहस्तानभ्यस्त-मन्मथा।
मुमूर्च्छाच्छादयन्तीव प्रविष्टं हृदये प्रियम्॥
सा निश्वास वाष्पाम्बुबिन्दुभिर्मौलिकैरिव।
छिन्नस्य शीलहारस्य कुर्वाणा ग्रथनं पुनः॥
प्रदध्यौ नव-विध्वंस–साध्वसायासिता चिरम्।
क्षितौ सा चिन्तयानेव च्युतं चित्तमधोमुखी॥
किं कस्य कथयाम्येतत्कं पृच्छामि करोमि किम्।
का गतिः केन दृष्टाऽहं कुतस्तत्सङ्गमं पुनः॥

—दशावतार०, ८। २४०–२४३॥

"(नींद टूट जाने पर स्वप्न का स्मरण करके) काम-केलि के अभ्यास से शून्य वह (उषा) अपने कम्पित कुचों पर दोनों हाथ रखकर, मानो हृदय-मन्दिर में पैठे हुए प्रियतम को छिपा रही हो, मूर्च्छित हो गई। फिर मोतियों के समान आँसू की बूँदों से अपने टूटे हुए शील रूपी हार को फिर से गूँथती-सी उस बाला ने लम्बी साँस छोड़ी। बड़ी देर में अपने मन को सँभालकर उसने चिन्ता की मुद्रा में धरती में अपनी आँखें गड़ा दीं, मानो अपने खोए हुए

चित्त को खोज रही हो। किससे अपने मन की बात कहूँ, किससे उस प्रियतम के विषय में पूछूँ, क्या करूँ, अब क्या होगा, किसने मुझे देखा है, अब फिर उससे कैसे भेंट होगी ?"

जयदेव कवि के 'गीतगोविन्द' के कृष्ण प्रथम समागम के पश्चात् फिर मिलन-कामना के लिए व्याकुल होकर कहते हैं—

हृदि विलसते हारो नायं भुजङ्गमनायकः
कुवलय-दल-श्रेणी कण्ठे न सा गरलद्युतिः।
मलयजरजो नेदं भस्म, प्रियारहिते मयि
प्रहर न हरभ्रान्त्याऽनंग क्रुधा किमु धावसि ॥
—गी० गी०, सर्ग ३। ४।

"हे अनंग, मेरे गले में यह हार है, शेषनाग नहीं; कंठ में नील कमल हैं, विष की काली छाया नहीं; शरीर पर चन्दन की धूल है, भस्म नहीं। भला मुझ विरही के ऊपर शिव जी के भ्रम से तुम क्यों झपट रहे हो ?" और राधा की दूती कृष्ण से उसकी विरह-दशा का निवेदन करती हुई कहती है—

प्रतिपदमिदमपि निगदति माधव तव चरणे पतिताऽहम्।
त्वयि विमुखे मयि सपदि सुधानिधिरपि तनुते तनुदाहम् ॥
ध्यानलयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमतीव दुरापम्।
विलपति हसति विषीदति रोदिति चञ्चति मुञ्चति तापम् ॥
गीत गो०, सर्ग ४, अष्ट० ८।

"वह बार-बार कहती है, हे माधव ! मैं तुम्हारे चरणों पर पड़ी हूँ, तुम्हारे विमुख होते ही अमृत का भण्डार चन्द्र भी शरीर को भस्म किए दे रहा है। ध्यान में मग्न होकर दुष्प्राप्य आपकी कल्पना अपने सम्मुख करके कभी बकती है, कभी हँसती है, कभी चिन्तित होती, कभी रोती और कभी प्रफुल्लित हो उठती है।" इसी ढर्रे के विरह-वर्णन अन्यत्र भी जयदेव ने किए हैं, जैसे— 'सा रोमाञ्चति सीत्करोति, विलपत्युत्कम्पते ताम्यति' इत्यादि। ये विरह-वर्णन घिसे-पिटे कवि प्रौढ़ोक्ति मात्र ही हैं। सच्ची अनुभूति का इनमें सर्वथा अभाव है, इसीलिए ये पाठक के हृदय को वेधने में असमर्थ और भोथरे लगते हैं। अपने शिव न होने की कृष्ण ने जो सफाई पेश की है, वह कवि-प्रौढ़ोक्ति तो है ही, उसकी कल्पना का आधार ही गलत है। कहाँ 'कर्पूरगौर' कामारि

शिव और कहाँ 'अभिनव जलधर सुन्दर' कृष्ण ! हाँ, कोरे अलङ्कार-प्रेमी जन इस अपह्नुति पर वाह-वाह भले ही कर उठें।

अस्तु, जयदेव से पहले मनोनिवेशपूर्वक राधा और कृष्ण के प्रेम का उन्मुक्त कंठ से गान करने वाले, जयदेव को नूतन गीति शैली प्रदान करने वाले और शृङ्गार के सम्भोग तथा विप्रलम्भ दोनों पक्षों को अपना कर भाव एवं रस की स्रोतस्विनी प्रवाहित करनेवाले महाकवि क्षेमेन्द्र सभी प्रकार से जयदेव के पथ-प्रदर्शक सिद्ध होते हैं। मेरा तो विश्वास है कि गीतगोविन्द के अनेक वृत्तों के जो नाम 'पुष्पिताग्रा', 'शार्दूलविक्रीडित,' 'शिखरिणी' आदि आए हैं, वे भी क्षेमेन्द्र के 'सुवृत्ततिलक' का ही प्रभाव है।

———

क्षेमेन्द्र से पूर्व राधा का उल्लेख

वज्जालग्ग

गाथा छन्द में निबद्ध 'गाहा-सत्तसई' के पश्चात् महाराष्ट्री प्राकृत का महत्त्वपूर्ण संग्रह-ग्रन्थ 'वज्जालग्ग' है। इसके संकलयिता हैं 'जयवल्लभ' जो श्वेताम्बर शाखा के जैन थे। इनके समय का ठीक-ठीक पता नहीं है। यह संग्रह-ग्रन्थ बड़ी सावधानी के साथ विषयानुक्रम से सम्पादित है। विषय का सङ्केत 'वज्जा' वा पद्धति शब्द से किया गया है। इसके ३२ छन्द तो गाहा-सत्तसई के ही हैं। ध्वन्यालोक, अलङ्कार-सर्वस्व (रुय्यक-रचित), अलङ्कार-विमर्शिणी (जयरथ), काव्यादर्श (सोमेश्वर) आदि विभिन्न लक्षण-ग्रन्थों में इसकी गीतियाँ मिलती हैं। अतः इसमें दी गई कविताओं की प्राचीनता के प्रति सन्देह नहीं किया जा सकता। इस काव्य की संस्कृतच्छाया रत्नदेव द्वारा सन् १३३६ में लिखी गई मिलती है। जयवल्लभ ने काव्य के आरम्भ में ही एक छन्द द्वारा स्पष्ट कह दिया है कि यह संग्रह उन्होंने विविध कवियों द्वारा रचित कविताओं से प्रस्तुत किया है। छन्द यह है—

विविहकइ विरइयाणँ गाहाणँ वरकुलानि घेत्तूण।
रइयं वज्जालग्गं विहिणा जयवल्लहं नाम॥

—वज्जा ०, ३।

इस काव्य की एक 'वज्जा' (पद्धति) का नाम है 'कण्ह वज्जा'। इस वज्जा में सोलह गाथाएँ हैं। इनमें कृष्ण और गोपियों के प्रेम का, संयोग-परक और वियोग-परक, उभयपक्षीय रूप अंकित किया गया है। आरम्भ की तीन गाथाओं में गोपियों के और प्रमुखतया राधा के प्रेमी कृष्ण की वन्दना है। चौथी गाथा में प्रेम की महत्ता दिखाई गई है। इन में कृष्ण की दो प्रियाओं राधा और विशाखा का उल्लेख मिलता है। प्रेम को विविध जीवन-कक्षों में रखकर उसका अलौकिक सौन्दर्य ही सहृदयता के साथ अङ्कित किया गया है। पहले प्रार्थना-परक दो-एक गाथाएँ देखिए—

कुसलं राहे सुहिओ सि कंस कंसो कहिं कहिं राहा।
इय वालियाए भणिए विलक्खहसिरं हरिं नमह॥

कण्हो जयइ जुवाणो राहा उम्मत्तजोव्वणा जयइ।
जउणा वहुलतरंगा ते दियहा तेत्तिय च्चेव॥
तिहुयणमिश्रो वि हरी निवडइ गोवालियाए चलणेसु।
सच्चं चिय मेहनिर—न्धलेहि दोसा न दीसन्ति॥

—वज्जा०, ५९०, ५९२, ५९३।

कृष्ण ने किसी गोपालिका को देखकर उसे 'राधा' नाम से सम्बोधन करते हुए कहा, "कहो राधे! कुशल से तो हो? उसने कहा, हे कंस! तुम सुखी तो हो। कृष्ण ने कहा, कंस यहाँ कहाँ है? गोपी ने कहा, तो फिर राधा कहाँ है? इस प्रकार बालिका द्वारा (कड़ा उत्तर पाने वाले) मुहँतोड़ जवाब पाने वाले परिहासशील कृष्ण की जय हो! यमुना की तरङ्गों में विहार करनेवाले युवा कृष्ण और उन्मत्तयौवना राधा की जय हो। वे बीते हुए दिन अब कहाँ? जिस हरि के चरणों में तीनों लोक सिर झुकाते हैं, वे ही गोपी के चरणों पर गिर रहे हैं, सचमुच ही प्रेमान्ध जनों को दोष दिखाई ही नहीं पड़ता।"

अब दो-चार शृंगारपरक चित्र देखिए, इनमें विशाखा और राधा की प्रमुखता देखी जा सकती है। श्रीकृष्ण ने कंस द्वारा भेजे गए केशी दैत्य को मारा और उसका रक्त उनके वस्त्रों में, शरीर में लग गया। उसी के पश्चात् कृष्ण ने विशाखा नाम की गोपी के साथ रमण किया और उनके घुटनों की रगड़ से विशाखा के वस्त्र पर रक्त के धब्बे आगए। विशाखा अब भी, कृष्ण की श्रेष्ठ प्रेयसी होने के गर्व से, उस धब्बेवाले जीर्ण वस्त्र को नहीं उतारती और उसे पहने फूली-फूली फिरती है—

केसिवियारण-रुहिर—ल्लकुप्परुग्घसणलञ्छणग्घवियं।
न मुयइ कण्ह जुणं पि कञ्चुयं अज्ज वि विसाहा॥

वज्जा०, ५९५।

रति में वेग से संलग्न राधा के कपोलतल से विकीर्ण होती हुई चाँदनी में कृष्ण इतने गोरे हो गए कि किसी गोपी ने भ्रम से उसी समय उन्हें गले से लगा लिया—

राहाए कवोलतल—च्छलन्त जोण्हानिवायधवलंगो।
रइ रहसवावडाए धवलो आलिंगिओ कण्हो॥

—वही, ५९६।

अब विप्रलम्भ-वर्णन देखिए, यहाँ कृष्ण की निष्ठुरता का उपालम्भ और उनके प्रेम की निश्चलता दोनों ही का वर्णन उपलब्ध है—

कण्हो देवो देवा वि पत्थरा सुयणु निम्मविज्जंति।
अंसूहि न मउइज्ज—न्ति पत्थरा किं व रुणेण॥
महुररज्जे वि हरी न मुयइ गोवालियाणँ तं पेम्मं।
खण्डन्ति न सप्पुरिसा पणयपरूढाइ पेम्माइं॥

—वही, ६०२, ६०३।

"हे सुन्दरी, देवता पत्थर के बने होते है और कृष्ण भी देवता ही हैं। आँसुओं से पत्थर मुलायम नहीं होते, फिर निष्फल रोने से क्या लाभ? कृष्ण मथुरा राज्य में रहने पर भी गोपियों के उस प्रेम को नहीं छोड़ते, सचमुच जो सज्जन हैं वे हृदय में एकबार उगे हुए प्रेम को तोड़ते नहीं।" कण्हवज्जा में रास और चीर-हरण का भी उल्लेख कवि ने किया है। इससे प्रतीत होता है कि प्राकृत काव्य में बहुत पहले से राधा-कृष्ण लीला और गोपी-कृष्ण प्रेम प्रतिष्ठित हो चुका था। 'वज्जालग्ग' की शृंगारपरक रचनाएँ अद्भुत हैं। इस संग्रह-ग्रन्थ में सभी प्रकार की उत्तम रचनाएँ समेट ली गई हैं। शृंगार-रस की कतिपय गाथाएँ अश्लीलता का स्पर्श करने लगती हैं। शृंगारपरक कविताओं में नायक सामान्य ग्रामीण युवा हैं, कृष्ण केवल 'कण्हवज्जा' में ही नायक के रूप में परिगृहीत हैं। गाँवों का वर्णन बहुत ही स्वाभाविकता और हार्दिकता के साथ किया गया है। प्रायः सभी कविताओं की रचना ग्रामीण वातावरण में ही हुई है। इस काव्य की रचनाओं का प्रभाव ध्वन्यालोक में उदाहृत अनेक कविताओं में देखा जा सकता है।[1] संस्कृत के अनेक परवर्ती कवियों जैसे, अमरुक, आचार्य गोवर्धन आदि तथा हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों—कबीर, तुलसी, बिहारी, देव आदि—की रचनाओं में इतस्ततः इस काव्य का पूरा-पूरा

१. ध्वन्यालोक में उद्धृत 'अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं...' छन्द 'वज्जालग्ग' की ४९६ वीं गाथा में अत्यल्प परिवर्तित रूप में मिलता है, जो 'गाहासत्तसई' से गृहीत है। ध्वन्यालोक में उद्धृत किसी अज्ञात संस्कृत कवि के 'संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया', का पूर्व रूप 'वज्जालग्ग' की ६१७ वीं गाथा 'तं दट्ठूण जुवाणं परियणमज्झम्मि...' में दिखाई पड़ता है।

प्रभाव स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है।[१] 'सन्देशरासक' के कवि अद्दहमाण ने तो अनेक छन्दों को ज्यों-का-त्यों ले लिया है। पथिक की तेज चाल और विरहिणी का राक्षसी और कापालिनी के रूपों में वर्णन उसे इसी काव्य से मिल गया है।[२] इससे इतना तो स्पष्ट है कि हिन्दी के कवियों ने न केवल संस्कृत के कवियों से भावों का आदान किया, अपितु प्राकृत काव्य से भी भाव-राशि प्रचुर मात्रा में ग्रहण की।

क्षेमेन्द्र के आसपास ही होनेवाले प्रसिद्ध काश्मीरी कवि 'विल्हण' के काव्य में भी राधा का उल्लेख मिलता है। उन्होंने अपने उच्चकोटि के ऐतिहासिक काव्य 'विक्रमाङ्कदेव-चरित' के आरम्भ में विष्णु और शिव की वन्दना की है, विष्णु की वन्दना करते समय उन्होंने विष्णु की स्मृति में उतरती राधा का नाम्ना उल्लेख किया है—

सान्द्रां मुदं यच्छतु नन्दको वः सोल्लासलक्ष्मीप्रतिबिम्बगर्भः।
कुर्वन्नजस्रं यमुना - प्रवाह - सलीलराधास्मरणं मुरारेः॥
—विक्रमाङ्कदेव-चरित, सर्ग १। ५।

---

१. तुलसी के 'रामचरित-मानस' की भूमिका में जो सन्तजन और दुर्जन की वन्दना है, उसमें अनेक स्थलों पर वज्जालग्ग की 'सज्जणवज्जा' और 'दुज्जणवज्जा' की कतिपय गाथाओं को छाया स्पष्ट है। इसी प्रकार 'दिव्ववज्जा', 'विहिवज्जा' आदि की अनेक गाथाओं से तुलसी ने लाभ उठाया है। 'बाला संवरण वज्जा' की 'तइया वारिज्जन्ती', 'असईवज्जा' की 'मा रुवसु ओणयमुही' का भाव 'विहारी-सतसई' के 'सन सूक्यो बीत्यौ बनौ ऊखौ लई उखारि' दोहे में देखा जा सकता है। हो सकता है हिन्दी के बहुत से कवियों को वे ही भाव परम्परा-क्रम से उपलब्ध हुए हों।

२. देखिए और मिलाइए, 'पवसियवज्जा' की ४४४ वीं 'अद्धुड्डीणो व्व पडिहाइ' का रासक द्वितीय प्रक्रम का २५ वाँ छन्द और 'ओल्लुगावियवज्जा' की ४३५ वीं गाथा 'सा तुज्झ कए गयमय' और ४३६ वीं गाथा 'हत्थट्ठियं कवालं न मुयइ' को 'सन्देश-रासक' के द्वितीय प्रक्रम की ८६ वीं और ८७ वीं चतुष्पादियाँ, पृ० सं० ३३, ३४—जिनविजय-मुनि द्वारा सम्पादित 'सन्देशरासक' का प्रथम संस्करण।

"भगवान् विष्णु के वक्ष पर शोभित वह कौस्तुभ मणि आपलोगों को आनन्द प्रदान करे, जिसमें प्रतिबिम्बित लक्ष्मी को देखकर विष्णु को यमुना की धारा में जल-क्रीड़ा करती हुई राधा का स्मरण हो आता है।" विल्हण का समय ग्यारहवीं शताब्दी ई० का उत्तरार्द्ध और बारहवीं का प्रथम चरण है। ये गीतिकार जयदेव के पूर्ववर्ती हैं, इसमें सन्देह नहीं।

जैनाचार्य हेमचन्द्र—

हेमचन्द्र का जीवन-काल सन् १०८९ से ११७३ ई० तक है। इनके 'काव्यानुशासन' में 'कार्यहेतुक प्रवास' के उदाहरण में जो कविता उद्धृत की गई है, उसमें राधा का विरह-वर्णन मिलता है। कविता यह है—

याते द्वारवतीं तदा मधुरिपौ तद्दत्तझम्पानतां
कालिन्दीतटरूढवञ्जुललतामालिङ्ग्य सोत्कण्ठया।
तद्गीतंगुरुबाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं राधया
येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम् ॥

—काव्यानुशासन, अध्याय २।

"कृष्ण के द्वारकापुरी चले जाने पर राधा ने यमुना के तट पर उगी हुई वेतस् की उस लता को उत्कण्ठापूर्वक गले से लगा लिया जिसे (जलकेलि के लिए) यमुना में कूदते समय कृष्ण पकड़ कर झुका दिया करते थे और फिर अपने आँसुओं से रुँधे गले से उच्च स्वर में ऐसा करुण गीत गाया जिसे सुनकर जल के भीतर रहनेवाले जीव भी व्याकुल होकर रो पड़े।" यही कविता आचार्य कुन्तक ने 'संवृतिवक्रता' के उदाहरण में दी है, जिसके प्रथम और द्वितीय चरणों में थोड़ा परिवर्तन दिखाई पड़ता है। वे दो चरण इस प्रकार हैं—

याते द्वारवतीं तदा मधुरिपौ तद्दत्तसम्पादनां
कालिन्दी-जलकेलिवञ्जुललतामालिङ्ग्य सोत्कण्ठया।

—वक्रोक्तिजीवित, उन्मेष २, कविता सं० ५९।

श्री शशिभूषणदास गुप्त ने 'श्रीराधार क्रमविकाश' नामक पुस्तक में इस छन्द को 'ध्वन्यालोक' में भी उद्धृत बताया है, किन्तु यह ध्वन्यालोक में नहीं है। जो छन्द उन्होंने दिया है उसमें इन दोनों से थोड़ी भिन्नता मिलती है। वह इस प्रकार है—

याते द्वारवतीं पुरं मधुरिपौ तद्वस्त्रसंव्यानया
कालिन्दी-तटकुञ्जवञ्जुललतामालम्ब्य सोत्कण्ठया।
उद्गीतं ....
× × × ॥

—श्रीराधार क्रमविकाश, पृ० ११५, प्रकाश १।

सम्भव है, ध्वन्यालोक के किसी संस्करण में उन्हें यह कविता मिल गई हो। जो हो, इस कविता का उल्लेख अनेक आचार्यों द्वारा होने के कारण यह निश्चय है कि इसकी रचना दशम शतक के पूर्व किसी कवि द्वारा हुई थी, क्योंकि कुन्तक ने इसे उद्‌धृत किया है, जिनका समय दशम शताब्दी माना जाता है।[1] कतिपय आचार्यों ने कुन्तक के 'वक्रोक्ति जीवित' का रचना-काल एकादश शतक का आरम्भ माना है।[2] उपरिलिखित कविता के पाठान्तर भी इसकी प्राचीनता के पोषक हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने 'परस्थ उत्तमहास' के लिए जो कविता उद्‌धृत की है, उसमें भी राधा का उल्लेख मिलता है। कविता यह है—

कनककलशस्वच्छे राधापयोधरमण्डले
नवजलधरश्यामामात्मद्युतिं प्रतिबिम्बिताम्।
असितसिचयप्रान्तभ्रान्त्या मुहुर्मुहुरुत्क्षिप-
ञ्जयति जनितव्रीडाहासः प्रियाहसितो हरिः॥

—काव्यानु०, अध्याय २

"स्वर्ण-कलश के समान स्वच्छ राधा के कुचमण्डल पर प्रतिबिम्बित नव जलधर के समान श्यामल अपने शरीर की कान्ति को देखकर भ्रम से उसे काले वस्त्र का छोर समझकर बार-बार उसे दूर हटाने का यत्न करते हुए जिस कृष्ण की अज्ञानता पर प्रिया राधा हँस पड़ी थीं, अपनी भूल पर लज्जित होकर मुस्कुराने वाले उस कृष्ण की जय हो।"

एक और कविता 'काव्यानुशासन' में ऐसी है, जिसमें कृष्ण के साथ किसी गोपी का प्रश्नोत्तर श्लिष्ट पदावली में निबद्ध है। यह गोपी कृष्ण की प्रियतमा राधा ही प्रतीत होती है—

---

१. देखिए आचार्य विश्वेश्वर, सिद्धान्त शिरोमणि द्वारा व्याख्यात 'वक्रोक्ति-जीवित' के 'आमुख' में 'कुन्तक' का 'काल-निर्णय', पृ० १२, १३।
२. देखिए पं० बलदेव उपाध्याय लिखित 'संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५८३, परिवर्द्धित चतुर्थ संस्करण।

कोऽयं द्वारि, हरिः, प्रयाह्युपवनं शाखामृगस्यात्र किं,
कृष्णोऽहं दयिते, बिभेमि सुतरां कृष्णादहं वानरात् ।
कान्तेऽहं मधुसूदनो, व्रज लतां तामेव सध्वन्विता-
मित्थं निर्वचनीकृतो दयितया ह्रीतो हरिः पातु वः ॥
—काव्यानु०, अध्याय ५, वक्रोक्ति ।

कृष्ण ने जाकर किसी गोपी का द्वार खटखटाया उसने पूछा, 'द्वार पर कौन है !' उत्तर मिला, 'मैं हरि हूँ ।' प्रिया ने कहा, 'शिव-शिव मैं काले बन्दर से तो बहुत ही डरती हूँ ।' फिर प्रिय ने कहा, 'हे कान्ते, मैं मधुसूदन हूँ ।' प्रिया ने कहा, 'तब तो तुम मधु वा मकरन्द से युक्त माधवीलता के पास जाओ ।' इस प्रकार अपनी प्रिया द्वारा निरुत्तर कर दिए गए लज्जित कृष्ण तुम लोगों की रक्षा करें ।''

यही कविता 'कवीन्द्रवचन-समुच्चय' तथा 'सदुक्तिकर्णामृत' में मिलती है । सदुक्तियों के सङ्कलयिता ने इसको 'शुभाङ्क' नामक कवि की रचना कहा है । कतिपय और भी रचनाएँ हैं, जिनमें कृष्ण की प्रिया राधा ही प्रतीत होती हैं, किन्तु राधा का नाम्ना उल्लेख उनमें नहीं हुआ है । उपर्युक्त रचना भी दसवीं शती ईस्वी से पूर्व की है । इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकवि क्षेमेन्द्र से पहले मुक्त गीतियों में राधा को प्रधान नायिका के रूप में कवियों ने पूर्णतया प्रतिष्ठित कर दिया था । इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि काव्य में राधा और कृष्ण ही प्रेमगीतों के नायक और नायिका नहीं थे, अपितु इन्हीं जैसे सामान्य युवक और युवतियाँ गृहीत होती थीं तथा इनका उल्लेख बहुत कम कविताओं में हुआ है । आगे चलकर तो मुक्त प्रेमगीतों के ये ही एकमात्र नायक-नायिका मान लिए गए । जयदेव से भी पहले क्षेमेन्द्र ने ही सर्वप्रथम राधा को अपने 'दशावतार-चरित' के कृष्ण-चरित में पूर्णतया प्रतिष्ठित कर दिया और इन्हीं को लेकर संयोग-लीलाओं तथा विरह-वेदना के मनोरम चित्र अङ्कित किए । इस प्रबन्ध काव्य में प्रतिष्ठित देखकर ही जयदेव ने पूर्णतया उसी आदर्श पर राधा को लेकर भाव-प्रबन्ध की (गीत-गोविन्द को) रचना कर डाली, जिसमें प्रेम की उच्च-भूमि (वियोग शृंगार का अभाव है ।

जयदेव के आस-पास संस्कृत काव्य में राधा—

'प्राकृत-पिङ्गल-सूत्र' नामक ग्रन्थ पिङ्गलाचार्य द्वारा रचित है । इसका:

रचना-काल निश्चित नहीं है। विद्वानों ने इसके विषय में अनुमान से ही काम लिया है। इसके टीकाकार लक्ष्मीनाथ भट्ट हैं। उन्होंने प्रथम परिच्छेद के अन्त में 'पिङ्गल-प्रदीप' नाम्नी टीका का रचना-काल इस प्रकार दिया है—

मुनीषु-रस-भूमिभिर्मितेऽब्दे श्रावणे सिते।
नागराज तिथौ भट्टलक्ष्मीनाथोऽप्यरीरचत् ॥

—प्रा० पिं० सूत्र, प्र० परि०, पृ० १०२।
(निर्णय सागर से मुद्रित प्र० संस्क०)

अर्थात् सं० १६५७ वि० की श्रावण शुक्ला पञ्चमी को प्रथम परिच्छेद की टीका लक्ष्मीनाथ ने पूर्ण की। इस ग्रन्थ में अनेक छन्दों के उदाहरणों में हम्मीर देव का उल्लेख मिलता है, जैसे—

जहाँ भूत वेताल णच्चन्त गावन्त खाए कबन्धा
सिआफारफेक्कारहक्का चलन्ती फ्फुले कण्णरन्धा।
कआदुट्ट फुट्टेर मन्था कबन्धा णचन्ता हसन्ता
तहाँ वीर हम्मीर संगाममज्ज तुलन्ता जुलन्ता ॥

—प्रा० पिं० सूत्र, परि०२; छं० सं० २३०।

सन् १३०० ई० में हम्मीर देव मारे गए थे। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हम्मीर-सबन्धी प्राकृतपिङ्गलसूत्र के छन्दों को शार्ङ्गधर-रचित 'हम्मीर रासो' के ही होने का विश्वास प्रकट किया था।[1] जो 'पिङ्गल सूत्र' ग्रन्थ आज उपलब्ध है, उसका प्राकृत भाषाबद्ध लक्षण भाग अवश्य ही प्राचीन है किन्तु बाद में इसका अन्य विद्वानों ने जब सम्पादन किया तब उसे बढ़ा भी दिया। टीकाकार लक्ष्मीनाथ का भी इस परिष्कार में हाथ रहा है। संस्कृत में दिए कुछ छन्दों के लक्षण और संस्कृत के उदाहरण बाद में जोड़े गए हैं। हो सकता है, अपभ्रंश के कुछ छन्द बाद में भी जोड़ दिये गए हों। यह निश्चित प्रतीत होता है कि इसमें उद्धृत कुछ प्राकृत और अपभ्रंश के छन्द जयदेव से पहले के रचित हैं। 'सुन्दरी' छन्द का उदाहरण देखिए—

---

१. "प्राकृत पिंगल-सूत्र" उलटते-पलटते मुझे हम्मीर की चढ़ाई, वीरता आदि के कई पद्य छन्दों के उदाहरणों में मिले। मुझे पूरा निश्चय है कि ये पद्य असली 'हम्मीर रासो' के ही हैं।"

—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ३०–३१,
संशोधित और प्रवर्द्धित संस्करण।

जिणि वेअ धरिज्जे महिअल लिज्जे पिट्ठिहि दन्तहि ठाउ धरा।
रिउवच्छ विआरे छलतणुधारे बन्धिअ सत्तु पआल धरा॥
कुलखत्तिअ कम्पे दहमुह कट्टे कंसअकेसि विणास करा।
करुणे पअले मेच्छह विअले सो देउ णराअणु तुम्ह वरा॥
—प्रा० पिं० सूत्र, परि० २, छं० सं० २७२।

"जिन्होंने पीठ पर वेदों को रखकर पृथ्वी पर पहुँचाया, दाँतों पर रखकर धरती का उद्धार किया, जिसने शत्रु (हिरण्यकशिपु) की छाती फाड़ी, जिन्होंने कपटशरीर (वामन रूप) धारण कर शत्रु को पाताल भेज दिया, जिसने क्षत्रिय-कुल को भयभीत कर दिया, दशमुख को काट डाला, कंस और केशी का विनाश किया, जिसने (बुद्ध रूप में) करुणा का प्रसार किया और (कल्कि वा कर्कि रूप में) म्लेच्छों को रुलाया (वा जो रुलाएँगे), वे नारायण तुम लोगों को वर प्रदान करें।"

अब इसे जयदेव के निम्नलिखित पद्य से मिलाइए—

वेदानुद्धरते जगन्ति वहते भूगोलमुद्बिभ्रते,
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते
म्लेच्छान्मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः॥
गीतगोविन्द, सर्ग १। १।

इसी का गीतिरूप 'गीतगोविन्द' की पहली अष्टपदी भी है। जयदेव ने कृष्ण को साक्षात् विष्णु मानकर बलराम को दशावतारों में गिना दिया है। जयदेव का यह पद्य उपर्युक्त अपभ्रंश छन्द का अनुवाद ही प्रतीत होता है। कतिपय विद्वानों ने गीतगोविन्द को प्राकृत का रूपान्तर कहा भी है, सम्भवतः ऐसी रचनाओं को देखकर। कुछ संस्कृत के छन्द भी जो उद्धृत किए गए हैं, पहले के ही प्रतीत होते हैं।

कतिपय छन्दों में राधा और गोपियों के प्रणय-व्यापार का उल्लेख मिलता है। एक देखिए—

जिणि कंस विणासिय कित्ति पआसिअ मुट्ठिअरिट्ठविणास करू गिरि हत्त धरू
जमलज्जुण भञ्जिअ पअभर गञ्जिअ कालिअकुल जस भुवन भरें।
चाणूर विहण्डिअ णिअकुल मण्डिअ राहामुहमहुपाण करे जिमि भमरवरें।
सो तुम्ह णराअण विप्पपराअण चित्तहि चिन्तिअ देउ वरा भउभीतिहरा॥
—प्रा० पिं० सूत्र, परि० १, 'मअणहरा' छन्द का उदाहरण।

इस छन्द में कृष्ण के पूर्व जीवन के बहुत से प्रमुख कार्य गिना दिये गए हैं, उनमें 'राहामुहमहुपाण' भी आया है। ऐसा लगता है कि ये कृष्ण और विष्णु की स्तुति के छन्द किसी ग्रन्थ से लिये गए हैं। राधा का उल्लेख जो संस्कृत छन्दों में मिलता है, उसका काल-निर्धारण कठिन है। फिर भी एकाध छन्द देखें—

विभ्रष्ट-स्रग्गलित-चिकुरा धौताधरपुटा
म्लायत्पत्रावलि-कुचतटोच्छ्वासोर्मितरला।
राधात्यर्थं मदनललितान्दोलालसवपुः
कंसाराते रतिरसमहो चक्रेऽतिचटुलम् ॥
—प्राकृतपिङ्गलसूत्र, परि० २, पृ० २१२।

यह छन्द बाद में जोड़ा गया प्रतीत होता है, क्योंकि इस छन्द का (मदनललिता का) लक्षण संस्कृत में बाद में बनाया गया है और उदाहरण-स्वरूप इस छन्द की गणना भी मूल में नहीं की गई है। प्राकृत-पिङ्गल-सूत्र के मूल रूप को बाद में परिवर्द्धित किया गया है और ऐसे छन्दों के लक्षण और उदाहरण प्राकृत वा अपभ्रंश में न होकर संस्कृत में ही हैं। जिन छन्दों की परिगणना मूल के साथ की गई है, वे विना संख्या वाले छन्दों के पूर्ववर्ती तथा मूल के परवर्ती हैं। इस परिगणित छन्द में राधा का उल्लेख हुआ है—

उदेत्यसौ सुधाकरः पुरौ विलोकयाद्य राधिके विजृम्भमाण गौरदीधिती,
रतिस्वहस्तनिर्मितः कलाकुतूहलेन चारुचम्पकैरनङ्गशेखरः किमु ।
इतिप्रमोदकारिणीं प्रियाविनोदलक्षणां गिरं समुद्गिरन्मुरारिरद्भुतां,
प्रदोषकाल-सङ्गमोल्लसन्मना मनोजकेलिकौतुकी करोतु वः कृतार्थताम् ॥
—प्रा० पिं० सूत्र, परि० २, छं० सं० ३०६।

काम-केलि-कौतुकी कृष्ण ने प्रिया राधिका को चन्द्रोदय दिखाकर अपनी प्रदोष-कालीन सङ्गमेच्छा प्रकट की है। छन्द की गीतिमत्ता ध्यान देने योग्य है।

गीतिकार जयदेव के साथ रहनेवाले गोवर्धनाचार्य ने अपने प्रसिद्ध गीतिकाव्य 'आर्यासप्तशती' में भावों का सागर लहरा दिया है, किन्तु उन्होंने राधा का उल्लेख बहुत कम आर्याओं में किया है। जयदेव परम वैष्णव थे और गोवर्धनाचार्य परम शैव। इसीलिए उन्होंने 'आर्या सप्तशती' के आरम्भ की नौ

आर्याओंमें भगवान् शिव की सरस वन्दना की है। तदन्तर अन्य देवियों और देवों को नमस्कार किया है। गोवर्धनाचार्य शृंगार रस के अप्रतिम कवि थे। मैं दो-एक गीतियाँ, जिनमें राधा को नायिका के रूप में ग्रहण किया गया है, यहाँ देता हूँ—

राज्याभिषेकसलिल-क्षालितमौलेः कथासु कृष्णस्य।
गर्वभरमन्थराक्षी पश्यति पदपङ्कजं राधा॥

—आर्यासप्तशती, छं० सं ४८८।

"राज्याभिषेक के जल से धुले हुए सिर वाले कृष्ण की चर्चा (गुण-गान) सुनकर राधा गर्वित नेत्रों से अपने ही चरण-कमलों को देखने लगती है।'

लज्जयितुमखिलगोपीनिपीत-मनसं मधुद्विषं राधा।
अज्ञेव पृच्छति कथां शम्भोर्दयितार्ध-तुष्टस्य॥
लक्ष्मीनिःश्वासानलपिण्डीकृतदुग्धजलधिसारभुजः।
क्षीरनिधितीरसुदृशो यशांसि गायन्ति राधायाः॥

—आ० सप्त०, ५०८, ५०९।

"समग्र गोपियों के मन का हरण करने वाले कृष्ण को लज्जित करने के लिए राधा भोलेपन के साथ प्रिया के अर्ध भाग से ही सन्तुष्ट शिव जी की कथा पूछती है।" अर्थात् शिवजी तो अर्द्धनारीश्वर रूप में प्रिया के आधे शरीर से ही सन्तुष्ट रहते हैं और तुम इतनी गोपियों को अपनाने पर भी अभी असन्तुष्ट ही हो, यह तुम्हारी निर्लज्जता की पराकाष्ठा है।" "लक्ष्मी के उष्ण उच्छ्वासों से गाढ़े हुए क्षीरसागर के दूध का पान करनेवाली सुन्दरियाँ राधा के यश का गान करती हैं।' अर्थात् भगवान् विष्णु राधा से इतना अधिक प्रेम करते हैं कि उस प्रेम के कारण लक्ष्मी सपत्नी की ईर्ष्या से व्याकुल और सन्तप्त हो उठी हैं।

———

राधा का काव्य-क्षेत्र में व्यापक प्रसार

क्षेमेन्द्र के समय तक कृष्णपरक शृंगार काव्य में राधा को उतना महत्त्व नहीं दिया गया और कवियों ने भूले-भटके कहीं उन्हें याद कर लिया है। महाकवि क्षेमेन्द्र ने कृष्ण के प्रेम-लीला-क्षेत्र में राधा को प्रमुखता प्रदान की, उनके प्रेम को संयोग और वियोग दोनों दशाओं में सँवारा और निखारा है। इस महाकवि ने दशावतारों में कृष्ण को प्राधान्य तो प्रदान किया किन्तु एकमात्र उन्हीं से और उनकी प्रणय-लीला से ही बँधे नहीं रह सके, अन्य अवतारों के चरितों में मन रमाने के साथ ही साथ कृष्ण के जीवन के विविध पक्षों में भी मन रमाया। उनकी दृष्टि में सम्पूर्ण समाज का हित बसा था, किसी मत-विशेष का प्रतिपादन ही उन्हें इष्ट नहीं था। उनकी प्रतिभा विविध भावों की वनस्थली में स्वच्छन्द विचरण करती थी, इसीलिए 'समयमातृका' जैसा काव्य भी वे प्रस्तुत करने में वे समर्थ हुए। जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है, जयदेव ने उनके द्वारा प्रदर्शित दिशा विशेष में अपने को सीमित कर दिया और उन्हीं द्वारा निर्देशित और गोपियों द्वारा समवेत रूप से प्रगीति गीति-पद्धति पर अपनी कविता को माँजा, सँवारा। हृदय में प्रेम की सच्ची पीर न होने के कारण केवल उच्छृङ्खल विलास-वर्णन में हो मन रमाया। काव्य में हार्दिकता के अभाव को पूर्ति पद-लालित्य और कला-चातुरी द्वारा करने का महान् श्रम किया। गीतों और गीतियों की रचना को सर्गवद्ध किया, जिसके कारण उनके अन्ध भक्त जनों ने गीतगोविन्द को महाकाव्य की संज्ञा भी दी, सर्गों की संख्या भी सात नहीं बारह थी। गीतगोविन्द का इस दृष्टि से महत्त्व तो मानना ही पड़ेगा कि उसके पश्चात् प्रेम-काव्यों में राधा और कृष्ण ही एकमात्र आलम्बन बन बैठे। सच्चे सहृदय कवियों ने राधा के आधार पर अमर प्रेमकाव्य की सृष्टि भी की। बारहवीं शताब्दी में ही 'रामाराधा' नामक

"द्वादशशतके रचित शारदातनयेर 'भावप्रकाशने' 'रामाराधा' नामे राधा सम्बन्धीय आर एकखानि नाटक एवं ताहा हइते श्लोकार्धेर उद्धृति रहियाछे। कवि कर्णपूरेर 'अलङ्कार कौस्तुभेर' एकाधिकस्थले आमरा 'कन्दर्पमञ्जरी' नामक राधिका अवलम्बने एकखानि नाटिका एवं ताहा हइते उद्धृति पाइतेछि।"

—श्रीराधार क्रम बिकाश,—दर्शने ओ साहित्ये, पृ० ११८ :

नाटक राधा को ही लेकर प्रस्तुत किया गया। 'कन्दर्प मञ्जरी' नाम की नाटिका का उल्लेख कर्णपूर कवि के 'अलङ्कार-कौस्तुभ' नामक ग्रन्थ में हुआ है। कायस्थ कुलोद्भूत कवि मथुरादास ने 'वृषभानुजा' नाम्नी नाटिका लिखी, इसका रचना-काल ठीक-ठीक ज्ञात नहीं हो सका है। यह नाटिका निर्णयसागर यन्त्रालय बम्बई से काव्यमाला के अन्तर्गत सन् १८९५ में प्रकाशित हुई थी। राधा और कृष्ण इसमें नायक तथा नायिका हैं और वृन्दा, चम्पकलता, तमालिका, विहङ्गिका कदलिका आदि अन्य पात्रियाँ तथा प्रियालाप नामक कृष्ण का सखा कृष्ण के अतिरिक्त एक मात्र पुरुष पात्र है। नाटिका चार अंकों में समाप्त होती है। यह अवश्य ही पुरानी है, ऐसा मेरा विश्वास है।

राधा-प्रेम की धारा इस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ती हुई विद्यापति तक पहुँची। इसके अनन्तर बँगला कवि चण्डीदास और फिर उसने बङ्गाल के गौड़ीय वैष्णवों के पास पहुँच कर पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त कर लिया। इधर वल्लभाचार्य की शिष्य-मण्डली के हाथों हिन्दी-साहित्य को तो रस-प्लावित ही कर दिया, जिसका उल्लेख हम 'परोक्षानुभूतिपरक गीत-पद्धति' में आनुक्रमिक रूप में कर आए हैं।

हिन्दी-साहित्य में शृंगार रस की जो अजस्र धारा सूरदास के समय से प्रवाहित हुई, उसका उद्भव साहित्य में राधा की पूर्ण प्रतिष्ठा के ही कारण संभव हो सका। राधा के प्रेम की दिव्य कल्पना की गई, और समर्थ कवियों ने अपनी तीव्र अनुभूतियों को राधा के माध्यम से काव्य में उतारा। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य में गीतिकाव्य को पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँचा देने का पूरा श्रेय राधा को ही प्राप्त है। यदि कृष्ण को राधा जैसी अनुपम प्रेयसी न मिली होती, तो कृष्ण प्रेमी भी नहीं होते और यदि कृष्ण को प्रेम की शिक्षा नहीं मिलती तो गोकुल की गोपियों के हृदय में सच्चे प्रणय का उद्भव ही कैसे होता? इस प्रकार राधा की परिकल्पना के अभाव में न तो सूर के द्वारा हिन्दी को गीतियों का रत्नाकर प्राप्त होता और न मीरा की मर्म-वेदना गीतियों को अपनाकर धन्य हो पाती। मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य का तीन-चौथाई भाग राधा के प्रेम को ही अपनाकर निर्मित हो सका है। उस समय प्रायः सभी कवि-जन राधा-कृष्ण को दूर हटाकर कविता की बात सोच ही नहीं पाते थे। इसी बात को दृष्टि में रखकर यहाँ राधा के साहित्य-क्षेत्र में आविर्भाव और प्रतिष्ठा का पूरा-पूरा

इतिहास संक्षेप में मैंने यहाँ प्रस्तुत किया है। हमारे साहित्य में राधा का महत्त्व इतना बढ़ गया कि वे सभी सच्ची प्रेमिकाओं की प्रतिनिधि स्वीकार की गईं और राधा शब्द का अर्थ ही हो गया सच्ची प्रणयिनी, चाहे वह कोई भी हो। जिस प्रेम-गीतिका में पण्डितों को राधा का नाम्ना उल्लेख नहीं भी मिला वहाँ भी विवश होकर उन्हें राधा का अध्याहार करना ही पड़ा। राधा और कृष्ण सभी प्रेमिकाओं और प्रेमियों के उपनाम स्वीकृत हो गए सर्वसम्मति से।

स्वच्छन्द गीतिकाव्य की परम्परा

आत्मानुभूतिपरक स्वच्छन्द गीतिकाव्य

शुद्ध भावोद्गार के रूप में गीतियाँ वास्तव में लोक-कण्ठ से ही निःसृत हुईं। जन-साधारण का हृदय स्वभावतः स्वच्छन्द, उन्मुक्त, अकृत्रिम, निष्कपट और द्वैविध्यशून्य होता है। जहाँ पण्डित को किसी विवादास्पद बात का निर्णय सुनाने में आगा-पीछा करना पड़ता है, वहीं सामान्यजन उसका दो टूक निर्णय सुना देता है, मानव की सहज भावना से प्रेरित होकर। शास्त्र-ज्ञान बात को उलझाता है, मानव का सहज विकसित भावना-प्रवण हृदय उलझी को सहज ही सुलझा देता है। इसीलिए शास्त्राभ्यासी कवि आत्मानुभूति-परक उतने उत्तम गीत देने में असमर्थ रहते आए हैं, जितने उत्तम गीत अपेक्षाकृत अल्पज्ञ कवि, शास्त्र वचनों से अपने को मुक्त करके चलनेवाले कवि, सहज ही दे सके हैं। सहज भावनाओं से शासित साधारण जन के मन पर शास्त्रों का शासन नहीं चल पाता है, अतएव सहजोद्भूत भावनाएँ उनकी वाणी में निर्बाध उतर आती हैं। इस प्रकार यह स्वतः सिद्ध हो गया कि गीत प्राकृतजनों की प्राकृत वाणी में ही उतर सके, संस्कृत जनों के संस्कृत हृदय भावनाओं के बहुत कुछ परिष्कार और परिमार्जन में ही उलझ गये; शास्त्रों के फेर में पड़ गए। आगे चलकर इन्हें प्रोत्साहन भी मिला तो प्राकृत जनों के प्राकृत-भाषाबद्ध काव्य द्वारा ही। प्राकृतभाषा-बद्ध गीतों का विपुल वैभव संरक्षणता के अभाव में विनष्ट हो गया, जिसे पा लेने का आज कोई उपाय नहीं है। लोकभाषा-बद्ध विपुल गीति-काव्य अतीत के अन्धकारावृत्त गह्वर में विलीन हो गया। महाकवि सातवाहन हाल ने कहा है—

सत्तसताइं कइवच्छलेण कोडीअ मज्झआरम्मि।
हालेण विरइआइं सालंकाराणँ गाहाणम्॥

—गा० सत्त०, शतक १।३।

अर्थात् कविवत्सल हाल ने एक करोड़ अलङ्कारों से युक्त गाथाओं में से सात सौ गाथाएँ चुनीं। हाल का अर्थ 'हैमनाममाला' में कहा गया है, "हालः

स्यात् सातवाहनः ।" हाल सातवाहन राजा का ही नाम है। महाकवि अभिनन्द ने 'रामचरित' नामक काव्य में लिखा है—

नमः श्रीहारवर्षाय येन हालादनन्तरम्।
स्वकोषः कविकोषाणामाविर्भावाय सम्भृतः ।।

—रा० च०, सर्ग ७।१५ ।

एक श्लोक और मिलता है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि हाल की राजसभा के कवि श्रीपालित ने धन के लोभ से सत्तसई का सङ्कलन गाथाओं से चुन-चुनकर हालके नाम से किया था।[१] इन गाथाओं में कुछ गाथाएँ सातवाहन हाल द्वारा विरचित भी हैं, क्योंकि किसी-किसी प्रति में चौथी गाथा से बारहवीं गाथा तक प्रत्येक गाथा के अन्त में कवि का नाम भी दिया हुआ है, यथा—"वोडिसस्स, चुल्लोहस्स, मअरन्द सेणस्स, अमरराअस्स, कुमारिलस्स, सिरिराअस्स, भीमस्सामिणो" आदि। इसी प्रकार जो गाथाएँ हाल-रचित हैं, उनके बाद 'हालस्स' लिखा हुआ है। यह 'हाल' कवि शालिवाहन शक-संवत् चलाने वाला वही सातवाहन है, जिसकी राजधानी 'प्रतिष्ठानपुर' में थी और जिसकी सभा को पैशाची प्राकृत में 'बृहत्कथा' की रचना करनेवाले महाकवि गुणाढ्य और 'कालाप' व्याकरण के रचयिता 'शर्ववर्म' आदि विद्वान् सुशोभित करते थे। यह प्रतिष्ठानपुर प्रयाग के पास स्थित 'झूँसी' स्थान नहीं है, जो गुप्तवंशीय सम्राटों के समय में अपने चरम उत्कर्ष पर था, यह स्थान कहीं दक्षिण में, सोमदेव के इस कथन से ऐसा अनुमित होता है—

सोऽहं दरिद्रो वित्तार्थी प्रयातो दक्षिणापथम्।
प्राप्तः पुरं प्रतिष्ठानं नरसिंहस्य भूपतेः ।।

—कथासरित्सागर तरंग ६।३८।१०८ ।

"धन के लिए दक्षिणापथ को जाते समय मैं नरसिंह नृपति के प्रतिष्ठानपुर में जा पहुँचा।" यही प्रतिष्ठानपुर आजकल 'पैठण' के नाम से प्रसिद्ध है।

---

१. हालेनोत्तमपूजया कविवृषः श्रीपालितो लालितः,
ख्यातिं कामपि कालिदासकवयो नीताः शकारातिना।
श्रीहर्षो विततार गद्यकवये बाणाय वाणीफलं
सद्यः सत्क्रिययाभिनन्दमपि च श्रीहारवर्षोऽग्रहीत् ।।

--रा० च०, सर्ग ७।३२ ।

वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र' ग्रन्थ में सातवाहन का उल्लेख किया है, जिसके 'कर्तरी' नामक प्रहरण द्वारा महारानी मलयवती का प्राणान्त हो गया था।[1] डाक्टर पीटर्सन बूँदी-नरेश के पुस्तकालय से गाथा-सत्तसई की जो प्रति ले आए थे उसके अन्त में एक गाथा में लिखा है कि कुन्तल-जन-वल्लभ हाल ने सप्तशती का सातवाँ शतक समाप्त किया और फिर गद्य में हाल का पूरा-पूरा परिचय दिया हुआ है।[2] हूण देश का ही नाम कुन्तल था जो कामगिरि से द्वारकापुरी तक फैला हुआ था, सातवाहन के राज्यान्तर्गत गुर्जर देश भी था—

कामगिरिं समारभ्य द्वारकान्तं महेश्वरि।
श्रीकुन्तलाभिधो देशो हूणदेशं शृणु प्रिये॥
—शक्तिसङ्गमतन्त्र।

इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कथासरित्सागर और वात्स्यायन के कामसूत्र में वर्णित वा उल्लिखित सातवाहन एक ही है और पीटर्सन को प्राप्त प्रति द्वारा यह भी साफ है कि इसी सातवाहन हाल ने प्राकृत के प्राचीन ग्रन्थों से चुन-चुनकर सातसौ गाथाएँ एकत्र की थीं। इन सभी गाथाओं का रचना-काल अज्ञात है। इनमें कुछ-एक गाथाएँ हाल के समय की अर्थात् प्रथम शताब्दी ईस्वी की हैं, जैसे हाल की स्वरचित गाथाएँ और बहुत-सी उसके बहुत पहले की भी हो सकती हैं। हाल ने सम्भवतः सङ्कलन का अपूर्व कार्य सर्वप्रथम किया था, इसके पूर्व का कोई काव्य-संकलन देखने में अद्यावधि नहीं आ सका है। इस अनुपम संग्रह के लिए महाकवियों ने भी हाल भी प्रशंसा की। महाकवि बाणभट्ट ने कहा—

---

१. कर्तर्या कुन्तलः शालकर्णिः शातवाहनो महादेवीं मलयवतीम्॥
—कामसूत्र, अधि० २, अध्या० ७।२८।

२. राएण विरइआए कुन्तलजणवअइणेण हालेण। सत्तसई अ समत्तं सत्तम-मज्भासअं एअम्॥ इति सप्तमं शतकम्। इति श्रीमत् कुन्तल जनपदेश्वर-प्रतिष्ठानपत्तनाधीश-शतकर्णोपनामक-द्वीपि (दीप) कर्णात्मज-मलयवती-प्राणप्रिय-कालापप्रवर्तक शर्ववर्मधीसखमलयवत्युपदेशपण्डितीभूत-त्यक्त-भाषात्रय-स्वीकृत-पैशाचिक-पण्डितराज गुणाढ्यनिर्मितभस्मीभवद्वृहत्कथा-वशिष्ट-सप्तमांशावलोकनप्राकृतादिवाक्यञ्चक (?) प्रीत-कविवत्सल-हालाद्युपनामक–श्रीसातवाहननरेन्द्र–निर्मिता विविधान्योक्तिमयप्राकृत–गीर्गुम्फिताशुचिरसप्रधाना काव्योत्तमा सप्तशत्यवसानमगात्॥

अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहनः ।
विशुद्धजातिभिः कोषं रत्नैरिव सुभाषितैः ।।—हर्षचरित

अर्थात् सातवाहन ने विशुद्ध जाति के रत्नों के समान सुभाषितों से अनश्वर और अग्राम्य कोष का निर्माण किया । एक अन्य कवि कहता है—

जगत्यां ग्रथिता गाथा सातवाहनभूभुजा ।
व्यधुधृ तेस्तु विस्तारमहो चित्रपरम्परा ।। सूक्ति-मुक्तावली

कतिपय सूक्ति-संग्रहों में इसे राजशेखर कवि के नाम से उद्धृत किया गया है । इस प्रकार की प्रशस्तियाँ अनेक मिलती हैं । इसमें सन्देह नहीं कि यह ग्रन्थ अलौकिक रस-वर्षिणी गीतियों का अनूठा संग्रह है । इसकी गाथाएँ लेकर आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में, महाराज भोज ने सरस्वती-कण्ठा-भरण में, मम्मट ने काव्यप्रकाश में, अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन में, कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित में, महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक में यथास्थान उद्धृत की हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि इस ग्रन्थ की उत्तमोत्तम रचनाओं पर सहृदय जन प्राचीन काल से ही मुग्ध होते आए हैं । इसकी शृङ्गार रसपूर्ण गीतियाँ अद्भुत हैं । प्राकृत-बद्ध इन गीतियों से ऐसा निश्चित प्रतीत होता है कि गीतिकाव्य की अवतारणा लोक-कवियों द्वारा ही पहले-पहल हुई । इन गीतियों में ग्रामीण नायिकाओं के सुन्दर चित्र तो हैं ही, ग्रामीण प्रकृति के भी बड़े ही बिम्बग्राही चित्र प्रभूतमात्रा में चित्रित पाये जाते हैं । मैं दो-एक ऐसी सुन्दर ग्रामपरक गाथाएँ उदाहरणार्थ उपस्थित करता हूँ—

किं रुअसि ओणअमुही धवलाअन्तेसु सालिछेत्तेसु ।
हरिआलमंडिअमुही णडि व्व सणवाडिआ जाआ ।।
—गा० सत्त०, शतक १।९।

"हे सुन्दरी, धान के खेतों को श्वेत होते हुए देखकर मुँह नीचा करके क्यों रोती हो ? नहीं देखती हो हरिताल से मुँह को रँगकर नटी के समान सन की खेती अब लहलहा उठी है।" अर्थात् पीले फूलों से लदी सन की खेती ही अब सहेट-स्थल का काम देगी ।

गोलाअडट्ठिअं पेछिऊण गहवइसुअं हलिअसोह्ला ।
आढत्ता उत्तरिउं दुःखुत्ताराएँ पअवीए ।।
—गा०, शतक २।७।

"गोदावरी के तट पर खड़े गृहपति के पुत्र (पति) को देखकर हलिक की पत्नी ने कठिन राह से नीचे उतरना आरम्भ किया।" अर्थात् उसने सोचा कि यदि पति का मेरे प्रति सच्चा प्रेम होगा तो वह दौड़कर मेरी सहायता के लिए आ जायगा।

अज्जवि वालो दामोअरो त्ति इय जम्पिए जसोआए।
कह्णमुहपेसिअच्छं णिहुअं हसिणं वअवहूहिं॥
—गा० स०, २। १२।

"कृष्ण अभी भी बच्चा है, यशोदा के इस कथन को सुनकर कृष्ण की ओर आँखें फेरकर व्रजवधुएँ मन ही मन हँस पड़ीं।"

फग्गुच्छणणिद्दोसं केण वि कद्दमपसाहणं दिण्णम्।
थणअलसमुहपलोट्ठन्तसेअधोअं किणो धुअसि॥
—गा० स०, ४–६९।

"होली के अवसर पर किसी ने हर्ष से भरकर तुम्हारा कीचड़ से शृंगार किया, जिसके कारण स्तन-कलश के मुख से पसीने की बूँदें झड़ रही हैं। फिर बतला तो तू इस कीचड़ को धो क्यों रही है?" अर्थात् स्वेदकणों से तेरा उसके प्रति प्रेम तो प्रकट ही हो रहा है, छिपाने की क्या आवश्यकता? इस प्रकार अत्यन्त उच्चकोटि का काव्य गाँवों के कवियों द्वारा ही विरचित प्रतीत होता है। गाँव की उन्मुक्त हँसती-खेलती प्रकृति कितनी ही गीतियों में उतर आई है। यह अवश्य है कि प्रकृति का उपयोग अन्योक्ति के लिए तथा उद्दीपन विभाव के रूप में ही विशेष हुआ है। किन्तु प्रकृति का क्षेत्र गाँववाला ही है, खेतों और अमराइयों से शोभित, किंशुक आदि वन्य वृक्षों से परिवेष्टित। देखिए—

धण्णा वसन्ति णीसङ्कमोहणे बहलपत्तलवइम्मि।
वाअन्दोलणओणविअवेणुगहणे गिरिग्गामे॥
—गा० स०. शत० ७। ३५।

पप्फुल्लघणकलम्बा णिद्धोअसिलाइला मुइयमोरा।
पसरन्तोज्झरमुहला ओसाहन्ते गिरिग्गामा॥
—वही०, ७। ३६।

"निःशङ्कभाव से रमण के योग्य अपार पल्लवों से ढके हुए, वायु के झोकों से झूमते हुए बासों के जंगल वाले पर्वतीय गाँव में रहने वाले धन्य हैं।

पर्वतों के वे गाँव, जिनमें सघनता से उगे हुए कदम्ब के वृक्ष फूलों से ढके हुए है, पानी बरस जाने पर शिलाएँ धुल गई हैं, मोर हर्षित होकर नृत्य कर रहे और अपनी बोली उच्च कण्ठ से सुना रहे हैं, और झरने कल-कल शब्द करते हुए प्रवाहित हो रहे हैं, अपने पास आने के लिए उत्साहित कर रहे हैं।" अर्थात् अपनी मनोहारिणी शोभा द्वारा हमें अपने पास बुला रहे हैं।

कविवत्सल सातवाहन हाल द्वारा सङ्कलित सप्तशती भारतीय साहित्य का शृङ्गार है। प्राचीन महान् आचार्यों ने ध्वनि और अलङ्कारों के उदाहरण के लिए इस संग्रह की गाथाओं को चुनकर इसकी श्रेष्ठता प्रमाणित की है। शक-संवत् चलाने के कारण कुछ विद्वानों ने हाल का समय ६६ ई० के आस पास माना है।[1] प्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने 'हाल' का समय १७ से २१ ई० के पास माना है। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने शंका की है—

"यदि शकाब्द का प्रवर्त्तक शालिवाहन को ही माना जाय तो क्या विम की मृत्यु और कनिष्क के बीच ५० बरस का व्यवधान मानना सम्भव होगा!"

—भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द २, पृ० १०७४।

काल-निर्णय में यद्यपि विद्वानों में यत्किञ्चित् मतभेद है, तथापि प्रायः सभी विद्वान् सातवाहन हाल का समय प्रथम शताब्दी ईस्वी के ही अन्तर्गत मानते हैं। जैसा कि पहले कह आया हूँ, इन गीतियों में कुछ की रचना ईसा से कई शताब्दी पूर्व की है और संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के कवियों ने इन गीतियों से अकथनीय लाभ उठाया है। किन्तु जो सौन्दर्य और लालित्य इन प्राकृत गीतियों में सहज उपलब्ध है वह अन्यत्र दुर्लभ है। वास्तव में सच्चे काव्य का क्षेत्र वही है जिसे प्राकृत के कवियों ने अपनाया है। जो गाथाएँ हाल की लिखी हुई हैं, कहते हैं कि वे उस समय लिखी गई थीं जब कवि मलयवती रानी की वियोग-ज्वाला में दग्ध होकर इधर उधर भटकता फिरता था। इसीलिए वे अति उत्तम गीतियाँ हो सकी हैं। यह साहित्य की पहली सप्तशती हैं।

इस प्रकार की गीतियों का दूसरा संग्रह 'वज्जालग्ग' है। यह भी गाथा-छन्दोबद्ध गीतियों का संग्रह है। किसी जयवल्लभ नामक व्यक्ति ने यह संग्रह प्रस्तुत किया है। इसमें कुल ७९२ गाथाएँ हैं। गाथा-सप्तशती के समान

१. प्राकृत और उसका साहित्य, (ले० डॉ० हरदेव बाहरी) पृ० ९३।

इसमें प्रथम शतक, द्वितीय शतक का विभाजन नहीं है। इसकी गीतियाँ भिन्न-भिन्न विषयों के वर्णन-क्रम से रखी गई हैं और सबके नाम के आगे 'वज्जा' लगा हुआ है। जैसे—कव्व वज्जा, सज्जण वज्जा, दुज्जण वज्जा, मित्त वज्जा, नीइ वज्जा आदि। इससे यह स्पष्ट है कि जयवल्लभ ने अधिक परिश्रम से इस संग्रह को व्यवस्थित रूप दिया है, जब कि सत्तसई का संग्रह बिना किसी प्रकार की व्यवस्था के कर दिया गया है। 'सत्तसई' का उल्लेख अनेक कवियों और आलङ्कारिकों ने किया है, किन्तु वज्जालग्गं का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। जयवल्लभ श्वेताम्बर जैन था और यह संग्रह शताब्दियों तक जैनियों के ही बीच पड़ा रह गया।[1] संग्रहकर्ता ने बहुत सी गाथाएँ हाल के ही संग्रह से ली हैं, किन्तु बहुसंख्यक गाथाएँ अन्यत्र कहीं भी अनुल्लिखित हैं। हाल ने गाथाएँ विभिन्न कवियों की कृतियों से सीधे-सीधे ले ली हैं, किन्तु जयवल्लभ ने सम्भवतः अपनी कृति के ही समान कृतियों से भी लाभ उठाया था।[2] इस संग्रह की तीसरी गाथा के अनुसार ऐसा लगता है कि 'जयवल्लह' (जयवल्लभ) इस संग्रह का ही नाम है।[3] किन्तु इसकी

---

१. For this (गाथासप्तशती) is the oldest and most famous work of this kind of poetry known to us ; already in Bana it is cited and afterwords verses from it are repeatedly quoted in the Alankara Literature, whereas the Vajjalaggam is nowhere mentioned; as written by a Svetambara Jaina it seems to have been confined to Jaina circle. Introduction to Vajjalaggam, by Julius Labre.

२. Moreover it appears that Hala has drawn the different verses for his anthology from the poets themselves, where as the Vijjalaggam, besides these sources, supposes other works similar to it, which Jayavallabha enjoyed.

—The same p. 7, Fascicle III.

३. विविह कइ विरइयाणं गाहाणं वरकुलानि घेत्तूण।
रइयं वज्जालग्गँ विहिणा जयवल्लहँ नाम ॥ वज्जाल०, ३ ॥

संस्कृतच्छाया प्रस्तुत करने वाले रत्नदेव हैं और उन्होंने पृथुगच्छ के प्रधान धर्माचार्य मानभद्र सूरि के उत्तराधिकारी हरिभद्र सूरि के शिष्य धर्मचन्द्र के आग्रह पर संस्कृतच्छाया लिखी। बम्बई की भण्डारकर-रिपोर्ट के अनुसार (१८८३-१८८४ ई०) यह छाया वि० संवत् १३९३ में प्रस्तुत की गई।

वज्जालग्ग की आठ प्रतिलिपियाँ प्राप्त हुई थीं और उनमें संख्या के अन्तर के साथ-साथ गीतियाँ भी भिन्न-भिन्न मिलती हैं। यदि उनमें आई हुई सभी गीतियों का सङ्कलन किया जाय तो उनकी संख्या १३३० तक पहुँचती है। प्रो० जैकोबी (Pro. Herman Jacobi) को आठों हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई थीं। उन्हीं के शिष्य श्री जूलिअस लेबर (Mr. Julius Laber) ने वज्जालग्ग का सम्पादन छायासहित किया और इसमें ७९५ गाथाएँ रखी हैं, जिनमें अन्तिम दो में ग्रन्थ के स्वरूप और गुण का कथन मात्र है। गाहा सत्तसई शृङ्गारपरक रचनाओं का ही एक प्रकार से संग्रह है; किन्तु इसमें शृङ्गार की प्रधानता होते हुए भी, अन्य अनेक विषयों पर गीतियाँ प्रस्तुत की गई हैं और अन्त की यह उक्ति अक्षरशः सत्य है कि जो कोई इन गाथाओं का सुचारु रूप से पाठ करेगा, वह विविध अनुभूतियों की एकत्र उपलब्धि से गौरवशाली हो जायगा।[१] इस संग्रह का काल-निर्णय अभी तक नहीं हो सका है तथापि विद्वानों का अनुमान है कि यह कार्य तीसरी—चौथी शताब्दी के आसपास हुआ होगा। यहाँ पहले मैं कतिपय ऐसी गीतियाँ प्रस्तुत करूँगा जिनसे पश्चाद्वर्ती कतिपय महाकवियों ने भाव अपनाए हैं।

वज्जालग्ग का परवर्ती काव्य पर प्रभाव

सद्दावसद्दभीरू पए पए किंपि किंपि चिन्तन्तो।
दुक्खेहि कहवि पावइ चोरो अत्थं कई कव्वं॥
—कव्ववज्जा, २३॥

"शब्द और अपशब्द से डरने वाला, पद-पद पर कुछ-कुछ सोचता हुआ बड़े दुःख से चोर धन को और कवि काव्य को पाता है।" इस गाथा को निम्नलिखित हिन्दी के प्रसिद्ध दोहे से मिलाइए—

'चरन धरत चिन्ता करत, चहत न नेकहु सोर।
सुबरन को खोजत फिरत, कबि, व्यभिचारी, चोर॥

१. वज्जालग्ग, ७९५।

सरी गाथा है—

अणवरय वहल रोमञ्च कञ्चुयं जणियजणमणाणन्दं ।
जं न धुणावइ सीसं कव्वं पेम्मं च किं तेण ॥

—कव्ववज्जा, २५ ।

"जिसके द्वारा रोमाञ्च में नैरन्तर्य न आवे, जिससे जन-मन में आनन्द न उत्पन्न हो और जिससे सिर न हिल उठे, वह न तो काव्य है और न प्रेम।" गोस्वामी तुलसीदास भी उसी विश्वास के स्वर में कह उठते हैं—

जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं। सो स्रम बादि बाल कवि करहीं ॥

—रा०च०मा०, बालकाण्ड ।

जिस काव्य का बुधजनों में आदर नहीं हुआ, वह काव्य ही कैसा ?

प्राकृत कवि कहता है, एक तो काव्य रचना कठिन है, यदि कविता की भी तो उसका मार्मिक प्रयोग कष्टकर होता है और यह सब हो जाने पर उसे सुनने वाले (सच्चे काव्य-प्रेमी) कठिनता से मिल पाते हैं—

दुक्खं कीरइ कव्वं कव्वम्मि कए पउञ्जणा दुक्खं ।
सन्ते पउञ्जमाणे सोयारा दुल्लहा होन्ति ॥

—वज्जा०, सोयारवज्जा, ६ ।

गोस्वामी जी ने भी कवि-मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन किया है और कवि के लिए उन्होंने कलाओं और विद्याओं का ज्ञान भी आवश्यक बतलाया है—

कवि न होउँ नहिं बचन प्रवीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू ॥
आखर अरथ अलंकृति नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक बिधाना ॥
भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोष गुन बिबिध प्रकारा ॥

—रा०च०मा०, बालकाण्ड ।

आचार्य भामह ने भी कवि-कर्म के काठिन्य को स्पष्ट शब्दों में कहा है और कवि के लिए अपेक्षित ज्ञान की व्यापकता की ओर भी सङ्केत किया है—

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला ।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः ॥

—काव्यालङ्कार, ५। ३ ।

फिर गोस्वामी जी ने सहृदय काव्य-श्रोताओं की विरलता की बात भी गाथा-कवि की भाँति कही है—

जे पर-भनिति सुनत हरषाहीं।
ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं॥

रा० च० मा०, बा० कां०।

एक प्राकृत कवि ने काव्य की महर्घता दिखाते हुए साङ्गरूपक द्वारा उसे रत्न कहा है और इसी रूपक को गोस्वामी तुलसीदास ने कुशल कवि की भाँति अपना लिया है। प्राकृत गाथा है—

चिन्ता मन्दर मन्थाण मन्थिए वित्थरम्मि अत्थाहे।
उप्पज्जन्ति कईहियय - सायरे कव्व रयणाइं ॥

—व० ल०, कव्ववज्जा, १९।

अर्थात् चिन्ता के मन्दराचल की मथानी से मथने पर विस्तृत एवं अथाह कवि-हृदय रूपी सिन्धु से काव्य के रत्न निकलते हैं। अब गोस्वामी जी की अमृतवाणी सुनिए—

पेमु अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गंभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिन्धु रघुबीर॥

—रा० च० मा०, अयो०कां०, दो० २३८।

हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल तक प्राकृत और अपभ्रंश की कविताओं का अध्ययन विद्वानों और कवियों द्वारा बड़े चाव से होता रहा। उत्तरोत्तर उनका अध्ययन कम होता गया और एक मात्र संस्कृत की ही ओर विद्वद्वर्ग विशेष रूप से आकृष्ट हो गया। व्रजभाषा के महाकवियों पर प्राकृत काव्य का प्रभाव स्पष्टतया दिखाई पड़ता है। इसके सैकड़ों उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं और वह एक अलग निबन्ध का विषय हो जाता है। यहाँ कतिपय उद्धरणों द्वारा उधर सङ्केत मात्र कर दिया जाता है कि 'वज्जालग्ग' की गीतियाँ हमारे हिन्दी-साहित्य में कितनी प्रिय रही हैं, उनका कितना समादर होता रहा है। संस्कृत के कवियों पर भी प्राकृत काव्य का बड़ा प्रभाव परिलक्षित होता है। शतकत्रयी के रचयिता भर्तृहरि पर यत्र-तत्र गाथाओं की छाया दिखाई पड़ती है। एक गाथा है—

सीलं वरं कुलाओ दालिद्दं भव्वयं च रोगाओ।
विज्जा रज्जाउ वरं खमा वरं सुट्ठु वि तवाओ॥

—वज्जा०, नीरवज्जा ८५।

"शील कुल से महान् है, दरिद्रता रोग से अच्छी है, विद्या राज्य से उत्तम है और क्षमा तप से ऊँची और श्रेयस्करी है।"

भर्तृहरि अपने अनुभव को और विस्तृत रूप में रखते हुए कहते हैं—

क्षान्तिश्चेत्कवचेन किङ्किमरिभिः क्रोधोऽस्ति चेद्देहिनां
ज्ञातिश्चेदनलेन किं यदि सुहृद्दिव्यौषधैः किं फलम् ॥
किं सर्पैर्यदि दुर्जनाः किमु धनैर्विद्याऽनवद्या यदि ।
व्रीडा चेत्किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ॥

—नीतिशतक, २० ।

यदि क्षमा है तो कवच की क्या आवश्यकता ? यदि क्रोध है तो शत्रुओं की कौन खोज ? यदि जाति है तो अग्नि का क्या प्रयोजन ? यदि सन्मित्र हों तो दिव्य औषध का क्या काम ? यदि दुर्जन हैं तो साँप के अभाव से क्या होता जाता है ? यदि श्रेष्ठ विद्या प्राप्त है तो धन को ढूँढ़ते फिरना व्यर्थ है, यदि लज्जा है (कुलीन नारी में) तो आभूषणों को लेकर होगा क्या ? और यदि सत्कविता प्राप्त है तो राज्य-वैभव व्यर्थ ही है।"

इधर हाल में ही उपलब्ध अपभ्रंश के 'सन्देश रासक' काव्य पर इसकी गाथाओं का प्रभाव ही नहीं, पूरा-पूरा भाव कहीं-कहीं पदावली के साथ ले लिया गया है, यह मैं पहले ही दिखा आया हूँ।[1] कबीरदास ने पढ़ना-लिखना नहीं सीखा था, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने प्राकृत भाषा के काव्य को पढ़कर उससे भाव लिए हैं, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्राकृत की कविताएँ भाषा का परिधान बदलती लोक-जीवन के साथ-साथ चली आयी थीं और कबीर को लोक-जीवन से वे उक्तियाँ मिल गई हैं। वज्जालग्ग की एक गाथा है—

किं ताल तुज्झ तुंग-त्तणेण गयणद्धरुद्धमग्गेण ।
छुहजलणतावियेहि वि उवहेप्पसि जं न पहिएहिं ॥

—तालवज्जा, ७३६ ।

"हे ताड़ ! आधे आकाश-मार्ग को रोकने वाला तुम्हारा ऊँचापन किस काम का, जब कि भूख और प्यास से सन्तप्त पथिक तुम्हारे पास जाते तक नहीं।"

---

१. देखिए, 'साहित्य में राधा का अवतरण और उल्लेख।'

दूसरी गाथा है इसी से मिलती-जुलती—

छायारहियस्स निरा-सयस्स दूरवरदावियफलस्स ।
दोसेहि समा जा का वि तुङ्गिया तुज्झ रे ताल ॥—वही,७३७।

"छायाहीनता, आश्रयत्वहीनता और बहुत ऊँचाई पर दृष्टि आनेवाली फलवत्ता, इतने दुर्गुणों के साथ रहकर तेरी ऊँचाई भला किस काम की, हे ताड़ के पेड़ !"

कबीर के मुँह से भी यही बात प्रायः ज्यों की त्यों निकल पड़ी है—

बड़ा भया तो क्या भया, जैसे पेड़ खजूर ।
पंथी को छाया नहीं फल लागै अति दूर ॥—कबीर, साखी

कबीर भी 'ताड़' ही कहते तो उचित होता, किन्तु हिन्दू-संस्कार-हीनता के कारण उन्हें 'खजूर' के ही फल 'अति दूर' लगे दिखाई पड़े ।

यों तो 'वज्जालग्ग' में गृहीत गाथाओं का प्रभाव पूरे हिन्दी के अवधी और ब्रज साहित्य पर दिखाई पड़ता है, तथापि सूरदास, तुलसीदास, कबीर और बिहारी की कविताओं में अनेकानेक स्थलों पर इसकी छाया दिखाई पड़ती है । ऊपर दो-एक स्थल दिखा आया हूँ, दो ही एक और देखिए—

अज्झा कवोलपरिसंठियस्स जह चन्दणस्स माहप्पं ।
मलयसिहरे वि न तहा ठाणेसु गुणा विसट्टन्ति ॥

थाणवज्जा, ६७९ ।

"युवती के कपोल पर शोभित चन्दन को जो गौरव प्राप्त है, वह गौरव उसे मलय पर्वत के शिखर पर भी प्राप्त नहीं होता ।"

गोस्वामी जी भी यही कहते हैं—

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी । अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी ।
नृपकिरीट तरुनीतनु पाई । लहहिं सकल सोभा अधिकाई ॥

—रा०च०मा०, बा० कां०, दो० १६ ।

स्त्री का चरित अत्यन्त दुर्बोध होता है, सारे चराचर जगत् का चरित समझ लेने वाले भी इसे नहीं समझ पाते, यह अत्यन्त प्राचीन लोक-मान्यता सम्भवतः रही है । एक वा अनेक गाथाकार प्राकृत कवि कहते हैं—

गहचरिय देवचरियं ताराचरियं चराचरे चरियं।
जाणन्ति सयलचरियं महिलाचरियं न याणन्ति ॥
वहुकूड कवड भरिया मायारूवेण रञ्जए हियियं।
महिलाए सब्भावं अज्ज वि वहवो न याणन्ति ॥
घेप्पई मच्छाण पए आयासे पक्खिणो य पयमग्गो।
एक्कं नवरि न घेप्पइ दुल्लक्खं कामिणीहियियं ॥
—व० ल०, महिला व०, ६६८–६७०।

"ग्रहचरित, देवचरित, ताराचरित, चराचर में होने वाले चरितों को समझनेवाले भी नारी-चरित को नहीं समझ पाते। नाना कूट-कपट से भरी हुई नारी माया से हृदय को मुग्ध कर देती है, किन्तु महिला के हृदयगत सच्चे भाव को आज भी वहुतेरे नहीं जानते हैं। मछलियाँ पानी में रहने पर भी पकड़ में आ जाती है, पक्षी आकाश में उड़ते हैं, फिर भी पकड़ लिए जाते हैं किन्तु कामिनी का दुर्निरीक्ष्य हृदय पकड़ा नहीं जाता।"

कैकयी के चरित को देखकर महाराज दशरथ भी यही कह रहे हैं—

सत्य कहहिं कवि नारि सुभाऊ। सब विधि अगहु अगाध दुराऊ।
निज प्रतिबिंबु बरुक गहि जाई। जानि न जाइ नारिगति भाई ॥
काह न पावकु जारि सक, का न समुद्र समाइ।
का न करइ अबला प्रबल, केहि जग कालु न खाइ ॥
—रा० च० मा०, अयो० कां०, ४६।

गोस्वामी जी ने प्राचीन कवियों की बातें सुनी थीं, इसी से कहते हैं, 'सत्य कहहिं कवि नारि-सुभाऊ।' अब महात्मा सूरदास की भी बहुश्रुतता की एक बानगी लीजिए—भाग्य की प्रधानता में भारत सम्भवतः पुराने समय से विश्वास रखता आ रहा है। हमारे उच्च कोटि के कवियों ने भी यथास्थान ऐसी बातें कही हैं। प्राकृत के कवियों ने ऐसी बातें अनुभूति से प्रेरित होकर कही हैं—

अत्थो विज्जा पुरिसत्तणं च अन्नाइ गुणसहस्साइं।
दिव्वायत्ते कज्जे सव्वाइ नरस्स विहडन्ति ॥
जइ विसइ विसमविवरे लङ्घइ उदहिं करेइ ववसायं।
तह विहु फलं न पावइ पुरिसो दिव्वे पराहुत्ते ॥

जा जा डाला लम्बइ हत्थं गहिऊण वीसमइ जत्थ।
सा सा तडत्ति तुट्टइ नरस्स दिव्वे पराहुत्ते ॥
जं नयणेहि न दीसइ हियएण वि जं न चिन्तियं कहवि।
तं तं सिरम्मि निवडइ नरस्स दिव्वे पराहुत्ते ॥

—दिव्व व०, १२०, १२२, १२४, १२५।

"अर्थ, विद्या, पौरुष आदि सहस्रों गुण भाग्य के आगे निरर्थक सिद्ध होते हैं। चाहे कोई भयंकर गुफा में प्रविष्ट हो जाय, समुद्र को लाँघ जाय और कितना ही प्रयत्न क्यों न करे तथापि यदि दैव विपरीत है तो फल कदापि नहीं प्राप्त हो सकता। जब आदमी का भाग्य विरुद्ध हो जाता है तब वह जिस-जिस डाली में लटकता है और जिसे भी हाथ से पकड़ कर विश्राम करना चाहता है, वे सभी तड़तड़ाकर टूट जाती हैं। जिसे न कभी आँखों से देखा और न कभी मन में सोचा, भाग्य बिगड़ने पर वह भी सिर पर आ पड़ता है।"

महात्मा सूरदास भी इस बात का समर्थन करते हुए कहते हैं—

भावी काहू सौं न टरै।
कहँ वह राहु, कहाँ वै रवि ससि, आनि संजोग परै।
मुनि बसिष्ट पंडित अति ज्ञानी, रचि-पचि लगन धरै।
तात-मरन, सिय-हरन, राम बन-बपु धरि बिपति भरै।
रावन जीति कोटि तैंतीसौ, त्रिभुवन राज करै।
मृत्युहिं बाँधि कूप मैं राख्यौ, भावीबस सो मरै।
अरजुन के हरि हुते सारथी, सोऊ बन निकरै।
द्रुपद-सुता कौ राज-सभा, दुस्सासन चीर हरै।
हरीचन्द सो को जग दाता, सो घर नीच भरै।
जो गृह छाँड़ि देस बहु धावै, तउ वह संग फिरै।
भावी के बस तीन लोक हैं, सुर नर देह धरै।
सूरदास प्रभु रची सु ह्वै है, को डरि सोच मरै ॥

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, २६४।

इस संग्रह में अन्योक्तियाँ भी अत्यन्त अनूठी हैं। निम्नलिखित अन्योक्ति कितनी सुन्दर, भावपूर्ण तथा धैर्यदायिनी है—

छप्पय गमेसु कालं आसवकुसुमाइ ताव मा मुयसु।
यन्न जियन्तो पेच्छसि पउरा रिद्धी वसन्तस्स ॥

—इन्दिन्दिरवज्जा, २४४।

पण्डित जगन्नाथ यही उपदेश कोकिल को देते दिखाई पड़ रहे हैं—

तावत्कोकिल विरसान् यापय दिवसान् वनान्तरे निवसन्।
यावन्मिलदलिमालः कोपि रसालः समुल्लसति ॥

—भामिनीविलास, ७।

"हे कोकिल, तब तक इन नीरस दिनों को वन के भीतर छिपकर चुपचाप काट दो जब तक भौंरों से घिरा हुआ कोई आम का वृक्ष खिल न जाय।"

प्राकृत का कवि जो बात भौंरे से कहता है, वही बात पण्डितराज कोकिल से कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी के कवियों ने प्राकृत गाथाओं से पूरा-पूरा लाभ उठाया है।

एक गाथा तो ऐसी है जिसमें कालिदास ने भी अपना मन रमाया है। गाथा है—

दूरयरदेस परिस—ठियस्स पियसङ्गमं महन्तस्स।
आसाबन्धो च्चिय मा—णसस्स अवलम्बए जीवं ॥

—पियोल्लासवज्जा, ७८६ ॥

"प्रियतम के दूर देश चले जाने पर वियोग के कठिन समय में मनुष्य के प्राणों की रक्षा आशा का बन्धन ही करता है।"

कवि-कुलगुरु कालिदास भी यही बात कह रहे हैं—

"आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां।
सद्यःपाति प्रणयि-हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥

—मे०दू०, पू० मेघ, ९ ॥

"प्रायः स्त्रियों के कुसुम के समान शीघ्र ही मुरझा जाने वाले प्रेमी-हृदय को वियोग में आशाबन्ध ही सुरक्षित रख पाता है।" संग्रह की गाथाएँ बहुत पुरानी हैं, जैसे 'गाहा सत्तसई' की गाथाएँ, अतः हो सकता है कि प्राकृत की कविता कालिदास के किसी पूर्ववर्ती कवि की हो।

'वज्जालग्ग' में जीवन के जितने क्षेत्रों की अनुभूतियाँ आ पाई हैं, गाथा सत्तसई'' में उतनी नहीं आ सकी हैं। सत्तसई का संग्रह शृङ्गार-प्रधान है, किन्तु इसमें अनुभूतियों का जो वैविध्य दिखाई पड़ता है और जिस व्यवस्थित ढंग से इसका सम्पादन किया गया है, इन सबको देखते हुए इस संग्रह की श्रेष्ठता स्वीकार करनी ही पड़ती है।

वज्जालग्ग का दृष्टि-प्रसार

हम यहाँ कतिपय ऐसी गीतियाँ प्रस्तुत करेंगे जो पाठक को केवल शृङ्गार के घेरे में ही न रखकर सच्ची मानवता के प्रसार का सन्देश देती हैं। मानव-जीवन में शृङ्गार का महत्व तो सर्वमान्य है ही, किन्तु उसके साथ ही हमें यह नहीं भूलना है कि शृङ्गार मनुष्य को 'स्व' तक ही सीमित कर देता है और वह लोक-जीवन से हटाकर व्यक्ति को एकान्त कक्ष की ओर जाने को बाध्य करता है। जो कविता व्यक्ति की ऐकान्तिकता को दूरकर उसे लोक-जीवन के बीच जाने की मङ्गलमयी प्रेरणा देती है, वही ऊँची कविता है। व्यक्तिहित वा वैयक्तिक सुख से सामाजिक वा सामूहिक सुख उत्तम है, ऊँचा वह काव्य जो मानव को लोक-मङ्गल की ओर प्रेरित करे श्रेष्ठ काव्य कहलाने का अधिकारी है। भारतीय संस्कृति समूह के हित का विधान करती है, केवल व्यक्ति के हित का नहीं। भारत के सभी महान् कवियों ने इसी आदर्श का पालन किया है। प्राकृत भाषा के कवि भी इस बात में पीछे नहीं हैं। सातवाहन हाल ने एक करोड़ गाथाओं में से जो सात सौ गाथाएँ चुनीं, उन के चयन के समय उसकी दृष्टि विशेष रूप से शृङ्गार पर ही टिकी रह गई थी और इसमें भी सन्देह नहीं कि शुद्ध काव्य के विचार से उसकी गीतियाँ उत्तम कोटि की हैं, आलङ्कारिक की दृष्टि में, किन्तु लोक-संग्रह की भावना जो कविता को सभी कलाओं से ऊँचा स्थान प्रदान करती है, समाज में मानवता की प्रतिष्ठा करती है, जो काव्य का अनुपेक्षणीय तत्त्व है। काव्य के अनिर्वाच्यत्व गुण की रक्षा के साथ कवि को इसे कदापि नहीं भूलना चाहिए और सच तो यह है कि महाकवि इसे भूलता भी नहीं। यहाँ शृङ्गारेतर विषयों की प्रतिष्ठापक उत्तम गीतियाँ दी जा रही हैं, जिनसे लोक-मङ्गल का सन्देश सुना जा सकता है। आदर्श गृहिणी का चित्र कितना हृदयस्पर्शी है, देखिए—

> भुञ्जइ भुञ्जिजय सेसं सुप्पइ सुप्पम्मि परियणे सयले।
> पढमं चेय विबुज्झइ घरस्स लच्छी न सा घरिणी॥

दुग्गवघरम्मि घरिणी रक्खन्ति आउलत्तणं पइणो ।
पुच्छिय दोहलसद्धा उययं चिय दोहलं कहइ ॥
पत्ते पियपाहुणए मङ्गलवलयाइ विक्कीणन्तीए ।
दुग्गयवरिणी . कुलवालियाएँ रोवाविओ गामो ॥
बन्धव मरणे वि हहा दुग्गयघरिणीएँ वि न तहा रुणं ।
अप्पत्त बलि विलक्खे वल्लहकाए समुड्डीणे ॥

—सुघरिणीवज्जा, ४५५, ४६७–४५६ ।

"पूरे परिवार के भोजन कर लेने पर जो कुछ बच जाता है उसे ही खाकर सन्तुष्ट रहती है, सारे परिजनों के सो जाने के बाद सोती है, और प्रातः काल सबसे पहले जाग जाती है, ऐसी स्त्री गृहिणी नहीं, गृहलक्ष्मी होती है ।"

"गरीब घर की गृहिणी अपने पति की चिन्ता से रक्षा करती है, गर्भिणी की दशा में जब पति उसकी इच्छा को जानना चाहता है (कि उसका मन किस वस्तु के खाने का है) तब वह केवल पानी की इच्छा प्रकट करती है ।"

"गरीब घर की गृहिणी के यहाँ कोई अत्यन्त प्रिय पाहुना आ गया (उसके घर में पाहुन को खिलाने योग्य अन्न भी नहीं था) । अपने घर की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए उस कुलवधू ने अपना मङ्गलकङ्कण[1] बेच दिया, उसकी इस विवशता ने सारे गाँव को रुला दिया ।"

"प्रोषितपतिका के घर की छत पर एक कौवा आ बैठा, शकुन के लिए उसने कौवे को उड़ाया, कौवा उड़कर फिर आ बैठा (यह शुभ शकुन दिखाकर यह सूचित किया कि तुम्हारा पति आ रहा है), किन्तु उस गरीबिन के घर में एक रोटी का टुकड़ा तक नहीं था कि जिसे शकुन जताने वाले कौवे को वह दे; (अपनी इस हीन दशा पर) वह इतना रोई कि जितना वह बान्धव के मरने पर भी न रोई थी ।"

इन गीतियों द्वारा नारी का उज्ज्वल चरित्र अङ्कित किया गया है। यही भारतीय नारी का सनातन आदर्श है और इसी आदर्श चरित्र के द्वारा भारतीय नारी देवी के समान पूजनीया मानी गई है। इन गीतियों में भारत

---

१. 'मङ्गल कङ्कण' विवाह के समय वधू के सौभाग्य-चिह्न के रूप में पहनाया जाता है और सौभाग्यवती स्त्रियाँ प्रत्येक दशा में इसकी रक्षा करती हैं, भूखी रहने की स्थिति में भी इसे बेचतीं नहीं ।—लेखक

का सच्चा रूप प्रतिबिम्बित देखा जा सकता है, जो इस देश की स्वकीय विशेषता है। इन के द्वारा हम तत्कालीन भारत का सामाजिक चित्र भी देख लेते हैं, गरीबी का नग्न स्वरूप सम्मुख आ उपस्थित होता है। ऐसी कविताएँ देश की दशा के सुधार की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करती हैं। भारत का सांस्कृतिक जीवन पाठक के समक्ष प्रस्तुत करती हैं। नारी का सारे परिवार पर ध्यान रखना, दोहद-अभिलाषा, पाहुन के प्रति सत्कार-भावना, और प्रोषिताओं का कौवे द्वारा शकुन जानना, ये भारतीय संस्कृति के प्रमुख अङ्ग हैं। इन्हें खोकर हम भारतीयता खो बैठेंगे। एक धनहीन परिवार का चित्र काव्य में कितनी सहृदयता से उतार दिया गया है—

संकुयइ संकुयन्ते वियसइ वियसन्तयम्मि सूरम्मि।
सिसिरे रोरकुडुम्बं पङ्कयलीलं समुव्वहइ॥

—दारिद्दवज्जा, १४६।

"सूर्य के संकुचित होने पर संकुचित हो जाता है और उसके विकसित होने पर (उदित होने पर) विकसित हो जाता है, शिशिर ऋतु में दरिद्र-परिवार कमल का आचरण ग्रहण कर लेता है (सूर्य्य के डूबने पर सारा परिवार ठिठुर कर सिकुड़ा रहता है और उसके निकलते ही धूप में लोग फैल-कर ठंढक मिटाते हैं।"

'दारिद्दय तुज्झ नमो जस्स पसाएण एरिसी रिद्धी।
पेच्छामि सयललोए ते मह लोया न पेच्छन्ति॥

—दारिद्द व० १३९।

"हे दरिद्रता! तुझे नमस्कार करता हूँ, क्योंकि तुम्हारी ही कृपा से मुझे ऐसी ऋद्धि प्राप्त हो गई है कि मैं तो सब लोगों को देख लेता हूँ, किन्तु मुझे कोई भी नही देखता।"

कितनी चुटीली बात कवि कह गया, जिसे हँसना हो वह सुनकर हँसे और जिसे रोना हो वह एकान्त में बैठकर रो ले। गिने-चुने शब्दों में कवि ने भाव का समुद्र लहरा दिया है। बहुत दिनों बाद महाकवि रहीम का भी अनुभव वहीं जा टकराया और उन्होंने उसी बात को कुछ अपने ढंग से कह सुनाया—

दीन सबन को लखत है, दीनहिं लखइ न कोइ।
जो 'रहीम' दीनहि लखइ, दीनबन्धु सम होइ॥

—रहीम-दोहावली

इस प्रकार हमने देखा कि प्राकृत गीतों का विषय केवल शृङ्गार ही नहीं रहा अपितु जीवन के सभी मार्मिक पक्षों पर महाकवियों ने गीत लिखे। आगे चलकर हम देखते हैं कि संस्कृत के कवियों ने शरीर से जिस प्रकार राजा के आश्रय में रहना पसन्द किया, उसी प्रकार उनके हृदयों ने भी रसराज शृङ्गार के ही दरबार में आसन जमा लिया। नगर और नागरिकाएँ उनके प्रधान वर्णनीय रहे हैं, प्रकृति का उन्मुक्त क्षेत्र प्राकृत गीतिकार कवियों का क्रीडा-स्थल रहा है, किन्तु संस्कृत के मुक्तक गीतिकार उन स्थलों तक बहुत कम जा पाये हैं। प्राकृत गीतियों के उपर्युक्त दो ही संग्रह मिल सके हैं, कुछ फुटकल गीतियाँ अलङ्कार-ग्रन्थों में और कुछ नाटकों में मिलती हैं। इन प्राकृत गीतियों की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि इनकी अप्रस्तुत-योजना परम्परा द्वारा घिसी-पिटी न होकर सर्वथा नूतन और अत्यन्त आकर्षक है। नया अप्रस्तुत-विधान संस्कृत के कम ही कवियों में मिल पाता है।

अब कतिपय प्राकृत गीतियाँ हम अलङ्कार ग्रन्थों, नाटकों और सट्टकों से देंगे, जिनसे प्राकृत गीतियों की मौलिकता और चारुता का यत्किञ्चित् आभास मिल जाय। ये गीतियाँ भी विविध विषयों को लेकर लिखी गयी हैं।

———

नाटकों में प्राकृत-गीतियाँ

नाटक का उद्भम और विकास

भारतीय-साहित्य का जीवन-काल सहस्राब्दियों प्राचीन है, विश्व की सभी भाषाओं के साहित्य से पुरातन। इस प्रलम्ब कालावधि में अपरिमित वाङ्मय प्रस्तुत हुआ, जिसका एक अंश मात्र ही आज उपलब्ध है। आज साहित्य के जो प्रमुख अंग उपलब्ध हैं, उनका मूल रूप वैदिक साहित्य में अवश्य प्राप्त होता है। काव्य का एक प्रमुख प्रकार नाटक है, इसका मूल रूप वेद में मिलता है। वेद में सोम-विक्रय के प्रसङ्ग में जो कथोपकथन मिलता है, वह नाटक का ही पूर्वरूप कहा जायगा। उस समय शूद्र के हाथ से सोम का क्रय किया जाता था, वह पहले देता नहीं था, एक संवादात्मक दृश्य उपस्थित किया जाता था तब जाकर सोम उपलब्ध होता था।[1] यज्ञ के समय संवाद, मन्त्रों का गान और नृत्य सभी का आयोजन होता था, जैसा कि किसी उत्सव वा पर्व के अवसर पर प्रायः हुआ करता है। इसके अनन्तर ब्राह्मण-ग्रन्थों द्वारा भी तत्कालीन नाटकों की स्थिति का पता चलता है।[2] ऋग्वेद के 'संवाद सूक्तों' में, आरण्यकों और उपनिषदों के आख्यानों में नाटकीय कथोपकथन उपलब्ध होते हैं।[3] वाल्मीकि की रामायण तथा वेदव्यास के महाभारत में 'शैलूष', 'नट', 'नर्तक' आदि शब्दों के प्रयोग नाटकों की स्थिति की सूचना देते हैं।[4] अयोध्याकाण्ड में नट-नर्तकों के समाज का वर्णन देखिए—

---

१. वाजसनेय संहिता—३०।४।

२. तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३।४।२।

३. इन्द्र-मरुत-संवाद, ऋ०, मं० १, अध्या० २३, सू० १६५, १७०; विश्वामित्र-नदी-संवाद, ऋक्, मं० ३, अ० ३, सू० ३३ और पुरूरवा-उर्वशी-संवाद, ऋक्, मं० १०, अ० ५, सू० ९५; आदि।

४. नटनर्तक-संघानां गायकानाञ्च गायताम्।
मनःकर्णसुखावाचः शुश्राव जनता ततः॥
—रामा०, अयो० कां०, सर्ग ६।१४॥

तथा बालकांड, सर्ग १८।१८॥

महाभारत—हरिवंश पर्व, अध्याय ६१। ६७॥

तप्यमानं समाज्ञाय वयस्याः प्रियवादिनः ।
आयासं हि विनेष्यन्तः सभायां चक्रिरे कथाः ॥
वादयन्ति तथा शान्तिं लासयन्त्यपि चापरे ।
नाटकान्यपरे प्राहुर्हास्यानि विविधानि च ॥
—वा० रामा०, अयो० कां०, सर्ग ६९। ३।४ ।

अपने ननिहाल में रहते समय भरत ने दुःस्वप्न देखा, जिसके कारण वे अत्यन्त चिन्तित हो उठे । "उनके प्रियवादी मित्र उन्हें चिन्तित देखकर सभा में मनोरञ्जक कथाएँ कहने लगे, बाजे बजाने लगे, कुछ लास्य का प्रदर्शन करने लगे, कुछ ने नाटक कहे और कुछ ने नाना प्रकार के प्रहसन सुनाए ।"

महाराज दशरथ की मृत्यु के पश्चात् प्रातःकाल मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, कश्यप, कात्यायन, गौतम, जाबालि आदि द्विजों ने राज-पुरोहित वसिष्ठ से किसी को शीघ्र राजा बनाने की प्रार्थना करते हुए कहा कि अराजक राज्य की बड़ी ही दुर्दशा होती है, विद्याओं और कलाओं का भी ह्रास हो जाता है, और कलाकार भी दुःख में फँस जाते हैं—

नाराजके जनपदे प्रहृष्ट - नट - नर्तकाः ।
उत्सवाश्च समाजाश्च वर्धन्ते राष्ट्रवर्धनाः ॥
नाराजके जनपदे सिद्धार्था व्यवहारिणः ।
कथाभिरनुरज्यन्ते कथाशीलाः कथाप्रियैः ॥
वा०रामा०, अयो०कां०, सर्ग ६७। १५, १६ ।

"शासक-विहीन जनपद में नट (अभिनेता), नर्तक प्रसन्न नहीं रहते, राष्ट्र को उन्नति पर पहुँचानेवाले उत्सव और समाज धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं । व्यवहारियों के मनोरथ सिद्ध नहीं होते और आख्यान सुनने के प्रेमी जनों का कथा-वाचक कथा सुनाकर मनोरञ्जन भी नहीं कर पाते ।"

इन कथनों से स्पष्ट है कि रामायण काल में नाटकों की पूर्ण प्रतिष्ठा थी । वैयाकरण-शिरोमणि पाणिनि के दो सूत्रों द्वारा स्पष्ट निर्देश मिलता है कि उनके भी पहले 'शिलाली' और 'कृशाश्व' दो ऐसे आचार्य हो चुके थे जिन्होंने 'नटसूत्रों' की (नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी सूत्रों की) रचना की थी ।[1] कवि-कुल-गुरु

---

१. (क) पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षु-नटसूत्रयोः ॥
—अष्टाध्यायी, ४।३।११०

(ख) कर्मन्द-कृशाश्वादिनिः ॥
—वही, ४।३।१११

कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' नामक नाटक में गणदास और हरदत्त नाम के दो नाट्याचार्यों को स्थान दिया है; वे दोनों ही राजाश्रय में रहकर नाट्य-शास्त्र की शिक्षा देते थे। इससे यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि विक्रम की प्रथम शताब्दी से बहुत पहले ही नाट्यशास्त्र का पूर्ण विकास हो चुका था और उन्होंने अपने से पूर्व होनेवाले तीन लोक-प्रसिद्ध नाटककारों का उल्लेख करके नाटक-रचना की प्राचीनता की घोषणा ही कर दी है।[1] महर्षि पाणिनि का समय ईसा-पूर्व छठी शताब्दी माना गया है और उन्होंने अपने से भी पूर्व होनेवाले दो नटसूत्रकारों का उल्लेख किया है। यह बात तो सर्वविदित है कि लक्ष्य-ग्रन्थों के पर्याप्त संख्या में निर्मित हो जाने के पश्चात् भाषा वा काव्य की स्वरूप-रक्षा के लिए आचार्यों द्वारा लक्षण ग्रन्थ प्रस्तुत किए जाते रहे हैं। पूर्व लक्षण ग्रन्थ में विचार-शैथिल्य वा त्रुटियों को देखकर नवागत पण्डित अन्यान्य लक्षण-ग्रन्थ प्रस्तुत करते चलते थे। पाणिनि जैसे प्रकाण्ड पण्डित ने जिन नटसूत्रकारों का नामोल्लेख किया है वे साधारण कोटि के सूत्रकार नहीं रहे होंगे और हो सकता है उनसे पहले और भी नटसूत्रकार हो चुके हों। 'मालविकाग्निमित्र' के आचार्य गणदास नाट्यशास्त्र की श्रेष्ठता से अभिभूत होकर गर्व के साथ कहते हैं—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं,
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते,
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्॥

—मालवि०, अं० १। ४॥

"मुनि-जन नाटक को देवताओं के लिए चाक्षुष यज्ञ मानते है, भगवान् रुद्र ने भगवती उमा से युक्त अपने शरीर को इसी की सिद्धि के लिए दो भागों में विभक्त कर दिया। इसमें तीनों गुणों से उत्पन्न ऐसे लोक-चरित प्रस्तुत किए जाते हैं, जिनसे नाना रसों की सृष्टि होती है और यह एकमात्र ऐसी रचना है जिसके द्वारा भिन्न-भिन्न रुचि के सभी लोगों का

---

१. "परिपार्श्वकः—मा तावत्। प्रथितयशसां भास-सौमिल्लक-कविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः।"

—मालवि०, प्र० अं०, प्रस्तावना

मनोरञ्जन होता है।" हमारे प्राच्य मनीषियों ने नाट्य साहित्य को पञ्चम वेद माना है।

अभिनय द्वारा विद्वान् से लेकर अशिक्षित तक सभी मुग्ध होते हैं, दिव्य आनन्द का अनुभव करते हैं; यही अन्य शास्त्रों से इस शास्त्र की विशेषता है। जन-साधारण को विशेष रूप से दृष्टि में रखकर इसकी रचना होती है, इसीलिए शान्त रस को नाटक में स्थान नहीं मिल सका। आचार्य भरतमुनि ने नाटक के रसों की गणना करते हुए कहा है—

> शृङ्गारहास्यकरुणा -- रौद्रवीरभयानकाः ।
> वीभत्साद्भुत-संज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥
> एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना ।
> × × ×
>
> —नाट्यशास्त्र, अध्या० ६, श्लो० १६, १७।

"शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, और अद्भुत ये आठ रस नाटक में माने गए हैं। महात्मा द्रुहिण ने इन आठ रसों को ही कहा है।"

श्रव्य काव्य में शान्त रस को भी स्थान दिया गया किन्तु नाटक में नहीं, इससे स्पष्ट है कि नाटक की रचना सामान्य गृहस्थ जनों को दृष्टि में रखकर हुई। भरतमुनि ने जिस द्रुहिण महात्मा का नाम आदरपूर्वक लिया है वे उनसे भी पूर्ववर्ती कोई नाट्याचार्य थे, यह भी पता चलता है। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' और 'नाटकान्तं कवित्वम्' आदि प्राचीन कथन नाटक की महनीयता को प्रकट करते हैं। नाटक का जन्म पहले-पहल लोक-जीवन के बीच हुआ। पर्व और उत्सवों पर साधारण जनता अभिनय का आयोजन करती थी और आज भी गाँवों में करती है। गीतियों और कहानियों की ही भाँति पण्डित-वर्ग ने इसे अपना लिया। राजाश्रित और मठाश्रित पण्डितों की बहुत-सी रचनाएँ तो सुरक्षित रह गईं; किन्तु लोक-कवियों की रचनाएँ स्थायी और सुरक्षित आश्रयाभाव में काल-कवलित हो गईं। नाटक, रूपक, रासक जो लोक-भाषा-बद्ध थे प्रायः सर्वांशतः नष्ट हो गए, किन्तु दो-चार कृतियाँ जो भाग्यवश हाथ आ सकी हैं उनसे लोकाराधक साहित्य के बाह्य और आभ्यन्तर महत्त्व का पता चलता है। संस्कृत नाटकों में प्राकृत और अपभ्रंश भाषा की उपलब्धि इस शास्त्र के लोक-सान्निध्य का प्रमाण है। संस्कृत के कतिपय

महाकवियों ने भी प्राकृत भाषा को संस्कृत भाषा से ऊँचा स्थान प्रदान किया है।[1] नाटकों में नारी-पात्रों द्वारा प्राकृत भाषा का प्रयोग आचार्य राजशेखर के इस कथन का प्रबल पोषक है कि प्राकृत में मृदुलता और संस्कृत में परुषता होती है।[2] हम यहाँ उन समर्थ नाटककारों की कृतियों से ऐसी गीतियों के उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं, जो प्राकृत भाषा में भी गीतियों की रचना में पूर्ण समर्थ थे।

'विक्रमोर्वशीय' से

संस्कृत नाटककारों में कालिदास ही ऐसे प्रथम कवि हैं, जिन्होंने नाटकों में प्राकृत के प्रति भी प्रगाढ़ आकर्षण दिखाया था। यों तो इनके तीनों नाटकों में प्राकृत का सुन्दर रूप मिलता है तथापि इनका 'विक्रमोर्वशीय' नाटक अत्यन्त प्राकृत-बहुल दिखाई पड़ता है। इसका चतुर्थ अङ्क तो प्राकृत-निबद्ध है ही, पूरा नाटक सट्टक के निकट जा पहुँचा है। चतुर्थ अंक की भाषा अपभ्रंश हो गई है, विशेषतः गीतियों की। सहजन्या नाम्नी-अप्सरा की गीतियाँ बड़ी ही मनोहर हैं। दो एक सुनिए—

चिंता दुम्मिअ माणसिआ सहअरिदंसण लालसिआ।
विअसिअ कमलमणोहरए विहरइ हंसी सरवरए॥
—विक्रमो०, अं० ४। ४।

"चिन्ता से व्याकुल चित्तवाली हंसी अपनी सखी से मिलने की उत्कण्ठा लिए खिले हुए कमलों से शोभित सरोवर में विहार कर रही है।"

सहअरिदुक्खालिद्धअं सरवरअम्मि सिणिद्धअं।
अविरलवाहजलोल्लअं तम्मइ हंसी जुअलअं॥
—वही, अं० ४। ३।

---

१. परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो।
पुरिस महिलाणँ जेत्तिअमिहंतरं तेत्तिअमिमाणं॥
—कर्पूरमंजरी, राजशेखर, १।८।

वाणीप्राकृतसमुचितरसा बलेनैव संस्कृतं नीता।
निम्नानुरूपनीरा कलिन्दकन्येव गगनतलम्॥
—आर्यासप्तशती, ग्रन्थारम्भव्रज्या, ५२।

२. परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो।
—कर्पूरमञ्जरी, प्र० जवनिकान्तर, ८।

"सरोवर में दो हंसिनियाँ अपनी प्रियसखी के दुःख से आहत होकर आँखों से प्रेम की अविरल अश्रु-धारा बहा रही हैं।"

राजा पुरूरवा की वियोग-गीतियाँ भी अत्यन्त मर्म्मभेदी और मधुर हैं। राजा से रुष्ट होकर उर्वशी उसके मनाने पर भी नहीं मानती और गन्धमादन पर्वत के उस वन में जा पहुँचती है, जिसमें जाने वाली स्त्री कार्तिकेय के नियमानुसार लता बन जाती थी। अतः वह भी लता बन गई और राजा उसे उन्मत्त होकर खोजता फिरता है। हरिण को सामने आता हुआ देखकर उससे कहता है—

सुर-सुन्दरि जहणभरालस पीणुत्तुंग घणत्थणी।
थिरजोव्वण तणुसरीरि हंस – गई॥
गअणुज्जल काणणेँ मिअलोअणि भमंती।
दिट्ठी पइँ तह विरह समुदंतरेँ उत्तारहि मइँ॥
—वही, अं० ४। ५९।

"मोटे, ऊँचे और परस्पर सटे हुए स्तनों वाली, कृशाङ्गी, स्थायी यौवन वाली, भारी नितम्ब-फलकों के भार से सालस हंस के समान मंद-मंद गतिवाली और मृगनयनी उस देवाङ्गना को यदि तुमने आकाश के समान उज्ज्वल इस वन में घूमती हुई देखा हो तो (उसका पता बताकर) मुझे इस विरह के समुद्र से पार लगा दो।"

मोरा परहुअ हंस रहंग अलि गअ पव्वअ सरिअ कुरंगम।
तुज्झह कारण रणभमंते को णहु पुच्छिअ मइँ रोअन्ते॥
—वही, अं० ४। ७२॥

"मोर, कोकिल, हंस, चकवा, भौंरा, हाथी, पर्वत, नदी, हरिण—ऐसी कौन-सी वस्तु वा कौन-सा जीव होगा, जिससे तुम्हारे कारण जंगल में भटकते रोते हुए मैंने न पूछा हो।"

विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस'—

कविगुरु कालिदास के अनन्तर दूसरे महान् नाटककार विशाखदत्त हमारे सम्मुख आते हैं। इनकी एकमात्र कृति 'मुद्राराक्षस' नाटक है, जो शुद्ध राजनीतिक है। इसमें भी कवि ने गद्य में प्राकृत का प्रयोग बड़ी सफलता से किया है, किन्तु इसका विषय कूट-राजनीति है और इसमें एक भी नारी पात्र

का समावेश कवि ने नहीं किया है। नाटक के अन्त में, सप्तम अङ्क में राक्षस के मित्र चन्दनदास की पत्नी साक्षिणी बनाकर मञ्च पर लाई जाती है अवश्य, किन्तु नाटककार ने उसके व्यक्तित्व को किसी प्रकार का प्रामुख्य नहीं दिया है। विदूषक को भी इसमें स्थान नहीं मिल सका। इस प्रकार इस नाटक में प्राकृत गीतियों के लिए अवकाश ही नहीं रह गया है। इस नाटक के रचना-काल के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय ने प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् डा० जायसवाल, टीकाकार ढुण्ढिराज आदि अनेक विद्वानों के विभिन्न मतों पर युक्तियुक्त विमर्श करके इसके रचना-काल की छठी शताब्दी ईस्वी के उत्तरार्द्ध में सम्भावना व्यक्त की है।[1]

शूद्रक का 'मृच्छकटिक'—

इसके पश्चात् महाकवि शूद्रक के देश और विदेश में प्रख्याति-प्राप्त महान् नाटक 'मृच्छकटिक' पर दृष्टि टिक जाती है। यह नाटक संस्कृत-साहित्य का अनुपम रत्न है। संस्कृत-साहित्य में यही एकमात्र ऐसा नाटक है, जिसमें पात्रों का चयन समाज के मध्यम और निम्न वर्ग से किया गया है और यह ठेठ सामाजिक नाटक है। सामाजिक नाटक के अनुकूल ही इसकी भाषा प्राकृत-बहुला है। पहले इसके रचना-कालपर विचार करके तदनन्तर हम इसकी भाषा और इसके स्वरूप पर विचार करेंगे।

'मृच्छकटिक' का रचना-काल

इस प्राकृत-प्रधान नाटक (प्रकरण) की रचना कब हुई, इस पर निश्चित रूप से विचार नहीं किया जा सका है, विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। आचार्य वामन ने, जिनका समय आठवीं शताब्दी माना जाता है, शूद्रक का उल्लेख किया है। श्लेष गुण के उदाहरण-स्वरूप अमरुशतक का एक छन्द देकर उन्होंने कहा है—

"शूद्रकादिरचितेषु प्रबन्धेष्वस्य भूयान्प्रपञ्चो दृश्यते।

—काव्या०सू०, अधि० ३, अध्या० २, सू०वृ० ४।

---

१. संस्कृत-साहित्य का इतिहास, परिवर्धित चतुर्थ संस्करण, पृ० सं० ४४८, ४४६।

मृच्छकटिक नाटक के एक वाक्य को भी 'विशेषोक्ति' अलङ्कार के उदाहरणस्वरूप दे दिया है—

"द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम् ।"[1]

आचार्य दण्डी ने 'शकार' से 'विट' की घने अन्धकार के प्रति उक्ति के एक अंश को काव्यादर्श में उत्प्रेक्षालङ्कार के उदाहरण में दिया है—

"लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुष - सेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥"
—मृच्छ०, अं० १, छं० सं० ३४ ।

आचार्य दण्डी का समय सातवीं शताब्दी ईस्वी है। देखा जाता है कि भास के नाटकों में यही श्लोक दो बार आया है।[2] प्रस्तुत प्रकरण पर महाकवि भास-रचित प्राकृत-भाषा-प्रधान नाटक 'चारुदत्त' का बड़ा प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसका जो अंश राजनीति से सम्बन्ध रखता है वह शूद्रक की प्रतिभा की उपज है। अतः यह निश्चित है कि यह नाटक भास के पश्चात् निर्मित हुआ। शूद्रक ने इस प्रकरण में ज्योतिष की एक बात कही है, अधिकरणिक निराश आर्य चारुदत्त की बात सुनकर कहता है—

अङ्गारक-विरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पतेः ।
ग्रहोऽयमपरः पार्श्वे धूमकेतुरिवोत्थितः ॥—अं० ९।३३ ।

"मङ्गल के विरोधी होने के कारण गुरु यों ही क्षीण था, अब यह धूमकेतु के समान दूसरा ग्रह पास ही उदित हो गया।" यहाँ 'मङ्गल' को 'गुरु' का विरोधी बताया गया है, जैसा कि प्रसिद्ध ज्योतिष-ग्रन्थ बृहज्जातक से पता चलता है—

जीवो जीवबुधौ सितेन्दुतनयौ व्यर्का विभौमा क्रमात् ।
वीन्द्वर्का विकुजेन्दवश्च सुहृदः केषांञ्चिदेवं मतम् ॥
—बृह०, २। १५ ।

"किसी-किसी का मत ऐसा है कि जीव और बुध, चन्द्रमा और बुध-—सूर्य और भौम से पृथक् रहने पर और चन्द्र से रहित सूर्य और भौम से रहित चन्द्र मित्र होते हैं।"

---

१. मृच्छकटिक, अं० २, दर्दुरक नामक पात्र का कथन ।

२. 'चारुदत्त' नाटक, अङ्क १।१९

ज्योतिष-शास्त्र के महान् पण्डित वराहमिहिर ने मङ्गल और गुरु को मित्र माना है और वराहमिहिर के अनन्तर उन्हीं का मत सर्वमान्य हो गया।[२] अतः यदि शूद्रक उनके पश्चात् हुए होते तो वे उन के मत की विरोधी बात कदापि न कहते। आचार्य वराहमिहिर का मृत्यु-काल ५८६ ई० है, अतः शूद्रक उनसे पूर्ववर्ती ठहरते हैं। इस प्रकार विचार करने पर शूद्रक का समय छठी शती ईस्वी से पहले प्रतीत होता है। किन्तु जब भास का समय महर्षि पाणिनि से भी पहले ठहरता है, और कालिदास से भी जब कोई संसर्ग कवि का दिखाई नहीं पड़ता तब यह कहना कठिन है कि शूद्रक के इस नाटक का वस्तुतः रचना-काल क्या है, किन्तु इतना तो निश्चित है कि यह नाटक छठी शती ईस्वी से पहले का है।

महाकवि शूद्रक का परिचय

प्रस्तुत नाटक के आमुख में कवि ने अपने को द्विजमुख्यतम (ब्राह्मण), मत्तगजगति, चकोर-नेत्र, पूर्णचन्द्र-मुख, सुन्दर शरीर वाला और अगाध-शक्तिमान् कहा है।[३] इससे यह स्पष्ट है, वह ब्राह्मण और वीर पुरुष था। आगे सूत्रधार नाटककार का पूर्ण परिचय प्रस्तुत करता हुआ कहता है—

ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां
ज्ञात्वा शर्वप्रसादाद्व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य।
राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा
लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिन-सहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः॥

—मृच्छ०, अं० १।५।

अर्थात् "शूद्रक ने ऋग्वेद, सामवेद, गणित (फलित ज्योतिष), वैशिकी कला (वेश्याओं की कला अथवा अग्निवेश राजा द्वारा रचित चौसठ कलाओं का प्रतिपादक प्रबन्ध, हस्तिविद्या का ज्ञान प्राप्त करके, भगवान् शिव की कृपा से अज्ञानशून्य एवं ज्ञान के प्रकाश से वलित आँखें पाकर, अपने पुत्र को सिंहासनासीन देखकर और अत्यन्त सात्त्विक रीति से अश्वमेध यज्ञ करके

---

२. ....जीवेन्दूष्णकराः कुजस्य सुहृदः।

—बृहज्जातक, २।१६।

३. द्विरदेन्द्रगतिश्चकोर-नेत्रः परिपूर्णेन्दुमुखः सुविग्रहश्च।
द्विजमुख्यतमः कविर्बभूव प्रथितः शूद्रक इत्यगाधसत्त्वः॥

—मृच्छ०, प्रस्ता० ३।

पूर्ण एक सौ वर्ष और दस दिन की आयु पूर्ण करने के अनन्तर अग्नि में प्रवेश किया।" पुनः सूत्रधार के मुख से कवि ने कहलाया है—

समरव्यसनी प्रमादशून्यः ककुदं वेदविदां तपोधनश्च।
परवारण - बाहुयुद्धलुब्धः क्षितिपालः शूद्रको बभूव॥
—वही, १।६।

"शूद्रक समर-व्यसनी, प्रमाद-रहित, वेदज्ञों में श्रेष्ठ, तपस्वी और शत्रु रूपी हाथी से द्वन्द्व युद्ध के लिए सदैव उत्सुक रहने वाला हुआ।"

उपर्युक्त दोनों ही परिचयात्मक श्लोकों में आई हुई 'प्रविष्टः' और 'बभूव' क्रियाएँ भूतकालिक हैं। इन श्लोकों को पाश्चात्य संस्कृत-विद्वान् कीथ ने इसी आधार पर प्रक्षिप्त माना है कि लेखक अपने आप अपने लिए भूतकालिक क्रिया का प्रयोग क्यों करेगा? और दूसरी सन्देहास्पद बात यह है कि वह जीवित रहते ही अपने अग्नि-प्रवेश का उल्लेख कैसे कर सकता था? तीसरी उनकी शङ्का यह है कि 'द्विजमुख्यतम' व्यक्ति का नाम शूद्रक नहीं हो सकता। इन सब तर्कों से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि किसी अन्य कवि ने भास के 'चारुदत्त' नाटक को देखकर इसकी रचना की और रचयिता के स्थान पर शूद्रक का नाम दे दिया।[1]

प्राच्य विचार यह कहता है कि ये श्लोक सूत्रधार के कहने के लिए बनाए गए हैं, अतः भूतकालिक क्रिया द्वारा किसी प्रकार की शंका के लिए अवकाश नहीं है। दूसरी शङ्का का समाधान यह है कि कवि अपने को गणित अर्थात् फलित ज्योतिष का पारङ्गत विद्वान् कहता है, अतः उसने अपनी पूर्णायु का पता तथा मृत्यु का विधान जातकादि गणित द्वारा पहले ही से जान लिया था। 'सर्वस्वार' नामक यज्ञ जीवन के अन्त में किया जाता था तथा यज्ञ करने वाला यज्ञान्त में अग्नि-प्रवेश करता था। शूद्रक ने भी अन्त में सर्वस्वार यज्ञ किया था। हो सकता है, उसने इस यज्ञ का निश्चय पहले ही कर लिया हो और उसका उल्लेख अपनी कृति में पहले ही कर दिया हो। नाम की शङ्का कोई महत्त्व नहीं रखती। 'मुद्राराक्षस' नाटक में ब्राह्मण का ही नाम 'राक्षस' मिलता है, पुत्र की लम्बी आयु की कामना से लोग उपेक्षापरक नाम रख दिया करते हैं, अथवा अन्य विविध कारणों को दृष्टि में रखकर भी

१. देखिए, डॉ० कीथ-रचित 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत ड्रामा।'

नामकरण होता रहा है और होता है, अतः ब्राह्मण का शूद्रक नाम अमान्य नहीं कहा जा सकता।

संस्कृत-साहित्य में शूद्रक नामक व्यक्ति का उल्लेख अनेक महान् ग्रन्थों में मिलता है। कादम्बरी में शूद्रक नामा व्यक्ति विदिशा का राजा कहा गया है।[1] कवि सोमदेव-रचित 'कथासरित्सागर' में उसे शोभावती का राजा[2] और जम्भलदत्त ने उसे वर्धमान का राजा कहा है।[3] महाकवि कल्हण ने उसे दृढ़ निश्चयवाला श्रेष्ठ राजा कहा[4] और बाण ने उसे 'चकोर' के राजा चन्द्रकेतु का शत्रु कहा है।[5] रामिल और सोमिल दो कवियों द्वारा विरचित 'शूद्रक-चरित' के होने की बात भी कही जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकवि शूद्रक अपने समय का एक महान् सम्राट् था, जिसकी यशोगाथा शताब्दियों जनता में चलती रही। वह परम शैव था, जैसा कि इस नाटक के मङ्गलाचरण से स्पष्ट है, जिसमें वह कहता है—

"शम्भोर्वः पातु शून्येक्षणघटितलयब्रह्मलग्नः समाधिः।

—मृच्छ०, मंगलाचरण १।

शिव जी की ब्रह्म में लग्न समाधि आप लोगों का रक्षण करे। यह मंगलाचरण सूत्रधार द्वारा उपन्यस्त शूद्रक की इस परिचिति को कवि-भणिति होना सिद्ध करता है—

"शर्वप्रसादाद्व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य।"

मृच्छकटिक का भाषाविषयक वैशिष्ट्य

संस्कृत-साहित्य में इस नाटक के समान ऐसी एक भी नाटक-कृति देखने में अब तक नहीं आ सकी है, जिसमें प्राकृत भाषा का इस प्रकार प्राचुर्य वा आधिपत्य मिले। दस अङ्कोंवाले इस प्रकरण में केवल चारुदत्त,

---

१. असोदशेषनरपतिशिरःसमभ्यर्चितशासनः .... शूद्रको नाम।
तस्य राज्ञः ....विदिशाभिधानानगरी राजधान्यासीत्॥

—काद०, पूर्वभाग का प्रारम्भ।

२. कथासरित्सागर, खण्ड १२, अध्याय ११।

३. वेतालपंचविंशति।

४. राजतरङ्गिणी, तरङ्ग ३।३४३।

५. हर्षचरित, उच्छ्वास ३।

विट, शर्विलक, आर्यक और अधिकरणिक ये पाँच पात्र ही संस्कृत बोलते हैं, शेष सभी प्राकृत में बातें करते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि के जीवन-काल में प्राकृत ही प्रकृति (जनसाधारण) की भाषा थी और इस सामाजिक प्रकरण की रचना कवि ने लोक-हित की दृष्टि से प्राकृत में ही की। उस समय व्यवहार में आनेवाली प्रायः सभी प्राकृत भाषाएँ कवि ने साधिकार अपनाई हैं। इसके टीकाकार प्रसिद्ध विद्वान् पृथ्वीधर ने प्रारम्भ में ही उन सभी भाषाओं को पात्रानुसार सलक्षण बताया है। उनके कथनानुसार महाराष्ट्री प्राकृत काव्य में ही प्रयुक्त होती है। नाटक में शबर पात्र एक भी नहीं आया है, इसीलिए इसमें शाबरी नहीं है। सूत्रधार, नटी, रदनिका, मदनिका, वसन्तसेना, नायिका की वृद्धा माता, चेटी, कर्णपूरक, धूता, शोधनक, सेठ इन सब ग्यारह पात्रों की भाषा शौरसेनी है; वीरक और चन्दनक आवन्ती बोलते हैं; विदूषक प्राच्या में बातें करता है; संवाहक तथा शकार-वसन्तसेना-चारुदत्त के तीनों चेटक, भिक्षु और चारुदत्त का पुत्र ये मागधी कहते हैं; शकार की भाषा शकारी है; दोनों चाण्डाल चाण्डाली भाषा बोलते हैं और माथुर और द्यूतकर की भाषा ढक्की है। शौरसेनी, आवन्ती और प्राच्या में दन्त्य सकार की बहुलता होती है। इनमें आवन्ती रेफयुक्त तथा लोकोक्ति-बहुल होती है। प्राच्या में स्वार्थिक ककार अधिकता से प्रयुक्त होता है। मागधी में तालव्य शकार की प्रधानता होती हैं। शकारी और चाण्डाली में तालव्य शकार का आधिक्य तथा रेफ का 'ल' रूप पाया जाता है। ढक्की में वकार का ही प्राधान्य है, जब यह संस्कृतप्राय होती है तब 'स' और 'श' दोनों ही पाए जाते हैं।[१]

कवीन्द्र मार्कण्डेय ने अपने 'प्राकृतसर्वस्व' नामक व्याकरण ग्रन्थ में 'प्राच्या' और 'आवन्ती' का लक्षण पृथ्वीधर से भिन्न दिया है। उनका कहना है कि प्राच्या शौरसेनी की प्रकृति से मिलती-जुलती है और आवन्ती महाराष्ट्री और शौरसेनी के मेलजोल से बनी भाषा है।[२] मार्कण्डेय के नियमों से ही इस नाटक की भाषा भी ठीक मेल रखती है।

'मृच्छकटिक' में गीतियों का प्रयोग

'नाटक' से 'प्रकरण' में आभ्यन्तर अन्तर विशेष होता है। नाटक में

१. देखिए, पृथ्वीधरकृत 'मृच्छकटिक' की टीका का भूमिका-भाग।

२. प्राकृतसर्वस्व, २।

कथावस्तु प्रख्यात ऐतिहासिक वा पौराणिक होनी चाहिए और तदनुसार नायक उच्चकुलसम्भृत (राजर्षिवंश का) और प्रख्यातोदात्त होना चाहिए जैसा कि नाट्याचार्य भरतमुनि का कहना है—

प्रख्यातवस्तुविषये प्रख्यातोदात्तनायकञ्चैव ।
राजर्षिवंश - चरितं तथैव दिव्याश्रयोपेतम् ॥
नाना विभूति-संयुतमृद्धिविलासादिभिर्गुणैश्चैव ।
अङ्कप्रवेशकाद्यं भवति हि तन्नाटकं नाम ॥
नृपतीनां यच्चरितं नानारसभाव-सम्भृतं बहुधा ।
सुख दुःखोत्पत्तिकृतं भवति हि तन्नाटकं नाम ॥
—ना० शा०, अध्या० १८। १०–१२।

किन्तु प्रकरण के लिए इतने बन्धन नहीं हैं, प्रकरण में सामान्य लोक-चरित के चित्रण का विधान किया गया है। अतः किसी युगविशेष वा कालविशेष के समाज का यथार्थ चित्र इसी के फलक पर उतर पाता है। जहाँ नाटक केवल राजा और राज-समाज के वैभव, समृद्धि, विलास और राजनीति के घेरे में ही रुँधा रह जाता है, वहाँ प्रकरण जन-साधारण के बीच उतरकर उसके हर्ष-शोक, सुख-दुःख, गुण-अवगुण, प्रेम-ईर्ष्या, राग-रोष, उत्थान-पतन आदि का निर्बन्ध भाव से यथार्थ चित्र उतारता है। प्रकरण का परिचय इस प्रकार दिया गया है—

यन्नाटके मयोक्तं वस्तु - शरीरञ्च वृत्तिभेदाश्च ।
तत्प्रकरणेऽपि कार्यं केवलमुत्पाद्यवस्तु स्यात् ॥
विप्रवणिक्सचिवानां पुरोहितामात्य - सार्थवाहानाम् ।
चरितं यत्रैकविधं ज्ञेयं तत्प्रकरणं नाम ।
नोदात्तनायककृतं न दिव्यचरितं न राजसम्भोगः ।
बाह्यजनसम्प्रयुक्तं ज्ञेयं तत्प्रकरणं नाम ॥
दासविटश्रेष्ठियुक्तं वेशस्त्र्युपचार-करणोपेतम् ।
मन्द-कुलस्त्रीचरितं काव्यं कार्यं प्रयोगे तु ॥
सचिवश्रेष्ठिब्राह्मणपुरोहितामात्य - सार्थवाहानाम् ।
गृहवार्ता यत्र भवेन्न तत्र वेश्यांगना कार्या ॥
× × ×
यदि वा प्रकरणयुक्त्या वेशकुलस्त्री कृतोपचारं स्यात् ।
अविकृतभाषाचारं तत्र तु पाठ्यं प्रयोक्तव्यम् ॥
—ना० शा०, अध्याय १८।९८-१०२, १०४।

अर्थात् जिस प्रकार मैंने नाटक के परिचय में वस्तु-शरीर और वृत्ति-भेद कहे हैं वे ही सब प्रकरण में भी होते हैं, केवल वस्तु इसमें उत्पाद्य वा काल्पनिक होती है। विप्र, वणिक्, सचिव, पुरोहित, अमात्य और सार्थवाह के चरित जहाँ एक-से हों वहाँ प्रकरण होता है। इसमें न तो उदात्त नायक की अनिवार्यता होती है, न दिव्य चरित की और न ही राजसम्भोग की, इसमें सभी बाहरी लोग गृहीत होते हैं। दास, विट, श्रेष्ठी, वेश्या और नीच कुल की स्त्री के चरित उपन्यस्त होते हैं। सचिव, सेठ, ब्राह्मण, अमात्य आदि की जहाँ पारिवारिक चर्चा दृश्य काव्य में लाई जाय वहाँ नायिका वेश्या नहीं होनी चाहिए। यदि प्रकरणानुसार वेश्या और कुलीना दोनों प्रकार की स्त्रियाँ लाई जायँ तो भाषा को स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त करना चाहिए।

आचार्य धनञ्जय ने प्रकरण के स्वरूप को और भी स्पष्ट करते हुए कहा है--

अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम्।
अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम्॥
धीरप्रशान्तं सायासं धर्मकामार्थतत्परम्।
शेषं नाटकवत्सन्धिप्रवेशकरसादिकम्॥
नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा।
क्वचिदेकैवकुलजा वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित्॥

—द० रू०, प्रका० ३।३९-४१।

अर्थात् प्रकरण में इतिवृत्त कवि-कल्पित होता है और वह लोक-जीवन से गृहीत होता है। अमात्य, ब्राह्मण और वणिक् इनमें से कोई एक नायक होता है और वह धीरशान्त, उद्योगी, धर्म-अर्थ तथा काम की सिद्धि में तत्पर रहता है। शेष सन्धियाँ, प्रवेशक, रस आदि की योजना नाटक के ही समान होती है। इसमें नेता की नायिकाएँ कुलस्त्री और वेश्या दोनों ही होती हैं, कहीं केवल कुलस्त्री, कहीं गणिका और किसी-किसी में दोनों ही नायिकाएँ होती हैं।

प्रकरण में वृत्त के लोकाश्रयी होने के कारण रूपक का यह प्रकार शुद्ध सामाजिक होता है। मृच्छकटिक में नायिकाएँ दोनों ही प्रकार की हैं, इसलिए इसमें समाज के अनेक स्तर उपस्थित करने का पर्याप्त अवकाश कवि को मिल सका है। राजनीति का भी समावेश कर देने के कारण राजपुरुषों के अनाचार और भ्रष्टाचार को भी कवि सामने ला सका है और जिस शासन में

राजपुरुष दुराचारी एवं स्वेच्छाचारी हो जाते हैं, उसका पतन भी अवश्यभावी है, इसे भी उसने बड़े कौशल से दिखाया है। प्रकरण की कथावस्तु का क्षेत्र जन-समाज होने के कारण इसमें लोक-गीतियों का सुन्दर समावेश हो सका है। गीतियों के उत्तरोत्तर विकास में प्रकरणों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। जनता के हृदय की सच्ची भावनाओं को गीतियाँ दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकरण की कतिपय भावपूर्ण गीतियाँ हम यहाँ दे रहे हैं।

पहले शकार नामक राजा के साले की दो-एक हास्य रस की गीतियाँ सुनिए। अँधेरी रात में वह उज्जयिनी नगरी की प्रख्यात वेश्या वसन्तसेना को अकेली जाती हुई देख उसका पीछा करते हुए कहता है—

मम मअणमणङ्ग मम्मथं वड्ढअन्ती
णिशि अ शअणके मे णिद्दअं आक्खिवन्ती।
पशलशि भअभीदा पक्खलन्ती खलन्ती
मम वशमणुजादा लावणश्शेव कुन्ती॥

—मृच्छ०, अं० १।२१।

"मेरे मदन, अनङ्ग और मन्मथ को बढ़ाने वाली, रात में शय्या से मेरी नींद को फेंक देने वाली, वह गिरती-पड़ती भाग रही है किन्तु अब वह उसी प्रकार मेरे वश में आ गई है जिस प्रकार रावण के वश में कुन्ती आगई थी।" फिर उसे न पाकर वह कहता है—

एशा णाणा कमूशिकामकशिका मच्छाशिका लाशिका
णिण्णाशा कुलणाशिका अवशिका कामस्स मञ्जूशिका।
एशा वेशवहू सुवेशणिलआ वेशङ्गणा वेशिआ
एशे शे दश णामके मइ कले अज्जावि णं णेच्छदि॥

—मृच्छ०, अं० १।२३।

"सिक्के छीनने वालों के लिए चाबुक, मछली खाने वाली, नाचने वाली, नकटी, कुलनाशिनी, स्वेच्छाचारिणी, कामपिटारी, वेशस्त्री, सुवेशवाली, वेशाङ्गना और वेशिका ये दश नाम मैंने इसके रख दिए; तिस पर भी यह मुझे नहीं चाहती।"

झाणज्झणन्त बहु भूशण शद्दमिश्शं
किं दोवदी विअ पलायशि लामभीदा।

एशे हलामि शहशत्ति जधा हणूमे
विश्शावशुश्श बहिणिं विअ तं शुभद्दम् ॥
—मृच्छ०, अं० १।२५ ।

"राम से डरी हुई द्रौपदी के समान भूषणों की झङ्कार उठाती हुई भागती क्यों हो ? मैं अब तुम्हें सहसा उसी प्रकार हर लूँगा जिस प्रकार हनूमान् ने विश्वावसु की बहन सुभद्रा का हरण किया था ।"

शकार की भाषा शकारी प्राकृत है । मागधी में शकार और ककार के बाहुल्य से यह भाषा बन जाती है ।

शकार की सभी बातें मूर्खता से भरी हुई और श्रोताओं को हँसाने वाली हैं । जिस प्रकार चमारों, धोबियों, कहारों आदि निम्नश्रेणी के नाच में एक 'लबाड़िया' [1] होता है और वह चुन-चुनकर ऐसी बातें विचित्र उच्चारण के साथ करता है कि श्रोता हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं, शकार ठीक लोक-नृत्य के उसी पात्र का प्रतिनिधि बन गया है । भाषा की विचित्रता के साथ-साथ बातों का ऊटपटांगपन हँसी से भरा हुआ है । ऐसी गीतियों का एक निजी महत्त्व है । यह लोकगीतियों की मूल्यवान् सम्पत्ति है ।

कतिपय प्रकृतिपरक गीतियाँ हम यहाँ देते हैं--

एसो असोकवुच्छो णवणिग्गमकुसुमपल्लवो भादि ।
सुभडो व्व समरमज्झे घणलोहितपंकचच्चिक्को ॥
—मृच्छ०, अं० ४।३१।

"यह अशोक वृक्ष नए फूलों और पल्लवों से इस प्रकार शोभित हो रहा है जिस प्रकार युद्ध-क्षेत्र के बीच रक्त की कीचड़ से लिपटा हुआ वीर हो ।"

जधा जधा वश्शदि अब्भखण्डे तधा तधा तिम्मदि पुट्ठिचम्मे ।
जधा जधा लग्गदि शीदवादे तधा तधा वेवदि से हलक्के ॥
— मृच्छ०, अं० ५।१० ।

"जैसे-जैसे बादल बरस रहे हैं वैसे-वैसे पीठ का चमड़ा भींग रहा है और ज्यों-ज्यों ठंढी हवा लग रही है, त्यों-त्यों मेरा हृदय तक काँपे जा रहा है ।"

---

१. यह ग्राम-नृत्य का विदूषक (Joker) होता है, नाच में हँसाना इसका काम होता है । यह शब्द भोजपुरी बोली का है ।—लेखक

विभिन्न विषयों के अनुकूल अन्य प्रकार की मनोरम गीतियाँ भी इस प्रकरण में बहुत हैं। एक भिक्षु की दो-तीन गीतियाँ पढ़िए—

शंजस्मध णिअपोटं णिच्चं जग्गेध झाणपटहेण।
विशमा इन्दिअचोला हलन्ति चिलशंचिदं धम्मम्॥
पचज्जण जेण मालिदा इत्थिअ मालिअ गाम लक्खिदे।
अबल क चण्डाल मालिदे अवसं वि शे णल शग्ग गाहदि॥
शिल मुण्डिद तुण्ड मुण्डिदे चित्त ण मुण्डिद कीश मुण्डिदे।
जाह उण अ चित्त मुण्डिदे शाहु शुट्ठु शिल ताह मुण्डिदे।[1]

—मृच्छ० अं० ८।१,२,३।

"अपने उदर का संयम करो, ध्यान के पटह द्वारा नित्य जागते रहो, इन्द्रिय रूपी चोर बड़े अटपटे होते हैं और ये चिरसञ्चित धर्म को हर ले जाते हैं।

"जिसने पाँचों इन्द्रियों को मार दिया (वशीभूत कर लिया), अविद्या को मारकर शरीर की रक्षा की, फिर उसके लिए दुर्बल चाण्डाल रूपी अहंकार को मारना क्या कठिन है और अहंकार का नाश कर लेने पर वह स्वर्ग सरलता के साथ प्राप्त कर लेता है।

"सिर मुड़ाया, मुँह मुड़ाया, किन्तु यदि चित्त को नहीं मुड़ाया तो उसका (बाहरी) मुड़ाना व्यर्थ है। और जिस पुरुष का चित्त (निर्मल, दुराचारहीन) हो गया, समझ लो कि उसका सिर भी मुड़ा ही हुआ है।" कितना ऊँचा आदर्श है, कर्तव्य कर्म की ओर आकृष्ट करने का मनोज्ञ सन्देश। बाद में तो ये बातें लोकोक्ति के रूप में गृहीत हो गई थीं। कबीर आदि निर्गुणिया सन्तों को ऐसी बातें दुहराने में गर्व का अनुभव होता था।

शकार वसन्तसेना का वध करना चाहता है, यह देखकर विट क्रुद्ध हो जाता है और उसका गला पकड़कर दबाता है। शकार गिर पड़ता है और होश में आने पर कहता है—

शव्वकालं मए पुश्टे मंशेण अ घिएण अ।
अज्ज कज्जे शमुप्पण्णे जादे मे वैलिए कधम्॥

—वही, अं० ८।२८।

---

१. मिलाइए कबीर का यह दोहा—
'मूड़ मुड़ाए हरि मिलैं......आदि।—कबीर

"सर्वदा मैंने मांस और घी खिलाकर बलवान् बनाया और आज जब मेरा काम आ पड़ा तो यह मेरा ही वैरी कैसे हो गया ?"[1]

शकार के पूछने पर वसन्तसेना दरिद्र चारुदत्त के प्रति अपनी सत्यनिष्ठा और दृढ़ प्रेम का आख्यान करती है, और धन-सम्पन्न शकार के प्रति अपनी घृणा का सहज भाव से प्रकाशन करती है। उसका गद्यबद्ध वाक्य भी काव्य हो गया है—

"अवि अ। सहआर पादवं सेविअ ण पलासपादवं अङ्गीकरिस्सम्।"

(और भी, आम्र-तरु की सेवा करके अब मैं पलाशपादप को स्वीकार नहीं करूँगी।) शकार यह सुनकर कहता है—

'दाशीए धीए, दलिद्दचालुदत्तके शहआल पादवे कडे, हग्गे उण पलाशे भणिदे, किंशुक वि ण कडे। एव्वं तुमं मे गालिं देन्ती अज्जवि तं ज्जेव चालुदत्तकं शुमलेशि।"[2] —मृ॰ क॰, अं॰ ८।

(दासी की बेटी ! उस दरिद्र चारुदत्त को आम का तरुवर बना दिया और फिर मुझे पलाश का पेड़ कह डाला, किंशुक तक नहीं बनाया ! अब भी तू मुझे गाली सुना-सुना कर उस चारुदत्त को ही याद कर रही है।)

प्राकृत की एक गीति और देकर मैं मृच्छकटिक की चर्चा से आगे बढ़ता हूँ। चारुदत्त को प्राणदण्ड मिलता है, दो चाण्डाल उन्हें वध-स्थान पर ले जाते हैं। वे आर्य के गुणों से पूर्ण परिचित हैं और लोगों से कह रहे हैं—

किं पेक्खध छिज्जंतं शप्पुलिशं कालपलशु धालाहिं।
शुअण शउणाधिवाशं शज्जणपुलिशद्दुमं एदम्॥
—वही, अं॰ १०।४।

---

१. मिलाइए,—

जिअसि सदा सठ मोर जिआवा। रिपु कर पच्छ सदा तोहि भावा।
—रा॰ च॰ मा॰, लं॰ कां॰।

२. मिलाइए,

सुनु रावन खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करइ विकासा॥
आपहिं सुनि खद्योत सम, रामहिं भानु समान।
परुष बचन कहि काढ़ि असि, बोला अति खिसिआन॥
—वही, सुं॰का॰।

"इस सज्जन पुरुष रूपी वृक्ष को, जो सुजन रूपी पक्षियों का आश्रय रहा है, काल की परशु-धार से कटते हुए क्यों देख रहे हो ?"

कितनी भावपूर्ण, काव्यगुणमयी और मार्मिक गीति है, सहृदय पाठक स्वयं देखें और अनुभव करें।

'नागानन्द' की प्राकृत गीतियाँ

महाराज हर्षवर्धन संस्कृत-साहित्य के महान् नाटककारों में से हैं। उनका जीवन-वृत्त अन्य सैकड़ों कवियों की भाँति अविदित नहीं है। महाकवि बाणभट्ट उनकी राज-सभा का महत्त्व बढ़ाते थे, उन्होंने 'हर्षचरित' नामक ग्रन्थ में इनका जीवन-वृत्त दिया है। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनत्सांग के यात्रा-विवरण में भी उनका वृत्त मिलता है। उन्होंने सन् ६०६ से ६४७ ई० तक शासन किया। विद्वानों और कवियों के महान् आश्रयदाता होने के साथ वे स्वयं भी महान् कवि थे। उनके रचित तीन दृश्य काव्य उपलब्ध हैं, प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द। यद्यपि मृच्छकटिक के समान इनके ग्रन्थों में प्राकृत का साम्राज्य नहीं है, तथापि अन्य संस्कृत-नाटककारों की भाँति इनके भी सामान्य पात्र प्राकृत का ही आश्रय लेते दिखाई पड़ते हैं। इस नाटक में प्राकृत-बद्ध तीन गाथाएँ मिलती हैं।

मलयवती का विवाह जीमूतवाहन से हो जाने के पश्चात् मदिरा पीकर उन्मत्त विट[1] और चेट[2] साथ-साथ आते हैं, विट कहता है—

णिच्चं जो पिबइ सुरं जणस्स पिअ संगमअ जो कुणइ।
अध दे दो अवि देआ बलदेओ कामदेओ अ॥
बच्छत्थलम्मि दइआ णीलुप्पलवासिआ मुहे मइरा।
सीसम्मि अ सेहरओ णिच्चं विअ चेड़िआ जस्स॥

—नागा०, अं० ३।१,२।

अर्थात्, जो नित्य मदिरा का पान करते हैं और जो जन से उसके प्रिय का संम्मिलन कराते हैं, वे बलदेव और कामदेव दोनों ही देवता हैं। अतः

१. सम्भोगहीन-सम्पद् विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः।
वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठचाम्॥
—सा० द०, परि० ३।४१।

२. कलहप्रियो बहुकथो विरूपो गन्धसेवकः।
मान्यामान्यविशेषज्ञश्चेटोऽप्येवंविधः स्मृतः॥ ना० शा०, अध्या० ३५।५८।

यह शेखरक (विट स्वयं), जिसके हृदय में नित्य प्रियतमा और मुख में नित्य दासी के समान नीलकमल से सुवासित मदिरा दोनों ही निवास करती हैं, सबका शिरोमणि है।

यह विट की कितनी सुन्दर उक्ति है, काव्यलिङ्ग[1] अलङ्कार ने इस उक्ति का चमत्कार विशेष बढ़ा दिया है। आगे चलकर नशे के झोंक में वह विदूषक को देखता है, जो भौंरों के भय से मलयवती द्वारा प्रदत्त दो लाल और बारीक उत्तरीयक वस्त्रों से अपना मुँह ढककर कुसुमाकरोद्यान जा रहा है। उसे वह नवमालिका नाम की चेटी समझ बैठता है और उसे मनाने लगता है। मनाते हुए वह कहता है—

हरिहरपिदामहाणं वि गव्विदो जो ण जाणइ णमिदुं।
सो सेहरओ चलणेसु तुज्झ णोमालिए! पड़इ॥

"जो शेखरक इतना अभिमानी है कि विष्णु, शिव और ब्रह्मा के आगे भी झुकना नहीं जानता वही, हे नवमालिका! तुम्हारे चरणों में पड़ा हुआ है।" अर्थात् मैं तुझे उपर्युक्त त्रिदेवों से भी महामहिमाशालिनी समझता हूँ। इस गाथा में प्रेम की महत्ता की अभिव्यक्ति कितने सुन्दर ढंग से हुई है। व्यतिरेक[2] अलंकार अपनी प्रभा अलग विकीर्ण करता है।

इन महाराष्ट्री के गीतों का माधुर्य्य अपनी अलग विशेषता, माधुर्य और लावण्य रखता है। कथन सीधे-सादे हैं किन्तु उनकी व्यञ्जनाएँ अत्यन्त मर्मस्पर्शिनी है। नाटककार हर्षवर्धन ने प्राकृत गीतों की रचना की ओर विशेष रुचि नहीं दिखाई। हाँ, प्राकृत गद्य का प्रयोग अवश्य बहुलता से उनके नाटकों में उपलब्ध है और वह अन्य नाटकों की ही भाँति शौरसेनी प्राकृत है।

'वेणीसंहार' की प्राकृत-गीतियाँ

महाकवि भट्टनारायण के विषय में परिचय प्रस्तुत करनेवाला कोई प्रामाणिक उल्लेख कहीं अद्यावधि नहीं मिल सका है। इनका काल-निर्णय भी पूर्णतः अनुमान पर ही आधारित है। कहते हैं कि गौड़ देश के राजा आदि-

---

१. हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्॥
—सा० द०, परि० १०।६१ का उत्तरार्ध।

२. उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः॥ — का० प्र०, सू० १५६।

शूर ने अपने देश में वैदिक धर्म का अपकर्ष देखकर कान्यकुब्ज से पाँच ब्राह्मण-परिवारों को निमन्त्रित किया था, जिनमें भट्टनारायण भी एक थे। आज भी श्रेष्ठ बंगाली ब्राह्मण उन्हीं लोगों के वंशज कहे जाते हैं। आदिशूर का समय सप्तम शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है, अतः वही समय भट्टनारायण का भी मानना पड़ेगा। आचार्य आनन्दवर्धन ने इनके 'वेणीसंहार' का एक छन्द 'गुणीभूत व्यंग्य का ध्वनि के साथ सङ्कर' दिखाने के लिए उद्धृत किया है।[२] आचार्य वामन ने व्याकरण-विमर्श के प्रसंग में 'वेणीसंहार' के एक अनुष्टुप् का एक चरण उद्धृत किया है।[२] इन प्रमाणों द्वारा ये आनन्दवर्धन (नवीं शती ईस्वी) और वामन (आठवीं शती ईस्वी) के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। इनकी एक मात्र कृति यही नाटक मिलता है। इस नाटक में भी कवि ने अपना कोई परिचय नहीं दिया है, सूत्रधार केवल इतना ही परिचय प्रस्तुत करता है—

"तदिदं कवेर्मृगराजलक्ष्मणो भट्टनारायणस्य
कृतिं वेणीसंहारं नाम नाटकं प्रयोक्तुमुद्यता वयम् ॥

—वे०सं०, प्रस्तावना।

इस कथन द्वारा इतना ही पता चलता है कि कवि की उपाधि 'मृगराज' थी। जो हो, कवि का यह नाटक संस्कृत साहित्य का एक उत्कृष्ट नाटक है। इस नाटक में संस्कृत का ही साम्राज्य है, प्राकृत का व्यवहार बहुत कम हुआ

---

१. कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी,
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः।
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रं
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥

—वे० सं०, अं० ५।५६।

—ध्वन्यालोक के, तृतीय उद्योत, ४४वीं कारिका की व्याख्या में उद्धृत।

२. वे० सं० के तृतीय अङ्क के ४१वें छन्द का अन्तिम चरण 'पतितं वेत्स्यसि क्षितौ।'

—'वेत्स्यसीति पदभङ्गात्' ॥ काव्या०सू०, अधि० ५, अध्या० २, सू० ८०की व्याख्या—

—"पतितं वेत्स्यसि क्षितौ' इत्यत्र वेत्स्यसीति न सिद्धयति इट् प्रसङ्गात्। आह—पदभङ्गात्।—वही

है। अतः संस्कृत-गीतियों के प्रसङ्ग में इसकी गीतियों का उल्लेख आगे चलकर किया जायगा। प्राकृतगीतियाँ इसमें नहीं के बराबर हैं, केवल तृतीय अङ्क में राक्षस और राक्षसी परस्पर बातचीत में हर्ष से भरकर दो-एक गीति गा उठे है, क्योंकि भयानक युद्ध के परिणामस्वरूप उन्हें बहुत दिनों तक ताजा मांस खाने को मिल सकेगा। राक्षसी कहती है—

हदमाणुशमंशमालए कुम्भशहश्शवशाहिं शंचिए।
अणिशं अ पिवामि शोणिअं वलिशशदं शमले हुवीअदु॥

—वे० सं०, अं० ३।८।

अर्थात् मरे हुए मनुष्यों के मांस एकत्र हो जाने पर और सहस्रों गज-कुम्भों की वसा के संचित होने पर मैं दिन-रात रक्त-पान करूँगी, अतः यह युद्ध सैकड़ों वर्षों तक चलता रहे।

राक्षस कहता है—

पच्चग्गहदाणं मंशए जइ उण्हे लुहिले अ लब्भइ।
ता एशे मह पलिश्शमे क्खणमेत्तं एव्व लहु णश्शइ॥
लुहिलाशव पाणपत्तिए लणहिण्डन्त खलन्त गत्तिए।
शद्दाअशि कीश मं पिए पुलिशशहश्शं हदं शुणीअदि॥

—वे०सं०, अं० ३।२,३।

"यदि मैं तुरत मरे हुए मनुष्यों का मांस और ताजा खून पा जाऊँ तो मेरा सारा परिश्रम क्षणमात्र में चटपट नष्ट हो जाय।"

"प्रिये वसागन्धा, रक्त और मदिरा पीकर मत्त बनी रण में लड़खड़ाती घूमने वाली, भला मुझे पुकारने की क्या जरूरत, सुना नहीं कि हजारों आदमी मारे गए हैं!"

महाकवि भवभूति—

महाकवि भवभूति को संस्कृत के नाटककारों में अत्यन्त ऊँचा स्थान प्राप्त है। इनके काव्य की प्रशंसा प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों और महाकवियों ने की है।[1] इन्हें मानव-समाज से लेकर प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र तक में रमने-

---

१. भवभूतेः सम्बन्धाद्भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृत-कारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥

—आ० स०, ग्रन्था० ३६।

बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

बालभारत, प्रस्ता० १२।

वाला हृदय प्राप्त था। ये वैदिक और लौकिक दोनों संस्कृत-वाङ्मयों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। अब तो ऐतिहासिकों की खोज यहाँ तक पहुँचने लगी है कि आचार्य सुरेश्वर, आचार्य उम्वेक, आचार्य मण्डन (आचार्य शङ्कर से शास्त्रार्थ करनेवाले) और विश्वरूप इन्हीं के भिन्न-भिन्न अभिधान हैं। इनमें व्युत्पत्ति और प्रतिभा दोनों का समान योग था, इसीलिए नाटक के क्षेत्र में ये कालिदास से होड़ लेते हैं और कुछ बातों में तो ये कालिदास से भी आगे हैं। किन्तु इस प्रतिभाशाली पण्डित कवि ने प्राकृत भाषा के प्रति विशेष रुचि नहीं दिखाई है; इन्होंने बहुत उच्च स्थान पर आसीन होकर कविता कही है, इसीलिए इनके समय में लोकमत इनके काव्य का समर्थक नहीं बन सका और ये गर्वोक्ति में ही अपने मन को भुलाते रहे।[1] संस्कृत भाषा-बद्ध इसकी गीतियों का सौन्दर्य इनकी गर्वोक्ति की यथार्थता का समर्थक है। आगे इनकी संस्कृत गीतियों का उल्लेख होगा।

'कर्पूरमंजरी' से

मातृराज अनङ्गहर्ष का एक ही नाटक 'तापसवत्सराज-चरित' है। इसका उल्लेख अनेक आचार्यों ने किया है, जिनका उल्लेख यथास्थान होगा। इसके अनन्तर महाकवि आचार्य राजशेखर एक ऐसे नाटककार मिलते हैं, जिनका संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था। प्राकृत पर इनके पूर्णाधिकार का प्रमाण 'कर्पूरमञ्जरी नामक सट्टक[2] है। 'सट्टक' का परिचय कवि ने प्रस्तावना में स्वयं देते हुए कहा है—

सो सट्टओ त्ति भण्णइ दूरं जो णाडिआएँ अणुहरइ।
किं उण पवेसविक्कंभकाइं केवलं ण दीसंति॥

—क० मं०, प्रस्ता० ६।

---

१. ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां,
जानन्ति ते किमपि ? तान्प्रति नैव यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥ —मा० मा०, प्रस्ता०।

२. सकंट्ट प्राकृताशेषपाठ्यं स्यादप्रवेशकम्।
न च विष्कम्भकोऽप्यत्र प्रचुरश्चाद्भुतो रसः॥
अङ्का जवनिकाख्याः स्युः स्यादन्नाटिका समम्।
—सा० द०, परि० ६।२७६-२७७।

"सट्टक वह है जो नाटिका का अनुहरण करता है और जिसमें केवल प्रवेशक और विष्कम्भक नहीं होते।"

सट्टक में अद्भुत रस का प्राधान्य होता है। 'कर्पूरमञ्जरी' अब तक के उपलब्ध सट्टकों में श्रेष्ठ है। यह अकेले ही अपना वैशिष्ट्य प्रकट करने के लिए समर्थ है। महाकवि की विदुषी पत्नी अवन्तिसुन्दरी की इच्छा से यह सट्टक खेला भी गया था, जैसा कि आरम्भ में पारिपार्श्वक कहता है—

चाहुआणकुलमोलिमालिआ राअसेहरकइंदगेहिणी।
भत्तुणो किइमवंतिसुन्दरी सा पउंजइउमेअमिच्छइ॥

—प्रस्ता० ११।

सट्टक होने के साथ ही साथ यह उत्तम गीतियों का एक सुन्दर संग्रह भी कहा जा सकता है। आरम्भ में राजा और महादेवी का वसन्त-वर्णन बड़ा ही मनोहर हुआ है। राजा कहता है—

बिम्बोट्ठे बहलं ण देंति मअणं णो गंधतेल्लाविला
वेणीओ विरअंति लेंति ण तहा अंगम्मि कुप्पासअं।
जं बाला मुहकुंकुमम्मि वि घणे वट्टंति ढिल्लाअरा
तं मण्णे सिसिरं विणिज्जिअ बला पत्तो वसंतूसवो॥

—क० मं०, अं० १।१३।

"युवतियाँ अपने बिम्बफल के सदृश लाल ओठों को राग-रञ्जित नहीं कर रही हैं, केश-पाश को सुगन्धित तेल से चुपड़ती नहीं हैं, चोली का पहनना उन्होंने छोड़ दिया है, मुहों पर कुंकुम का अतिरेक भी नहीं देखा जा रहा हैं। इन लक्षणों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि शिशिर को जीतकर वसन्त आगया है।"

देवी अवन्तिसुन्दरी भी वसन्त का वर्णन करती हुई कहती हैं—

छोल्लन्ति दंतरअणाइ गए तुसारे
ईसीस चंदणरसम्मि मणं कुणंति।
एण्हिं सुवंति घरमज्झिमसालिआसु
पाअंतपुंजिअपडं मिहुणाइ पेच्छ॥

—कर्पूर०, १४।

"शीत ऋतु के चले जाने पर दन्तरत्न चमकने लगे हैं। चन्दन के लेप की ओर कुछ-कुछ मन चलने लगा है। भीतरी घर को छोड़कर पति-पत्नी के

जोड़े दुवारे में पैर के निचले भाग को वस्त्र से ढककर (शीत बीत जाने के कारण पूरे शरीर को नहीं) अब सोने लगे हैं, देखिए न !"

प्रकृति-क्षेत्र में परिवर्तन होते ही मानव-समाज के रंग-ढंग में भी परिवर्तन हो गया। 'देवी' का गीत कहीं उत्तम बन पड़ा है, इसमें मानव-मन के आन्तरिक हर्ष का कवयित्री ने बड़े कौशल से उद्घाटन किया है। निरीक्षण भी बड़ा ही सूक्ष्म है, 'घरमज्भियसालिकासु सुवंति' अर्थात् भीतर के जिन घरों में शीत के भय से सोया करते थे, उन्हें छोड़कर 'घार के मँझली शाला में (दुआरे में) सोने लगे हैं और वस्त्र पूरे शरीर को नहीं ढक रहा है, पादान्त मात्र ही ढका है। कवयित्री ने और भी देखा, पति अकेला नहीं सो रहा है, बगल में उसकी प्रिया भी है, अर्थात् वसन्त ऋतु ही ऐसी है। कि पति और पत्नी दोनों को ही एकाकी शयन असह्य हो उठता है। कितनी सुन्दर ध्वनिपूर्ण गीति है !

ये दोनों इस प्रकार की गीतियाँ हैं जिनके द्वारा ऐसा प्रतीत होता है कि कवि की दृष्टि प्रकृति को खुली आँखों देखकर अब ऋतुओं का ज्ञान नहीं प्राप्त करती थी, अब मानव-समाज में केन्द्रित कवि-दृष्टि मानव के रहन-सहन के परिवर्तनों को लक्ष्य करके ऋतु-परिवर्तन का अनुमान करने लगी थी। विलासी राजाओं के हृदयों से, जनपदों में विचरण करने और प्रजाजनों की स्थिति जानने की कर्तव्य-भावना का अपसरण हो चुका था, विलास-उपवनों तक ही उनकी दृष्टि का प्रसार हो पाता था। यह तो ऋतु-वर्णन आपने देखा मानव-समाज के माध्यम से, अब प्रकृति-वर्णन देखिए—

जाअं कुंकुम पंकलीढमरढी गंडप्पहं चंपअं
थोआवट्टिअदुद्धसुद्धकुसुमा पंफुल्लिआ मल्लिआ।
मूले सामल मग्गलग्गभसलं लक्खिज्जए किंसुअं
पिज्जंतं भसलेहि दोसु वि दिसाभाएसु लग्गेहि व ॥
लंकातोरणमालिआतरणिलो कुंकुब्भवासासमे
मंदंदोलिअ चंदणद्दुमलदाकप्पूरसंपक्किणो।
कंकेल्ली कुलकंपिणो फणिलदाणिप्पट्टणद्दावआ
चंडं चुंविदतंव पण्णसलिला वाअंति चेत्ताणिला ॥

—क० मं०, जवनिका० १।१६, १७।

"चम्पे के फूल मराठी सुन्दरी के कुंकुम-मण्डित कपोल-प्रान्त की प्रभा धारण कर रहे हैं। मल्लिका के फूल तनिक बदले हुए दूध के रंग के दिखाई पड़ रहे हैं। किंशुक के फूलों का मूल भाग सहज ही श्यामल है और उनके ऊपर एक-एक करके भौंरे आकर बैठ गए हैं, उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो नीचे-ऊपर दो-दो भौंरे लिपटे हुए हों।"

"महर्षि अगस्त्य के आश्रम में तोरण की मालाओं को हिलाने वाला, चन्दन के वृक्षों-लताओं और कपूर के वृक्षों को धीरे-धीरे आन्दोलित करने वाला, कंकोली के पेड़ों को कँपानेवाला, नागवल्लियों को झकझोरनेवाला और ताम्रवर्णी के जल का चुम्बन करनेवाला चैत का पवन चलने लगा।"

सद्यःस्नाता सुन्दरी का एक मनोज्ञ चित्र राजशेखर ने अङ्कित किया है। कुन्तल देश की राजकुमारी को योगी भैरवानन्द अपने योगबल से महाराज चंडपाल के आग्रह पर स्नानागार से ही मँगा लेते हैं। आने पर उसकी शोभा का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

जं धोअंजण सोणलोअणजुअं लग्गालअग्गं मुहं
हत्थालंविद केसपल्लवचए दोलंति जं विन्दुणो।
जं एक्कं सिचअंचलं णिवसिदं तं ण्हाणकेलिट्ठिदा
अणीदा इअमब्भुदेक्क जणणी जोइस्सरेणामुणा॥

एक्केणपाणिणलिणेण णिवेसअंती
वत्थंचलं घणथणत्थल संसमाणं।
चित्ते लिहिज्जदि ण कस्स वि संजमंती
अण्णेण चंकसणदो चलिदं कडिल्लं॥
—क०मं०, जवनिका० १।२६–२७॥

"स्नान करने से अञ्जन धुल गया है, आँखें लाल हो गई हैं, मुँह पर घुँघराली अलक का अग्र भाग लिपटा हुआ है, केश-राशि को हाथ पर सँभाले हुए है और उससे पानी की बूँदें टपक रही हैं, इसकी देह पर वस्त्र का अञ्चल मात्र शेष है। इस योगिराज ने स्नान-गृह से आश्चर्य उत्पन्न करने वाली सुन्दरी को यहाँ ला दिया है।

"एक हाथ से यह अपने घने स्तनों से सरकते हुए वस्त्राञ्चल को सँभाल कर यथास्थान ला रही है और दूसरे से अपने नितम्ब-प्रान्त से हटे हुए कटि-वस्त्र को उठा रही है। भला यह चित्र किसके हृदय-पट पर अङ्कित नहीं हो जायगा?"

एक दृश्य हिंडोला झूलने का देखे—

रणंतमणिणेउरं झणझणंतहारच्छडं
कलक्कणिद किंकिणीमुहर मेहलाडंबरं।
विलोलवलआवलीजणिदमंजुसिंजारवं
ण कस्स मणमोहणं ससिमुहीअ हिंदोलणं॥
—क० मं०, जव० २।३२।

"मणि-जटित नूपुर अनुरणन कर रहे हैं, हिलता हुआ हार झनझना रहा है, करधनी के झोंपे की किंकिणियाँ भी मधुर ध्वनि कर रही हैं, हाथ के कंगन हिल-हिलकर और भी मनोमुग्धकर शब्द उत्पन्न कर रहे हैं। भला चन्द्र-मुखी का ऐसा झूला किसके मन को मोह न लेगा?"

इस गीति की पदशय्या इतनी मधुर है कि शब्द ही कथित दृश्य को प्रत्यक्ष किए दे रहे हैं। यह काव्य का नादसौन्दर्य महाकवि भवभूति की रचना में विशेष रूप से उपलब्ध होता है। यह पूरा का पूरा सट्टक गीतियों की बहुलता से गीति-नाट्य ही हो गया है। भिन्न-भिन्न भावों की एक से एक सुन्दर गीतियाँ विविध छन्दों में बद्ध इस काव्य में सङ्कलित हैं। नाट्य-कला से बढ़कर काव्य-सौन्दर्य इस सट्टक में विशेष रूप से दर्शनीय है। इसमें कुल १४४ गीतियाँ १७ विभिन्न छन्दों में निबद्ध हैं। सट्टक चार जवनिकान्तरों में विभक्त है। राजशेखर निःसन्देह मध्योत्तर काल के एक उत्कृष्ट महाकवि हैं, जिन्होंने संस्कृत साहित्य के गौरव को अपनी बहुमुखी प्रतिभा द्वारा प्रवर्द्धित किया है। इनके 'कर्पूरमंजरी' सट्टक के जोड़ का दूसरा सट्टक अद्यावधि उपलब्ध नहीं है। जो पाँच-छः सट्टक हैं भी वे इससे बहुत हल्के ठहरते हैं। इस सट्टक की भाषा महाराष्ट्री न होकर शौरसेनी प्राकृत है।

कर्णसुन्दरी की प्राकृत गीतियाँ

महाकवि विल्हण ने 'कर्णसुन्दरी' नाम की अत्यन्त सुन्दर नाटिका लिखी है। यह रचना वैसे महाकवि की प्रतिभा के सर्वथा अनुरूप ही है। चार अंकों में इसकी रचना हुई है। इसमें कुल १५७ छन्द हैं, जिनमें से १० गीतियाँ प्राकृत की हैं। एक प्राकृत गीति में कवि की प्रखर कल्पना की कला देखिए—

रइकलहविरोहे रोहिणीकज्जलंसु-
प्पसरपरिगदो व्व ज्झामलो लञ्छणेण।

निजवअणसवण्णं जामिणीडिम्भमेणं
वहइ रअणिणाहो लालयन्तो व्व अङ्के ॥
—कर्ण०, अ० ३।२७।

"रति-कलह के कारण रोहिणी के कज्जल मिले आँसू की रेखा से उसका मुँह श्यामल हो गया और अपने ही मुँह के समान मुँहवाली रजनी को अपने अङ्क में लेकर मानो वह (रजनिनाथ) उसका दुलार कर रहा हो।"

रोहिणी के काजल सने आँसू चन्द्रमा के मुँह पर भी पड़े, अतः उस पर भी काले धब्बे आ गए और वह उसे गोद में लेकर मना रहा है। इसीलिए उसके अंक में कालिमामय धब्बा गाढ़ा दिखाई पड़ रहा है।

किं चन्दो तह चन्दणव्व सिसिरो किं वल्लईपञ्चमो
कण्णे वल्लहसंगमो मणसिजो किं वा सपक्खट्ठिदो।
दिट्ठी किं कमलेसु रज्जदि मणं किं णाम मे दक्खिणो ॥
सो वा दक्खिणमारुदो जइ तुए मज्झत्थमालम्बिदम् ॥
—वही, अं० २।३१।

"यदि तुमने मध्यस्थता स्वीकार कर ली तो चन्द्रमा, चन्दन, शिशिर और वीणा का पञ्चम स्वर, सभी हमारे अनुकूल हो जाएँगे। कामदेव जो अभी हमारा शत्रु बना हुआ है, मित्र हो जायगा। कमल जो आँखों को क्लेश पहुँचा रहे हैं, सुखदायक हो जाएँगे और मलयानिल भी सुख से हमारी सेवा करने लगेगा।"

महाकवि शङ्खधर का प्रख्यात प्रहसन लटकमेलक (दुर्जन-संघटन) एक हृदयावर्जनीय सुन्दर रचना है। गद्यभाग में प्राकृत का बाहुल्य है किन्तु पद्य-भाग प्रायः संस्कृत-बद्ध ही है, दो-तीन गीतियाँ प्राकृत की हैं। 'कुलव्याधि' नामक वटुक का अन्त में एक नृत्यगीत बड़ा ललित है। अतः उसे मैं यहाँ दे देना चाहता हूँ—

विहसन्तकअन्तनहच्छेडा अहवा तिमिराणँ घडा णिविडा।
भअवाणसमाणसमुल्लसिआ मिलिआ जमि रक्खसरक्खसिआ ॥
कलकङ्कणलम्भिअबाहुलदा घणकुन्तलआ मुहभूसणआ।
वरिसा उण मेहजलाकुलिआ णिविडन्त पओहरमण्डलिआ ॥
—ल० मे०, अं० २।३५-३६।

"ये काल के नखत्त्त हैं वा अन्धकार की निविड घटा। अत्यन्त समुल्लसित होकर जैसे राक्षस और राक्षसी मिल रहे हों। बाहु-लता में सुन्दर कंगन रूपी फूल खिला हुआ है। घने केश मुख की शोभा बढ़ा रहे हैं, अथवा मेघ-जलाकुल वर्षा है जिसमें घने बादल मण्डलाकार घिर आए हैं।"

इस गीतिका का नाद-सौन्दर्य ही दर्शनीय है। चतुर्वेद ब्राह्मण सभासलि नामक कौल-मतावलम्बी साधु से विवाह की दक्षिणा के लिए कलह करता है। कलह में ही दोनों विभिन्न भाव-भङ्गिमा से नाचने लगते हैं। इसी का वर्णन साधु का शिष्य उपर्युक्त गीति में करता हुआ नाचने लगता है।

'चन्द्रलेखा' आदि अन्य सट्टक

महाकवि राजशेखर के अनन्तर प्राकृत का प्रायोगिक सम्बन्ध जनता से छूट चुका था। अब यह व्यवहार से हटने लगी थी, अपभ्रंश बोलचाल के क्षेत्र में उतर आई थी। विद्वद्वर्ग में से कोई-कोई मनोविनोदन के लिए प्राकृत की रचना में उसी प्रकार हाथ लगाते थे जिस प्रकार आज खड़ी बोली के युग में कतिपय विद्वान् कभी-कभी व्रजभाषा में लिखा करते हैं। इसी विद्वत्ता के सहारे प्राकृत में नाटक (सट्टक) की रचना अठारहवीं शती ईस्वी तक होती रही है। महाकवि घनश्याम के, जो अठारहवीं शती में हुए थे, लिखे तीन सट्टक सुने जाते हैं, किन्तु 'आनन्दसुन्दरी' ही अब तक मिल सकी है।

कर्पूरमञ्जरी के अनन्तर जैन कवि नयचन्द्र का लिखा 'रम्भामञ्जरी' सट्टक है, जो अधूरा मिलता है। इसमें कतिपय पात्र संस्कृतभाषी भी रखे गए हैं, किन्तु गीतियाँ उच्चकोटि की नहीं बन पड़ी हैं। ये वही नयचन्द्र वा नयनचन्द्र हैं जिन्होंने वीर हम्मीर के शौर्य का वर्णन 'हम्मीर महाकाव्य' में चौदह सर्गों में किया था। इनका समय चौदहवीं शती का अन्तिम भाग है। सन् १४६० ई० के आस-पास कालीकट के निवासी कविवर रुद्रदास ने एक उत्तम सट्टक 'चन्दलेहा' (चन्द्रलेखा) नाम से विरचित किया। इस सट्टक पर 'कर्पूरमञ्जरी' का पूरा-पूरा प्रभाव देखा जा सकता है। इसमें अंग-नरेश चन्द्रवर्मा की विश्वसुन्दरी कन्या चन्द्रलेखा का विवाह मानवेद राजा से सम्पन्न कराया गया है। कथा-कल्पना कर्पूर-मञ्जरी से मिलती-जुलती ही है। अग्रमहिषी पहले तो चन्द्रलेखा को बन्दी बना लेती हैं; किन्तु उसके भाई के खोजते हुए आने पर उनको पता चलता है कि वह राजकुमारी है और

उसी की मौसी की लड़की है। अन्त में चिन्तामणि नामक देवता के आदेश से राजा के साथ उसका विवाह रानी स्वयं सम्पन्न करा देती हैं। इस सट्टक की गीतियाँ बड़ी ही सुन्दर हैं, विशेष रूप से प्रकृति-चित्रण स्थान-स्थान पर विशेष मनोहर और उच्च कोटि का है। कतिपय गीतियाँ यहाँ दी जा रही हैं—

भमंत भमरच्छडा कलविरावित्रा वाविश्रा
फुरंत मश्रणच्चणाविहव णंदिरं मंदिरं।
लसंत णवणट्टई ललिश्रणट्टणं पट्टणं
वलंत मलआणिलाअमसिलाहिणो साहिणो॥

—चं० ले०, जव० १।१७।

"बावलियाँ मञ्जु गुञ्जन करके उड़ते हुए भौंरों से शब्दायमान हो उठी हैं, घर मदन-पूजा के वैभव से मनोज्ञ हो गया है, नगर नवयुवती नर्तकियों के मनोहारी नर्तन से उल्लसित हो उठा है और मलय पवन के आगमन की श्लाघा में तरुवर फूले नहीं समाते।" (यह है वसन्त-श्री का हृदयहारी वर्णन)।

चन्दादो किरणंकुरा पअलिआ चंडं चओरच्छडा-
चंचूसंचअवेअखंडिअमुहा मुंडत्तणं पाविश्रा।
दीसंते धवलाअमाणकुमुअच्छाआहि संवड्ढिआ
एण्हिं उल्लसिअद्दपल्लवसहस्सुव्वेल्लिअग्गा इव॥

—चं० ले०, जव० ३।२०।

"चन्द्रमा से किरणों के अङ्कुर वेग के साथ निकले, किन्तु चकोरों ने अपने तेज चंचुओं द्वारा उन्हें कुतर कर इस प्रकार एकत्र कर लिया कि वे ठूँठ मात्र ही शेष रह गए। अब श्वेत कुमुदों की छाया पाकर वे पुनः बढ़े हुए दिखाई पड़ रहे हैं और एक-एक अंकुर से मानो सहस्र-सहस्र आर्द्र पल्लवों के शिखाग्र निकल पड़े हों।"

कवि ने चन्द्रोदय की छटा का कितना आकर्षक बिम्बग्राही चित्र खींचा है, देखते ही बनता है। उत्तरकालीन कवियों में प्रकृति का ऐसा संश्लिष्ट चित्रण ढूँढ़ने पर भी मिलना कठिन है। इस कवि ने अपनी खुली आँखों प्रकृति के व्यापक वैभव को मनोनिवेशपूर्वक देखा था। छन्दों के सुरुचिपूर्ण चयन के साथ-साथ भाषा का माधुर्य भी कवि की प्रतिभा का उद्घोष करता है। प्रकृति-वर्णन के प्रसङ्ग में महाकवि रुद्रदास ने पद्य नहीं जोड़े हैं, काव्य

रचना की है, सच्चे कवि-कर्म का परिचय दिया है। प्रभात का एक और चित्र दिखाकर मैं आगे बढ़ सकूँगा—

आआसे पंचसाइं परिणमिअ पलंडुच्छडापंडुराइं
ताराइं चंचलीआ कुमुअमहुसुहापाणमत्ता पसुत्ता।
जाओ णीसासकण्हाविअमुउर समो मंदिमा चंदिआए
पुव्वासासोअसाहा लहइ कुसुमिआ पाअसंगं उसाए॥
— चं० ले०, जव० ४।६॥

"आकाश में तारकदल का उज्ज्वल रंग बदलकर प्याज की भाँति पीला पड़ता जा रहा है, पुष्पों की मरंद-सुधा का पान करके मत्त भ्रमर गहरी नींद में मग्न हैं, चन्द्रमा की चन्द्रिका निःश्वास से मलिन दर्पण के समान मंद पड़ गई है और उषा के चरण का स्पर्श पाते ही पूर्व दिशा रूपी अशोक वृक्ष की शाखा लाल-लाल फूलों से भर उठी है।"[1]

विश्वेश्वर की 'शृंगार मञ्जरी' की कथा-कल्पना सुन्दर हुई है। कवि का निवास-स्थान अलमोड़ा था। इनका समय अठारहवीं शती का पूर्वार्द्ध है। इसमें कवि ने स्वप्न-दर्शन से प्रेमोद्भव दिखाया है। इसके गीत सामान्यतः अच्छे हैं। 'आनन्दसुन्दरी' नामक सट्टक का कथानक तो सभी सट्टकों से नूतनता में आगे है, किन्तु गीतियों में स्वाभाविक काव्य-सौन्दर्य का अभाव ही है। जिस भाषा का सम्बन्ध बोलचाल से छूट जाता है उसमें आगे चलकर गीतियों के विकास के स्थान पर ह्रास ही देखने में आता है, ऐसी स्थिति में कोई महान् प्रतिभाशाली कवि ही अपने अभ्यास के शिखर पर पहुँचकर उसमें उच्च कोटि का काव्य प्रस्तुत करने में समर्थ होता है। प्राकृत का अध्ययन और अनुशीलन धीरे-धीरे छूट-सा गया, इसीलिए काव्यात्मक उत्कर्ष उत्तरोत्तर परिक्षीण होता गया और गीतियाँ भी लोक के साथ-साथ लोक-भाषा जा से सम्बद्ध हुईं।

---

१. कवि-समय के अनुसार काव्य-जगत् में अशोक का वृक्ष सुन्दरी के चरणाघात से फूलता रहा है। संस्कृत-कवियों में इसका वर्णन-बाहुल्य देखा जा सकता है। नियम द्रष्टव्य—

स्त्रीणां स्पर्शात्प्रियङ्गुर्विकसति वकुलः सीधुगण्डूषसेका-
त्पादाघातादशोकः तिलककुरबकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम्।
मन्दारोनर्मवाक्यात्पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवाता-
च्चूतो गीतान्नमेरु—र्विकसति च पुरो नर्तनात्कर्णिकारः॥
—उत्तरमेघ, १८ मल्लिनाथ-टीका।

लक्षण-ग्रन्थों में प्राकृत गीतियाँ

नाट्यशास्त्र

गाहा सत्तसई प्राकृत गीतियों का ऐसा संग्रह-ग्रन्थ है, जिस पर महान् आचार्य भी मुग्धता प्रकट कर चुके हैं। प्राकृत के कवियों ने तो इस भाषा की प्रशंसा की ही है, संस्कृत कवियों ने भी इसके माधुर्य की खुले हृदय से सराहना की हैं। सत्तसई और 'वज्जालग्ग' दो ऐसे संग्रह हैं, जिनकी गीतियों को आचार्य आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, भोजराज, मम्मट, रुय्यक, जयरथ, सोमेश्वर, विश्वनाथ, हेमचन्द्र आदि अलंकार-ग्रन्थों के प्रणेता विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में उदाहरण-स्वरूप आदरपूर्वक स्थान दिया है। संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों में प्राकृत की और भी गीतियाँ मिलती हैं। उपर्युक्त दोनों संग्रहों का उल्लेख हो चुका है। इनकी गीतियों का क्षेत्र प्रकृति का विशाल प्राङ्गण रहा है, जिसके भीतर ग्राम-जीवन का भी समाहार हो जाता है। इसके साथ ही मानव-प्रकृति का बड़ा ही मार्मिक अध्ययन इन प्राकृत गीतियों में सहजोपलब्ध है। उन मूल ग्रन्थों में बहुतों का पता तो नहीं चलता, किन्तु जिन ग्रन्थों का पता चलता है उनमें भी कई तो उपलब्ध ही नहीं हैं। आचार्य आनन्दवर्धन की काव्य-पुस्तक 'विषमबाणलीला' के गीत तो यत्र-तत्र मिलते हैं, किन्तु पुस्तक क्या थी, कैसी थी, किस विषय की थी, इसका कोई पता नहीं है। कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि यह पुस्तक मुक्त गीतों का संग्रह रही होगी। नायक-नायिका-भेद पर 'मदन-मुकुट' नामक ग्रन्थ का पता चलता है, किन्तु अब तक इसकी कुल ८१ गाथाएँ ही प्रकाश में आ सकी हैं। इसके रचयिता कोई गोसल-मित्र हैं, जिनका समय और जीवन-वृत्त अज्ञात ही है। अस्तु, हम लक्षण ग्रन्थों में आई कतिपय गीतियों का काव्य-वैभव दिखाने का प्रयास करेंगे। मूल ग्रन्थों के अभाव में इन गीतों से प्राकृत का गीति-वैभव अनुमित हो सकेगा।

अलंकार-शास्त्र वा लक्षण-ग्रन्थ के रचयिताओं में, उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर, भरत मुनि ही सर्वप्रथम आचार्य का स्थान ग्रहण करते हैं। इनका काल-निर्णय अभी तक हो नहीं सका है। 'नाट्य शास्त्र' को भी विद्वानों ने संग्रह-ग्रथ की संज्ञा दी है और कहा है कि यह अनेक आचार्यों के अनेक

शताब्दियों के सतत अध्यवसाय का परिणाम है। सूत्र और भाष्य को इस ग्रन्थ का प्राचीनतम अंश माना गया है। कालिदास अपने 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में भरत का नाम देवों के नाट्याचार्य के रूप आदर से लेते हैं, इससे इतना तो स्पष्ट है कि भरत का काल महाकवि से पहले का है।[1] अर्थात् आचार्य भरत का आविर्भाव ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी से पहले है। इसमें आए वे अनुष्टुप् छन्द, जो गुरु-शिष्य प्रश्नोत्तर के रूप में मिलते हैं, आचार्य अभिनवगुप्त के मतानुसार आचार्य भरत से भी प्राचीन हैं, जिन्हें अपने सूत्रों की प्रामाणिकता में उन्होंने उद्धृत किया था।[2] इस 'नाट्यशास्त्र' ग्रन्थ में आचार्य ने भाषा के स्वरूप पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। प्राकृत भाषा, उसके भेद और उसकी विशेषताओं को भली भाँति समझाया गया है। इस ग्रन्थ में सात प्राकृत भाषाओं और सात विभाषाओं का उल्लेख मिलता है। मागधी आवन्ती, प्राच्या, सूरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका और दाक्षिणात्या, ये सात भाषाएँ कही गई हैं तथा शाबरी, आभीरी, चाण्डाली, साचरी, द्राविडी, औड्रजी और हीना ये सात विभाषाएँ हीन जातियों द्वारा बोली जानेवाली कही गई हैं।[3] इन सातों भाषाओं में महाराष्ट्री का उल्लेख नहीं है, यही देखकर विद्वानों ने अनुमान किया है कि महाराष्ट्री ने आचार्य भरत के पश्चात् अस्तित्व ग्रहण किया। नाट्यशास्त्र में कुछ पद्य महाराष्ट्री के

---

१. मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्त्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः॥

—विक्रमोर्वशीय, २।१८॥

२. अभिनव भारती।

३. एतदेव विपर्यस्तं संस्कार-गुणवर्जितम्।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम्॥
त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाटययोगे समासतः।
समान शब्दैर्विभ्रष्टं देशीमतमथापि वा॥

—ना० शा०, अध्या० १७।२, ३।

मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरसेन्यर्धमागधी।
बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्तिता॥
शबराभीरचण्डाल सचर-द्रविडोद्रजा।
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृता॥

—ना० शा०, अध्या० १७।४८, ४९।

भी आए हैं। ध्रुवाध्याय में आए हुए प्राकृत पद्य शौरसेनी के हैं। उसके कतिपय प्राकृत छन्द हम यहाँ दे रहे हैं—

एसो सुमेरुवणअम्मि देवअसिद्ध परिगीओ।
अतिसुरभि वणचारि पविचरदि गअसुवाओ॥
पादवसीसं कंपअमाणो ससुरभिगण्डसुवासिओ।
वणतरुगणलासणओ विअरइ वरतरुवण पवणो॥
कुसुमवणस्स विहसणओऽणि धुणिअतिमिरपउगणओ।
उदअदि गिरिसिहिररोही रअणिअरो सुविमलअरो॥[1]

—ना० शा०, अध्या० ३२ ध्रुवाध्याय, श्लो० २३९–२४१।

पफुल्लफुल्लपादवं विहंगमोवसोभिदम्।
वनं पगीदछप्पदं उवेइ एस कोकिला॥

—वही, श्लो० ३०७।

"यह देवों और सिद्धों द्वारा प्रशंसित अत्यन्त सुगन्धित वनचारी पवन हाथी के समान सुमेरु वन में घूम रहा है।

"वन के तरुवरों को नचाने वाला, सुगन्धित गण्डस्थल वाला मलयवन का समीर वृक्षों के सिरों को हिलाता हुआ विचरण कर रहा है।

"कुसुमों के (कुमुदों के)[2] वन को खिलानेवाला, तिमिर-समूह का नाशक, गिरिशिखर का आरोही, अत्यन्त उज्ज्वल किरणों (हाथों) वाला चन्द्रमा उदित हो रहा है।

"विहंगों से शोभित, भौंरों के शब्दों से गुञ्जरित और फूलों से लदे हुए तरुओं वाले वन में यह कोकिला कूक रही है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि नाट्यशास्त्र में आए प्राकृत गीत अधिक संख्या में प्रकृतिपरक हैं। प्रकृति के बड़े ही रमणीक चित्र इन गीतों में उतारे

---

१. निर्णय सागर यन्त्रालय, बम्बई से 'काव्यमाला' के अन्तर्गत प्रकाशित नाटचशास्त्र की पादटिप्पणी में उल्लिखित पाठान्तर से गृहीत।

२. पुस्तक में इस गीति का पाठ इस प्रकार है—

"कुमुदवणस्स विभूषणओ विधुणिय तिमिर पटं गगणे।
उदयगिरिसिहरमधिहन्तो रजणिअरो उदयदि विमल करो॥"

यह पाठ अधिक स्पष्ट है, किन्तु ऊपर उद्धृत पाठ की भाषा अधिक काव्योचित और ध्वन्यात्मक है।—लेखक

गए हैं। हाँ, इस ग्रन्थ के गीतों में पाठ-दोष लेखकों के प्रमादवश आ गए हैं और बहुत से शब्दों की अर्थव्यक्ति में बाधा पड़ती है। ग्रन्थ के सम्पादक ने भी ऐसे बहुतेरे शब्दों के आगे कोष्ठकों में प्रश्नचिह्न लगाकर उनके प्रति सन्देह प्रकट किया है। काशी और बम्बई से प्रकाशित दोनों संस्करणों की यही दशा है। विद्वद्वर्ग को अधिक सतर्कता से इस विषय में खोज बीन करने की आवश्यकता है।

नाट्यशास्त्र के अनन्तर प्राकृत की ४३ गीतियाँ ध्वन्यालोक में उपलब्ध हैं, जिनमें अनेक 'गाहासत्तसई' की हैं। एक ऐसी भी गीति है, जो तनिक पाठान्तर के साथ 'वज्जालग्ग' में भी मिलती है, वह गीति ध्वन्यालोक में इस प्रकार है—

सिहिपिच्छकण्णऊरा जाआ वाहस्स गव्विरी भमइ।
मुत्ताफलरइअपसाहाणाणं मज्झे सवत्तीणम्॥
—ध्व०, उद्योत २, छं०सं० २४॥

गाहा-सत्तसई में इस रूप में मिलती है—

सिहिपेहुणावअंसा वहुआ वाहस्स गव्विरी भमइ।
गअमोत्तिअरइअपसाहणाणं मज्झे सवत्तीणम्॥
—गा० स०, २।७३

और 'वज्जालग्ग' में यह पाठ—

सिहिपेहुणावयंसा वहुया वाहस्स गव्विरी भमइ।
गयमुत्तागहियपसाहणाणं मज्झे सवत्तीणं॥
—व० ल०, २१२, वाहवज्जा

इस प्रकार के पाठान्तरों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह गाथा अति प्राचीन है और इसे लोक के कण्ठ में स्थान प्राप्त रहा है, इसी कारण इसके भिन्न-भिन्न रूप प्राप्त होते हैं। गाथा से पता चलता है यह 'पोटिस' नामक किसी कवि की रचना है। उसका समय क्या था, यह नहीं कहा जा सकता। इस गाथा का अर्थ यह है—

"गजमुक्ता से रचित आभूषणोंवाली अपनी सपत्नियों के बीच व्याध की बहू मोरपंख के गहने पहने गर्व के साथ (सिर ऊँचा करके) घूम रही है।"

तात्पर्य यह कि जब उसका पति उसकी सौतों के साथ था तब तो वह मुक्तावाले मत्त गजराजों का शिकार स्वच्छन्दता से करता था, उनके प्रेम में

बँधा नहीं था, किन्तु जब से वह आई है तब से केवल मोरों का ही आखेट कर पाता है। अथवा वह उसे छोड़कर अहेर के लिए जाता ही नहीं, इसीलिए वह घर में पड़े मोरपंखों से ही शृङ्गार करके अपने भाग्य पर गर्विता है। आचार्य आनन्दवर्धन ने यहाँ 'सौभाग्यातिशय' को व्यंग्य माना है और इसे वस्तु से वस्तु-व्यंग्य के उदाहरण-स्वरूप रखा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्वन्यालोक में आए दस गीतों को गाथा सप्तशती से ही ध्वनिकाव्य के उदाहरण में ले लिया गया है। दो गीतियाँ 'विषमबाण लीला' की हैं जो स्वयं ग्रन्थकार की ही एक उत्तम कृति थी और अब तक अप्राप्त है। एक पद्य 'गौडवहो' का है, और एक महाकवि सर्वसेन[1] के 'हरिविजय' नामक काव्य का। 'हरिविजय' महाकाव्य का उल्लेख आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'काव्यानुशासन' में किया है[2], यह काव्य भी आजकल मिलता नहीं। इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृत का प्रभूत गुण-सम्पन्न काव्य-वैभव लुप्त हो गया अथवा अभी भी अन्धकार के गर्भ में है। जो कुछ अंशमात्र अवशिष्ट है उसे ही देखकर उसके गौरव के सम्मुख आश्चर्याभिभूत और मुग्ध होना पड़ता है। हम यहाँ 'विषमबाणलीला' और 'हरिविजय' नामक अप्राप्त ग्रन्थों के उद्धृत छन्दों तथा कतिपय ऐसे छन्दों को रखते है, जिनके रचयिताओं तक का ठीक-ठीक पता नहीं चलता, किन्तु आनन्दवर्धन जैसे महामहिम आचार्य भी उनकी मुक्तकण्ठ प्रशंसा करते हैं—

'विषमबाण लीला' से

तं ताण सिरिसहोअर रअणाहरणम्मि हिअअमक्करसम्।
विम्बाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुमबाणेन ॥

—ध्व०, उद्यो० २, का० २७ में उद्धृत

---

१. किसी-किसी विद्वान् ने इसे 'प्रवरसेन' नामक कवि का रूपक माना है, देखिए आचार्य विश्वेश्वर कृत ध्वन्यालोक की टीका, पृ० २१९। किन्तु प्रवरसेन 'सेतुबन्ध' का ही कर्ता है, 'हरिविजय' का नहीं।

२. "प्रायोग्रहणादेव रावणविजय-हरिविजय-सेतुबन्धेष्वादितः समाप्तिपर्यन्तमेकमेवच्छन्दो भवतीति।" —काव्या०, अ० ८, पृ० ३३७।

'काव्यानुशासन' की विवेक नाम्नी टीका में नगर-वर्णन, सूर्यास्तवर्णन, नायकवर्णन, वाहन-वर्णन, दूतवर्णन, प्रयाण, शत्रुविजय, मानागम आदि की उत्तमता के प्रसङ्ग में 'हरिविजय' महाकाव्य की प्रशंसा की गई है। देखिए—पृ० २३५–२३६, अ० ८।

ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहिँ घेप्पन्ति।
रइकिरणानुग्गहिआइँ होन्ति कमलाइँ कमलाइँ ॥

—वही, उद्यो० २ का० १ में उद्धृत

"लक्ष्मी के सहोदर रत्न को प्राप्त करने में लीन उनके (दैत्यों के) हृदयों को कामदेव ने (उनकी) प्रियाओं के बिम्बाधरों में लीन कर दिया।"

"गुण तभी (सच्चे अर्थ में गुणी) होते हैं जब सहृदय उन्हें ग्रहण करते हैं, रवि की किरणों से अनुगृहीत कमल ही कमल होते हैं।"

'हरिविजय' से

चूअकुरावअंसं छणमप्पसर महग्घणमणहरसुरामोअम्।
असमप्पिअं पि गहिअं कुसुमसरेण महुमासलच्छिमुहम् ॥

—वही, उ० ३, का० १ में उद्धृत

"आम की मञ्जरी से विभूषित क्षण के प्रसार से बहुमूल्य (वसन्त के उत्सव के कारण अत्यन्त ललित) और मनोहारिणी मदिरा की सुगन्धि से युक्त मधुमास की लक्ष्मी (वसन्तश्री) के मुख को बिना उसकी स्वीकृति के के ही कामदेव ने पकड़ लिया।"

'विषमबाण लीला' और 'हरिविजय' ये दोनों ही काव्य मिलते नहीं, इसलिए यह निश्चय करना बड़ा कठिन है कि इन काव्यों का रूप क्या था। विषमबाणलीला कवि की मुक्तक रचनाओं का संग्रह रहा होगा और 'हरिविजय' नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि यह कोई महाकाव्य होगा। 'काव्यानुशासन' के उल्लेखों द्वारा यह निर्विवाद रूप से महाकाव्य प्रतीत होता है। अब जिन काव्यों और काव्यकारों के नाम तक नहीं मिलते उनके कतिपय गीत देखिए—

चुम्बिज्जइ सअहुतं अवरुन्धिज्जइ सहस्सहुन्तम्मि।
विरमिअ पुणो रमिज्जइ पिओ जणो णत्थि पुनरुत्तम् ॥
कुविआओ पसन्नाओ ओरण्णमुहिओ विस्समाणाओ।
जह गहिओ तह हिअअं हरन्ति उच्छिन्त महिलाओ ॥

—ध्व०, उ० १, का० १४।

अज्जाए पहारो णवलदाए दिण्णो पिएण थणवट्टे।
मिउओ वि दूसहो जाओ हिअए सवत्तीणम् ॥—वही।

वीराणँ रमइ घुसिणरुणम्मि ण तदा पिआथणुच्छङ्गे ।
दिट्ठी रिउगअकुम्भत्थलम्मि जह बहलसिन्दूरे[1] ॥
—वही, उ० २, का० २७ ।

साअरविइण्ण जोव्वणहत्थालम्बं समुण्णमन्तेहिम् ।
अब्भुट्ठाणं विअ मम्महस्स दिण्णं तुइ थणेहिम् ॥
—वही, उ० २।२४ ।

हिअअट्ठाविअ मण्णु' अवरुण्णमुहं हि सं पसाअन्त ।
अवरद्धस्स वि ण हु दे पहुजाणअ रोसिऊँ सक्कम् ॥
—वही, उ० २, का० २७ ।

"प्रियजन को सैकड़ों बार चूमते हैं, सहस्रों बार आलिङ्गित करते हैं, रुक-रुककर बार-बार रमण करते हैं, किन्तु पुनरुक्त नहीं होता (अर्थात् वह जी उबाने वाला नहीं होता, उन कृत्यों में अनुपादेयता नहीं होती)।

"स्वैरिणी महिलाएँ चाहे कुपित हों वा प्रसन्न, रोती हों वा हँसती, चाहे जिस रूप में देखो वे मन का हरण कर ही लेती हैं।

"नवेली होने के कारण प्रियतम ने आर्या (नई बहू) के स्तन पर प्रहार किया, यद्यपि वह बहुत ही हल्का था तथापि वह सौतों के हृदयों के लिए दुस्सह हो गया।

"वीरों की दृष्टि जिस प्रकार (जितने चाव से) सिन्दुर-रञ्जित शत्रु के गजों के मस्तकों पर रमती है, उस प्रकार (उतने चाव से) प्रियाओं के कुंकुम-लिप्त कुच-मण्डलों पर नहीं (रमती)?

"आदरपूर्वक यौवन के द्वारा हाथ का सहारा पाकर तुम्हारे उठते हुए स्तनों ने कामदेव को अभ्युत्थान दिया है।

"(हे प्रियतम!) जब कि मैंने क्रोध को हृदय में स्थान दे रखा है (उसे प्रकट तक नहीं किया) और मेरे मुख पर क्रोध की कोई झलक तक नहीं है, तुम मुझे मना रहे हो, तब हे बहुज्ञ! यदि तुम अपराधी भी होओ तो भी मैं तुम पर क्रोध नहीं कर सकती।"

ये अज्ञात लेखकों की कतिपय गीतियाँ हैं, जिनमें भावों का सिन्धु लहरा रहा है और प्राचीन आचार्यों की कृपा से हमारा आह्लादन कर रही हैं। यदि

१. 'प्रसन्नराघव' नाटक, अं० १, के 'यः कान्ताकुचमण्डले कररुहाः सानन्दमारोपिता.......' से मिलाएँ।

वह प्राकृत का अपार गीति-भाण्डार आज उपलब्ध होता तो सचमुच ही संस्कृत गीतियों को भी सहृदय जन उनके आगे फीकी समझते। किसी भाषा में प्रभूत साहित्य की, रचना हुए बिना यह प्रौढ़ता नहीं आ सकती, यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है। प्राकृत के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर महाकवि वाक्पतिराज ने संस्कृत-प्राकृत दोनों की परस्परोपकारिता को परिलक्षित करके इस उक्ति द्वारा प्राकृत के सहज सौन्दर्य की प्रशंसा की है—

उम्मिलइ लावण्णं पययच्छायाएँ सक्कयं वयाणं।
सक्कय-सक्कारुक्करिसणेण पययस्सवि पहावो॥
—गौड०, कवि-प्रशंसा, ६५।

प्राकृत की छाया से संस्कृत-पदों का लावण्य उन्मीलित होता है और संस्कृत के संस्कारोत्कर्ष से प्राकृत की भी प्रभाव-वृद्धि होती है।"

'ध्वन्यालोक-लोचन'

आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक जैसे प्रौढ़ अलङ्कार-ग्रन्थ की 'लोचन' नाम्नी जो टीका प्रस्तुत की, वह सामान्य टीका-ग्रन्थ न होकर प्रौढ़ मौलिक अलङ्कार-ग्रन्थ हो गया। इसका आलंकारिक जगत् में वही आदर और महत्त्व है जो व्याकरण-क्षेत्र में महर्षि पतञ्जलि के महाभाष्य को प्राप्त है। उन्होंने नूतन रस-सिद्धान्त की स्थापना की है। 'लोचन' नाम्नी टीका में उन्होंने प्राकृत की ऐसी गीतियाँ दी हैं जो मूलग्रन्थ में नहीं हैं।

वक्रोक्ति-जीवित में प्राकृत गीतियाँ

आलोचना-शास्त्र के प्रौढ़ ग्रन्थ-निर्माताओं में आचार्य कुन्तक का स्थान अत्यन्त ऊँचा है। आचार्य आनन्दवर्धन-प्रवर्तित ध्वनि-सिद्धान्त के ये प्रबल विरोधी थे। इन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन करके वक्रोक्तिसिद्धान्त की स्थापना की है। आचार्य भामह ने पहले ही अपने 'काव्यालङ्कार' नामक ग्रन्थ में 'वक्रोक्ति' को सभी अलङ्कारों का मूल माना था,[1] उसी प्राचीन मान्यता की भित्ति पर कुन्तक ने अपने सिद्धान्त वा सम्प्रदाय का नए सिरे से विद्वत्तापूर्ण प्रवर्तन किया। उनके ग्रन्थ में कुल चार उन्मेष हैं, जिनमें काव्य

---

१. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।
—काव्यालंकार, परि० २।८५।

का प्रयोजन, काव्य-लक्षण, स्वभावोक्ति का अलङ्कारत्व-खण्डन और उसके अलङ्कार्यत्व का प्रतिपादन, 'वक्रता' का परिचय और उसके छः प्रकार, सुकुमार-विचित्र-मध्यम इन तीन काव्य मार्गों का विवेचन, चार गुणों (माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य) की प्रतिपत्ति, औचित्य और सौभाग्य नामक गुण और उनकी उपयोगिता तथा वक्रता के छः प्रकार और उनके अवान्तर भेदों की व्याख्या की गई है। आचार्य भामह, दण्डी आदि का खण्डन बड़े ही युक्तियुक्त ढंग से किया गया है। यह ग्रन्थ अपूर्ण ही मिलता है, तथापि उपलब्ध भाग में विद्वान् लेखक ने जिस मौलिक विवेचना-शक्ति का परिचय दिया है, वह स्तुत्य है। इनका समय दशम शताब्दी का अन्तिम भाग था और ये आचार्य महिम भट्ट के कुछ पहले ही हुए थे।

'वक्रोक्तिजीवित' में उदाहरण के लिए संस्कृत की कविताओं का उपयोग अधिक हुआ है और प्राकृत की केवल सोलह कविताएँ उद्धृत मिलती हैं, जिनमें पाँच ध्वन्यालोक में आ चुकी हैं, शेष में से दो 'गाहा-सत्तसई' की, एक 'काव्यमीमांसा' की, एक 'मुद्राराक्षस' की और एक महाकवि 'अनङ्गहर्ष' के 'तापवत्सराज' की है। शेष छः गीतियों के न तो कवियों के नाम ज्ञात हैं और न उन ग्रन्थों के जिनसे वे ली गई हैं। उनमें से कतिपय यहाँ हम दे रहे हैं—

कण्णुप्पल दलमिलिअलो अणेहि, हेलालोलणमाणिअणअणेहि।
लोलइ लीलावइहि णिरुद्धओ, सिढिलअचाओ जअइ मअरद्धओ ॥
प्रथम उन्मेष, का० १९।

णमह दसाणणसरहसकर तुलिअबलन्तसेलभअविहलं।
वेवन्तयोरथण हरहरकअकंठगगहं गौरि ॥
—उन्मेष २, का० ५।

तह रुणं कन्ह विसाहिआए रोधग्गरगिराए।
जह कस्स वि जम्मसए वि कोइ मा वल्लहो होउ ॥
—उन्मे० २, का० १६।

कइकेसरी वअणाण मोत्तिअरअणाण आइवेअटिकः।
ठाणाठाणं जाणइकुसुमाण अं जीणमालारो ॥
उन्मे० ३, का० १८।

लीलाइ कुवलग्रं कुवलग्रं व सीसे समुव्वहंतेण ।
सेसेण सेसपुरिसाणं पुरिसग्रारो समुव्वसिग्रो ॥
—वही, उन्मे० १, का० ७ ।

"कनफूल के दलों से मिलते हुए लोचनों-वाली, हेला द्वारा हिलते हुए कनफूल के दलों से सम्मानित नयनों-वाली, क्रीड़ाशीला सुन्दरियों के कटाक्ष द्वारा अपने धनुष की डोरी को ढीली करने वाले कामदेव की जय हो। अर्थात् कामदेव नहीं अपितु वे स्त्रियाँ विजयिनी होती हैं, जिनके कारण कामदेव को किञ्चिन्मात्र भी प्रयास करना नहीं पड़ता। यह क्रियावैचित्र्य है।

"रावण के द्वारा हाथों पर सहसा कैलास पर्वत को उठा लेने के भय से विह्वल और काँपते हुए स्थूल स्तनों के भारवाली जो उमा झपटकर शिव जी के गले से लिपट गईं, उन्हें नमस्कार करो।" (यह वर्ण-विन्यास वक्रता का उदाहरण है। यह किसी प्रबन्ध काव्य या नाटक का मंगलाचरण प्रतीत होता है।)

"हे कृष्ण! रुँधे हुए गले से गद्‌गद वाणी में विशाखा ने ऐसा रोदन किया कि (उसे सुनकर करुणार्द्र हृदय से सुनने वाले कह उठे) सहस्रों जन्मों में भी कोई किसी का प्रियतम न हो (अर्थात् कोई किसी से प्रेम न करे, जिसके कारण इतनी वेदना झेलनी पड़ती है।)

"कवि-केसरी वचनों की, वृद्ध वा अनुभवी जौहरी मौक्तिक और रत्नों की तथा वृद्ध माली फूलों की योग्यता और अयोग्यता जानते हैं।" (यह मालादीपक अलङ्कार का उदाहरण है।)

"खेल ही खेल में पृथ्वीमण्डल को नील कमल के समान सिर पर धारण करने वाले शेष (शेषनाग) ने शेष पुरुषों के पौरुष की हँसी उड़ाई।"

'दशरूपक' की प्राकृत गीतियाँ

आचार्य धनञ्जय का 'दशरूपक' नाट्य-साहित्य का बड़ा ही प्रौढ़ और आधिकारिक ग्रन्थ है। नाट्य-विषयक सभी आवश्यक बातों का समावेश इसमें कर लिया गया है। आचार्य-प्रवर ने अनेक मौलिक सिद्धान्तों की स्थापनाएँ भी की हैं। आचार्य धनञ्जय महाराज मुञ्ज के सभा-पण्डित थे।[1] महाराज

१. विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः ।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठी-वैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ॥
—द० रू०, प्रकाश ४।८६ ।

मुञ्ज मालव-प्रदेश के परमार वंशी नरेश थे।[1] इनका शासन-काल सन् ९७४ से ९९४ ई० तक माना जाता है। इसी बीच इस नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना हुई होगी। इस ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न ग्रन्थों से लाकर २४ प्राकृत गीतियाँ रखी गई हैं। इसकी सर्वाधिक प्रसिद्ध टीका लेखक के ही छोटे भाई 'धनिक' ने 'अवलोक' नाम से प्रस्तुत की है। इनके भी अनेक प्राकृत गीत इसमें दिये गए हैं। सर्वाधिक उदाहरण इसमें 'नव साहसांक-चरित', 'विद्धशालभञ्जिका' और 'कर्पूरमञ्जरी' से लिये गए हैं। तदितर कतिपय गीतियाँ यहाँ दी जा रही हैं।

सच्चं जाणइ दट्ठुं सरिसम्मि जणम्मि जुज्जए राओ।
मरउ ण तुमं भणिस्सं मरणं वि सलाहणिज्जं से॥

महु एहि किं णिवालअ हरसि णिअं वाउ जइवि मे सिचअम्।
साहेमि कस्स सुन्दर दूरे गामो हम् एक्का॥

प्र० २, का० २९ में उद्धृत।

एक्कतो रुअइ पिआ अण्णतो समरतूरणिग्घोसो।
पेमाणे रणरसेण अ भडस्स डोलाइअं हिअअम्॥

प्र० ४, का० ४४ में उद्धृत।

"वह सचमुच ही देखना जानती है (तुम्हें अपने योग्य ही देखकर उसने चुना है) और अपने समान व्यक्ति से ही प्रेम करना चाहिए (जैसा कि उसने देखकर समझ-बूझ कर किया है)। अब वह (भले ही) मर जाय मैं तुमसे कुछ भी नहीं कहूँगी। तुम्हारे वियोग में यदि वह मर गई तो तुम्हें स्त्री-वध के पाप का भागी होना पड़ेगा, अतः तुम्हें उसकी प्रार्थना ठुकरानी नहीं चाहिए। अब उसका मर जाना ही श्लाघ्य है। जिस काम-पीड़ा को वह रो-रोकर सह रही है, उसे देखकर तो ऐसा ही मन में आता है कि मरण अच्छा, किन्तु इतनी व्यथा भोगना अच्छा नहीं। नायिका के वेदनाधिक्य-कथन द्वारा दूती नायक को उससे मिलने के लिए उत्प्रेरित कर रही है)।"

यह गीति 'गाहा सतसई' के प्रथम शतक की १२ वीं गाथा है।

---

१. देखिए, एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द १, पृ० २२२–२३८ तक और एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द २, पृ० १८०–१९४ तक।

" हे पवन ! रुकते क्यों हो, धीरे-धीरे चलो। यद्यपि तुम मेरे वस्त्र को खींच रहे हो, तथापि अब मैं और किसे ढूँढूँ। हे सुन्दर ! मेरा गाँव दूर है और मैं अकेली हूँ। (नायिका स्वयंदूती का कार्य कर रही है और पवन के व्याज से पथिक से अपने घर चलने की प्रार्थना कर रही है।)

"एक ओर प्रिया रो रही है, दूसरी ओर समर से सूर्य का निर्घोष सुनाई पड़ रहा है। (एक ओर) प्रेम (अपनी ओर खींच रहा है) और (दूसरी ओर) रण का उत्साह (अपनी ओर खींच रहा है), योद्धा के हृदय को हिंडोल पर झुला रहे हैं।"

'दशरूपक' की अनेक प्राकृत गीतियाँ 'गाहा सत्तसई' से ही ली गई हैं। अज्ञात कवियों की रचनाएँ इसमें बहुत कम हैं।

'व्यक्तिविवेक' में उद्धृत प्राकृत गीतियाँ

'व्यक्तिविवेक' अलङ्कार शास्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के प्रणयन का मुख्य उद्देश्य ध्वनि-सिद्धान्तों का खण्डन और सभी ध्वनियों का 'अनुमान' में अन्तर्भाव है।[1] किसी अधिकारी आचार्य के सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए प्रबल पांडित्य, महती तर्क-शक्ति और अगाध विद्वत्ता की आवश्यकता होती है। आचार्य आनन्दवर्धन सामान्य आलङ्कारिक नहीं थे। उनकी विवेचन-शक्ति तथा मौलिकता परले सिरे की है। इस ग्रंथ की महत्ता वाग्देवावतार आचार्य मम्मट भट्ट और रसगङ्गाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ जैसे धुरन्धर आचार्यों ने स्वीकार की है। पण्डितराज जैसे स्वाभिमानी और सर्व-शास्त्रवेत्ता प्रकाण्ड विद्वान् ने आलंकारिक-सरणि का व्यवस्थापक स्वीकार किया है।[2] राजानक महिमभट्ट ने स्वयं कहा है कि ध्वनिकार जैसे महान् आचार्य का परिचय मात्र ही गौरव प्रदान करनेवाला होता है और उन्होंने ध्वनिमार्ग की गहनता को भी मुक्तकण्ठ

---

१. अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥
—व्य० वि०, वि० १।१।

२. ध्वनिकृतामालङ्कारिकसरणि-व्यवस्थापकत्वात् ।—रस० गं०

से स्वीकार किया है और उसका दर्शक 'आलोक' को माना है।[1] इतने मान्य आचार्य के सिद्धान्तों का खण्डन व्यक्तिविवेककार ने जिस पाण्डित्य के बल पर किया है, उसके सभी विद्वान् स्वीकारक होंगे। इनकी अनौचित्यविषयक मान्यताओं को आचार्य मम्मट भट्ट ने पूर्णरूप से स्वीकार किया है। इनका समय ग्यारहवीं शती ई० का पूर्व चरण माना गया है और ये 'कुन्तक' के किञ्चित् परवर्ती हैं, क्योंकि इन्होंने अपने ग्रन्थ में उनका उल्लेख मात्र ही नहीं उनके मत का खण्डन भी प्रबल आक्रमण के साथ किया है। 'व्यक्तिविवेक' के विद्वान् टीकाकार साहित्याचार्य पं० मधुसूदन शास्त्री टीका में एक स्थान पर लिखते हैं—

"अयं महिमभट्टाचार्यः परमाहंकारी स्वसमक्षमन्यान् तृणाय मन्वानः उद्दण्डतया क्वापि समादरमलभन् तत्कृते आनन्दवर्द्धन-कुन्तकादीनां लब्ध-यशोविसराणामुपरि बलवत्पराक्रान्तिमातेने। अनयोरेव ग्रन्थयोः समालोचन-मपि विमर्शत्रयेण कृतमिति।"

—व्यक्ति०, मधुसूदनीविवृतिः, विमर्श २, पृ० १४६।

टीकाकार के कथनानुसार राजानक महिमभट्ट को भले ही कहीं आदर न मिला हो, क्योंकि वे लीक पीटनेवालों और अन्धानुकर्ताओं में नहीं थे, तथापि उनकी विवेचन-शक्ति की सूक्ष्मता प्रतिपक्षी को विचलित कर देने में पूर्ण क्षम है। इस ग्रन्थ में कुल सत्ताईस प्राकृत गीतियाँ हैं, जिनमें इक्कीस तो ध्वन्यालोक की ही हैं, शेष स्वतन्त्र हैं। उनमें से चार यहाँ दी जा रही हैं—

उक्खअदुमं व सेलं हिमहअकमलाअरं व लच्छिविमुक्कम्।
पीअमइरवं चसअं बहुलपओसं व मुद्धअंदविरहिअम्॥
—व्यक्ति०, २, पृ० २८४।

कह णाम ण होसि तुमं भाअणमसमञ्जसस्स णरणाह।
णिच्चं चेअ कुणन्तो जहिच्छमत्थाण विणिओअम्॥
व्यक्ति०, २। पृ० ३६५।

---

१. इह सम्प्रतिपत्तितोऽन्यथा वा ध्वनिकारस्य वचोविवेचनं नः।
नियतं यशसे प्रपत्स्यते यन्महतां संस्तव एव गौरवाय॥
—व्य० वि०, विमर्श १।३॥

ध्वनिवर्त्मन्यतिगहने स्खलितं वाण्याः पदे पदे सुलभम्।
रभसेन यत्प्रवृत्ता प्रकाशकं चन्द्रिकाद्यदृष्ट्वैव॥ —वही, वि० १।५॥

पत्ता णिअंबफंसं ह्नाणुत्तिएणाए सामलङ्गीए।
चिहुरा रुअन्ति जलविन्दुएहिं बन्धस्स व भएण॥
—वही, वि० २, पृ० ३८७।

वाणिअअ! हत्थिदन्ता कत्तो अह्माण वग्घकित्ती अ।
जाव लुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्कए सोण्हा॥
—वही, वि० ३, पृ० ८४ और ४४८।

"उखाड़ लिए गए वृक्षों वाले पर्वत, पाला से मारे गए कमलों से हीन विश्री सरोवर, मदिरा पीकर रिक्त छोड़ दिये गए चषक और मुग्धचन्द्र से हीन प्रदोष काल के समान।"

"नित्य ही यथेच्छ अर्थ का विनियोग करते हुए, हे नरनाथ! आप आकुलता के पात्र क्यों नहीं होते हो?" (जो नित्य ही अपव्यय करेगा, उसे धनाभाव में व्याकुलता होगी ही)।

"(सरोवर वा सरिता में) स्नान कर लेने के अनन्तर श्यामलाङ्गी के नितम्ब-स्पर्शी केश जल-बिन्दुओं को गिराते हुए मानो बन्धन के भय से रो रहे हों।"

"हे वाणिजक! हाथीदाँत और व्याघ्र-चर्म हमारे पास कहाँ? जब तक कि चंचल-अलक-मुखी वधू घर में घूम रही है। (गृहस्वामी हाथीदाँत और बाघ का चमड़ा खरीदने के लिए आए हुए व्यापारी से कह रहा है कि मेरे घर में नवेली बहू आई हुई है और मेरा पुत्र आजकल उसी के साथ विलास में लीन है। शिकार खेलना ही छूट गया है, फिर हाथियों और बाघों को मारे कौन?)

यह अन्तिम गीति 'वज्जालग्ग' की 'वाहवज्जा' की २१३ गीति है, जिसकी निचली पंक्ति किञ्चित् भिन्नता लिए हुए इस प्रकार हैं—

"उत्तुङ्ग थोरथणवट्टसालसा जं बहू सुवइ।"

'सरस्वती-कण्ठाभरण' की प्राकृत गीतियाँ

इस महनीय ग्रन्थ के रचयिता वे ही महाराज भोजराज हैं जिनके विद्या-प्रेम और दान की बहुसंख्यक कहानियाँ आज भी जन-जीवन में फैली हुई हैं। इनका समय सन् १०१८ से १०५६ ई० तक है। ये धारा नगरी के नरेश और परमार वंश के भूषण थे। ये केवल विद्या-प्रेमी ही नहीं अपितु

गम्भीर विचारक और मौलिक विवेचक भी थे। इन्होंने अलङ्कार-शास्त्र पर दो महान् ग्रंथों की रचना की। इनका दूसरा ग्रन्थ 'शृङ्गार प्रकाश' है, जिसमें इन्होंने शृंगार रस को ही मूलभूत आदिम रस कहा है।[1] इन्होंने रसों के वैज्ञानिक प्रकार प्रस्तुत किए हैं, जो इनकी मौलिक विवेचना शक्ति के ठोस प्रमाण हैं। इनका 'सरस्वती-कण्ठाभरण' विशेष आदर पाता आया है। इसमें दोष, गुण और अलङ्कार का विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के देखने से ऐसा लगता है कि भोजराज अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। इसमें संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत पद्यों के उद्धरण प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत किए गए हैं और बहुत से प्राकृत पद्य तो दोषों के निदर्शन में भी लाए गए हैं। कुल मिलाकर ३५० के लगभग प्राकृत, देशी और अपभ्रंश गीतियाँ हैं। इतने प्राकृत छन्द किसी भी अन्य संस्कृत लक्षण-ग्रन्थ में नहीं आए हैं। इनमें भी बहुत से तो 'गाहा सत्तसई' और वज्जालग्ग' के हैं तथा कुछ अन्य पूर्ववर्ती लक्षण-ग्रन्थों में पाए जाते हैं, तथापि अज्ञात गीतिकारों की गीतियाँ भ ीकम नहीं हैं। उनमें से आठ गीतियाँ यहाँ दी जा रही हैं, जिनमें दोष-प्रकरण में उद्धृत गीतियाँ नहीं हैं—

अह्मारिसा वि कइणो कइणो हलिवुड्ढ हाल पमुहा वि।
मण्डुक्क मक्कडा वि हुहोंत्ति हरी सप्प सिंहा वि॥
—स० क०, परि० १, पृ० ६०।

"हमारे जैसे कवि भी होते हैं और हरिवृद्ध, शालिवाहन (हाल) आदि भी कवि हुए थे, जैसे मेढक, मर्कट भी जानवर हैं और हरि, सर्प और सिंह भी (हैं)।"

तुज्भ ण आणे हिअअं मम उण मअणो दिआ अ रत्तिं अ।
णिक्किव तवेइवलिअं तुहवुत्त मणोरहाइ अङ्गाइम्॥
—स०क०, परि०२, पृ०१३७।

"मैं तुम्हारे हृदय की दशा नहीं जानता, किन्तु मेरे हृदय को तो मदन दिन और रात, हे निष्कृप! त्वत्सम्बन्धी मनोरथों को उत्पन्न करके जबर्दस्ती तपा रहा है।"

---

१. शृङ्गार-वीर-करुणाद्भुत-रौद्र-हास्य-वीभत्स-वत्सल-भयानक-शान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दशरसान्सुधियो वयं तु शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः॥
—शृंगारप्रकाश

तुं सि मए चूअंकुर दिण्णो कामस्सगहिअधणुअस्स ।
जुवइ मणमोहण सहो पञ्चम्भहिणो सरोहोहि ॥
—वही, परि० २, पृ० १३८ ।

"मैंने तो गृहीत धनुष कामदेव को आम्रमञ्जरी दी, किन्तु हे युवतिजन-मनोमोहन ! तुमने उसे पाँच बाण दे डाले ।"

छणपिट्ठ धूसरत्थणि महुमअ अम्बच्छि कुवलआहरणे ।
कण्णकअ चूअसंजरि पुत्ति तुए मण्डिओ गामो ॥
—वही, परि० ३, पृ० ३०७ ॥

"हे पुत्रि ! तुमने स्तनों पर कुंकुम पोतकर, नील कमलों के आभूषण पहनकर, कानों में आम्र-मञ्जरी पहनकर सारे ग्राम का ही शृंगार कर दिया ।

णमह अविट्ठिअ तुङ्गं अविसारिअ वित्थअं अणोणअंगहिरम् ।
अप्पल्लहु अपरिसह्लं अणाअ परमत्थ पाअडम्महुमहणम् ॥
—वही, परि० ३, पृ० ३१२ ।

"अतद्धित और तुङ्ग, अविसरित और विस्तृत, अन्यून गम्भीर, अल्पलघु और अपरिच्छिन्न तथा अज्ञात परमार्थ को प्रदान करने वाले मधुमथन को नमस्कार करो ।"

सामाइ सामलीए अद्धच्छि पलोअमुहसोहा ।
जम्बूदलकअ कणवअंसभमिरे हलिअउत्ते ॥
—वही, परि० ३, पृ० ३२८ ॥

"जम्बू-दल को कानों का आभूषण बनाए हुए भ्रमणशील कृषक-पुत्र को आधी आँखों से (छिपाने के लिए आँखें भर कर नहीं देखती) देखने वाली श्यामा की मुख-शोभा धूमिल पड़ रही है ।" (नायक संकेत-स्थल पर जाकर लौट आया, नायिका कारणवश वहाँ मिल नहीं सकी, यह समझ कर नायिका दुख से मलिन पड़ गई ।)" [यह गाहासत्तसई की २।८० वीं गाथा है ।]

पोढ़महिलाणए जज्जं सुसिक्खिअन्तरएसुहावेइ ।
जज्जं असिक्खिअं णववहूण तन्तं रइन्देइ ॥
वही, परि० ३, पृ० ३३० ।

"सुशिक्षित प्रौढ़ महिलाओं को रति-काल में जो-जो सुख प्राप्त होते हैं, वे ही-वेही सुख अशिक्षित नव वधुओं को भी रति के समय प्राप्त होते हैं ।"

ण हु णवर कोअण्डदण्डए पुत्तिमाणुसे वि एमेअ ।
गुण वज्जिए ण जाअइ वंसुप्पणे वि टंकारो ॥
—वही, परि० ३, पृ० ३४५ ।

"हे पुत्रि ! केवल धनुष के दंड में ही (यह बात) नहीं है अपितु मनुष्य में भी (यही बात घटित होती है); जिस प्रकार अच्छे बाँस की खूँटी में उत्पन्न होने पर भी यदि उसमें डोरी (गुण) न हो तो टङ्कार की ध्वनि उत्पन्न नहीं होती, उसी प्रकार उत्तम कुल (वंश) में उत्पन्न मनुष्य में यदि गुण न हों तो वह निरर्थक होता है ।"

इन प्राकृत गीतियों के देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि महाराज भोजदेव के पुस्तकालय में प्राकृत कविताओं का अच्छा संग्रह था । यदि केवल इसमें आई वे ही गीतियाँ सङ्कलित कर दी जायँ जो अन्य संग्रह-ग्रन्थों से अतिरिक्त हैं तो भी एक उत्तम गीति-संग्रह हो सकता है । इनमें शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों और भावों का भी बड़ा सुन्दर अङ्कन हुआ है ।

काव्यानुशासन की प्राकृत गीतियाँ

आचार्य हेमचन्द्र संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, देशी आदि अनेक भाषाओं के प्रकांड विद्वान् थे । उनका लिखा 'कुमारपाल चरित' नामक द्व्याश्रय काव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इसमें आरम्भ के बीस सर्ग संस्कृत में तथा शेष आठ सर्ग प्राकृत में हैं । गुजरात के नरेशों के चरितों के साथ ही साथ इसमें संस्कृत तथा प्राकृत व्याकरणों को भी समझाया गया है । इसमें काव्यत्व कम, विद्वत्ता ही विशेष रूप से मुखरित हुई है । इसके अतिरिक्त इनके सिद्ध हैमव्याकरण (शब्दानुशासन), देशीनाममाला (कोश), काव्यानुशासन (अलङ्कार-ग्रन्थ) आदि ग्रन्थ तथा महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की टीकाएँ मिलती हैं । इनके 'काव्यानुशासन' मूल में ५२ प्राकृत गीतियाँ तथा वृत्तियों में २० गीतियाँ उपलब्ध होती हैं । इनमें अधिकांश प्राकृत गीतियाँ पूर्ववर्ती लक्षण ग्रन्थों में आई हुई हैं । उनमें से कुछ गीतियाँ यहाँ दे रहे हैं—

अस्स (ण्ण) त्थ वच्च बालय अण्हा इति किसमलेहसि एअम् ।
हे जायाभीरुयाण तीत्थं विअ न होई ।
—काव्यानु०, अध्या० १, पृ० ५४ ।

मा पन्थं रुन्धीओ अवेहि बालय अहोसि अहिरीओ ।
अम्हे अणिरिक्काओ सुन्नघरं रक्खियव्वं णो ॥—वही

अहयं उज्जुअरूया तस्स वि उम्मन्थराइं पिम्माइं ।
सहि आयणो अ निउणो अलाहि किं पायराएण ॥
—वही, अ० ३, पृ० १०७ ।

निहुयरणम्मि लोयणवहम्मि पडिए गुरूणमज्झम्मि ।
सयलपरिहारहियया वणगमणं वेव महइ वहू ॥
—वही, अ० ३, पृ० ११२ ।

अहिणवमणहरविरइयवलयविहूसा विहाइ नववहुया ।
कुन्दलयच्च समुप्फुल्लगुच्छ परिच्छित्त भमरगणा ॥
—अ० ३, पृ० १४१ ।

ढुण्ढिल्लिन्तु मरीहिसि कण्टयकलियाइं केयइवणाइं ।
मालइकुसुमेण समं भमर भमन्तो न पाविहिसि ॥
—वही, अ० ६, पृ० २४२ ।

अयि दियर किं न पेच्छसि आयासं किं मुहा पलोएहि ।
जायाएँ बाहुमूलम्मि अद्धयन्दाण परिवाडिम् ॥
—अ० ६, पृ० २६५ ।

निग्गण्ड दुरारोहं मा पुत्तय पाडलं समारुहसु ।
आरूढनिवडिया के इमिए न कया इहग्गामे ॥
—वही, अ० ६, पृ० २९१

"बालक ! और कहीं जाओ, वहाँ बड़े ध्यान से देख रहे हो, अरे पत्नी से डरने वालों को कहीं घाट ही नहीं होता ।

"राह मत रोको, हट जाओ, बालक ! तुम बड़े निर्लज्ज हो, हम सब परतन्त्र हैं और हमें अपना सूना घर रखाना है । (राह में लोग देखकर बुरा मानेंगे, यहाँ मत रोको, घर में हम अकेली हैं वहीं आओ ।)

तीसरी गाथा लेखक के प्रमाद से अत्यन्त अशुद्ध हो गई है, इसीलिए इसकी संस्कृतच्छाया महामहोपाध्याय पण्डित शिवदत्त शर्मा उपस्थित नहीं कर सके और उन्होंने पाद-टिप्पणी में लिख दिया, "अस्य संस्कृतं बहूनाम्पदानामस्फुटत्वान्न लिखितम् ।" यह गाथा अपने शुद्ध रूप में 'गाहा सत्तसई' में इस प्रकार है—

अहअं लज्जालुइणी तस्स अ उम्मच्छराइँ पेम्माइं।
सहिआअणो वि णिउणो अलाहि किं पाअराएण॥
गा० स०, १।२७।

"मैं लज्जालु हूँ और उसका प्रेम उद्भट है, सखीजन भी निपुण हैं (तनिक चिह्न देखते ही परिहास कर बैठती हैं)। पैर में महावर लगाने का क्या प्रयोजन (जब कि पद-तल सहज ही लाल हैं)? अतः तुम जाओ।"

इस गीति पर टीका करते हुए आचार्य हेमचन्द्र कहते है, "वह मुझे पुरुषायित के लिए कहते हैं और मैं लज्जा और संकोच के कारण उनके कथन का निषेध नहीं कर पाती, सखियाँ पैर के रँगे चिह्न को देखकर पुरुषायित का अनुमान करके मेरी हँसी उड़ाती हैं। यह व्यंग्य यहाँ स्फुट नहीं है।"[1]

"एकान्त में रमण करती हुई बहू गुरुजनों के बीच देख ली गई, अब वह सब कुछ त्याग कर वन में जाना चाहती है (लकड़ी आदि लाने के बहाने उपभोग के लिए वन के निभृत वातावरण में निकल जाना चाहती है, जहाँ कोई देख ही न सके।)।"

'अभिनव मनोहर रचा गया वलय आभूषण त्याग कर नववधू ने कुन्द-लता के खिले हुए गुच्छों से भौंरों को दूर कर दिया (नीलरत्न के आभूषणों को धारण किया कुसुमाभरणों को हटाकर, जिससे भौंरे चले गए और उसे शान्ति मिली)।

"हे भ्रमर! काँटों से घिरे हुए केतकी के वन में तू ढूँढता-ढूँढता मर जायगा तथापि भटकने पर भी मालती के फूल की भाँति इसे नहीं पाएगा।"

"हे देवर! क्या तू देखता नहीं है? क्यों व्यर्थ आकाश की ओर घूर रहा है, जाया के बाहुमूल में जो अर्द्धचन्द्रों की पंक्ति बन गई है (उसे देख)।" (कुचों पर नखक्षतों के अनेक चिह्न बन गए हैं जो रात्रि-विलास को सूचित करते हैं)।

"इस निर्गण्ड दुरारोह पाटल पर, हे पुत्र! तू मत चढ़। इस गाँव में इस पर जो भी चढ़ा वह गिरे बिना न रहा।"

---

१. "अत्र स मां पुरुषायितेऽर्थयते, अहं च निषेद्धुं न शक्ता, तत्सख्यः पादमुद्रया तर्कयित्वा मामहासिषुरिति व्यंग्यमस्फुटम्।"
—काव्यानु०, अध्या० २, पृ० १०७।

यह अन्तिम गीति हेमचन्द्र ने जिस रूप में दी है उससे पूर्णतया अर्थ-व्यक्ति नहीं हो पाती, इसीलिए उन्हें कहना पड़ा, "प्राकरणिकता के अभाव में यह पता नहीं चल पाता कि यहाँ समासोक्ति है अथवा अन्योक्ति, यही सन्देह है।"[1] हो सकता है, उन्होंने अपने आप उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए पाठ को इस रूप में कर दिया हो, क्योंकि 'गाहा सत्तसई' में इसका जो पाठ मिलता है उसमें 'अन्योक्ति' स्पष्ट है; उसमें यह गाथा इस प्रकार मिलती है—

णिक्कण्ड दुरारोहं पुत्तअ मा पाडलिं समारुहसु।
आरूढणिवडिआ के इमीअ ण कआ हआसाए॥

—गा० स०, ५।६८।

"हे पुत्र ! इस स्कन्धहीना (अवसर-शून्या) अतः दुरारोहा (दुष्प्राप्या) पाटलि वा पाटला पर मत चढ़ो (उस युवती को प्राप्त करने के यत्न से विरत हो जाओ)। इसने किस चढ़ने का यत्न करने वाले को हताश करके गिरा नहीं दिया ? (जिस किसी ने इसे प्राप्त करने का यत्न किया उसे हताश ही होना पड़ा।)

काव्यप्रकाश की प्राकृत गीतियाँ

'काव्यप्रकाश' जैसा प्रौढ़ अलंकार-ग्रन्थ दूसरा कोई भी नहीं है। इसके रचयिता आचार्य मम्मट भट्ट साहित्य और व्याकरण शास्त्र के धुरन्धर विद्वान् थे, यह इनके एकमात्र इसी ग्रंथ से स्पष्ट है। इनके पूर्व जिन विद्वानों ने ध्वनि-सम्प्रदाय के विरोध में ग्रंथ प्रस्तुत किए थे, उनका इन्होंने समुचित युक्तियों से प्रबल विरोध किया, मुख्यतः 'अनुमितिवादी' आचार्य महिमभट्ट का। इसीलिए इन्हें आगे चलकर 'ध्वनिप्रस्थापन परमाचार्य' की संज्ञा प्रदान की गई। इस ग्रंथ का इतना आतंक आगे आने वाले विद्वानों पर छा गया कि किसी को भी ध्वनि-मार्ग का विरोध करने का साहस ही नहीं हुआ। 'काव्यप्रकाश' पर अब तक कम से कम पचास टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं, किन्तु अब भी यह ग्रंथ अपनी दुर्बोधता में ज्यों-का-त्यों प्रतिष्ठित है। इस ग्रंथ के प्रख्यात टीकाकार महेश्वर भट्टाचार्य ने लिखा है—

---

१. "अत्र शठसरपोटापाटलयोरन्यतरस्याः प्राकरणिकत्वाभावान्न ज्ञायते किमियं समासोक्तिरुतान्योक्तिरिति संशयः।"

—काव्यानु०, अध्या० ६, पृ० २६१।

काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीका तथाप्येष तथैव दुर्गमः ।
सुखेन विज्ञातुमिमं य ईहते धीरः स एतां विपुलां विलोक्यताम् ॥
—काव्यप्रकाशादर्श (का० प्र० की टीका)

अर्थात् काव्यप्रकाश की टीकाएँ यद्यपि घर-घर में हो गई हैं तथापि यह ज्यों-का-त्यों दुर्गम बना हुआ है। जो इसे सुखपूर्वक भलीभाँति समझना चाहता हो वह धीर (मेरी) इस विपुला टीका को ध्यानपूर्वक देखे।

मम्मट का समय ग्यारहवीं शती ईस्वी का अन्तिम भाग माना जाता है। इस महामहिम ग्रंथ में साठ प्राकृत गीतियों को भी स्थान दिया गया है, उनमें से कुछ नूतन गीतियाँ हम यहाँ रख रहे हैं ! इन गीतियों की विशेषताओं को भी मम्मटभट्ट ने उसी विद्वत्ता और अधिकार के साथ प्रदर्शित किया है जिस पाण्डित्य के साथ उन्होंने सप्तम उल्लास में कवि-कुल-गुरु कालिदास तक के शब्द-प्रयोग-सम्बन्धी दोषों को दिखाया है। गीतिकाव्य का चरमोत्कर्ष बहुसंख्यक प्राकृत गीतियों में सहज ही उपलब्ध है, इनके समक्ष संस्कृत के बड़े-बड़े वृत्तों में लिखे गए भाव-गीतों की मधुरिमा भी फीकी पड़ जाती है। देखिए —

साहेन्ती सहि सुहअं खणे खणे दूम्मिआसि मज्झकए ।
सब्भावणेह करणिज्ज सरिसअं दाव विरइअं तुम ए ॥
—काव्य०, उल्लास०२, उदाहृत-पद्य सं० ७ ।

एद्दहमेतत्थणिआ एद्दहमेत्तेहिं अच्छिवत्तेहिं ।
एद्दहमेत्तावत्था एद्दहमेत्तेहिं दिअएहिं ॥
—काव्य०, उल्लास २, दा०, उद्धृतपद्य-संख्या ११ ।

पंथिअ ! ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे ।
उण्णअपओहरं पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु ॥
—वही, उदा० ५८ ।

केसेसु बलामोडिअ तेण अ समरम्मि जअसिरी गहिआ ।
जह कन्दराहि विहुरा तस्स दढं कंठअम्मि संठविआ ॥
—वही, उदा० ६५ ।

जा ठेरं व हसन्ती कइवअणंबुरुहवद्धविणिवेसा ।
दावेइ भुअणमण्डलमण्णं विअ जअइ सा वाणी ॥
—वही, उदा० ६७ ॥

सहिविरइऊण माणस्स मज्झ धीरत्तरोण आसासम् ।
पिअदंसणविहलंखलखणम्मि सहसत्ति तेरा ओसरिअम् ॥
—वही, उदा० ६९ ।

महिला सहस्स भरिए तुह हिअए सुहअ सा अमाअन्ती ।
अणु दिण मरणणा कम्मा अंगं तणुअं वि तणुएइ ॥
—वही, उल्लास ४, उदा० ७१ ।

विहलं खलं तुमं सहि दट्ठूण कुडेण तरलतर दिट्ठिम् ।
वारप्फंस मिसेण अ अप्पा गुरुओत्ति पाडिअ विहिएणो ॥
—वही, उल्लास ४, उदा० ९१ ।

जं परिहरिउं तीरइ मणअं पि ण सुन्दरत्तणगुणेण ।
अह णवरं जस्स दोसो पडिक्खेहिं पि पडिवण्णो ॥
—वही, उल्लास ७ उदा० २१६ ।

सा वसइ तुज्झ हिअए सा चिअ अच्छीसु साअवअरोसु ।
अह्मारिसाण सुन्दर ओआसो कत्थ पावाणम् ॥
—वही, उल्लास १०, उदा ५६० ।

जह गहिरो जह रअणणिब्भरो जह अ णिम्मलच्छाओ ।
तह किं विहिणा एसो सरसवाणीओ जलणिहीण किओ ॥
—वही, उल्लास १०. उदा० ५७३ ।

"हे सखि ! मेरे लिए उस सुन्दर को अनुकूल बनाने के यत्न में तुम प्रतिक्षण व्याकुल हो रही हो। तुमने तो सद्भावना और स्नेह के द्वारा जैसा और जितना कुछ किया जा सकता है किया ही।" (यहाँ लक्ष्यार्थ यह है कि तुमने मेरे प्रिय के साथ रमण करके मेरे साथ शत्रु का कार्य किया है और व्यंग्यार्थ है कि मेरा कामुक प्रियतम सापराध है।)[1]

"इतने बड़े-बड़े स्तनों वाली, इतनी बड़ी-बड़ी पलकों वाली, इतनी ही अवस्थावाली और इतने ही दिनों की।" (यहाँ दूती नायक से नायिका के आकर्षक अङ्गों और आकार तथा वय का परिमाण शब्दों द्वारा न कहकर विभिन्न प्रकार की चेष्टाओं द्वारा प्रकट करती है। जो कार्य चेष्टाओं द्वारा होता

---

१. अत्र मत्प्रियं रमयन्त्या त्वया शत्रुत्वमाचरितमिति लक्ष्यम् तेन च कामुक-विषयं सापराधत्वप्रकाशनं व्यङ्ग्यम्। —काव्यप्रकाश, उल्ला ा २।

है उसे शब्द और तदर्थ कर ही नहीं सकते। इस काव्य में इस क्रिया का सम्पादन व्यञ्जना द्वारा होता है।)

"हे पथिक! इस पत्थरोंवाले गाँव में (मूर्खों से भरे गाँव में) कहीं भी संस्तर वा सुन्दर बिछावन–चटाई आदि नहीं है (कोई ऐसा विद्वान् वा शिष्ट व्यक्ति नहीं है जो तुम्हारा आह्लादन करे)। हाँ, यदि इन उमड़ते हुए बादलों (पूर्णतया उठे हुए स्तनों) को देखकर यहाँ (आज की रात) रहना चाहो तो रह जाओ।" (नायिका के कहने का अभिप्राय यह है कि यदि मुझे देखकर तुम मदन-व्यथा का अनुभव कर रहे हो तो उस व्यथा से छुटकारा पाने के लिए मेरे घर रहकर मेरी काम-पीड़ा को दूर करो। मम्मट भट्ट का कहना है कि "यदि तुम उपभोग कर सकते हो तो रुको।")[1]

"उसने (उस राजा ने) बलपूर्वक जय-लक्ष्मी को केश पकड़ कर युद्ध-भूमि में (अपनी ओर) खींच लिया और उसी प्रकार कन्दराओं ने उसके शत्रुओं को दृढ़ता के साथ गले से लगा लिया।" (यही बात आलङ्कारिक ढंगसे कही गई है कि उस राजा की जीत हुई और शत्रु भागकर गुहाओं में छिप गए।)

"कवि के मुख-कमल में बँधी हुई वह सरस्वती जो समस्त भुवन-मण्डल को कुछ और ही रूप में दिखाती है (ब्रह्मा ने जैसा इसे रचा है उससे और सुन्दर बना देती है) और अपने इस कार्य द्वारा ब्रह्मा का बूढ़े की भाँति उपहास करती है, वही विजयिनी होती है।' (सरस्वती का सिंहासन ब्रह्मा के सिंहासन की भाँति जड़ कमल नहीं है अपितु चेतन कवि-मुख है। यहाँ व्यतिरेकालङ्कार व्यंग्य है। इस व्यंग्य का उद्भव अभिधा व्यापार द्वारा व्यक्त उत्प्रेक्षालंकार द्वारा होता है)।

"हे सखि! मेरे धैर्य्य ने चित्त में मान को स्थान देकर उसे रखने का आश्वासन तो दिया था (तुम्हारे समझाने-बुझाने पर मान करने की बात मन में आई थी अवश्य) किन्तु प्रियतम के देखने के विच्छृङ्खल क्षणों में वह (धैर्य्य) अवसर पाकर कहीं खिसक गया।" (प्रियतम को देखते ही मान करने की बात ही मुझे भूल गई। प्रिय की अनुपस्थिति में मैंने मन में मान कर रखा था, किन्तु प्रिय के आते ही मान का तिरोधान

---

१. अत्र यद्युपभोगक्षमोऽसि तदा आस्स्वेति व्यज्यते।

—काव्य०, उल्लास ४, वृत्ति।

हो गया, अर्थात् प्रियतम के बिना मनाए ही मानभंग हो गया। इस प्रकार कारण के अभाव में कार्य हो जाने से 'विभावना'[1] अलंकार व्यंग्य हुआ।)

"हे सुभग ! सहस्रों महिलाओं से भरे तुम्हारे हृदय में अपने प्रवेश के लिए स्थान न पाकर वह (सुन्दरी) प्रतिदिन सारे कर्मों को त्याग कर अपने दुबले शरीर को और भी दुबला बना रही है [जिससे वह उस भीड़ भरे तुम्हारे हृदय-प्राङ्गण में प्रवेश कर सके।]" (दुर्बल होने पर भी पैठ न पाना, अर्थात् कारण के रहते कार्य न होना रूप 'विशेषोक्ति'[2] अलंकार व्यंग्य है।)

"हे सखि ! तुम्हारी विच्छृङ्खलता (व्याकुलता) और अतिशय चञ्चल दृष्टि को (भारी बोझ के कारण) देखकर द्वार को छूने के बहाने अपने को बहुत भारी समझ कर घड़े ने अपने को गिरवाकर तोड़ डाला [तुम्हारे दुःख को देख न सका]। (यहाँ अपह्नुति[3] अलंकार द्वारा [द्वार छूने के बहाने] यह व्यंग्य है कि पहले तो तुमने नदी किनारे लताकुञ्ज में अपने जार को पाया नहीं, अब यहाँ पहुँच कर उसे आया हुआ देख लिया और कृत्रिम व्याकुलता दिखाकर द्वार से टक्कर लेकर घड़े को तोड़ डाला, जिससे फिर वहाँ जाने का अवसर हाथ लग जाय। अतः यह अलङ्कार से वस्तु व्यंग्य हुआ।)

"सुन्दरता के गुण के कारण जिसे छोड़ा ही नहीं जा सकता, ऐसा (काम-चेष्टा रूप) जिसका एक मात्र दोष है, उस दोष को उसके शत्रुओं ने भी (दोष) मान लिया है।" (जो संसार से विरक्त हो चुके हैं वे भी सुन्दरियों की काम-चेष्टा की भयंकरता से भयभीत रहते हैं।)

"हे सुन्दर ! वही (परस्त्री प्रिया) तुम्हारे हृदय में, वही आँखों में और वही बातों में निवास कर रही है, फिर मुझ जैसी पापिनियों को (आप के पास) स्थान ही कहाँ ?

---

१. "क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना" (कारण रूप क्रिया के प्रतिषेध पर भी जहाँ फल प्रकट हो जाय वहाँ विभावना होती है।)

—काव्य०, उल्लास १०, सूत्र १६२।

२. "विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः।"

—काव्य०, उल्लास १० सू०, १६३।

३. प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः।" —वही, सू० १४६।

"ब्रह्मा ने समुद्र को जैसा गहरा, जैसा रत्नों से पूर्ण और जैसा स्वच्छ कान्तिमान् बनाया वैसा ही इसे पीने योग्य जलवाला क्यों नहीं बनाया ?"

'रुद्रट' रचित 'काव्यालङ्कार' की प्राकृत गीतियाँ

आचार्य रुद्रट के नाम से ही स्पष्ट है कि ये कश्मीर के निवासी थे। प्राचीन आचार्यों में इनका नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। इनके जीवन-काल के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। इनका एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ काव्यालंकार है। इसके टिप्पणकार श्वेताम्बर जैनपण्डित नमिसाधु ने ग्रन्थ की टीका समाप्त करके लिखा है—

पञ्चविंशतिसंयुक्तैरेकादश समाशतैः।
विक्रमात्समतिक्रान्तैः प्रावृषीदं समर्थितम् ॥
—टिप्पणान्त श्लोक।

अर्थात् ११२५ वि० सं० की वर्षा ऋतु में काव्यालंकार का यह टिप्पण पूर्ण हुआ। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का मूल और वृत्ति भाग इससे पहले रचित हो चुका होगा। 'साहित्य-दर्पण' में महाकवि विश्वनाथ ने भी रुद्रट के मत का उल्लेख किया है,[1] किन्तु वे नमिसाधु से भी परवर्ती हैं। महाराज भोज के 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में रुद्रट के अनेक छन्द उपलब्ध होते हैं।[2] भोजराज का समय ग्यारहवीं शती ईस्वी का प्रायः पूर्वार्द्ध ही है। अतः रुद्रट उनके भी पूर्ववर्ती हुए। आचार्य राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में रुद्रट के मत का उल्लेख किया है।[3] राजशेखर का काल दशम श० ई० का प्रथम चरण है, अतः रुद्रट इनके भी पूर्ववर्ती हुए। इस प्रकार इनका समय दसवीं श० ई० से पूर्व नवीं शती ई० के बीच कहीं प्रतीत होता है। डाक्टर बुह्लर ने 'कश्मीर रिपोर्ट' में लिखा था—

---

१. रुद्रटस्त्वाह—
"असमस्तैकसमस्ता युक्ता दशभिर्गुणैश्च वैदर्भी।
वर्गद्वितीयबहुला स्वल्पप्राणाक्षरा च सुविधेया ॥
—सा०द०, परि० ६, वैदर्भी रीति-प्रकरण।

२. देखिए, 'किं गौरि मां प्रतिरुषा.......' आदि श्लोक 'सरस्वती कण्ठाभरण' में।

३. 'काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालङ्कारोऽयमिति रुद्रटः।' —का० मी०।

'ख्रिस्त संवत्सरीयैकादशशतकोत्तरार्द्धे काव्यालङ्कारकर्ता रुद्रटो बभूव।'[1]

उनके मतानुसार मूल ग्रन्थकार, वृत्तिकार और टिप्पणकार तीनों एक ही समय में हुए थे। ऊपर दिए हुए प्रमाणों से उनकी मान्यता का निरसन अपने आप हो जाता है।

आचार्य रुद्रट अलङ्कार-सम्प्रदाय के पोषक थे। इन्होंने आचार्य भामह के ही पथ का अनुसरण किया है। इनका 'काव्यालंकार' देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये गम्भीर चिन्तक और काव्यशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे। ये ही ऐसे प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने अलंकारों का वर्गीकरण किया है। समस्त अलङ्कारों के चार मूल तत्त्व इन्होंने निकाले हैं और उन्हीं चार सामान्य अलङ्कारों का ही प्रपञ्च अन्य अलङ्कारों को कहा है, अर्थात् ये चार सामान्य अलंकार हैं तथा इन्हीं के भेद रूपकादि विशेष अलङ्कार हैं, ये अर्थालंकार हैं—

अर्थस्यालङ्कारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः॥

—काव्यालङ्कार, अध्याय ७।९।

कतिपय अलंकारों के नाम इन्होंने स्वयं विचार कर रखे हैं, जैसे, व्याजश्लेष ('व्याजस्तुति' के लिए), जाति (स्वभावोक्ति) आदि। इस ग्रन्थ में कुल सोलह अध्याय हैं और कुल पद्य-संख्या ७२४ है। ये सब लेखक के स्वनिर्मित हैं। इनमें कतिपय प्राकृत-गीतियाँ उदाहरणार्थ लेखक ने रची हैं, जो भाषाश्लेष के उदाहरण में रखी गई हैं। इसमें एक संस्कृत-प्राकृत-श्लेष के लिए, एक संस्कृत-मागधी, एक संस्कृत-पैशाची और एक संस्कृत-सूरसेनी के श्लेष के लिए। इनमें दो गीतियाँ यहाँ दी जा रही हैं—

सरसबलं स हि सूरोऽसङ्गामे माणवं धुरसह्नावम्।
मित्तमसीसरदवरं ससरणमुद्धर इमं दबलम्॥

—काव्यालङ्कार, अध्याय ४।११।

---

१. "In the later half of the eleventh century falls रुद्रटः, the author of the काव्यालंकार।"

—Dr. Buhler, Jour. B.B.R.A.S. Vol. XII. No 34, p. 67.

कुललालिलावलोले शलिलशे शालशालिलवशूले।
कमलाशवलालिबलेऽमाले दिशमन्तकेऽविशमे॥

वही, अध्याय १४।१२।

'हे सखि! हमारा पति संग्राम में उन मित्रों की रक्षा करता है, जो कि बाणों के प्रहार से नीले-पीले पड़ जाते हैं, गर्व से जिनका स्वभाव अत्यन्त शोभन होता है, जो खड्गधारियों के छक्के छुड़ा देते हैं और जो शरण में आ जाता है उसकी रक्षा करते हैं। इन गुणों से पूर्ण होने पर भी यदि उनके पास सैन्य-शक्ति का अभाव होता है तो (हमारे पति को उनकी रक्षा करनी ही पड़ती है)।"

"जहाँ कुररी पक्षियों का कलरव होता रहता है, सारसों का कूजन जहाँ मन को मुग्ध करता रहता है और जहाँ भौंरे कमलों का मधु पीकर गुञ्जन करते रहते हैं, शरद् ऋतु का ऐसा विषम जल देखकर मुनियों का मन भी क्षुब्ध हो जाता है।"

आचार्य रुद्रट ने संस्कृत की उत्तम गीतियों की रचना की है, किन्तु प्राकृत के गीत नहीं के बराबर हैं। प्राकृत और अपभ्रंश की जो पाँच गीतियाँ हैं वे 'श्लेष' के उदाहरण रूप में लिखी गई हैं और उनमें भाव-सौन्दर्य का अभाव तथा मस्तिष्क का व्यायाम ही प्रमुख है। अतः इनमें गीति-तत्व का अभाव ही है।

'प्राकृतपिङ्गलसूत्र' की गीतियाँ

'प्राकृतपिङ्गलसूत्र' के रचयिता वे ही पिङ्गलनाग माने जाते हैं जिन्होंने 'संस्कृतच्छन्दोलक्षण-सूत्र' की रचना की थी। जिस प्रकार उन्होंने वहाँ लिखा है—

मयरसतजभनलगसम्मितं भ्रमतिवाङ्मयं जगति यस्य।
स जयति पिङ्गलनागः शिवप्रसादाद्विशुद्धमतिः॥

—संस्कृतच्छन्दोलक्षणसूत्र।

उसी प्रकार इसमें भी स्थान-स्थान पर ऐसे कथन मिलते हैं

'पिङ्गल जम्पइ गुरु आणिज्जसु।'—प्रा० पिं० सू०, परि० १।३६।

"कइ पिंगल भासइ छंद पआसइ मिअणअणि असिअ एहू।"

—वही, परि १।८१।

इत्यादि। प्राचीन परम्परा के अनुसार आचार्य पिङ्गलनाग को महर्षि पाणिनि का समकालीन माना जाता है। 'विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्', पटना से प्रकाशित 'चतुर्दश भाषा-निवन्धावली' में 'संस्कृत भाषा और उसका साहित्य' नामक निवन्ध में पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत ने पिंगलनाग को पाणिनि-कालीन ही कहा है।[१] हाँ, इतना अवश्य है कि आज जिस रूप में यह ग्रन्थ मिलता है वह बहुतों के हाथों पड़कर पल्लवित और परिष्कृत हो चुका है। इसका मूल भाग थोड़ा ही था, इसमें सन्देह नहीं। लक्षणों और उदाहरणों में चौदहवीं शती ईस्वी तक की रचनाएँ बाद में जोड़ दी गईं, जिससे इसके काल-निर्णय में विद्वानों के सम्मुख एक समस्या खड़ी हो गई। उदाहरणों में आई हुई कुछ कविताएँ अवश्य ही प्राचीन हैं किन्तु सब नहीं। छन्दों के उदाहरण-स्वरूप कुछ अत्यन्त ललित गीतियाँ इसमें आई हैं, जिनके रचयिताओं में बहुत कम का ही पता लगता है और उनमें भी विशेषतया प्रबन्धकारों का। यहाँ हम कुछ गीतियाँ इस ग्रन्थ से दे रहे हैं, इनमें पहले हम मात्रिक छन्दों में बद्ध गीतियों को स्थान दे रहे हैं—

परिहर माणिणि माणं पेक्खहि कुसुमाइँ णीवस्स।
तुम्ह कए खरहिअओ गेह्णइ गुडिआधणुअं किर कामो॥
—प्रा० पिं० सू०, परि०१, विग्गाहा छन्द।

मुञ्चहि सुन्दरि पाअं अप्पहि हसिऊण सुमुहि खग्गं मे।
कप्पिअ मेच्छसरीरं पेच्छइ वअणाइ तुम्ह धुअ हम्मीरो॥
—वही०, परि०१, पृ० ३४।

फुल्लिअ महु भमरहु रअणिपहु
किरण बहु अवअरु वसंत।
मलअगिरिकुहर धरि पवण वह सह वत
भण सहि णिअल म णहि कंत॥
—वही, परि०१, पृ०७८।

---

१. पाणिनि के समकालीन छन्दःशास्त्र के आचार्य पिंगल ने काव्यों में प्रयुक्त होनेवाले अनेक लौकिक छन्दों के लक्षण लिखे हैं, जो नवीन साहित्य में प्रयुक्त होने लगे थे। अतः साहित्य का उदयकाल विक्रम के अनेक शतक पूर्व हो चुका था—यह निस्सन्देह कहा जा सकता है।"
—चतुर्दश भाषा-निबन्धावली, पृ० ६।

णच्चइ चचल विज्जुलिआ सहि जाणए,
मम्मह खग्गकिणी सइ जलहरसाणए।
फुल्लकलम्बअ अंबरडंबर दीसए,
पाउस पाउ घणाघण सुमुहि वरीसए॥
—वही, परि० १, पृ० ८७।

"हे मानिनि ! मान को छोड़ो, कदम्ब के कुसुमों को तो देखो, कठोर हृदयवाले कामदेव ने तुम्हारे लिए (अन्य कुसुमों के अभाव में) अब गुटिका का धनुष धारण किया है।"

"हे सुन्दरि ! पैर छोड़ दो, हे सुमुखि ! हँसती हुई मुझे तलवार दे दो, मैं म्लेच्छों के शरीरों को काटकर तुम लोगों के मुखों को अवश्य ही देखूँगा।"

"हे सखि ! महुओं के फूलों पर भौंरे आने लगे, चन्द्रमा की किरणों पर वसन्त उतर रहा है, पवन मलय पर्वत के कुहरों से होकर चलने लगा है और मेरा प्रियतम मेरे पास नहीं है, बता इस कष्ट को मैं कैसे सहूँगी?"

"हे सखि ! बिजली नाचने लगी है, बादल के शाण (छुरी आदि धारदार हथियारों की धार तेज करने का यन्त्र) पर मानों कामदेव के खड्ग की चिनगारियाँ छूट रही हैं। (कामदेव अपनी तलवार की धार तेज़ कर रहा है), कदम्ब के वृक्ष फूल उठे हैं, आकाश में बादल घुमड़ रहे हैं, पावस ऋतु आगई है। हे सुमुखि ! अब तो मूसलाधार वर्षा भी होने लगी (अब मैं विरहिणी कहाँ जाऊँ और क्या करूँ ?)।"

वर्णिक वृत्तों की गीतियाँ—

फुल्ला णीवा भम भमरा दिट्ठा मेहा जलसभरा।
णच्चे विज्जू पिअसहि आ आवे कन्ता सहि कहिआ॥
—प्रा० पिं० सू०, परि० २ पृ० १२७।

जहि फुल्ल केअइ चारुचम्पअचूअमञ्जरिवञ्जुला,
सव दीस दीसइकेसुकाणणपाणवाउलभम्मला।
वह गन्धवन्धुविबन्धवन्धुर मन्दमन्दसमीरणा,
पियकेलिकोउकलासलग्गिमलग्गिआ तरुणीजना॥
—वही, परि० २, पृ० २०७।

जिणि वेअ धरिज्जे महिअल लिज्जे पिट्ठिहि दन्तहि ठाउ धरा,
रिउवच्छ विआरे छलतणुधारे बन्धिअ सत्तु पआल धरा।
कुल खत्तिअ कम्पे दहमुह कट्टे कंसअकेसिविणास करा,
करुणे पअले मेच्छह विअले सो देउ णराअणु तुम्ह वरा ॥[1]
—वही, पृ० २१६।

जअइ जअइ हर वलइअविसहर
तिलइअसुन्दरचन्दं मुणिआणन्दं सुहकन्दं।
वसह गमणकर तिसुल डमरुधर
णअणहि डाहुअणंगं रिउभंगं गौरिअधङ्गम्।
जअइ जअइ हरि भुजजुअधरुगिरि,
दहमुहकंसविणासा पिअवासा साअरवासा।
वलिछलिमहिअलु असुरविलअकरु
मुणिअणमाणसहंसा सुहवासा उत्तमवंसा ॥
—वही, पृ० २२४।

जं फुल्ल कमलवण वहइ लघु पवण भंमइ भमरकुल दिसिविदिसम्।
झंकार पलइ वण रवइ कुइलगण विरहिअगणमुह अइविरसम्।
आणन्दिअ जुअजण उलसु रहसहण सरस-णलिणिदलकिअसअणा।
पल्लट्टु सिसिररिउ दिवस दिघर भउ कुसुमसमअ अव अविअवणा ॥
—वही, पृ० २२५।

"कदम्ब फूल उठे हैं, भौंरे भ्रमण कर रहे हैं, बादल जल से पूर्ण (काले-काले) हैं। बिजली नाच रही है। हे सखि ! बता, क्या प्रिय आवेंगे ?"

"हे सुन्दरि ! केतकी कुसुमित हो उठी है, चम्पा के पौधे भी खिल रहे हैं, आम में बौर आ गए हैं, वकुल पुष्पित दिखाई पड़ने लगे। सभी दिशाओं में भौंरे किंशुक-वन में मधुपान से मतवाले और मत्त घूमते दिखाई देने लगे। सुगन्धि से आपूर्ण शीतल समीर मन्द-मन्द डोल रहा है। (ऐसे मदनोत्सव-काल में) युवतियाँ अपने-अपने प्रियतम के गले से लिपटकर काम-क्रीडा में

१. मिलाइए, जयदेव के 'गीतगोविन्द' की दशावतार-वन्दना 'वेदानुद्धर तेजगन्ति-वहते भूगोलमुद्बिभ्रते............' से। उपरिलिखित प्राकृत गीतियों के पद-लालित्य को देखकर ही कुछ विद्वानों ने अनुमान किया था कि 'गीतगोविन्द' प्राकृत गीतों का संस्कृत-रूपान्तर है।

लीन हो गई (वसन्तकाल आ गया है, अतः तुम भी केलि के लिए प्रस्तुत हो जाओ)।

इसके अनन्तर आने वाली गीति में शिव जी और विष्णु भगवान् की स्तुति का भाव पूर्णतया स्पष्ट है।

"कमलवन प्रफुल्लित हो गया, समीरण मन्द गति से डोलने लगा, भौंरे इधर-उधर भटकने लगे, वन में झंकार छा गई। कोयलें कूक रही हैं, विरहियों के मुख की कान्ति म्लान पड़ गई। युवक आनन्दित हो उठे, उनका हृदय बड़े वेग से उल्लसित हो उठा है। शिशिर ऋतु लौट गई और अब वन में सरस कमलिनी-दलों पर सोने वाला वसन्त आ गया है।"

'अलङ्कारसर्वस्व' की प्राकृत गीतियाँ

'अलंकारसर्वस्व' नामक ग्रन्थ की रचना राजानक रुय्यक ने की है। ये काश्मीर के निवासी थे और बारहवीं शती ईस्वी का पूर्वार्द्ध इनका काल माना गया है।[1] ये काश्मीर-नरेश महाराज जयसिंह के (शासन-काल सन् ११२७ से ११४९ ई० तक) सान्धिविग्रहिक महाकवि मङ्खक[2] के गुरु थे। इनके द्वारा रचित अलंकारसर्वस्व के अतिरिक्त ग्रन्थ हैं—

(१) साहित्यमीमांसा, (२) नाटकमीमांसा, (३) हर्षचरितवार्तिक, (४) सहृदयलीला, (५) श्रीकण्ठस्तव, (६) व्यक्तिविवेक-व्याख्यान और (७) अलंकारानुसारिणी।

इनमें अन्तिम ग्रंथ महाकवि जल्हण के 'सोमपाल विलास' काव्य की टीका है। अलंकार सर्वस्व, साहित्यमामांसा तथा सहृदयलीला के अतिरिक्त अन्य ग्रंथ अद्यावधि उपलब्ध नहीं हो सके हैं। 'व्यक्तिविवेकव्याख्यान' का कुछ

---

१. अस्य प्रणेता उद्भटविवेकाख्य ग्रन्थकर्तृ राजानकतिलकसूनू रुचकापरनामा रुय्यकाचार्यः खिस्ताब्दस्य द्वादशशतक पूर्वभाग आसीत्।
—श्री गिरिजाप्रसाद द्विवेद, प्रस्तावनाभाग, अलंकरसर्वस्व पृ० ६।

२. एकं श्रीजयसिंह पार्थिवपतिं काश्मीरमीनध्वजं,
तस्योपासितसन्धिविग्रहमलङ्कारं द्वितीयं स्तुमः।
भूभारः प्रथमेन पन्नगपतेः चमां रचता वारितो,
नीतोऽन्येन कृतार्थतां प्रवचनैर्भाष्योपदेशश्रमः॥
—श्री कण्ठचरित, २५।४०, ६१।

अंश ही उपलब्ध है। इनकी ख्याति एकमात्र इसी ग्रंथ पर आधारित है। ये अलंकार-सम्प्रदाय के ही अनुयायी हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि इस ग्रन्थ के सूत्रकार राजानक रुय्यक तथा वृत्तिकार उन्हीं के शिष्य मङ्खक हैं। स्वर्गीय महामहोपाध्याय गणपतिशास्त्री ने 'अनन्तशयनसंस्कृत ग्रन्थावली' की भूमिका में यही निर्णय दिया है, किन्तु उस मत की अयथार्थता अब सिद्ध हो चुकी है और सूत्र तथा वृत्ति दोनों के कर्त्ता आचार्य रुय्यक ही मान लिये गए हैं। इस ग्रन्थ के आरम्भ में इन्होंने भामह, उद्भट, रुद्रट, कुन्तक, भट्टनायक, महिमभट्ट आदि के मतों का संक्षिप्त परिचय दिया है, ध्वनिप्रपञ्च का भी संक्षेप में उल्लेख किया है। तदनन्तर ६ शब्दालंकारों और ७५ अर्थालंकारों की पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की है। सूत्रों में अलङ्कारों का सामान्य परिचय देकर गद्य में उनके स्वरूप की विशद विवेचना की है। उदाहरणों में संस्कृत और प्राकृत के सुन्दर पर-रचित पद्य रखे हैं। इनमें कुल प्राकृत गीतियों की संख्या १५ है। उनमें से कुछ यहाँ दी जा रही हैं—

रेहइ मिहिरेण णहं रसेण कव्वं सरेण जोव्वणअं।
अमएण धुणीधवओ तुमए णरणाह भुवणमिणं॥

—अ०स०, पृ० ९२।

किवणाण धणं णाआणँ फणमणी केसराइँ सीहाणं।
कुलवालिआणँ थणआ कुत्तो छेप्पंति अमुआणं॥

—वही, पृ० ९३।

बालअ णाहं दूई तीए पिओ सि त्ति णम्ह वावारो।
सा मरइ तुज्झ अयसो एअं धम्मक्खरं भणिमो॥[1]

—वही, पृ० १४७।

सुहअ विलंबसु थोअं जाव इमं विरहकाअरं हिअअं।
संठविऊण भणिस्सं अहवा वोलेसु किं भणिमो॥

—वही, पृ० १४७।

घेत्तुँ मुच्चइ अहरो अण्णतो वलइ पेक्खिउं दिट्ठी।
घडिदुं विहंडति भुआ रआअ सुरअम्मि वीसामो॥

—वही, पृ० १८।

---

१. यह गाथा थोड़े से शाब्दिक हेर-फेर से 'गाहा सत्तसई' की २।७८वीं तथा 'वज्जालग्ग' की ४३८वीं गाथा है। गा० स० में इसे 'असुलद्धि'-रचित कहा गया है।

ए एहि दाव सुन्दरि कण्णं दाऊण सुणसु वअणिज्जं।
तुज्झ मुहेण किसोअरि चन्दो उअमिज्जइ जणेण ॥
—वही, पृ० २०८।

"सूर्य से आकाश शोभा पाता है। रस से काव्य की शोभा होती है। कामदेव से यौवन की और अमृत से समुद्र की शोभा होती है। (उसी प्रकार) हे नरनाथ! तुमसे इस भुवन की शोभा है।"

"कृपणों का धन, सर्पों के फणों पर स्थित मणि, सिंहों की सटा और कुलबालिकाओं के स्तन, भला इन्हें कौन छू सकता है?"

"हे बालक! (भोले युवक!) मैं दूती नहीं हूँ उसकी जिसके तुम प्रियतम हो और यह हमारा व्यापार (दूतीत्व) भी नहीं है। किन्तु अपना धर्म समझ कर मैं इतना कह देती हूँ कि यदि वह (तुम्हारे वियोग में तड़प कर) मर गई तो तुम्हें ही अयश का भागी बनना पड़ेगा (स्त्री-हत्या का पाप तुम्हें अवश्य लगेगा)।"

"हे सुभग! क्षण भर के लिए रुक जाओ जब तक कि मैं इस विरह-कातर हृदय को सँभालती हूँ और फिर अपनी मनोव्यथा तुम्हें सुनाती हूँ। अथवा जाओ मैं कहूँ क्या!" (यह गीति अत्यन्त मार्मिक ध्वनि काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है)।

"अधर को पकड़ने के लिए (चुम्बन के लिए) छोड़ देती है, देखने के लिए आँखें मूँद लेती है, बाँधने के लिए भुजाएँ ढीली कर लेती है और सम्भोग के लिए सुरत-काल में विश्राम करती है।"

"हे सुन्दरि! आओ तो यहाँ और जरा कान लगाकर लोगों की बातें भी सुनो। हे कृशोदरि! लोग चन्द्रमा को तुम्हारे मुख के समान कह रहे हैं।"

'अलङ्कारविमर्शिणी की प्राकृतगीतियाँ

राजानक रुय्यक के 'अलङ्कार सर्वस्व' पर दो टीकाएँ मिलती हैं। एक है राजानक जयरथ की 'अलङ्कारविमर्शिणी' और दूसरी है कोलम्बाधीश महाराज रविवर्मा के सभा-पण्डित समुद्रबन्ध की टीका। 'अलङ्कारविमर्शिणी' सर्वाङ्ग-सुन्दर और अत्यन्त प्रौढ़ टीका है। टीका में जयरथ ने रुय्यक के दिए उदाहरणों पर ध्यान न देकर स्वतन्त्ररूप से उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, इनमें संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत की सुन्दर गीतियाँ भी गुम्फित हैं। प्राकृत गीतियाँ

बीस के आस-पास अर्थात् मूलग्रन्थ से संख्या में अधिक हैं। इनमें कुछ गाहा-सत्तसई, वज्जालग्ग आदि उपलब्ध ग्रन्थों की हैं, तथापि बहुसंख्यक अज्ञात लेखकों की ही हैं। राजानक जयरथ का समय बारहवीं शती ईस्वी का उत्तरार्ध भाग है। इन्होंने 'हरचरित चिन्तामणि' की भी रचना की है। अलङ्कार-विमर्शिणी' से कुछ प्राकृत गीतियाँ यहाँ दी जा रही हैं—

मन्दरमेहक्खोहिअ सलि कलहसपरिअ (मु) क्क संतिलोच्छङ्गम्।
मरगअ सेवालोवरिणिगरणतुह्लिक्कमीणचक्काअजुअम् ॥[1]

—अलंकारविमर्शिणी, पृ०५१।

दिरअरअरणिउरंबा कणआअल कडअ--रेणुविप्फुरिआ।
विअसंति परिमलभरोब्भडेहिं कमलाकरेहिं समं॥

—वही, पृ० १०५।

दूर पवासे सँमुहो सि सुहअ आलिंगणं खणं कुरुसु।
अहवा अला हि इमिणा गमणम्मि विलंबआरेण॥

—वही, पृ० १४७।

ण अ रूव ण अ ऋद्धी णावि कुलं ण अ गुणाणं विएणाणं।
एमे अ तहवि कस्स वि को अणो वल्लहो होइ॥

—वही, पृ० १५६॥

माणो गुणेहि जाअइ गुणा वि जाअन्ते सुअणसेवाइ।
विमलेण सुअअप्पसरेण सुअणावइ उट्टाणं॥

—वही, पृ० १७७।

सोबाणारुहण वरिस्समेण कीस्सुविजे बिनिस्सरिआ।
तेस्वि अहरिदः सनवइअरेणस्सा साणवाच्छिण्णाः॥

—वही, पृ० २०३।

णिद्दच्चअ वंदिज्जिअ किं किरऊ देवआहिं अएणाहिं।
जिइ पसाएण पिओ लघइ दूरे वि णिवसंतो॥

—वही, पृ० २०८।

---

१. मिलाइए,

सर सूखे पंछी उड़ें, और सरन समाहिं।
दीन मीन बिनु पंख के, कहु रहीम कहँ जाहिं॥

—रहीम-दोहावली।

"मन्दर मेघ से क्षुब्ध जल के अङ्क को चन्द्रमा और कलहंसों ने छोड़ दिया, किन्तु मछली और चकवा पक्षी मरकत मणि के समान सेवार के ऊपर बैठे ही हुए हैं।"

'कनकाचल के शिखर पर धूल उड़ाते हुए दिनकर के कर-निकुरम्ब (किरण-समूह, हाथों का झुण्ड) परिमल से पूर्ण कमलाकरों के साथ-साथ विकसित होते हैं।"

"हे सुभग ! तुम दूर देश जाते समय सामने आ गए हो, अतः क्षण भर गले से मिल लो। अथवा इस प्रकार गमन में विलम्ब करने से क्या लाभ ! (नायिका मुख से तो जाने को कहती है किन्तु उस कथन का व्यंग्यार्थ यह है कि तुम दूर देश मुझे छोड़कर मत जाओ। यदि वह गले से लगाती तो उससे उसकी सहमति सूचित होती, किन्तु आलिङ्गन का निषेध करके उसने अपनी असहमति प्रकट की)।"

"जिसके पास न रूप है, न धन है, न कुल (ऊँचा वंश) है, और न गुणों का समूह है, तथापि ऐसा व्यक्ति भी किसी युवती का प्रियतम हो ही जाता है (अर्थात् प्रेम रूप, धन, कुल और गुणों की अपेक्षा नहीं रखता, और न हृदय, बुद्धि से परामर्श करने के पश्चात् ही, किसी को अपनाता या त्यागता है। प्रेम तो स्वतः उद्भूत हो जाता है, शुद्ध अन्तःप्रेरणा के द्वारा)।"

"गुणों से मान (सम्मान) उत्पन्न होता है, और सुजन-सेवा से गुण उत्पन्न होते हैं, तथा.........सुजनों का उत्थान होता है।"

"सोवाणारुहणपरिस्समेण......" यह गाथा स्पष्ट नहीं है, इसीलिए इस ग्रन्थ के सम्पादक ने पादटिप्पणी में लिख दिया है, "पुस्तकद्वयेऽप्येषा गाथास्फुटैव" अर्थात् दोनों ही पुस्तकों में यह गाथा अस्फुट है।"

"अन्य देवताओं को त्यागकर निद्रा की ही वन्दना करनी चाहिए, जिसके प्रसाद से दूर निवास करने वाले प्रिय से भी भेंट हो जाती है (स्वप्न में)।"

'साहित्यदर्पण' की प्राकृत गीतियाँ

इस ग्रंथ के रचयिता कविराज विश्वनाथ महापात्र हैं। ये उत्कल देश के

निवासी महाकवि चन्द्रशेखर के पुत्र थे।[1] इन्हें अट्ठारह भाषाओं का पूर्ण ज्ञान था। इनके कुल में पहले से विद्वान् होते आए थे। इनके प्रपितामह आचार्य नारायण कवि पण्डित थे जिन्होंने अद्भुत रस को ही सब रसों की 'प्रकृति' मान लिया था।[2] इस मान्यता से उनकी सूक्ष्म विवेचना-शक्ति का पता चलता है। यद्यपि 'साहित्यदर्पण' अलंकारशास्त्र का प्रस्थान-ग्रंथ नहीं है तथापि अन्य प्रौढ़ अलंकार-ग्रन्थों (ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश और रस-गंगाधार) से इसकी विशेषता यह है कि इसमें प्रायः काव्य-सहित्य के सारे विषयों का आकलन कर लिया गया है तथा यह ग्रन्थ इतनी सरल भाषा में, ऐसी सरल प्रतिपादन शैली में रचित हुआ है कि जिन साहित्य-प्रेमियों में संस्कृत भाषा का गम्भीर पाण्डित्य नहीं है वे भी इससे पूरा-पूरा लाभ उठाकर अलंकार-शास्त्र का सामान्य स्वरूप सरलतापूर्वक हृदयङ्गम कर सकते हैं।

कविराज विश्वनाथ विश्वासानुसार वैष्णव थे और इन्होंने अपने को उत्कलराज का 'सान्धिविग्रहिक' भी कहा है। इसी पद पर इनके पिता चन्द्र-शेखर भी प्रतिष्ठित थे। इन्होंने अपने इस ग्रन्थ में स्वरचित इन ग्रन्थों का निर्देश किया है—

(१) राघव विलास, (२) कुवलयाश्वचरित (प्राकृत काव्य), (३) प्रभावती-परिणय (नाटिका), (४) चन्द्रकला (नाटिका), (५) प्रशस्तिरत्नावली (सोलह भाषाओं में निबद्ध), (६) नरसिंह विजय और (७) काव्यप्रकाशदर्पण (काव्य प्रकाश की टीका)। इनका समय १३ वीं-१४ वीं शती ईस्वी माना जाता है।

---

१. कविराज विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में प्रबन्ध को समाप्त करते हुए अपने को महाकवि चन्द्रशेखर का पुत्र कहा है—

श्री चन्द्रशेखर महाकविचन्द्रसूनु श्रीविश्वनाथकविराजकृतं प्रबन्धम्।
साहित्यदर्पणममुं सुधियो विलोक्य साहित्यतत्त्वमखिलं सुखमेव वित्त ॥

—सा० द०, १०। ९६।

२. चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः। तत्प्राणत्वञ्चास्मद्वृद्ध-प्रपितामह सहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीमन्नारायणपादैरुक्तम्। तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे—

इस ग्रन्थ में प्राकृत भाषा की कुल २३ गीतियाँ उपलब्ध होती हैं, जिनमें कुछ 'कुवलयाश्वचरित', 'रत्नावली' आदि की और अधिकांश प्राचीन अलङ्कार-ग्रन्थों में आ चुकी हैं। शेष गीतियों में से कतिपय यहाँ दी जा रही हैं—

तहते झत्तिपउत्ता वहुए सव्यंगविब्भमा सअला ।
संसइअमुद्धभावा होइ चिरं जइ सहीणं पि ॥
—सा० द०, पृ० १७९।[1] परि० ३।

णवरिअतं जुअजुअलं अण्णोण्णं णिहिदसजलमन्थरदिट्ठिम् ।
अलेक्ख ओपिअं विअ खणमेत्तं तत्थ संठिअं मुअसण्णं ॥
—(कुवलयाश्वचरित से) सा० दा०, परि० ३, पृ० २०९।

कमलेण विअसिएण संजोएन्ती विरोहिणं ससिबिम्वं ।
करअलपल्लत्थमुही किं चिन्तसि सुमुहि अन्तराहिअहिअआ ॥
—(विश्वनाथकविराज-रचित) सा० द०, पृ० २२४, परि० ३।

जइ संहरिज्जइ तमो घेप्पइ सअलेहि ते पाओ ।
वससि सिरे पसुवइणो तहवि ह इत्थीअ जीअणं हरसि ॥
—(चन्द्रकला नाटिका) सा० द०, पृ० ४८२, परि० ६।

ओवट्टइ उल्लट्टइ सअणे कहिंपि मोट्टाअइ णो परिहट्टइ ।
हिअएण फिट्टइ लज्जाइ खुट्टइ दिहीए सा ॥
—(वि० ना० कविराज-रचित) सा० द०, पृ० ५८०, परि० ७।

एसो ससहरबिम्बो दीसइ हेअंगवीणपिण्डो व्व ।
एदे अस्ससमोहा पडन्ति आसासु दुद्धधार व्व ॥
—सा० द०, परि० ७, पृ० ६२८ (वि० ना० रचित)

"उस वधू के सर्वाङ्गों से विभ्रम इतनी त्वरा से प्रकट होने लगे कि सखियाँ भी उसके प्रति सन्दिग्ध भावापन्न हो गईं।"

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ।
तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ॥
—सा०द०, परि० ३।

१. गीतियों की पृ० सं० डा० सत्यव्रत सिंह द्वारा अनूदित 'हिन्दी साहित्य-दर्पण' से दी गई है।

"दोनों युवती और युवक आँखों में आँसू भरे हुए इस प्रकार निश्चल दृष्टि से एक-दूसरे को देखते क्षण भर खड़े रहे, मानो दोनों ही चित्रांकित हों।"

"हे सुमुखि ! करतल पर मुख रखकर तूने खिले हुए कमल को उसके विरोधी शशि-बिम्ब से मिला दिया। अब भला तू अन्तर्मुखी होकर क्या सोच रही है ?"

"यद्यपि तुम अन्धकार का संहार करते हो तथापि सभी लोग तुम्हारे चरण पकड़ते हैं और तुग रहते तो हो भगवान् भूतभावन शिव जी के सिर पर, तथापि तुम स्त्रियों का जीवन-हरण किया करते हो।"

"वह (विरहिणी नायिका) अपनी सेज पर करवटें बदलती रहती है, हाथ-पैर पटकती है, सारे काम छोड़ कर तुम्हारा ही चिन्तन करती रहती है, उसका हृदय फटा जा रहा है और लाज की मारी धीरता ने उसकी वेदना और भी बढ़ा दी है (यह कविराज विश्वनाथ की ही निर्मित गीति है, जिसे उन्होंने 'प्रतिकूल-वर्णत्व'[1] नामक वाक्यगत दोष के उदाहरण में रखा है।)

"यह चन्द्रमण्डल मक्खन के पिण्ड के समान दिखाई पड़ रहा है और (नीचे की ओर दौड़ती) उसकी किरणें दूध की धारा के समान वेग से गिर रही हैं। (इसे 'ग्राम्यत्व'[2] दोष के उदाहरण में रखा गया है।)

विशेष—आलङ्कारिकों में प्रायः सबने (आनन्दवर्धन जैसे दो-एक को छोड़कर) प्राकृत की गीतियाँ प्राचीन गाथाओं अथवा अन्य नाटककारों से ली हैं; किन्तु विश्वनाथ कविराज ने स्वरचित गीतियों को देकर प्राकृत गीति-साहित्य के विकास की सूचना दी है।

'रसगंगाधर' की प्राकृत गीतियाँ

'रसगंगाधर' के रचयिता हैं अनेक शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य-प्रवर पण्डितराज जगन्नाथ। अपना परिचय इसी ग्रन्थ में इन्होंने निम्नलिखित दो छन्दों में दिया है—

---

१. 'वर्णानां रसानुगुण्यविपरीतत्वं प्रतिकूलत्वम्।'

—सा०द०, परि०७।

२. 'ग्राम्यत्वमधमोक्तिषु।'

—वही, परि०७।२१।

श्रीमज्ज्ञानेन्द्रभिक्षोरधिगत - सकल - ब्रह्म – विद्याप्रपञ्चः
काणादीराक्षपादादपि गहनगिरो यो महेन्द्रादवेदीत् ।
देवादेवाध्यगीष्ट स्मरहरनगरे शासनं जैमिनीयं
शेषाङ्कप्राप्त – शेषामलभणितिरभूत्सर्वविद्याधरो यः ॥

—रस० गं०, आनन १।२ ।

पाषाणादपि पियूषं स्यन्दते यस्य लीलया ।
तं वन्दे पेरुभट्टाख्यं लक्ष्मीकान्तं महागुरुम् ॥

— वही, आ० १।३ ।

'जिस (जगन्नाथ) ने श्रीमान् ज्ञानेन्द्र भिक्षु से समग्र ब्रह्मविद्या (वेदान्त) का विस्तार हस्तगत किया, महेन्द्र से कणाद और गौतम की गम्भीर उक्तियाँ (वैशेषिक और न्याय) समझीं, कामारि शिवजी के नगर (काशी) में देवादेव (खंडदेव उपाध्याय) से जैमिनीय शास्त्र पढ़ा और शेषावतार (महर्षि पतञ्जलि) की निर्मल उक्तियाँ (पाणिनि की अष्टाध्यायी पर लिखा गया 'महाभाष्य') 'शेष' (वीरेश्वर शास्त्री, जिनकी उपाधि 'शेष' थी) के उत्सङ्ग में प्राप्त कीं और इस प्रकार जो सारी विद्याओं का धारण करने वाला हुआ (अर्थात् वेदादि का पारङ्गत विद्वान् हुआ)।

"जिसकी लीला से (शिक्षा और सङ्गति से) पत्थर से भी (मुझ जैसे जड़ वा मन्दधी व्यक्ति से भी) अमृत (मधुर काव्य-धारा) प्रवाहित होता है, उस महागुरु (पिता तथा शिक्षक दोनों ही) लक्ष्मीकान्त (पण्डितराज की माता लक्ष्मी देवी के पति) पेरुभट्ट की मैं वन्दना करता हूँ।"

इस कथन से यह स्पष्ट है कि इनकी माता का नाम लक्ष्मी देवी और पिता का नाम पेरुभट्ट था और अपने अद्वितीय विद्वान् पिता से ही इन्होंने साहित्य आदि शास्त्रों की शिक्षा पाई थी। इसके साथ-साथ इन्होंने वेदान्त, वैशेषिकदर्शन, न्यायदर्शन, मीमांसा तथा व्याकरण शास्त्र सब में पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त कर लिया था। 'पाषाणादपि पीयूषं स्यन्दते' उक्ति से जगन्नाथ ने अपनी पीयूषवर्षिणी काव्य-रचना की ओर संकेत किया है।

ये तैलङ्ग ब्राह्मण थे। सभी विद्याओं में निष्णात अपने पिता से समग्र विद्याओं का अध्ययन करने के अनन्तर भी कतिपय शास्त्रों का मन्थन तत्तत् शास्त्र के प्रकांड विद्वानों का शिष्यत्व स्वीकार करके किया। तदनन्तर जयपुर

में संस्कृत-विद्यालय की स्थापना करके वहीं शिक्षा-कार्य आरम्भ किया। इस बीच इन्होंने अरबी और फारसी भाषाएँ भी सीखकर उनके ग्रन्थों का आलोड़न किया। कहते हैं कि जयपुर में दिल्ली से आए हुए एक विद्वान् काजी को इन्होंने विवाद में परास्त किया और उसी की प्रेरणा से तत्कालीन बादशाह शाहजहाँ ने इन्हें अपने दरबार में बुलाकर इनका पूर्ण सम्मान किया। बादशाह ने अपने दरबार में इन्हें 'पण्डितराज' की उपाधि दी। इनकी युवावस्था वहीं बीती[1] और वहीं इन्होंने शाहीवंश की किसी यवनानी युवती से प्रेम-विवाह भी कर लिया। इनके जीवन का अन्तिम समय मथुरा में ही बीता।[2] इनकी 'गंगालहरी' की रचना से ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तिम जीव-नवेला में ये काशी में ही रहे।

ये स्वभाव के उग्र और बड़े ही स्वाभिमानी व्यक्ति थे। तत्कालीन बड़े-बड़े विद्वानों को भी इनके सम्मुख शास्त्र-चर्चा का साहस नहीं होता था। अप्पय दीक्षित और इनको लेकर अनेक जनश्रुतियाँ विद्वत्समाज में प्रचलित हैं। उनकी अनेक मान्यताओं का इन्होने 'रस-गंगाधर' में अनेक स्थलों पर पांडित्यपूर्ण खंडन किया है। भट्टोजिदीक्षित के प्रसिद्ध व्याकरण-ग्रन्थ 'मनोरमा' के खंडन में इन्होंने 'मनोरमाकुच-मर्दन' नामक व्याकरण-ग्रन्थ की रचना की। इनकी अनेक गर्वोक्तियाँ विद्वत्समाज में प्रचलित हैं। 'रसगंगाधर' के समान पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ संस्कृत-साहित्य में दूसरा नहीं है। ध्वनिकार के प्रति तो इन्होंने आदर प्रदर्शित किया है किन्तु मम्मट भट्ट की अनेक मान्यताओं का डटकर सयुक्तिक खंडन किया है। इस ग्रन्थ के दो ही 'आनन' (परिच्छेद) उपलब्ध हैं, शेष तीन नहीं मिलते। कुछ विद्वानों का कहना है कि यह ग्रन्थ उसके हाथों पूरा नहीं हो सका था। इस ग्रन्थ में उदाहरण इन्होंने स्वरचित ही रखे हैं और इसके लिए गर्व का अनुभव भी किया है।[3] इसमें सन्देह नहीं कि यह ग्रन्थ गम्भीर चिन्तन एवं मनन के परिणाम-

---

१. शास्त्राण्याकलितानि नित्यविधयः सर्वेऽपि सम्भाविता,
दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः।

२. सम्प्रत्युज्झितवासनं मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते,
सर्वं पण्डितराजराजितिलकेनाकारि लोकाधिकम् ॥
—भामिनीविलास, शान्तविलास, ४५।

३. निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ॥
—रसगंगाधर, आनन १।

स्वरूप निर्मित हुआ है। इसके अतिरिक्त इनके निम्नलिखित ग्रन्थ और पाए जाते हैं—

(१) अमृतलहरी, (२) आसफविलास ('काव्यमाला' प्रकाशन बम्बई से इसका त्रुटित अंश ही प्रकाशित हो सका है), (३) करुणालहरी, (४) चित्र-मीमांसा-खंडन, (५) जगदाभरण (शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह का वर्णन), (६) पीयूषलहरी (इसी को 'गंगालहरी' कहते हैं), (७) प्राणाभरण, (८) भामिनीविलास, (९) मनोरमाकुचमर्दन, (१०) यमुनावर्णन और (११) लक्ष्मीलहरी।

स्वरचित कविताएँ ही देने के आग्रह के कारण 'रसगंगाधर' में अधिक प्राकृत गीतियाँ भी नहीं आ पाईं। कुल मिलाकर तीन ही प्राकृत गीतियाँ दोनों आननों में मिलती हैं, जिनमें एक 'गाहा सत्तसई' की 'भम धम्मिअ वीसत्थो....' है, जिसे ध्वनिकार ने उद्धृत किया है, शेष यहाँ दी जा रही हैं—

ओण्णिद्दं दोव्बलं चिंता अलसंतणं सणीससिअम्।
मइ मंदभाइणीए केरं सहि! तुह वि परिभवइ॥
—रस०, आनन १।

ढुंढुंणंतो हि मरीहसि कंटककलिआइं केअइवणाइं।
मालइकुसुमसरिच्छं भमर भमंतो ण पावहिसि॥
—वही, आनन २।

"हे सखि! मुझ मंदभागिनी के लिए तुझे भी जागरण, दुर्बलता, चिंता, आलस्य और निःश्वास आदि कष्ट दे रहे हैं (मैं समझ गई हूँ कि तू मेरे प्रियतम के साथ रमण करके आई है, ये सारे लक्षण उसके प्रति तेरे प्रेम के सूचक हैं)।

"हे भ्रमर! तू इस काँटों से भरे केतकी के वन में गूँ-गूँ करता मर जायगा, किन्तु लाख भटकने पर भी यहाँ मालती के फूल के समान फूल नहीं पा सकेगा (अन्योक्ति स्पष्ट है।)।"

—:०:—

संस्कृत का स्वच्छन्द गीतिकाव्य

वैदिक गीतियों के अनन्तर लौकिक संस्कृत में भी गीतियों की रचना प्रचुर परिमाण में कवियों के द्वारा स्वच्छन्द रूप से होती रही है और आज तक होती आ रही है। कवि-हृदय का सद्योजात भावोद्वेग इन गीतियों में सुरक्षित कर दिया जाता है, इसीलिए जो भावों की तीव्रता स्वच्छन्द गीतियों में मिलती है वह प्रबन्ध में बहुत ही कम स्थलों पर मिल पाती है। दृश्य प्रबन्धों में अवश्य ही वैसी भावाभिव्यक्त गीतियों का अभाव नहीं रहता जैसी स्वच्छन्द काव्य-क्षेत्र में मिलती हैं। हम दृश्य काव्यों की गीतियों का उल्लेख आगे चलकर यथास्थान करेंगे, पहले स्वच्छन्द गीतियों का ही विकास दिखाया जायगा। लौकिक संस्कृत की स्वच्छन्द गीतियों के, विक्रमी शती से पूर्व लिखे गए, संग्रह आज मिलते नहीं और बहुत से इधर के ऐसे मुक्तक काव्य भी उपलब्ध नहीं होते; हाँ, महाकवियों के कुछ गीत अलङ्कार-ग्रन्थों में इधर-उधर बिखरे मिलते हैं। मुक्तक गीतियों के विकास-क्रम को दिखाने के लिए हमें उन कतिपय उपलब्ध गीतियों के पथ से ही आगे बढ़ना होगा।

पाणिनि

पाणिनि को लेकर विद्वत्समाज में काफी मतभेद है। कोई-कोई विद्वान् कवि-पाणिनि को वैयाकरण-पाणिनि से भिन्न मानते हैं, उनमें पुरातत्त्ववेत्ता डॉ० भंडारकर[1], और पीटर्सन महोदय प्रमुख हैं। किन्तु वैयाकरण-पाणिनि के कवि न होने के जो तर्क उन्होंने दिए हैं, वे युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होते। उनका कहना है कि वैयाकरण पाणिनि के काल तक इस प्रकार की प्रौढ़ काव्य-रचना नही होती थी, जैसी उनके नाम से सम्बद्ध रचनाओं में उपलब्ध होती है; किन्तु यह कथन अपना कोई प्रौढ़ आधार नहीं रखता। वेदों में भी काव्यात्मक सूक्तियाँ अनल्प मात्रा में उपलब्ध होती हैं, वाल्मीकीय रामायण तथा महाभारत में उच्च कोटि की काव्य-कला के दर्शन होते हैं। तब से लेकर कालिदास के समय तक वैसी विशिष्ट रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं, इसीसे

---

१. दक्षिण का प्राचीन इतिहास। —डॉ० भण्डारकर

कतिपय पश्चिमी विद्वानों को इस विषय में सन्देह हुआ है। कवि-शिरोमणि कालिदास के पूर्व अवश्य ही उच्च कोटि की कविताएँ होती रहीं, जिसकी भूमि पर आकर वे अप्रतिम काव्य-सर्जना में समर्थ हुए, अन्यथा वैसी कविताओं की सम्भूति असम्भव होती। पाणिनि की अष्टाध्यायी जैसे लक्षण-ग्रन्थ की रचना भाषा की अत्यन्त समृद्धावस्था में ही सम्भव हुई और यह भी स्मरण रखना होगा कि उनके पूर्व भी ऐन्द्र, चान्द्र आदि अनेक व्याकरण-ग्रंथों की सृष्टि हो चुकी थी।

हाँ, इस माहेश्वर व्याकरण की तीव्र ज्योति के समक्ष वे सब हतप्रभ हो गए। वैयाकरण कवि नहीं हो सकता, इस कथन में कोई अकाट्य युक्ति नहीं है। इसीलिए डा० औफ्रेक्ट और डा० पिशेल ने कवि पाणिनि को वैयाकरण पाणिनि से अभिन्न माना है। श्रीहर्ष प्रकांड दार्शनिक होते हुए भी उच्च कोटि के महाकवि थे। अतः जब तक दोनों की भिन्नता का कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता तब तक उन्हें अभिन्न ही मानना पड़ेगा।

महर्षि पाणिनि को 'दाक्षीपुत्र' के नाम से भी ग्रन्थकारों ने अभिहित किया है। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में अनेक बार इन्हें दाक्षीपुत्र ही कहा है।[1] 'सदुक्तिकर्णामृत' नामक संग्रह-ग्रन्थ में महाकवियों में 'दाक्षीपुत्र' का भी नाम सादर रखा गया है—

सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते,
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम्।
विशुद्धोक्तिः शूरः प्रकृतिमधुरा भारविगिर-
स्तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते॥ —सदुक्ति०।

इनके 'जाम्बवती विजय' नामक काव्य का उल्लेख अनेक विद्वानों ने किया है, किसी-किसी ने इसे 'पाताल-विजय' भी कहा है। रुद्रट-रचित 'काव्यालङ्कार' के प्रख्यात टीकाकार महात्मा नमि साधु ने उसके वाक्यगुण दर्शक इस छन्द—

अन्यूनाधिकवाचक-सुक्रम-पुष्टार्थ-शब्दचारुपदम्।
क्षोदक्षममक्षूणं सुमतिर्वाक्यं प्रयुञ्जीत॥

—काव्यालङ्कार, अध्या० २। ८।

---

१. सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। —महाभाष्य १।१।२०।

की व्याख्या करते हुए कहा है—

"शब्दग्रहणमपशब्दनिरासार्थम् । अपशब्दनिरासश्च यद्यपि व्युत्पत्तिद्वारेणैवकृतस्तथापि महाकवीनामप्यपशब्दपातदर्शनात्तन्निरासादरख्यापनाय पुनरभियोगः । तथाहि पाणिनेः पातालविजये महाकाव्ये—'सन्ध्यावधूं गृह्यकरेण' इत्यत्र गृह्येति क्त्वो ल्यबादेशः । तथा तस्यैव कवेः—'गतेऽर्धरात्रे परिमन्दमन्दं गर्जन्ति यत्प्रावृषि कालमेघाः । अपश्यती वत्समिवेन्दुबिम्बं तच्छर्वरी गौरिव हुङ्करोति ।। इत्यत्र 'पश्यती' इदं लुप्त'न्ती' नकारं पदम् ।" —काव्यालङ्कार, अध्या० २, पृ० १२ ।

अर्थात् रुद्रट ने 'शब्द' इसीलिए कहा जिससे कवि अपशब्द के प्रयोग से बचें । किन्तु ऐसा करने पर भी महाकवियों के काव्यों में भी अपशब्दों के प्रयोग देखने में आते हैं । पाणिनि जैसे महाकवि के 'पातालविजय' महाकाव्य में 'गृह्य' शब्द का प्रयोग हुआ है, जो 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान पर 'ल्यप्' आदेश कर देने के कारण अशुद्ध है ('गृहीत्वा' होना चाहिए था, 'गृह्य' नहीं) । उसी कवि ने एक अन्य छन्द में 'अपश्यती' शब्द का प्रयोग किया है, जब कि होना चाहिए था, 'अपश्यन्ती' ।

इसके अतिरिक्त महाकवि आचार्य राजशेखर ने एक श्लोक में कवि और वैयाकरण पाणिनि को एक ही कहकर प्रणाम किया है।[1] महाकवि क्षेमेन्द्र ने पाणिनि को उपजाति छन्द का सिद्ध लेखक घोषित किया है ।[2]

इनके कतिपय पुटकल छन्द इतस्ततः सूक्ति-संग्रहों, कोश-ग्रन्थों तथा अलङ्कार-ग्रन्थों में देखने को मिलते हैं । उनमें कौन-से इनके प्रबन्ध काव्य के और कौन से स्वच्छन्द हैं, यह कहना कठिन है । उद्धृतकर्ताओं ने जहाँ इनके महाकाव्य का नाम लेकर उद्धृत किया है, वहाँ तो स्पष्ट है किन्तु अन्यत्र के लिए कुछ कहना कठिन है, तथापि यहाँ हम उनकी कतिपय मुक्त

---

१. नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह ।
आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवतीजयम् ।।
—राजशेखर (सूक्तिमुक्तावली)

२. स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः ।
चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः ।।
—सुवृत्ततिलक, विलास १।३० ।

गीतियाँ उद्धृत करते हैं, जिनके उद्धृत करने के पूर्व 'पातालविजय' वा 'जाम्बवती विजय' नाम निर्दिष्ट नहीं है।

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम्॥
—ध्वन्या०, उद्योत १ में तथा 'अलङ्कारसर्वस्व' में समासोक्ति के उदाहरण-स्वरूप उद्धृत।

निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो मुखं निशायामभिसारिकायाः।
धारानिपातैः सह किन्नु वान्तश्चन्द्रोऽयमित्यार्ततरं ररास॥
—'अलंकारसर्वस्व' में उद्धृत

गतेऽर्धरात्रे परिमंदमंदं गर्जन्ति यत्प्रावृषि कालमेघाः।
अपश्यती वत्समिवेन्दुविम्बं तच्छर्वरी गौरिव हुंकरोति॥
—नमिसाधु की अ० स० की टीका में, पृ० १२

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरप्यधिकं चकार॥
—अलङ्कारसर्वस्व, पृ० ११७ पर उद्धृत

"अत्यन्त लाल चन्द्रमा ने (अनुराग से पूर्ण चन्द्र रूपी नायक ने) चञ्चल तारों से शोभित (नायिका के चञ्चल नेत्रों वा तारकों से शोभित) निशामुख को (निशा-नायिका के मुख को) इस प्रकार पकड़ लिया कि उसने (निशा ने, पक्षान्तर में नायिका ने) अत्यन्त रक्तिम आभा के कारण (प्रेम के कारण) यह जाना भी नहीं कि कब उसका अन्धकार (रूपी वस्त्र सरक कर) नीचे जा पड़ा।"

"बादलों ने अपने विद्युत्-नयनों से रात में जो अभिसारिका नायिका का मुख देखा तो इस भ्रम से आर्त विलाप करने लगे कि चन्द्रमा ही हमारी वेगवती वर्षा की धारा में नीचे जा गिरा है।"

"वर्षा ऋतु में आधी रात के समय चारों ओर काल-मेघ जो मन्द-मन्द गर्जन कर रहे हैं उसे सुनकर ऐसा प्रतीत होता है मानो रात रूपी गाय चन्द्रबिम्ब रूपी अपने बछड़े को न देखकर हुङ्कार कर रही हो।"

"शरद् रूपी नायिका अपने श्वेत बादलों रूपी स्तनों पर इन्द्रधनुष रूपी नखक्षत धारण करके कलंकी (जार) चन्द्रमा को रिझा रही है और रवि रूपी अपने पति के ताप को (ईर्ष्यालु बनाकर) और बढ़ा रही है।"

इस प्रकार का उच्चकोटि का काव्य किसी महाकवि की प्रतिभा का ही परिणाम हो सकता है। ये भले ही किसी महाकाव्य के अन्तर्गत ग्रथित हों तथापि इन्हें पूर्वापर प्रसङ्ग से सर्वथा असम्पृक्त कर देने पर भी स्वच्छंद गीतियाँ कह सकते हैं।

पाणिनि और कालिदास के बीच स्वच्छन्द काव्य

पाणिनि का समय विद्वानों ने ई० पू० सातवीं शती के आसपास निश्चित किया है। किन्तु जिस प्रकार पाणिनि के कुछ फुटकल पद्य ही यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं उसी प्रकार इस मध्यवर्ती काल का कोई काव्य मिलता नहीं, न तो प्रबन्ध और न स्वच्छन्द गीति-संग्रह। केवल कुछ फुटकल पद्य ही उदाहरण-स्वरूप कतिपय ग्रंथों में मिल जाते हैं। सर्वाधिक पद्य और पद्य-खंड 'महाभाष्य' में उद्धत किये गए हैं। इस ग्रन्थ का रचना-काल १५० वर्ष ईसा से पूर्व ठहरता है; अतः उद्धत पद्य और पद्यांश अवश्य ही इस काल से पूर्व के रचित होंगे। भाष्यकार वररुचि नामक कवि द्वारा रचित किसी काव्य की भी सूचना दी है।[1] आचार्य राजशेखर ने भी वररुचि के किसी 'कण्ठाभरण' नामक काव्य का उल्लेख एक पद्य में किया है, वह यह है—

यथार्थता कथं नाम मा भूद् वररुचेरिह।
व्यधत्त कण्ठाभरणं यः सदारोहणप्रियः॥

—सूक्तिमुक्तावली

महाभाष्य में उद्धृत कविताओं तथा सूक्ति-संग्रहों में ग्रथित प्राचीन कविताओं से इतना स्पष्ट है कि संस्कृत में भी काव्य-सृष्टि कभी अवरुद्ध नहीं हुई। महर्षि पाणिनि से लेकर महाकवि कालिदास तक अर्थात् विक्रम-संवत् से पूर्व छः सौ वर्षों के बीच संस्कृत में काव्य-सर्जन बराबर होता रहा, यद्यपि गौतम-बुद्ध के व्यापक प्रभाव से पालि भाषा को विशेष प्रोत्साहन मिला। ईसा के पूर्व बौद्ध युग में भी कभी संस्कृत काव्य की धारा अवरुद्ध नहीं हुई, तथापि अनेक काव्य-ग्रन्थ विलुप्त अवश्य हो गए। संस्कृत काव्य के उत्कर्ष को देखकर ही बौद्ध कवि अश्वघोष ने, जो कुषाण-सम्राट् कनिष्क के समय में थे (ईसा की प्रथम वा द्वितीय शती), संस्कृत में काव्य-रचना की और 'बुद्धचरित' के द्वारा बौद्ध मत के प्रचार पर बल दिया और उन्होंने लोक-विश्रुत कवि-कुल-

---

१. वाररुचं काव्यम्। —महाभाष्य, परि० ६।१।

गुरु कालिदास की काव्य-शैली का अनुसरण किया। कालिदास ने नाटक, प्रबन्ध काव्य, सबन्ध और स्वच्छन्द दोनों प्रकार के गीतिकाव्यों की उच्च कोटि की रचनाएँ प्रस्तुत कीं। स्वच्छन्द गीतियों के संग्रहों के विषय में, उनके कालिदासकृत होने में, आधुनिक विद्वानों को सन्देह है, मैं ऐसी गीतियों की चर्चा यहाँ कर देना आवश्यक समझता हूँ।

कालिदास की स्वच्छन्द गीतियाँ

कालिदास का समय—भारत में प्राचीनकाल से चली आती अनुश्रुतियों से प्रतीत होता है कि महाकवि कालिदास विक्रमादित्य की सभा के प्रमुख रत्न थे। उनकी सभा के नवरत्नों की चर्चा में यह श्लोक उद्धृत किया जाता है—

धन्वन्तरिः क्षपणकामरसिंहशङ्कु-वेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नवविक्रमस्य॥
—ज्योतिर्विदाभरण।

इस पद्य में जिन नव नामों का उल्लेख है, उनमें दो को छोड़कर और कोई दो भी एककालीन नहीं हैं, तथापि कतिपय विद्वान् इसे प्रामाणिक मानने को तत्पर दिखाई पड़ते हैं। जिस प्रकार मनोरञ्जन के लिए ऐसी-ऐसी कहानियाँ गढ़ी गई जिनमें कालिदास, दण्डी, भवभूति आदि को भोज की सभा में ला एकत्र कर दिया गया, उसी प्रकार नव विविध क्षेत्रों के विद्वानों को यहाँ एक साथ लाकर रख दिया गया है। अतः यह श्लोक प्रमाणकोटि में नहीं रखा जा सकता। डा० कीथ ने घटकर्पर को कालिदास का समकालीन माना है।[1] इसके पूर्व कि हम देखें कि कालिदास विक्रम की सभा में थे, हमें इस बात पर विचार करना आवश्यक हो जाता है कि कालिदास जिस विक्रम की सभा में थे वह कौन है और कब हुआ था। डॉ० फर्गुसन का कहना है कि विक्रम सम्वत्, ५४४ ई० में उज्जयिनी-नरेश, विक्रम हर्ष ने कोरूर के युद्ध में शकों को परास्त करने के उपलक्ष्य में प्रचलित किया और इसे आदरणीय बनाने के विचार से इसका समय ईस्वी सन् से ५७ वर्ष पूर्व रखा।[2] किन्तु इस बात का कोई युक्तियुक्त उत्तर उनके पास नहीं कि क्यों उस सम्राट् ने अपने प्रवर्तित संवत् को ६०० वर्ष

---

१. देखिए, History of Samskrit Literature, Part II, 9।

२. Indian antiquary; 1876, P. 182।

पीछे धकेल दिया ! अब विक्रम हर्ष के भी पहले के कतिपय शिलालेखों के[2] मिल जाने से, जिन पर विक्रम संवत् अंकित है डॉक्टर फर्गुसन का अनुमान-प्रमाण अपनी व्यर्थता स्वतः प्रकट कर देता हैं। प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् डॉक्टर फ्लीट ने कुषाण-सम्राट् कनिष्क को इस संवत् का प्रवर्तक अनुमित किया था, किन्तु उसके वंश का संवत् अलग ही परम्परा से चला आता था, यह एक इतिहास-स्वीकृत बात है, उसके संवत् का नाम सप्तर्षि संवत् था। डॉक्टर काशी प्रसाद जायसवाल का मत है कि जैन गाथाओं और लोक-कथाओं का नायक विक्रमादित्य गौतमीपुत्र शातकर्णि था।[3] किन्तु सातवाहन-सम्राटों में किसी एक ने भी कभी विक्रमादित्य की उपाधि धारण नहीं की, दूसरे आन्ध्रवंश का सत्रहवाँ सम्राट् 'हाल', जो सम्भवतः प्रथम शती ईस्वी में था, वह विक्रमादित्य से पूर्ण परिचित है, जैसा कि उसके प्राकृत गाथाओं के प्रसिद्ध संग्रह-ग्रन्थ 'गाहा सत्तसई' की इस गाथा से स्पष्ट है—

संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम् ।
चलणेण विक्कमाइत्तचरिअँ अणुसिक्खिअं तिस्सा ।।
—गा० स०, ५।६४।

अर्थात् भृत्यों द्वारा शत्रुओं के परास्त होने से प्रमुदित होकर विक्रमादित्य ने एक-एक भृत्य को लाख-लाख मुद्राएँ दीं। इस गाथा में इसके रचयिता का नाम नहीं दिया गया है, तथापि इतना तो स्पष्ट है कि हाल से पूर्व विक्रम हो चुका था। अतः जब आन्ध्रवंश के सत्रहवें राजा से पूर्व विक्रम हो चुका था तब गौतमीपुत्र शातकर्णि जो उस वंश का तेईसवाँ राजा था, विक्रमादित्य कैसे हो सकता है ? अतः डाक्टर जायसवाल के मत की निस्सारता स्वतः सिद्ध है।

सिकन्दर के आक्रमण के समय मालव और क्षुद्रक गणसंघ ने यूनानियों का सामना किया था और उसी युद्ध में सिकन्दर बुरी तरह घायल हो गया था। पश्चिमोत्तर भारत पर मौर्य-सम्राटों की हीनवीर्यता के समय बाख्त्री-जाति

---

२. मन्दसोर का शिलालेख, उत्कीर्ण लेख संख्या १८, और कावी-अभिलेख, इण्डियन ऐण्टिक्वैरी, वर्ष १८७६, पृ० १५२। मन्दसोर का शिलालेख मालव-संवत् ५२६ का तथा कावी-अभिलेख वि० सं० ४३० का है।

3. Journal of Bihar and Orissa Research Society, Vol. 16, 1930.

ने अनेक आक्रमण किए, मालव अपने पूर्व स्थान से राजपूताना की राह मध्य-भारत चले आए और वहीं उन्होंने अपना उपनिवेश बनाया। उज्जयिनी के आस-पास खुदाई में कुछ ऐसे सिक्के मिले हैं जिन पर 'मालवाना जयः' अंकित है, लिपि ब्राह्मी है।[1] अब यह बात सिद्ध हो चुकी है कि जो संवत् मालव प्रदेश में प्रचलित हुआ, वह मालवगण का ही है।[2]

बाख्त्री जाति के पश्चात् भारत पर शक जाति के आक्रमण हुए। उनकी सेना सुराष्ट्र की राह अवन्ति आकर की ओर बढ़ी। मालवगण के प्रमुख विक्रमादित्य के नेतृत्व में अनेक गणों ने उनका सामना किया और उन्हें मार भगाया। इस विजय में मालवगण का प्रामुख्य था, अतः 'शकारि' उनका विरुद हुआ। कालान्तर में गणों का अन्तर्धान होने पर यह विरुद प्रबल पराक्रमी मालवगणाधिपति विक्रमादित्य के नाम के साथ संलग्न हो गया। शकों की पराजय एक महती ऐतिहासिक घटना थी, इसी लिए अपनी गौरवशालिनी विजय को चिरस्मरणीय रखने के लिए विक्रमादित्य ने मालव-संवत् का प्रवर्तन किया। यह संवत् भी कालान्तर में विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध हो गया। यह विजय ईस्वी सन् से ५७ वर्ष पूर्व प्राप्त हुई थी। गुप्तवंशीय अनेक सम्राटों (चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त) की भाँति मालवगणमुख्य की उपाधि 'विक्रमादित्य' नहीं थी; अपितु वही उनका नाम ही था। उनके असाधारण शौर्य्य और पराक्रम, अद्भुत विद्या-प्रेम और दानशीलता तथा न्याय-कौशल और प्रशासन-क्षमता की व्यापक प्रसिद्धि के ही कारण गुप्तवंशीय नरेशों ने उन्हीं के नाम से अपने को विभूषित किया।

कालिदास का आश्रयदाता

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष स्वर्गीय पं० केशवप्रसाद मिश्र के पास उपलब्ध 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की एक हस्त-लिखित प्रति में, जो अगहन सुदी ५, संवत् १६६६ वि० को प्रतिलिपि के रूप में तैयार की गई है, नान्दी के पश्चात् सूत्रधार के कथन से पता चलता

---

१. Indian Musium coins, Vol. I, P. 162.

२. मालवानां गणस्थित्या जाते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यघनस्वने॥
—वत्सभट्टि, मन्दसोर का शिलालेख।

है कि कालिदास के इस नाटक का अभिनय सर्वप्रथम 'विक्रमादित्य साहसाङ्क' की परिषद् में हुआ था। स्व० जयशंकर 'प्रसाद' ने अपने स्कन्दगुप्त नाटक की भूमिका में मिश्रजी के पास वाली शाकुन्तल की प्रतिलिपि का उल्लेख करके उसका पाठ भी दे दिया है।[1] इस पाठ से यह स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास जिस विक्रमादित्य की सभा को सुशोभित करते थे, वे सम्राट् न होकर 'गणमुख्य' ही थे। शाकुन्तल की एक प्राचीन प्रति में सूत्रधार का कथन इस रूप में मिलता है—

"सूत्रधारः—आर्ये इयं हि रसभावविशेष-दीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषत्। अस्यांच्च कालिदासग्रथितवस्तुना नवेनाभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। तत्प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः।" —जीवानन्द विद्यासागर संस्करण, कलकत्ता, १९१४।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास विक्रमादित्य की सभा के अन्यतम रत्न थे और वह विक्रमादित्य सम्राट् न होकर गणमुख्य थे तथा मालवगण के गणमुख्य थे और उनकी उपाधि 'साहसाङ्क' थी।

कालिदास के ग्रंथों के अनुशीलन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि वे विक्रम के ही आश्रय में थे। 'विक्रमोर्वशीय' नाटक का नायक पुरूरवा है, किन्तु कालिदास ने जान-बूझ कर उसे 'विक्रम' ही नाम दिया है। चित्ररथ पुरूरवा को देखकर कहता है—

"दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्।"

—विक्रमो०, अङ्क १।

---

१. "सूत्रधारः—आर्ये रसभावविशेषदीक्षागुरोः विक्रमादित्यस्य साहसाङ्कस्याभिरूपभूयिष्ठेयं परिषत्। अस्याञ्च कालिदासप्रयुक्तेनाभिज्ञानशाकुन्तलनवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः।" —नान्द्यन्ते।

भवतु तव विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं भावयेथाः।
गणशतपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्यै—
र्नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः।

—(भरतवाक्यम्)

—स्कन्दगुप्त, भूमिका

यहाँ 'विक्रममहिम्ना' शब्द साभिप्राय प्रयुक्त हुआ है। इस कथन के आगे फिर चित्ररथ पुरूरवा की विनम्रता से भरी बात सुनकर कहता है—

"युक्तमेतत्। अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः।"—विक्रमो०, अं० १।

अर्थात् विक्रम रूप अलङ्कार निरभिमान होता ही है। विक्रम की शोभा ही विनीतता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'विक्रम' शब्द से कालिदास को जो प्रेम है वह आश्रयदाता के नाम के ही कारण।

महाकवि अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' में इन्हीं की शैली का अनुकरण किया है। पदयोजना और भावविधान दोनों में वे कालिदास के ही शिष्य हैं। मुख्य रूप से उन्होंने रघुवंश और कुमारसम्भव का अनुसरण किया है, तथापि कालिदास का काव्योत्कर्ष उनमें नहीं मिलता। अब तक के पाश्चात्य और अनेक पौरस्त्य विद्वानों की काल-निर्णय सम्बन्धी विभिन्न मान्यताएँ मालव-गणमुख्य विक्रम का पता चल जाने पर निर्मूल सिद्ध हो गई हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

स्वच्छन्द गीतियों के कर्त्ता कालिदास

कवि-गुरु कालिदास जब अपनी अतुलनीय प्रतिभा के कारण अत्यन्त विख्यात हो गए तब अनेक पश्चाद्वर्ती कवियों ने उनके अभिधान को ग्रहण करके उसी प्रकार अपने को गौरवान्वित अनुभव किया जिस प्रकार 'विक्रमादित्य' नाम धारण करके अनेक पश्चाद्वर्ती सम्राटों ने अपने को कृतकृत्य समझा। अनेक ग्रंथ कालिदास-विरचित कहे जाते हैं, जिनमें ऋतुसंहार, श्रृङ्गारतिलक, श्रुतबोध, नलोदय, घटकर्पर आदि प्रमुख हैं। इनमें 'घटकर्पर' तो विक्रम के सभा-रत्न एतन्नामा कवि का ही कहा जाता हैं, तथा 'नलोदय' के रचयिता वासुदेव (समय, दसवीं सदी ईस्वी) सर्वविदित हो गए हैं, शेष ग्रंथों के रचयिताओं का कोई पृथक् नाम उपलब्ध नहीं हो सका है। यदि वासुदेव ने अपने को कालिदास के नाम से ख्यात करना चाहा हो तो कोई विस्मय की बात नहीं है, क्योंकि यमक अलंकार का सुन्दर प्रयोग कालिदास में ही सर्वप्रथम उपलब्ध होता है और वह भी एक सर्ग के ५४ श्लोकों में नैरन्तर्य के साथ।[१] घटकर्पर काव्य के भी कालिदास के नाम से

१. देखिए 'रघुवंश' महाकाव्य का नवम सर्ग। उदाहरणार्थ—

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवस्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम्।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम्॥

—रघु०, सर्ग ६।२६।

प्रसिद्ध हो जाने में यही रहस्य है। मेरे पास सन् १८७३ में कलकत्ता से बाबू भुवनचन्द्र बासक द्वारा मुद्रित और प्रकाशित 'काव्यसंग्रह' के दो भाग हैं, जिनमें प्रथम भाग में 'शृंगार तिलक', 'ऋतुसंहार', 'श्रुतबोध' और नलोदय इन चारों को कालिदासकृत कहा गया है। किन्तु जब इनकी कविताओं को महाकवि की प्रख्यात कृतियों के समक्ष रखते हैं तब इनकी निष्प्रभता यथार्थता की स्वतः साक्षिणी बन जाती है। महाकवि राजशेखर ने तीन कालिदासों का स्पष्ट उल्लेख किया है—

एको न जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्‌गारे कालिदासत्रयी किमु॥

—सूक्ति-मुक्तावली

अर्थात् एक ही कालिदास से बढ़कर कोई कवि नहीं हो सका फिर तीन-तीन कालिदासों के शृङ्गारात्मक ललित उद्‌गारों का तो कहना ही क्या!

मैं यहाँ 'ऋतुसंहार' और 'शृङ्गारतिलक' की कतिपय गीतियाँ दे रहा हूँ, ये दोनों ही काव्य मुक्त गीतियों के संग्रह हैं। जब तक किसी मूल नाम का पता न चले, इन्हें कालिदास की ही रचना कहा जायगा, चाहे ये किसी कालिदास नामधारी की हों। कुछ विद्वान् इन्हें कालिदास की प्रारम्भिक रचनाएँ मानते हैं, किन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि इनकी कुछ गीतियाँ अत्यन्त ललित और भावपूर्ण हैं—

ऋतुसंहार से

(शरद्वर्णन)

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा
सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।
आपक्वशालिरुचिराननमालयष्टिः[1]
प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या॥
चञ्चन्मनोज्ञसफरीरसनाकलापाः
पर्यन्तसंस्थितसिताण्डजपंक्तिहाराः।
नद्यो विशालपुलिनान्तनितम्बबिम्बा[2]
मन्दं प्रयान्ति प्रमदा[3] प्रमदा इवाद्य॥

---

१. 'ललितातनुगात्रयष्टिः' —काव्यसंग्रह, भाग १।
२. 'पुलिनोरुनितम्बबिम्बा' —वही
३. 'समदाः' —कालिदास-ग्रन्थावली, सं०पं०सीताराम चतुर्वेदी।

कह्लार पद्मकुमुदानि मुहुर्विधुन्वँ-
स्तत्सङ्गमादधिकशीतलतामुपेतः ।
उत्कण्ठयत्यतितरां पवनः प्रभाते
पत्रान्तलग्नतुहिनाम्बुविधूयमानः[1] ॥
—शरत्० १, ३, १५ ।

"कास के वस्त्र पहनकर खिले कमल के मुखवाली, उन्मत्त हंसों की बोली में नूपुरों की मनोहर ध्वनि उठाती हुई और पके हुए धान की लटकती बालियों की झुकी गात्र-यष्टिवाली शरद् ऋतु रम्य रूपवाली नववधू के समान आगई ।

"चञ्चल मछलियों की करधनी पहनकर दूर तक पाँत में बैठे हुए श्वेत विहंगों का हार धारण करके विशाल तटों के ऊँचे नितम्बों वाली मत्त नदियाँ यौवनोन्मत्त युवतियों के समान आज चली जा रही हैं (अपने प्रियतम समुद्र से मिलने के लिए) ।

"पवन कल्हार, कमल और कुईं के फूलों को हिलाता और उनके साथ से अधिक शीतल होकर पत्तों की नोकों पर लगी हुई ओस की बूँदों को कम्पित करके प्रातःकाल नारियों के हृदय में मिलन की कामना उत्पन्न कर रहा है ।"

'शृङ्गारतिलक' से

बाहू द्वौ च मृणालमास्य-कमलं लावण्यलीलाजलं
श्रोणीतीर्थशिला च नेत्रसफरं धम्मिल्लशैवालकम् ।
कान्तायाः स्तनचक्रवाकयुगलं कन्दर्पबाणानलै-
र्दग्धानामवगाहनाय विधिना रम्यं सरो निर्मितम् ॥

ये ये खञ्जनमेकमेव कमले पश्यन्ति दैवात्क्वचित्
ते सर्वे मनुजा भवन्ति सुतरां प्रख्यातभूमीभुजः ।
त्वद्वक्त्राम्बुजनेत्रखञ्जनयुगं पश्यन्ति ये ये जना-
स्ते ते मन्मथबाणजालविकला मुग्धे किमित्यद्भुतम् ॥

वाणिज्येन गतः स मे गृहपतिर्वार्त्तापि न श्रूयते
प्रातस्तज्जननी प्रसूततनया जामातृगेहं गता ।

---

१. 'पत्रान्तलग्नतुहिनानि हरँस्तरूणाम् ।'—काव्यसंग्रह, भाग १ ।

बालाऽहं नवयौवना निशि कथं स्थातव्यमस्मद्गृहे
सायं सम्प्रति वर्तते पथिक हे स्थानान्तरं गम्यताम् ॥

—१, ५, ११।

"कामिनी की दोनों भुजाएँ कमल-नाल हैं, मुख कमल है, लावण्यपूर्ण लीला (हाव) ही जल है, नितम्ब-बिम्ब तीर्थ-शिलाएँ हैं, आँखें मछलियाँ हैं, केश सेवार हैं और स्तन चकवा के जोड़े हैं। इस प्रकार कामदेव के बाणों की अग्नि से दग्ध पुरुषों के अवगाहन के लिए (ताप-शान्ति के लिए) ब्रह्मा ने कामिनी को एक रमणीय सरोवर ही बना दिया है।

"जो लोग दैवयोग से कभी एक भी खञ्जन कमल पर बैठा देख लेते हैं वे प्रख्यात राजा हो जाते हैं, किन्तु हे मुग्धे ! यह कितने आश्चर्य की बात है कि तुम्हारे मुख-कमल पर नेत्रों के दो-दो खञ्जनों को जो लोग देख लेते हैं वे कामदेव के बाणों से व्याकुल हो जाते हैं !

'हे पथिक ! मेरा पति व्यापार के कार्य से विदेश चला गया। उसकी बात तक नहीं सुनाई पड़ रही है (उसका कुछ पता ही नहीं है)। मेरी सास आज सवेरे अपने दामाद के घर चली गई। मैं सोलह वर्षों की नवयुवती घर में अकेली हूँ। फिर तुम रात में हमारे घर कैसे रह सकते हो ? अब साँझ भी हो गई है, अतः और कहीं चले जाओ। (सारी स्थिति को बताकर तरुणी ने अपनी निर्विघ्न ऐकान्तिकता का परिचय देकर पथिक को रुक जाने का संकेत किया)।"

[यह गीति ध्वनि काव्य का सुन्दर उदाहरण है।]

'शृङ्गारतिलक' में कुल इक्कीस गीतियाँ हैं और सभी शृङ्गार रस से निर्भर हैं।

'घटकर्पर' की गीतियाँ

घटकर्पर के विषय में उनकी जीवनी से सम्बद्ध कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। विद्वानों में उनके समय के विषय में मतभेद है। प्रो० जैकोबी का कहना है कि घटकर्पर का काव्य कालिदास से प्राचीन है।[1] डॉ० कीथ इससे

---

१. देखिए, 'रामायण', पृ० १२६।

सहमत नहीं हैं, वे जैकोबी का खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि उनके समय में यमक काव्यों की बड़ी प्रतिष्ठा थी, इसी कारण घटकर्पर को ऐसा काव्य लिखने का प्रोत्साहन मिला और उन्होंने अपने काव्य द्वारा एक आदर्श स्थापित किया। इसी काव्य-निर्माण के बल पर उन्हें विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में स्थान मिला। कीथ के कथनानुसार इनका 'नीतिसार' नामक एक ग्रन्थ भी है।[2] वे कालिदास के 'मेघदूत' से 'घटकर्पर' काव्य को बहुत घटिया मानते हैं।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि 'ज्योतिर्विदाभरण' का वह पद्य ही कीथ की मान्यता का आधार है, जिसमें नवरत्नों के नाम गिनाए गए हैं; किन्तु इतिहास के प्रमाणों द्वारा निराधारता स्वतः स्पष्ट है। जो हो, इस कवि के विषय में कोई प्रामाणिक उल्लेख आज तक उपलब्ध नहीं हो सका है। एकमात्र 'घटकर्पर' काव्य हो, जिसमें कुल बाईस गीतियाँ हैं,

---

1. That the work is earlier than Kalidasa is deduced by Jacobi from the fact of this boust which letter was uot justified; if, however, the poem when first written set a model in this form of composition then it might be preserved when it had ceased to be pre-eminent on the score of its originality. This conjecture seems wholly implansible; no example of a test being preserved as a literary curiosity is kuown, and Ghatkarpar evidently was ranked higher by Indian taste than by modern opioion, for he was made one of the "Nine jewels" of vikramaditya's court as contemporary of kalidasa.
—History of Sanskrit Literature, by kieth, Part II,

2. Much less is Ghatakarpar in twentytwo stanzas who describes how a young wife at the begining of the rains sends a message by the cloud to her absent busband, a situation reverse of that described in meghadvita.
—History of Sanskrit Literature, by kieth, part II.

मिलता है। इसमें कोई नववधू अपने प्रवासी पति के पास बादल से सन्देश भेजती है। कालिदास ने पति की ओर से पत्नी को सन्देश भेजा है, इस कवि ने उनके विपरीत कल्पना की है। मेघदूत में एक कथा की कल्पना है, जिससे वह सबन्ध गीतिकाव्य हो गया है; इसमें वैसी कोई कथा-कल्पना नहीं है, इसीलिए इसे मैंने स्वच्छन्द गीतिकाव्य ही माना है। कवि के हृदय-पक्ष को चमत्कारप्रियता ने दबा लिया है, इसीलिए गीति की आत्मा इसमें नहीं आ पाई है। प्रियतमा (नारी) के कोमल करुण भावों का उद्गार जहाँ अपेक्षित था वहाँ कवि ने अपना मन वेल-बूटे काढ़ने में लगा दिया है, इसलिए घटकर्पर को महान् गीतिकारों में प्रतिष्ठित स्थान नहीं मिल सका। मैं इस काव्य के कतिपय पद्य यहाँ नमूने के रूप में रख रहा हूँ, कलाप्रिय जनों का इनसे अवश्य ही मनोरञ्जन होगा—

क्षिप्रं प्रसादयति सम्प्रति कोपितानि,
कान्तामुखानि रतिविग्रहकोपितानि।
उत्कण्ठयन्ति पथिकाञ्जलदाः स्वनन्तः,
शोकः समुद्भवति तद्वनितास्वनन्तः॥—घ० क० ५।

हंसपंक्तिरपि नाथ सम्प्रति
प्रस्थिता वियति मानसं प्रति।
चातकोऽपि तृषितोऽम्बु याचते
दुःखिता पथिक सा प्रिया च ते॥[1] — ९।
किं कृपाऽपि तव नास्ति कान्तया,
पाण्डुगण्डपतितालकान्तया।
शोकसागरजलेऽद्य पातिताम्
त्वद्गुणस्मरणमेव पाति ताम्॥ —११।

कुसुमितकुटजेषु काननेषु
प्रियरहितेषु समुत्सुकाननेषु।
वहति च कलुषे जले नदीनाम्
किमिति च मां समवेक्षसे न दीनाम्।—१३।
तासामृतुः सफल एव हि या दिनेषु
सेन्द्रायुधाम्बुधरगर्जितदुर्दिनेषु।

---

१. मिलाइए, 'मेघदूत' —पूर्वमेघ ११।

रत्युत्सवं प्रियतमैः सह मानयन्ति
मेघागमे प्रियसखीश्च समानयन्ति ॥ —२० ।

"कामकेलि में जिन कामिनियों ने मान धारण किया था उन्हें बादल प्रियों के कण्ठों से लगा दे रहे हैं। ये बादल गर्जन करते हुए, पथिकों को (प्रवासियों को) घर चलने के लिए उत्सुक बना रहे हैं और विरहिणियों के हृदय में अपार शोक उत्पन्न किए दे रहे हैं।

"(हे मेघ ! प्राणपति से मेरी ओर से कहना) हे नाथ ! हंसों की पंक्ति भी अब आकाश-मार्ग से मानस-सरोवर की ओर चल पड़ी है, प्यासा पपीहा भी अब पानी की याचना कर रहा है, वह तुम्हारी स्त्री, हे परदेशी ! अत्यन्त दुःखिता हो गई है (तुम्हारे दर्शन की प्यासी उसकी आँखें व्याकुल हैं, हंसों को देखकर तुम भी अपने घर शीघ्र जाओ)"।

"तुम्हारी प्रिया के पियराए हुए गालों पर घुँघराली लटों के छोर लटक रहे हैं, तुम्हें उस पर क्या तनिक भी दया नहीं आती ? शोक-सागर में गिरी हुई तुम्हारी प्रिया की रक्षा तुम्हारे गुणों की याद ही कर रही है) तुम्हारे गुणों की रस्सी के सहारे वह शोक-सागर में डूबने से बची हुई है)।

"वनों में चारों ओर गिरिमल्लिकाएँ फूलों से लद गई हैं, विरहिणियों के हृदय की व्यथा उनके म्लान मुख को देखकर स्पष्ट हो जाती है। नदियों के मटमैले बहते जलप्रवाह को देखकर क्यों तुम मेरी दीन-दशा का अनुमान नहीं कर पाते ?

"उन्हीं के लिए यह ऋतु आनन्दप्रदायिनी है, जो बिजली के साथ गर्जन करते हुए बादलों की वेला में अपने प्रियतमों के साथ काम-महोत्सव मना रही हैं। बादलों के आने पर सखियाँ भी एक दिन में एक वर्ष का आनन्द प्राप्त कर लेती हैं।"

काव्य के अन्त में बादल अपने गम्भीर गर्जन द्वारा (मानों) उसे आश्वस्त करता है, कि तेरा पति शीघ्र ही आ जायगा।

समीक्षण

'घटकर्पर' काव्य की कल्पना निश्चित रूप से 'मेघदूत' को देखने के पश्चात् हुई है। बादलों को देखकर यहाँ विरहिणी कहती है, 'निर्घृणेन परदेश-सेविना, मारयिष्यथ हतेन मां विना।' फिर वह हंस, चातक, मोर आदि पक्षियों

और कुटज-पुष्पों तथा बाढ़ की नदियों के नाम गिनाती है और वाक्चातुर्य से अपनी व्यथा व्यक्त करती है और अन्त में बादल उसका सन्देशवाहक बनने की स्वीकृति भी प्रदान करता है। ऐसी स्वीकृति आदि की कल्पना मेघदूत के अन्त में जोड़ दिये गए प्रक्षिप्त वृत्तों में मिलती है। यमक के निबन्धन में भी किसी प्रकार की विशिष्ट रमणीयता दृष्टिगोचर नहीं होती, जैसी कि 'रघुवंश' के नवम सर्ग में सहज ही उपलब्ध है। इसका रचयिता निश्चय ही निम्न कोटि का कवि है। 'मेघदूत' जैसी रचना प्रस्तुत करने की असमर्थता के ही कारण उसके विपरीत कथा-कल्पना कवि को करनी पड़ी और उस महाकवि के सदृश प्रतिभा और भावुकता के अभाव में 'यमक' का आश्रय ग्रहण करना पड़ा। भावुक जनों का इस रचना द्वारा परितोष नहीं हो सकता, चमत्कार-प्रेमी जन भले ही कुछ देर तक वाह-वाह करें।

———

भर्तृहरि के शतक

कवि-परिचय

भर्तृहरि की ख्याति जितनी लोक-व्यापिनी है, उतनी विक्रमादित्य के अतिरिक्त स्यात् ही किसी दूसरे व्यक्ति की हो। ये लोक-जीवन में कवि के रूप में ख्यात न होकर संन्यस्त योगी के रूप में ही ख्यात हैं। उत्तर-प्रदेश के पूर्वी जिलों में खेतों की फसलें हो जाने पर भीख माँगते हुए योगी झुण्ड-के झुण्ड गेरुए कपड़ों में कन्धे पर झोली लटकाए घूमते दिखाई पड़ते हैं। वे विशेष रूप से भरथरी और गोपीचन्द के ही गीत घर-घर घूमकर गाते और जनता को प्रभावित करते हैं। पत्नी के अविश्वास से ही इन्हें वैराग्य हुआ था और अपना राज-सिंहासन छोड़कर ये वन में चले गए थे, यह अनुश्रुति आज भी ज्यों की त्यों चली आ रही है। भर्तृहरि का यह पद्य भी उपर्युक्त रहस्य से युक्त बताया जाता है—

> याञ्चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता,
> साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
> अस्मत्कृते च परिशुष्यति काचिदन्या
> धिक्ताञ्च तञ्च मदनञ्च इमाञ्च माञ्च ॥—नीतिशतक, २।

इसमें नारी-पुरुष के पारस्परिक विश्वासघात पर जो खेद प्रकट किया गया है, उसी को राजा भर्तृहरि के विराग का जनक कहा जाता है। 'भरथरी' के गीत गानेवाले योगियों की एक जाति ही है, जो आजकल मुसलमान धर्मावलम्बी है और अन्य गृहस्थों की भाँति पारिवारिक जीवन बिताती है तथा खेती भी करती है। परम्परा से इसे 'भरथरी' के गीत प्राप्त हैं, अतः बिना किसी ठोस प्रमाण के हम इसे यों ही फूँक मार कर उड़ा नहीं सकते। इस विषय में पूरी छानबीन की आवश्यकता है। मैं कुछ वर्ष पूर्व काशी से कतिपय मित्रों के साथ चुनार के ऐतिहासिक स्थल देखने गया था। वहाँ का प्रसिद्ध किला जब मैं देखने गया तब वहीं के निवासी मेरे एक मित्र ने बताया कि यहाँ (चुनार में) वृद्ध जन ऐसी अनुश्रुति कहते हैं कि जब महाराज भर्तृहरि विरागी होकर वन में चले गए, तब उनके छोटे भाई विक्रमादित्य

ने, जो उनके पश्चात् सिंहासनासीन हुए थे, उनकी खोज में चारों ओर आदमी दौड़ाए। उन दिनों चुनार (चरणाद्रि) एक घोर वन था। खोजते हुए कुछ सैनिक उसी पहाड़ी पर पहुँचे जिस पर आज दुर्ग अवस्थित है और उन्होंने वहीं भर्तृहरि को समाधि में लीन देखा। सम्राट् को इसका समाचार दिया गया और उन्होंने वहीं पर एक दृढ़ दुर्ग बनवाया। कालान्तर में वह दुर्ग भिन्न-भिन्न नृपतियों के हाथों में पड़ता हुआ पृथ्वीराज के समय में चन्देल नरेशों के हाथ में आया और यहीं महोवे के प्रसिद्ध वीर 'आल्हा' का विवाह राजकुमारी 'सोनमती' ('आल्हखण्ड' काव्य की 'सोनवाँ') के साथ तुमुल युद्ध के पश्चात् हुआ। भर्तृहरि का निवास-मन्दिर और सोनमती का कक्ष उन्होंने मुझे दिखाया। इस अनुश्रुति पर पूरी खोज की आवश्यकता है। भर्तृहरि के काव्यों से यह स्पष्ट है कि उन्होंने बहुत विस्तृत लोक-ज्ञान सञ्चित किया था।

इनके काव्य-संग्रहों के देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये प्रख्यात अद्वैतवाद के विश्वासी थे।[1] सगुण शिव में इनकी पूर्ण आस्था थी।[2] बुद्धदेव को इन्होंने महापुरुषों में अन्यतम कहा है।[3] गृहस्थ-जीवन अथवा विशुद्ध वैराग्य का जीवन इन्हें विशेष प्रिय है, इधर-उधर दोनों ओर दौड़ना अधम कोटि के लोगों का काम है।[4] इन्होंने जो काव्य-रचना की है वह कवि के आसन पर बैठ कर नहीं, अपितु एक सम्बुद्ध महापुरुष के रूप में लिखी है, अर्थात् इनकी कविता एक ऐसे व्यक्ति की लिखी प्रतीत होती है जो भावों

---

१. दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥
—नीतिशतक, १ । वैराग्य०, १ ।

२. चूडोत्तंसितचारुचन्द्र-कलिका चञ्चच्छिखा भास्वरो
लीलादग्ध विलोलकामशलभः श्रेयोदशाग्रे स्फुरन् ।
अन्तःस्फूर्ज्जदपार मोहतिमिर प्राग्भारमुच्चाटयन्
चेतःसद्मनि योगिनां विजयते ज्ञानप्रदीपो हरः ॥ —वैराग्य०, २ ।
"....चेतश्चुम्बितचन्द्रचूडचरणध्यानामृतं वर्तते ।।" —वैराग्य०, ९५ ।

३. "....नीरागेषु जिनो विमुक्तललनासङ्गो न यस्मात्परः ॥
—श्रृंगार०, ७१ ।

४. 'एका नारी सुन्दरी वा दरी वा ।।" —नीति० ६९ ।

पर शासन करता है और जो ज्ञान-लोक का निवासी है। ये लोक-व्यवहार-दक्ष, लौकिक प्रणय के परिणाम के पूर्ण ज्ञाता, निर्विकल्प समाधिलीन ब्रह्म-विलासी और लोकमङ्गलकामी महापुरुष थे। भर्तृहरि ने शुद्ध सत्साहित्य का सर्जन किया है, जिसकी उपयोगिता सर्वमान्य है। रुय्यक आदि अनेक महान् आलङ्कारिकों ने इनकी कविताओं को अपने ग्रन्थों में सम्मान्य स्थान दिया है। इनकी भाषा प्रसादगुणमयी तथा भाव अत्यन्त हृदयहारी हैं, यही कारण है कि इनकी कविता लोगों के जिह्वाग्र पर निरन्तर निवास करती है।

इनके रचे तीन शतक पाये जाते हैं, नीतिशतक, शृङ्गारशतक और वैराग्यशतक। नीतिशतक में ऐसे नीतिमय श्लोक हैं, जिनके द्वारा मनुष्य लोकाराध्य हो सकता है। व्यावहारिक क्षेत्र के ज्ञान की पूर्णता इसमें पाई जाती है। यह एक ऐसा सूक्ति-संग्रह है, जिसे विद्वज्जनों को कण्ठस्थ रखना चाहिए, क्योंकि इसका एक-एक पद्य अमूल्य रत्न है, सम्राट् से लेकर जन-साधारण तक इन्हें अपना कर कीर्तिमान् बन सकते हैं। ये साहित्य, सङ्गीत तथा अन्य कलाओं में निष्णात प्रतीत होते हैं, इसीलिए इन्होंने तारस्वर से घोषणा कर दी—

साहित्य-सङ्गीत-कला-विहीनः
साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणन्न खादन्नपि जीवमान-
स्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्॥ —नीति०, १२।

अर्थात् साहित्य, सङ्गीत तथा अन्य कलाओं से जो सर्वथा अनभिज्ञ है, वह बिना पूँछ और सींग का पशु है। यह तो पशुओं का सौभाग्य ही समझो कि वह उनका भोज्य घास नहीं खाता (यदि वह भी घास खाता तो पशु बेचारे भूखों मर जाते)।

भर्तृहरि ने मानव-जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों के उत्कर्ष पर बल दिया है, दोनों में से किसी एक की उपेक्षा नहीं की है। यही भारतीय संस्कृति का प्राचीन आदर्श-स्वरूप भी है। सामान्यतया इन्होंने अनुभवों को ध्यान में रखने की प्रेरणा अपने शतकों द्वारा दी है—

(१) दुर्जनों की अपरिवर्तनीयता,
(२) विद्वान् और ज्ञानी की आदरणीयता,
(३) नारी का स्वभाव-चाञ्चल्य तथा हठ,

(४) कुलटा और वेश्या का त्याग,
(५) सद्गृहिणी विषयक-रति की उत्तमता,
(६) वैराग्य की सर्वोत्कृष्टता, और
(७) भाग्यवाद ।

इनके निदर्शक कतिपय गीत यहाँ दिए जा रहे हैं ।

(१) दुर्जनों की अपरिवर्तनीयता

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेणसूर्यातपो-
नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ ।
व्याधिर्भेषजसंग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं
सर्वस्यौषधमस्तिशास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥

—नीति०, ११ ।

"जल से आग बुझाई जा सकती है, छाते से धूप व्यर्थ की जा सकती है, मत्त गजराज तेज अंकुश से, डंडे से बैल और गधे दवाओं से रोग और नाना प्रकार के मन्त्रों से विष शान्त किया जा सकता है । सभी कोई न कोई शास्त्र विहित औषधि है किन्तु मूर्ख को मूर्खता से रोकने की कोई दवा नहीं है ।"

विद्वान् की आदरणीयता

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागमा-
विख्याताः कवयो वसन्ति विषये यस्य प्रभोर्निर्धनाः ।
तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य कवयो ह्यर्थं विनापीश्वराः
कुत्साः स्युः परिरत्तिका हि मणयो यैरर्घतः पातिताः ॥

—नीति०, १५ ।

"शास्त्रविहित शब्दों से जिनकी वाणी सुन्दर हो गई है, शिष्यों की शिक्षा के योग्य न्याय, वेदान्त आदि आगम जिनके पास हैं, ऐसे विद्वान् कवि जिस राजा के राज्य में निर्धन होकर निवास करते हैं, उस राजा की ही मूर्खता का प्रकाशन होता है, क्योंकि कवि तो धन के बिना भी सर्व समर्थ होते हैं । बहुमूल्य मणि का घटकर मूल्य लगाने वाला जौहरी ही मूर्ख कहा जाता है, मणि को दोषी नहीं कहा जा सकता ।"

नारी-स्वभाव

उन्मत्त-प्रेम-संरम्भादारभन्ते यदङ्गनाः ।
तत्र प्रत्यूहमाधातुं ब्रह्माऽपि खलु कातरः ॥
—शृंगार०, ५१ ।

स्मितेन भावेन च लज्जया भिया-
पराङ्मुखैरर्धकटाक्ष-वीक्षणैः ।
वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया
समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः ॥ —शृं०, ८ ।

लीलावतीनां सहजाः स्वभावा-
स्त एव मूढस्य हृदि स्फुरन्ति ।
रागो नलिन्या हि निसर्गसिद्ध-
स्तत्र भ्रमत्येव मुधा षडंघ्रिः ॥ —शृं०, ११ ।

एताश्चलद्वलयसंहति-मेखलोत्थ-
झङ्कारनूपुररवाहृत-राजहंस्यः ।
कुर्वन्ति कस्य न मनो विवशं तरुण्यो
वित्रस्तमुग्धहरिणीसदृशाक्षिपातैः ॥ शृं० ९ ।

"उन्मत्त प्रेम के आवेश में नारियाँ जिस कार्य को आरम्भ कर देती हैं, उसमें बाधा डालने में ब्रह्मा भी असमर्थ हो जाता है ।

"मंद-मंद मुस्कान से, लज्जा से, भय से, मुख फेरने से, अर्धकटाक्ष द्वारा देखने से, ईर्ष्यामय कलह से और लीला से, चाहे जिस भी रूप में हो, कामिनियों के सभी भाव पुरुषों के लिए बन्धन ही हैं ।

"तरुणियों का जो सहज स्वभाव है वही मूढ़ों को पागल बना देता है (देखना, चलना आदि), जैसे कमलिनी में ललाई प्रकृत्या होती है तो भी भौंरा उसे अपने लिए ही समझकर व्यर्थ चक्कर लगाता फिरता है ।

"चूड़ियों की झनकार और करधनी की मधुर ध्वनि को उठाती हुई ये राजहंसी रूपी युवतियाँ डरी हुई हरिणी के चंचल दृष्टिपात को अपनी आँखों में रखे किसके मन को वशीभूत नहीं कर लेतीं ?"

भर्तृहरि या तो सुन्दरियों में स्वेच्छया रमण करनेवाले राजा के जीवन की प्रशंसा करते हैं अथवा संन्यस्त योगी और विरागी की, इससे इस

अनुश्रुति को बल मिलता है कि ये पहले बड़े ही विभवशाली राजा थे और अन्त में योगी हो गए।[१] 'शृङ्गार शतक' के अन्तर्गत भी बहुत-सी विरागमयी गीतियाँ मिलती हैं, जिससे प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे इनका मन विराग की ओर आकृष्ट होता गया और अन्त में इन्होंने घोषणा कर दी—

किं वेदैः स्मृतिभिः पुराण-पठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः
स्वर्गग्रामकुटी-निवास-फलदैः कर्मक्रिया-विभ्रमैः।
मुक्त्वैकं भव-बन्ध-दुःख-रचना-विध्वंस-कालानलं
स्वात्मानन्दपद-प्रवेश-कलनं शेषा वणिग्वृत्तयः॥

—वैराग्य०, ६७।

अर्थात् वेद, स्मृति, पुराण, शास्त्रादि का अध्ययन व्यर्थ है, स्वर्गप्राप्ति के निमित्त किये गए कर्म निरर्थक हैं, एकमात्र सांसारिक दुःखप्रद बन्धनों को कालाग्नि के समान ध्वंस करने वाले आत्मानन्द प्रदायी अक्षय ज्ञान-लोक में प्रवेश करने को छोड़कर और सब कुछ वणिग्वृत्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

कुलस्त्री-विषयक रति की प्रशंसा

प्राङ्मामेति मनोरमागतगुणं जाताभिलाषं ततः
सव्रीडं तदनुश्लथोद्यतमनुप्रत्यस्तधैर्य्यम्पुनः।
प्रेमार्द्रं स्पृहणीयनिर्भररहः क्रीडाप्रगल्भं ततो
निःशङ्काङ्गविकर्षणाऽधिकसुखं रम्यं कुलस्त्रीरतम्॥

—शृङ्गार०, ६२।

"पहले 'नहीं नहीं' का कहना जो सुन्दरी का सहज गुण है, फिर अभिलाष व्यक्त करना, तदनन्तर लज्जा के साथ शिथिल-सा उद्योग, धीरे-धीरे धैर्य का छूट जाना, फिर प्रेमार्द्र हो जाना, पुनः मनचाही एकान्त क्रीडा की प्रगल्भता और अन्त में एक-दूसरे के शरीर से लिपट जाना, ये क्रियाएँ क्रमानुसार जिस कुलस्त्री-रति में सम्पन्न होती हैं, वही श्रेष्ठ और मनोहारिणी रति है।"

---

१. देखिए, 'शृंगारशतक' की १५, १६, २०, ६४, ६६ वीं तथा 'वैराग्यशतक' की ९५ वीं आदि गीतियाँ।

एतत्काम-फलं लोके यद्द्वयोरेकचित्तता।
अन्यचित्ते कृते कामे शवयोरिव सङ्गमः॥
—शृङ्गार०, ४६।

"जब रति-काल में पुरुष और नारी में एकचित्तता हो तभी सम्भोग को सफल समझना चाहिए, अन्यथा यदि दोनों के चित्त परस्पर अनुरक्त नहीं हैं तो उसे दो मुर्दों का ही सङ्गम कहा जायगा।"

वैराग्यशतक

इनकी गीतियाँ यों तो सर्वत्र ही अत्यन्त चुटीली और मार्मिक हैं तथापि वैराग्य के विषय में जिस असाधारण प्रतिभा का प्रदर्शन इन्होंने किया है, वह अन्यत्र बहुत कम कवियों में मिल पाती है। बात यह है कि ये स्वयं आतमाराम योगी थे। पहले इन्होंने योगी होने की कामना की, विरक्त-जीवन की स्पृहणीयता ने इन्हें मुग्ध किया, इच्छानुसार जीवन का इन्होंने वरण किया और अन्त में समाधिस्थ हो परब्रह्म में लीन हो गए—

स्फुरत्स्फार-ज्योत्स्ना-धवलिततले क्वापि पुलिने
सुखासीनाः शान्तध्वनिषु रजनीषु द्युसरितः।
भवाभोगोद्विग्नाः शिवशिवशिवेत्यार्तवचसा
कदा स्यामानन्दोद्गतबहुलबाष्पप्लुतदृशा॥
—वै०, ३४।

मातर्मेदिनि तात मारुत सखे तेजः सुबन्धो जलं
भ्रातर्व्योम निबद्ध एव भवतामन्त्यप्रणामाञ्जलिः।
युष्मत्सङ्गवशोपजात सुकृतोद्रेकस्फुरन्निर्मल-
ज्ञानापास्त-समस्त-मोहमहिमा लीये परे ब्रह्मणि॥
—वै०, ७१।

"विकीर्ण होती हुई दिगन्त व्यापिनी चन्द्रिका से उज्ज्वल गंगाजी के तट पर कहीं शान्त रातों में सांसारिक भोगों से ऊबकर सुखपूर्वक बैठा हुआ कब मैं दीन वाणी से शिवजी के नाम की निरन्तर रट लगाऊँगा और उस समय मेरी आँखों से आनन्दश्रु छलकते होंगे?"

"हे माता पृथ्वी! पिता पवनदेव! मित्र तेज! प्रियबन्धु जल! और भाई आकाश! मैं आज आप सबको अपनी अन्तिम प्रणामाञ्जलि निवेदित

करता हूँ। आप लोगों के ही साथ में रहने से मेरे पुण्यों का उदय हुआ और निर्मल ज्ञान के सम्मुख मोह की शक्ति पराजित हो गई। अतः अब मैं परब्रह्म में लीन होता हूँ।"

बिना आत्मस्थ योगी के किसी सामान्य कवि के मुख से ऐसी वाणी सुनी ही नहीं जा सकती। इनका पूर्व जीवन अवश्य ही किसी राजा का था, जिसकी प्रशंसा इन्होंने की है। इनका अपनी पत्नी में अनन्य प्रेम था। तब भी इनका जीवन आदर्श था। उस जीवन से इन्हें घृणा नहीं हुई और यदि स्त्री पर अविश्वास उत्पन्न न हुआ होता, इनके प्रेम का आधार अविचल रहता तो ये योगी नहीं होते और जब योगी हुए तब सारे नश्वर पदार्थों को सर्वदा के लिए तिलाञ्जलि दे दी। इसीलिए इधर और उधर दोनों ओर पड़े लटकते रहने का इन्होंने घोर विरोध किया है।[1] इन्होंने शिव जी को एकमात्र देव माना है और गंगा को ही नदी, गिरि-गुहा को घर और दिशाओं को वस्त्र, अदीनता को व्रत और वट विटप को प्रिया।[2] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वनाथपुरी से अनतिदूर चरणाद्रि की गुहा में गंगाजी के तट पर, लताओं-तरुओं से ढके उसी स्थान पर ये रहते थे जहाँ आज एक सुन्दर, छोटा किन्तु दृढ़ दुर्ग खड़ा है। अतः उस प्राचीन अनुश्रुति को हमें यों ही दृष्टि से परे न हटाकर उस पर खोज करनी होगी। सातवीं शती की इनकी स्थिति सन्देह से मुक्त नहीं है।

भाग्यवाद

भाग्यवाद भारतीय संस्कृति का अङ्ग है। भारतीय जनता का भाग्य या नियति पर अटूट विश्वास है। इस विश्वास के बल पर ही भारत का साधन-

---

१. एकः रागिषु राजते प्रियतमादेहार्धहारी हरो
नीरागेषु जिनो विमुक्तललनासङ्गो न यस्मात्परः।
दुर्वारस्मरघस्मरोरगविषज्वालावलीढो जनः
शेषो मोहविजृम्भितो हि विषयान् भोक्तुं न मोक्तुं क्षमः॥
—शृं०, ७१।

२. महादेवो देवः सरिदपि च सैषा सुरसरिद्-
गुहा एवागारं वसनमपि ता एव हरितः।
सुहृद्वा कालोऽयं व्रतमिद मदैन्यव्रतमिदं
कियद्वा यद्यामो वटविटप एवास्तु दयिता॥ —वैराग्य०, ३५।

हीन वर्ग लम्बे जीवन-पथ को पार करता आँसुओं को रोके आज तक चलता चला आ रहा है। गृहस्थ की जीविका का पुष्ट साधन नहीं है, तो वह भाग्य के नाम पर अपना माथा पीटकर चुप हो जाता है, न्यायालय में अन्याय होने पर भी वह आकाश की ओर देखकर अपने मन को समझा लेता है, धनिक व्यक्ति के अत्याचारों को साँस रोककर सहन कर लेता है, भूखा रहकर भी भाग्य को अपना भोज्य बनाकर जी लेता है। नारी यदि नितान्त अकर्मण्य, असमर्थ, अयोग्य और निर्घृण के साथ विवाह-सूत्र में बाँध दी जाती है, तो वह भाग्य के मत्थे सारा दायित्व सौंप कर दुर्दशा में ही जीवन बिता ले जाती हैं। भाग्य मन के द्वार को इस प्रकार जकड़ कर बन्द कर देता है कि उसमें प्रवेश पाने के लिए असन्तोष को कोई रास्ता ही नहीं मिल पाता। भारतीय मानव-समाज अपने विश्वास के सारे सुमन और श्रद्धा की अशेष कलियाँ सदा से भाग्य देवता के चरणों पर भेंट करता चला आ रहा है। कर्म का उत्साह भी यहाँ पाया जाता है। कर्म से पराङ्मुखता की शिक्षा भारतीय संस्कृति ने कभी नहीं दी। इसीलिए भारतीय कर्म से विरत कभी नहीं होता, वह सदा सत्कर्म की प्रेरणा अपने पूर्व पुरुषों से पाता आ रहा है। स्वार्थ-साधन मात्र की शिक्षा भारतीय संस्कृति की विरोधिनी मानी गयी है, श्रेयस् की प्राप्ति को ही यहाँ परम पुरुषार्थ माना गया है, आलस्य को बराबर दूर रखने की चेतावनी दी गई है। भर्तृहरि भी यही कहते हैं—

> यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
> यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
> आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
> प्रोदीप्ते भवने च कूप-खनन-प्रत्युद्यमः कीदृशः॥
>
> —वैराग्य०, ७२।

"जब तक यह शरीर का भवन दृढ़ है, जब तक बुढ़ापा दूर है, जब तक इन्द्रियों की शक्ति अप्रतिहत है, और अवस्था बीत नहीं चुकी है तभी तक बुद्धिमान् पुरुष को आत्मोन्नति के लिए महान् प्रयत्न करना चाहिए अन्यथा जरावस्था आ जाने पर यत्न करना घरमें आग लगने पर कुआँ खोदने के समान व्यर्थ होगा।"

कर्म से प्राणिमात्र को क्षणभर को विरति नहीं है, यह समस्त ब्रह्माण्ड कर्म-चक्र पर घूम रहा है। निष्क्रियता का नाम मृत्यु वा प्रलय है। इस ज्ञानी कवि ने भी कर्म का सर्वाधिक शासन देखकर उसे सादर प्रणाम किया है—

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे,
विष्णुर्येन दशावतारग्रहणे क्षिप्तो महासंकटे।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनङ्कारितः
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥
—नीति०, ९६।

'जिसने ब्रह्मा को सृष्टि के लिए कुम्हार की भाँति नियुक्त किया, विष्णु को दस बार अवतार के चक्कर में डाला, रुद्रदेव को कापालिक बनाकर भीख मँगाई और जो सूर्य को नित्य आकाश में फिराता रहता है, उस कर्म के समक्ष मैं प्रणत हूँ।"

पूर्वकृत कर्म ही अद्यतन भाग्य बन जाता है, उसी के अनुसार मनुष्य वा प्राणी तत्तद् दशाओं में भ्रमण करता है, यही भाग्यवाद का रहस्य है। भाग्य सब से बढ़कर है, उसके विपरीत कुछ भी नहीं हो सकता लाखों यत्न करने पर भी। इसी बात को भर्तृहरि भी मानते हैं और उसका समर्थन सयुक्तिक ढंग से करते हैं—

यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकं महद्वा धनं
तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ ततोनाऽधिकम्।
तद्धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा मा कृथाः
कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम् ॥
—नीति०, ४८।

"जो विधाता ने अपने ललाट-पलट पर लिख दिया है, चाहे कम या अधिक सम्पत्ति, वह मरुभूमि पर रहने पर भी प्राप्त होगी और उससे अधिक मेरु पर्वत पर भी नहीं मिल सकती। अतः मन में धैर्य रखो और धनवानों के समक्ष अपनी दीनता मत दिखाओ। देखो, घड़ा जितना पानी कुएँ से ले सकता है उससे अधिक समुद्र में जाकर भी नहीं पा सकता।"

भाग्य पर विश्वास रखने की शिक्षा अनेक गीतियों में मिलती है।[1] नीति की उत्तमोत्तम उक्तियाँ भर्तृहरि में स्थान-स्थान पर मिलती हैं, राजनीति-परक अनेक श्लोक अत्यन्त उच्चकोटि के मिलते हैं।[2] सत्सङ्ग का महत्त्व

---

१. देखिए, नीतिशतक, छं० सं० ९२, १०१ आदि।

२. देखिए, नीतिशतक, छं० सं० ४५, ४६ आदि।

इन्होंने सबसे बढ़कर बताया है ।[१] दासता को इन्होंने सबसे हीन कहा है और स्वाधीनता को सर्वश्रेष्ठ ।[२] उत्तम, मध्यम आदि पुरुषों की गणना का मानदण्ड बड़ा ही चुटीला है—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥

—नीति० ७५ ।

"(प्रथम कोटि के) सत्पुरुष अपने हित को त्यागकर परहित करते हैं, सामान्य (मध्यम) वे हैं जो स्वार्थ का ध्यान रखते हुए परार्थ सिद्ध करते हैं, वे मनुष्य राक्षस की कोटि के हैं जो स्वार्थ के लिए दूसरे का अहित करते हैं और जो अकारण दूसरे का अहित करते हैं, जिससे उनका कोई स्वार्थ भी सिद्ध नहीं होता वे कौन कहे जायँगे यह मुझे भी नहीं मालूम ।"

महाकवि अमरुक की गीतियाँ

महाकवि अमरुक का न तो अभी तक काल-निर्णय ठीक-ठीक हो सका है और न ही इनका कोई प्रामाणिक जीवन-वृत्त ही ज्ञात हो सका है । इस विषय में पण्डित-समुदाय ने केवल शुद्ध अनुमान का ही सहारा लिया है । इनके काव्य का उल्लेख सर्वप्रथम आनन्दवर्धन द्वारा किया गया मिलता है—

"तत्र मुक्तकेषु सम्बन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयमौचित्यम् । तत्र दर्शितमेव । अन्यत्र कामचारः । मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते । यथाह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव ।"

—ध्वन्यालोक, उद्योत ३, का० ७ ।

अर्थात् मुक्तकों में रस-बन्ध का अभिनिवेश करनेवाले को रसाश्रय ग्रहण करना ही चाहिए । उसे दिखा चुके हैं । अन्यत्र स्वच्छन्दता है । मुक्तकों में प्रबन्ध काव्यों के ही समान रसबन्ध की योजना करनेवाले कवि दिखाई

---

३. देखिए, नीति०, छं० सं० ६२, १०३, २२ आदि ।

४. देखिए, वैराग्य०, छं० सं० ७६ आदि ।

पड़ते हैं। जैसे कि अमरुक कवि के मुक्तक शृंगार रस की धारा बहाने वाले प्रबन्ध रूप में प्रसिद्ध ही हैं।

इस उल्लेख से इतना स्पष्ट है कि अमरुक आचार्य आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती हैं अर्थात् नवम शतक से पहले उनका समय पड़ता है। यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने की है। 'प्रसिद्धा एव' कथन से इतना संकेत अवश्य मिलता है कि अमरुक ने ध्वन्यालोक की रचना के समय तक पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर ली थी। अर्थात् ये आठवीं शती ईस्वी में हुए होंगे। डाक्टर पीटर्सन के एक उद्धरण को लेकर श्री कृष्णमाचार्य ने इन्हें जाति का सुनार बताया है।[1] 'अमरुकशतक' के प्रख्यात टीकाकार महाराज अर्जुनवर्मदेव के कथनानुसार ये पाँचों ललित कलाओं में परम प्रवीण थे।[2]

इनके सम्बन्ध में पण्डितवर्ग के भीतर एक अनुश्रुति यह चली आ रही है कि जब जगद्गुरु शङ्कराचार्य के समक्ष शास्त्रार्थ में आचार्य मण्डनमिश्र की धर्मपत्नी शारदा ने ये प्रश्न रखे—

कलाः कियत्यो वद पुष्पधन्वनः
किमात्मिकाः किञ्च परंसमाश्रिताः।
पूर्वे च पक्षे कथमन्यथास्थितिः
कथं युवत्यां कथमेव पूरुषे॥—शंकरदिग्विजय

तत्काल उत्तर देने में असमर्थ होकरे उन्होंने एक मास का समय माँगा। वे शिष्यों सहित योगबल से आकाश में उड़ गए। उन्होंने देखा कि महाराज अमरुक आखेट के लिए वन में आया है और यहीं उसका प्राणान्त हो गया। यह सुअवसर पाकर आचार्य शङ्कर ने अपना शरीर एक पर्वत की कन्दरा में शिष्यों की सुरक्षा में छोड़ दिया और अपने योगबल द्वारा उस मृत राजा के शरीर में प्रवेश किया। मृत राजा को जीवित देखकर सर्वत्र हर्ष

1. "Dr. Peterson Quotes from a commentary—
विश्वप्रख्यातनाडिन्धमकुलतिलको विश्वकर्मा द्वितीयः।
from which we understand that the author belonged to the goldsmiths class"
—History of Sanskrit Literature.

२. "क्रीडाधाम्नः कलानाममरुकसुकवेः केऽप्यमी श्लोकपादाः।"
—अर्जुनवर्मदेव

छा गया। वहीं इन्होंने कामशास्त्र का अध्ययन और रानियों के सहवास में व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त किया। फिर अवधि से पूर्व राजा के शरीर को त्याग कर अपने शरीर में आ गए और विदुषी शारदा को शास्त्रार्थ में परास्त किया। अमरुक के शरीर में रहते समय ही इन्होंने 'अमरु शतक' नामक शृंगार रसपूर्ण काव्य की रचना की।

'शङ्कर दिग्विजय' के द्वारा स्वतः ही इस अनुश्रुति का खण्डन हो जाता है, किन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यह संस्कृत-साहित्य में शृङ्गार रस के स्वच्छन्द काव्यों में अप्रतिम ग्रन्थ है। नायक और नायिका की अन्तर्वृत्तियों के सूक्ष्म निदर्शन में कवि ने अपनी रससिद्ध सहजा प्रतिभा का पूरा-पूरा परिचय दिया है। वसन्त तिलका, शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा जैसे लम्बे वृत्तों को अपनाने पर भी भी दीर्घ समस्त पदावली कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुई है, कवि की रससिद्धि का यह दृढ़ प्रमाण है। आदि से अन्त तक इस पुस्तक में रस की धारा उच्छल गति से प्रवाहित होती मिलती है। समग्र रचना में हृदय-पक्ष का ही प्राधान्य है, बाह्य सौन्दर्य और अलङ्करणों की ओर कवि की दृष्टि नहीं टिकी है, वह सर्वत्र ही हृदय की वृत्तियों के अध्ययन में लीन मिलता है। 'गाथासप्तशती' और 'वज्जालग्ग' की प्राकृत गीतियों के पश्चात् संस्कृत-साहित्य में ऐसी मर्मवेधी मुक्तक रचना नहीं मिलती। ये गीतियाँ संख्या में थोड़ी हैं किन्तु प्रभाव में अत्यन्त गम्भीर भी हैं। इनके परवर्ती संस्कृत और हिन्दी के स्वच्छन्द गीतकार इनसे अत्यन्त प्रभावित हुए हैं। गोवर्धनाचार्य और पण्डितराज तथा बिहारी, मतिराम, पद्माकर, देव आदि ने अपनी अनेक कविताओं में इनसे भाव अपनाए हैं। इनके पूर्ववर्ती कवि-गुरु कालिदास, श्रीहर्ष देव (नाटककार) आदि के गीतों तथा प्राकृत गाथाओं का प्रभाव इन पर भी यत्र-तत्र देखा जाता है। इनकी कतिपय गीतियों का सौन्दर्य देखिए—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण।
आलिङ्गन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः॥

—अमरु०, २।

भगवान् शंकर के बाण का वह कामी के समान अनल आप लोगों के दुःखों को भस्म कर दे, जिसे त्रिपुर की युवतियों ने अपने कमल-नयनों में

आँसू भरकर हाथ से लगने पर झटक दिया और साड़ी का छोर पकड़ने पर उसे मींज दिया। बालों को पकड़ने पर दूर हटा दिया और जब पैरों पर पड़ा तब सम्भ्रम से देखा ही नहीं। आलिंगन के लिए बढ़ने पर दूर हटा दिया। (जैसे मानिनी नायिका के पास कामी जाकर उसकी अभ्यर्थना के लिए साड़ी का पल्ला पकड़ता है तो वह क्रोध से झटक देती है, चुम्बन के लिए केशों को पकड़ता है तो उसे छुड़ाकर दूर हो जाती है, पैरों में पड़ता है तो क्रोध से देखती तक नहीं, आलिङ्गन के लिए बढने पर उसकी उपेक्षा कर देती है, उसी प्रकार त्रिपुरदाह के समय शिव जी का बाणानल जब प्रदीप्त हो उठा तब राक्षस-बधुओं ने उससे हर तरह से अपना रक्षण करना चाहा।)

यहाँ त्रिपुरारि का प्रभावातिशय मुख्यार्थ है और ईर्ष्याविप्रलम्भ उसका अङ्ग है, अतः आचार्य आनन्दवर्धन ने इसे सङ्कीर्ण रसवद् अलङ्कार के उदाहरण में रखा है।[1]

प्रहरविरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेऽथवा
किमुत सकले जाते वाह्नि प्रिय त्वमिहेष्यसि।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालालापैः सबाष्पगलज्जलैः॥

—अमरु० ६।

"हे प्रिय! (तुम जा तो रहे हो किन्तु यह बतला दो कि) एक पहर दिन बीत जाने पर आओगे अथवा दोपहर को लौटोगे? या उसके भी पश्चात् अर्थात् तीसरे पहर लौटोगे किं वा सारा दिन बिताकर ही यहाँ आ सकोगे? इस प्रकार सौ दिनों की राहवाले दूर देश को जाने वाले प्रियतम का गमन रुँधे गले से बातें करके बाला (मुग्धा) ने रोक दिया।"[2]

---

१. प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
वाक्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः॥

—ध्व०, उद्योत २, का० ५।

२. मिलाइए,

"सौ दिन को मारग तहाँ कौं बेगि माँगि बिदा,
प्यारी 'पदमाकर' प्रभात राति बीते पर।

कथमपि सखि क्रीडाकोपाद्व्रजेति मयोदिते
कठिनहृदयस्त्यक्त्वा शय्यां बलाद्गत एव सः ।
इति सरभसं ध्वस्तप्रेम्णि व्यपेतघृणे जने
पुनरपि हतव्रीडं चेतः प्रयाति करोमि किम् ॥
—अमरु०, १२ ।

"हे सखि! किसी प्रकार प्रणयकोप से मैंने कह दिया कि तुम चले जाओ। बस इतना सुनते ही वह कठोर-हृदय बलात् सेज त्याग कर चला ही गया। चटपट इस प्रकार प्रेम को तोड़ देने वाले उस निर्दय व्यक्ति के पास मेरा यह निर्लज्ज हृदय अब भी दौड़-दौड़कर चला जाता है, मैं क्या करूँ?"

यहाँ प्रेम की जिस सूक्ष्म अन्तर्वृत्ति का चित्रण कवि ने किया है वह नितान्त हृदयावर्जनीय है। इससे कवि की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का भी पता चलता है। यही प्रेम की सहज गति है। सीधी सरल उक्ति में कवि ने भावों का सिन्धु ही तरङ्गायित कर दिया है। न तो जानबूझ कर किसी अलङ्कार की योजना का प्रयास है, न किसी कलात्मक चमत्कार को लाने का प्रयास। अमरुक के काव्य की यही विशेषता है, जिसपर प्राचीन काल से सहृदय मुग्ध होते आरहे हैं।

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यस्य हृदि स्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम् ।
दम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषो—
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसं व्यासक्तकण्ठग्रहः ॥[1]
—अमरु० १९ ।

सो सुनि पियारी पिय-गमन बराइबे कौं,
आँसुन अन्हाई बैठि आसन सु तीते पर।
बालम विदेस तुम जात हौ तौ जाहु पर,
साँची कहि जाउ कब ऐहौ भौन रीते पर?
पहर के भीतर कै दोपहर भीतर ही,
तीसरे पहर कंधौं साँझ ही बितीते पर।"
—जगद्विनोद, २५०।

१. मिलाइए,
खिंचे मान अपराध ते, चलिगे बढ़े अचैन।
जुरत पीठि तजि रिस खिसी, हँसे दुहुन के नैन ॥ —बिहारी-सतसई

"एक ही शय्या पर मान किये हुए नायक और नायिका एक-दूसरे से मुँह फेरकर लेटे हुए थे। परस्पर बातें भी नहीं कर रहे थे। यद्यपि इस स्थिति में दोनों ही मन ही मन व्यथित हो रहे थे, उनके हृदय तो कभी के पिघल चुके थे, तथापि अपने-अपने गौरव की रक्षा के लिए उन्हें बाध्य होकर मौन धारण करना पड़ रहा था। इसी बीच धीरे-धीरे दोनों की आँखों के कोर मुड़कर एक-दूसरे से जा मिले। बस फिर क्या था, आँखें मिलते ही प्रणय-कलह भाग खड़ा हुआ, सहसा दोनों हँस पड़े और मुड़कर एक-दूसरे के गले से लिपट गए।"

गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचप्रोद्भिन्नरोमोद्गमा,
सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा ।
मा मा मानद माति मामलमिति क्षामाक्षरोल्लपिनी,
सुप्ता किन्तु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम् ॥
—अमरु० ३६।

"मेरे गाढ़ आलिङ्गन से नववधू के उठे हुए कुच दब कर छोटे हो गए, उसे रोमाञ्च हो आया। घने प्रेम रस की अधिकता से ऊँचे नितम्ब-प्रान्त से वस्त्र सरक कर दूर हो गया। फिर वह टूटे-फूटे शब्दों में कहने लगी, 'नहीं, नहीं, मानद! अधिक और नहीं, मुझे, बस करो।' (इतना कहती-कहती वह शान्त हो गई) मैं सोचने लगा, क्या यह सो गई, किं वा मर गई, अथवा मेरे मन के स्तरों को पार करती हुई उसी में विलीन हो गई!"

इस गीति को अनेक महान् आलङ्कारिकों ने अपने ग्रन्थों में गौरवपूर्ण स्थान दिया है।[1] प्रथम रति-काल का इतना सुन्दर वाणीमय चित्र अन्यत्र मेरे देखने में नहीं आया। बाह्य शब्दों की स्थिति पर विशेष ध्यान न देकर जो सहृदय पाठक इसके रस के आभ्यन्तर में लीन होंगे वे ही कवि-हृदय का सान्निध्य पाकर रसास्वादन में पूर्णतया समर्थ होंगे। आचार्य रुय्यक ने इसे 'प्रेयोलङ्कार' के उदाहरण में रखा है और कहा है—

"अत्र नायिकायां हर्षाख्यो व्यभिचारिभावः।"
—अलङ्कारसर्वस्व, पृ० २३७, काव्यमाला संस्करण।

नीत्वोच्चैर्विक्षिपन्तः कृततुहिनकणासारसङ्गान् परागान्
कौन्दानानन्दितालीनतितरसुरभीन् भूरिशो दिङ्मुखेषु।

---

१. देखिए, काव्यप्रकाश, उल्लास ७।३११

एते ते कुङ्कुमाक्तस्तनकलशभरास्फालनादुच्छलन्तः
पीत्वा सीत्कारिवक्त्रं शिशुहरिणदृशां हेमना वान्ति वाताः ॥

—अमरु०, ५४ ।

"भ्रमरों को आनन्दित करने वाले, अत्यन्त सुरभित और तुहिन कणों की वर्षा का भ्रम उत्पन्न करने वाले, कुन्द के फूलों के मरन्द को ऊपर ले जाकर चारों ओर फेंकते हुए, हरिण के बच्चों की चञ्चल आँखों के समान आँखों-वाली सुन्दरियों के कुंकुम के लेप से युक्त ऊँचे-ऊँचे स्तनों से टकराकर उछलते हुए तथा उनके सीत्कार करनेवाले मुखों की मदिरा का पान करके हेमन्त-कालीन पवन चल रहे हैं।"

प्रकृति का ऐसा संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करने वाली कविता कवि-गुरु कालिदास की ही मिलती है। अरूप पवन की क्रीडा-स्थली यहाँ राजा का विलास-उपवन है, जब कि कालिदास की प्रतिभा वन्य प्रकृति के उन्मुक्त क्षेत्र में विचरती दिखाई पड़ती है।[1] कालिदास प्रकृति के पुरोहित हैं और अमरुक सर्वत्र शृंगारस का ही आवाहक है।

मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते,
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि।
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदिस्थितो हि ननु मे प्राणेश्वर श्रोष्यति॥

अमरु० ६७।

"हे भोली! तुमने सारा समय (दिन-रात) भोलेपन से ही बिताना क्यों आरम्भ कर दिया है? मान धारण करो (कभी-कभी पति के प्रति बनावटी कोप भी प्रकट किया करो), धीरता को बाँधो और सरलता को दूर हटाओ।' सखी द्वारा ऐसा उपदेश सुनकर उस सुन्दरी के मुख-मण्डल पर

---

१. कालिदासकालीन समाज का स्वरूप अमरुक के समय तक बहुत कुछ परिवर्तित हो चुका था। कालिदास के इस पवनपरक चित्र को अमरुक के उपरिलिखित चित्र से मिलाकर देखने पर यह अन्तर स्पष्ट हो जायगा—

—कुमारसम्भव, सर्ग १।१५।

भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः॥

—कुमारसम्भव, सर्ग १।१५।

भय की रेखाएँ अङ्कित हो गईं और उसने कहा, धीरे-धीरे ऐसी बातें करो, क्योंकि मेरा प्राण-वल्लभ नित्य मेरे हृदय में निवास करता है, वह तुम्हारी बातें सुन लेगा।"

उत्तमा नायिका का ऐसा हृदयहारी बोलता चित्र अन्यत्र कहाँ मिलेगा ! इससे अनेक परवर्ती कवि प्रभावित हुए। हिन्दी के महाकवि बिहारीलाल ने तो इसे ज्यों का त्यों लेकर और समेटकर अपनी जेब के हवाले किया है, देखिए—

सखी सिखावति मान विधि, सैननि बरजति बाल।
हरुए कहि, मो हिय बसत, सदा बिहारीलाल॥

—बिहारी सतसई, २०६

क्व प्रस्थिताऽसि करभोरु घने निशीथे
प्राणाधिको वसति यत्र जनः प्रियो मे।
एकाकिनी वद कथं न बिभेषि बाले!
नन्वस्ति पुंखितशरो मदनः सहायः॥[१]

—अमरु०, ६९

'हे सुन्दरी ! इस घनी अँधेरी रात में तुम कहाँ चल पड़ी हो?' 'जहाँ मेरा प्राणाधिक प्रिय जन रहता है।' 'हे बाले ! अकेली तुम डरती क्यों नहीं हो?' 'तीखे बाणवाला कामदेव मेरा सहायक है (इसीलिए मुझे कोई डर नहीं है)।'

शृंगार रस के केवल सौ छन्दों को लिखकर इतनी ख्याति अर्पित करने वाला दूसरा कवि विश्व-साहित्य में नहीं हुआ। आचार्य आनन्द-वर्धन का कथन अक्षरशः सत्य है कि इनका एक-एक मुक्तक एक-एक प्रबन्ध है। ऐसी रसमयी सर्वांगपूर्ण रचना करने वाला संस्कृत का कोई अन्य शृंगारी कवि नहीं हुआ। इनके सौ पद्यों के अतिरिक्त तेरह पद्य और भी पाए जाते हैं, उनकी भी सरसता अत्यन्त सराहनीय है।

---

१. मिलाइए, महाकवि कालिदास के रति-विलाप का यह कथन—

रजनीतिमिरावगुण्ठिते पुरमार्गे घनशब्दविक्लवाः।
वसतिं प्रियकामिनां प्रियास्त्वदृते प्रापयितुं क ईश्वरः॥

—कुमारसम्भव, सर्ग ४। ११।

महाकवि भल्लट का शतक

भट्ट भल्लट कश्मीर के निवासी थे। इनका जीवन-वृत्त नितान्त अज्ञात है। केवल आलङ्कारिकों के ग्रन्थों में इनके पद्यों को उद्धृत देखकर ही इनके समय का अनुमान लगाया जा सकता है। सर्वप्रथम 'ध्वन्यालोक' में इनके दो पद्य मिलते हैं, इससे यह निश्चित है कि इनका समय नवीं शती ईस्वी से पहले है। इससे पहले किसी ग्रन्थ में इनके पद्य नहीं मिलते, अतः ये आठवीं शती में हुए थे, ऐसा अनुमान है। इनके केवल एक ग्रन्थ 'भल्लट शतक' का ही उल्लेख मिलता है और इसी पर इनकी कीर्ति टिकी हुई है। इस छोटे-से ग्रन्थ से ही इतना स्पष्ट है कि ये महाकवि थे और इनकी-सी प्रतिभा गिने-चुने कवियों में ही पाई जाती है। इनके पद्य ध्वन्यालोक, लोचन, काव्य-प्रकाश, सुवृत्ततिलक, वक्रोक्तिजीवित, अलङ्कारसर्वस्व आदि ग्रन्थों में पाए जाते हैं। इनका शतक निर्णय सागरप्रेस, बम्बई से काव्य-गुच्छक में प्रकाशित हो चुका है।

'भल्लट शतक' में अनेक विषयों को अधिकृत करके कविताएँ रची गई हैं, 'अमरु शतक' की भाँति केवल एक विषय को ही नहीं अपनाया गया है। इस कवि का दृष्टि-प्रसार विस्तृत भू-भाग था। इनकी अन्योक्तियाँ विशेष आह्लादजनक हैं। ऐसी प्रभावशालिनी अन्योक्तियाँ इतनी संख्या में अन्यत्र नहीं मिलतीं। अन्योक्ति कहने में इनके समक्ष पण्डितराज जगन्नाथ ही टिक सकते हैं। इनके शतक के पश्चात् 'भामिनी विलास' ही ऐसा ग्रन्थ है जिसमें उच्च कोटि की अन्योक्तियाँ कही गई हैं। ध्वन्यालोक में इनके काव्य को स्थान देकर ध्वनिकार ने इनके प्रति जो सम्मान प्रकट किया है उसी से इनकी महत्ता निस्संदिग्ध रूप में प्रमाणित हो जाती है। सहृदयों ने इनकी गणना कतिपय गिने-चुने महाकवियों में की है।[1] इनके काव्य-संग्रह से कतिपय गीतियाँ यहाँ दी जा रही हैं—

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो,
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः।

१. माघश्चोरो मयूरो मुररिपुरपरो भारविः सारविद्यः
श्रीहर्षः कालिदासः कविरथ भवभूत्यादयो भोजराजः।
श्रीदण्डी डिण्डिमाख्यः श्रुतिमुकुटगुरुर्भल्लटो भट्टबाणः
ख्यातश्चान्ये सुबन्ध्वादय इह कृतिभिर्विश्वमाह्लादयन्ति॥ —सुभाषित०

न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः,
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरनुगुणाया मरुभुवः ॥

—भल्लट० ।

"जो (ईख और सज्जन) दूसरों के लिए कष्ट उठाता है (गन्ना कोल्हू में अपने को कुचलाता है), अपमान वा उपेक्षा पाकर भी (गन्ना तोड़े जाने पर और सज्जन मान-भंग होने पर भी) अपने स्वभाव की मधुरता नहीं छोड़ता, जिसके विकार (गन्ने का विकार गुड़, शक्कर आदि और सज्जन का स्थान-प्रयुक्त क्रोधादि) को भी लोग सहर्ष स्वीकार करते हैं, वही (गन्ना और सत्पुरुष) यदि अस्थान में पड़कर (अनुर्वरा भूमि और मूर्ख राजा की सभा में) वृद्धि को न प्राप्त हो तो इसमें क्या ईख का ही (ईख के समान सरस हृदय सज्जन) दोष है और उस अनुर्वरा भूमि (मूर्ख राजा) का कोई दोष नहीं ?"

यहाँ सज्जन के गुणों का ख्यापन और मूर्ख आश्रयदाता के अविवेक की निन्दा कितने कौशल से प्रदर्शित की गई है, दर्शनीय है। यह गीति 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलंकार का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण भी है।

कस्त्वं भोः कथयामि दैव-हतकं मां विद्धि शाखोटकं,
वैराग्यादिव वक्षि, साधु विदितं, कस्मादिदं कथ्यते ?
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते,
नच्छायाऽपि परोपकारकरणे मार्गस्थितस्यापि मे ॥

—भल्लट० ।

"तुम कौन हो जी ? बतलाता हूँ, तुम मुझे अभागा सिहोर (एक वन्य छोटा पेड़) समझो। भाई, तुम विरागी की-सी बातें कर रहे हो ! हाँ, तुमने ठीक ही समझा। क्यों तुम ऐसी बात कह रहे हो ? तो सुनो, यहाँ से (थोड़ी दूर) बाईं ओर एक बरगद का पेड़ है, राही-बटोही सभी उसके आश्रय में जाते हैं (उसकी छाया में सोते, बैठते, खाते, पीते हैं) और एक मैं हूँ जो रास्ते पर रहते हुए भी अपनी छाया से किसी का कोई भी उपकार नहीं कर सकता।"

एक निर्धन किन्तु मनस्वी पुरुष के अन्तःक्षोभ का इससे सुन्दर निदर्शन भला अन्यत्र कहाँ मिल सकता है ? उद्दाम इच्छा है परोपकार करने की,

किन्तु साधन का नितान्त ही अभाव है। ध्वनिकार ने इसे 'अविवक्षित वाच्य-ध्वनि' के उदाहरणस्वरूप रखा है।[1]

गोवर्द्धनाचार्य की आर्याएँ

आचार्य गोवर्धन का काल-निर्णय निर्विवाद रूप से आज भी नहीं हो सका है। ये सुकवि जयदेव के पूर्ववर्ती थे अथवा समकालीन, इन्हीं दोनों मतों को लेकर विवाद चलता रहा है। जयदेव ने अपने 'गीतगोविन्द' के आरम्भ में ही इनके श्रृङ्गारिक कवि-रूप की प्रशंसा करते हुए कहा है—

'श्रृङ्गारोत्तर-सत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्द्धी कोऽपि न विश्रुतः..................। —गीत०

इससे यह तो स्पष्ट है कि जयदेव गोवर्धन से भलीभाँति परिचित थे, अतः वे इनके बाद भी हो सकते हैं। इन्होंने अपने काव्य-संग्रह में जयदेव का नामोल्लेख कहीं भी नहीं किया है। 'ग्रंथारम्भ-व्रज्या' में इन्होंने आदि कवि वाल्मीकि, व्यास, गुणाढ्य, कालिदास, भवभूति, बाण, नीलाम्बर (गोवर्धन के पिता) और प्रवरसेन का सादर स्मरण किया है। पूर्वकथित तीन महान् प्रबन्धकार कवियों को अत्यन्त प्रणतिपूर्वक नमस्कार किया है। किन्तु जयदेव तथा उनकी प्रख्यात कृति 'गीतगोविन्द' का कहीं उल्लेख तक नहीं है। श्री सनातन गोस्वामी का मत है कि ये वङ्गदेशाधिपति बल्लालसेन के पुत्र महाराज लक्ष्मणसेन के सभासद थे। महाराज लक्ष्मण सेन के सभा-भवन के द्वार पर लगे हुए शिला-पट्ट पर खुदा एक श्लोक मिलता है—

गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः।
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य च ॥

—उत्कीर्ण श्लोक।

इससे यही सिद्ध होता है कि लक्ष्मणसेन की सभा के पञ्चरत्नों में ये भी एक थे, यह भी कतिपय विद्वानों का मत है। गोवर्धन ने कवि-प्रशस्तियों के अन्त में यह आर्या दी है—

सकलकलाः कल्पयितुं प्रभुः प्रबन्धस्य कुमुदबन्धोश्च।
सेनकुलतिलकभूपतिरेको राकाप्रदोषश्च ॥

—आर्या०, ग्रन्थारम्भव्रज्या ३९।

---

१. देखिए, ध्वन्यालोक, उद्योत ३, का० ४१।

इसमें 'सेनकुलतिलकभूपतिः' का अर्थ टीकाकार अनन्तपण्डित ने 'सेतुबन्ध' काव्य का कर्ता प्रवरसेन राजा[1] किया है। इस पर संशोधक काशीनाथ पाण्डुरङ्ग परब आदि ने टिप्पणी की है कि सेनवंश बंगाल में कायस्थवंश प्रसिद्ध है, अतः राजा लक्ष्मणसेन ही वहाँ कवि-वाञ्छित व्यक्ति हैं।[2]

विद्वद्वर्ग का बहुमत यही है कि ये महाकवि लक्ष्मणसेन की सभा को अलंकृत करते थे। राजा लक्ष्मणसेन का समय ग्यारहवीं शती ईस्वी का अन्तिम तथा बारहवीं का प्रथम चरण है, अतः इनका भी समय वही हुआ।

लक्ष्मणसेन की सभा के पाँचों कवियों में गोवर्धन सर्वोत्तम थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। शृङ्गार रस के ये असामान्य कवि थे। इन्होंने प्राकृत गाथाओं का गम्भीर अनुशीलन किया था, उसका परिणाम यह हुआ कि शृङ्गार रस और गाथा छन्द के ये अनन्य उपासक बन बैठे। संस्कृत के अनेक कवियों ने थोड़ी-बहुत गाथाएँ लिखी हैं, किन्तु प्राकृत गाथाओं के समान सरसता और माधुर्य लाने में इनके अतिरिक्त दूसरा कवि समर्थ नहीं हुआ। स्वाभाविक सरसता इन्हें भी प्राकृत में ही मिली, संस्कृत में नहीं।[1] संस्कृत में तो इन्हें वह रस लाने में अत्यन्त प्रयास करना पड़ा।

महाकवि अमरुक ने केवल सौ पद्यों की सृष्टि की, अतः शृंगार की विस्तृत भूमि पर सर्वत्र उनके चरण जा नहीं सके। हाँ, जहाँ-जहाँ गए हैं,

---

१. सेनकुलतिलकभूपतिः सेतुकर्ता प्रवरसेन नामा राजा।

—व्यंग्यार्थदीपनाटीका, आर्या ३९

२. सेनकुलं कायस्थकुलं वंगदेश-प्रसिद्धम्।
तत्तिलकायमानो भूपतिर्लक्ष्मणसेनः॥
यत्सभायां गोवर्धनाचार्य आसीत्।
न तु सेतुबन्ध काव्यकर्ता कश्मीरमहाराजः प्रवरसेनः।
स तु क्षत्रियकुलावतंस आसीदिति राजतरङ्गिण्यां स्फुटमेव।

—आर्या०, पादटिप्पणी पृ० १६।

१. वाणी प्राकृतसमुचित-रसा बलेनैव संस्कृतं नीता।
निम्नानुरूपनीरा कलिन्दकन्येव गगनतलम्॥

—आर्या०, ग्रन्थारम्भव्रज्या ५२॥

उसे देखने के लिए उसका कोई अंश उन्होंने दूसरों के लिए नहीं छोड़ा, किन्तु गोवर्धन ने शृङ्गार के विस्तृत भू-भाग पर सञ्चरण किया है। दूसरी विशेषता इनकी यह है अत्यन्त छोटे गाथा वा आर्या जैसे छन्द में रस और भावों का सागर तरंगित कर दिया। महाकवि की वाणी का पाक इनकी आर्याओं में सर्वत्र सुलभ है। जयदेव कवि कोमल पद-शय्या के निर्माण में इतने विभोर हो गए हैं कि भावों के लोक में रमने का उन्हें अवकाश ही नहीं मिल पाया है। उनकी सबसे बड़ी देन पद-माधुरी है; भावों के आनन्द-लोक की सृष्टि उनके बूते के बाहर की चीज रही है। शृङ्गार का प्रमुख पक्ष विप्रलम्भ है और उसी की उन्होंने उपेक्षा कर दी है। इसलिए गोवर्धन से उनकी तुलना की बात ही व्यर्थ है। गोवर्धन का भाषा पर महान् अधिकार है। भाषा पर ऐसा अधिकार कम ही कवियों का देखा जाता है। गिने-चुने शब्दों में प्रचुर भावराशि इन्होंने भर दी है, भाषा की ऐसी समाहार शक्ति किसी अन्य संस्कृत-कवि में नहीं मिलती। 'आर्यासप्तशती' संस्कृत भाषा की अपरिमित शक्ति और क्षमता का दृढ़ प्रमाण है।

'आर्या' पर 'गाहा सत्तसई' और 'अमरु शतक' का विशेष प्रभाव दिखाई पड़ता है। इनका प्रमुख आदर्श तो 'गाथा' ही है, यद्यपि कतिपय अन्य महाकवियों के भी ये ऋणी अवश्य हैं। जिस प्रबल उत्साह के साथ इन्होंने ग्रन्थारम्भ किया है, उसे ही देखकर ग्रन्थ की महनीयता का पता चल जाता है। वाल्मीकि से बाण और नीलाम्बर तक जिन महाकवियों पर इन्होंने सूक्तियाँ रची हैं, ऐसी सूक्तियाँ कवियों पर अन्यत्र कहीं देखी नहीं गईं, सभी एक से एक बढ़कर हृदयहारिणी हैं। कविगुरु कालिदास और बाण पर इनकी सूक्तियों का आस्वादन कीजिए—

साकूतमधुरकोमल विलासिनीकण्ठकूजितप्राये।
शिक्षासमयेऽपि मुदे रतलीला कालिदासोक्ती॥

—आ०, ग्र० ३४।

"साभिप्राय, मधुर और कोमल विलासिनी (अकथनीय एवं अनुभवगम्य, मधुरता से भरी हुई तथा कोमलतामयी रमणी) के कण्ठ के कूजन से युक्त सम्भोग-क्रीड़ा (ऐसी क्रीड़ा जिसमें सुन्दरी के मधुर कण्ठ से मधुरता और कोमलतामयी अभिप्राय से भरी मधुर शब्दावली भी सुनाई पड़ती हो) और ध्वनिमयी, मधुर तथा कोमल सुन्दरी के कण्ठस्वर के समान कालिदास

की कविता शिक्षा के समय भी आनन्द की सृष्टि करती है (उपदेश के लिए प्रयुक्त अच्छी से अच्छी बातें कड़वी ही लगती हैं किन्तु ये दोनों शिक्षा देते समय भी शिक्षार्थियों को आनन्दविभोर कर देती हैं।"

जाता शिखण्डिनी प्राग्यथा शिखण्डी तथावगच्छामि।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति ॥

—आ०, ग्र० ३७।

"जिस प्रकार महाराज द्रुपद की पुत्री शिखण्डिनी अधिक प्रगल्भता प्राप्त करने के लिए (भीष्म द्वारा उपेक्षित होने के कारण उनसे वैर-शोधन के लिए) शिखण्डी (पुरुष) हो गई, उसी प्रकार वाणी अर्थात् सरस्वती अधिक शक्तिशालिनी बनने के लिए बाण (कादम्बरी का कर्ता) हो गई। (कहने का तात्पर्य यह कि बाणभट्ट में सरस्वती से भी अधिक शक्ति थी।)

आचार्य गोवर्धन यदि जयदेव के समसामयिक थे, तो अवश्य ही जयदेव उनकी दृष्टि में हल्के जँचे जिसके कारण उनका उल्लेख कवि ने नहीं किया, अन्यथा इनका पूर्ववर्तित्व हमें स्वीकार करना होगा। मेरा विचार है कि आचार्य कवि को जयदेव की कविता में 'साकूत मधुर कोमल विलासिनी-कण्ठ-कूजन' अवश्य ही नहीं सुनाई पड़ा और सचमुच ही कालिदास की कविता की-सी मर्मस्पर्शिनो भाव-सृष्टि जयदेव के 'गीतिगोविन्द' में ढूँढना हृदयहीनता का ही प्रकाशन है। इस महाकवि ने स्वयं ही कहा है कि महाकवि थोड़ी-सी बात में अपार अर्थ भर देता है किन्तु सामान्य कवि बहुत लम्बे कथन में भी उतने भाव नहीं ला पाता, इसीलिए उसकी कविता मध्यम और अधम कोटि की ही हो पाती है—

"बालाकटाक्षसूत्रितमसतीनेत्रत्रिभागकृतभाष्यम्।
कविमाणवका दूतीव्याख्यातमधीयते भावम् ॥"

—आर्या०, ग्रन्था० ५०।

गोवर्धन की काव्यविषयक मान्यता

काव्य के विषय में आचार्य गोवर्धन की मान्यता है कि कविता में रस का होना उसके जीवित का प्रमाण है, जिस प्रकार शृङ्गारादियुक्तता प्रिया के जीवित का प्रमाण है। सम्भोग-काल के रसावेश में रमणी का वस्त्र शरीर से दूर हो जाता है इसी प्रकार शरीर के अलंकार भी टूटकर शरीर से गिर जाते

हैं तथापि वह और भी हृदयहारिणी हो जाती है, वैसे ही यदि कविता में कवि का हृदय उतर आता है तो उसका ध्यान वैदर्भी आदि रीतियां को सायास लाने की ओर और अलंकारों की सजावट पर नहीं टिकता, क्योंकि वह तो भाव-लोक में खोया रहता है, आत्मविस्मृति की दशा में रहता है। इसके विपरीत यदि शुष्क पाषाण-प्रतिमा आभूषणों से आपादमस्तक सजा दी जाय तो उससे दर्शक के हृदय में किसी प्रकार का रसोद्रेक किंवा भावोद्रेक नहीं हो सकता (अलंकारों की बनावट पर उनकी प्रशंसा भले ही कोई कर ले किन्तु जिसको अलंकृत करने के लिए उनका निर्माण हुआ है उस अलङ्कार्य पर कोई मुग्ध नहीं हो सकता, उसके हाथों अपना हृदय समर्पित करने के लिए प्रस्तुत नहीं हो सकता) उसी प्रकार शुष्क (रसहीन) पद्य-रचना करके कोई उसमें चित्रबन्ध, श्लेष, यमक, अनुप्रास, परिसंख्या आदि अलंकारों की लाख योजना करे, कोमल-कान्त-पदावली को कितनी ही सावधानी से गुम्फित करे, वह सहृदयों का हृदयावर्जन नहीं कर सकता, काव्य-रसिकों के हृदयों में भावों को तरङ्गायित नहीं कर सकता—

रतरीति-वीतवसना प्रियेव शुद्धापि वाङ्मुदे सरसा।
अरसा सालंकृतिरपि न रोचते शालभञ्जीव॥

—आर्या०, ग्रन्थारम्भ० ५४।

अपनी आर्याओं के विषय में गोवर्धन का कथन

मसृणपदरीतिगतयः सज्जनहृदयाभिसारिकाः सुरसाः।
मदनाद्वयोपनिषदो विशदा गोवर्धनस्यार्याः॥

—आर्या० ग्रन्था० ५१।

"जिस प्रकार श्रेष्ठ सहृदय रमणियाँ अपने कोमल चरणों को मन्द-मन्द गति से रखती हुई सुहृदय जनों से मिलने के लिए एकमात्र कामदेव की वशवर्तिनी होकर उज्ज्वल वेश धारण करके जाती हैं, उसी प्रकार कोमलकान्त पदावली से सज्जित वैदर्भी रीति से युक्त, शृङ्गार रसमयी, कामोद्दीपिका और प्रसाद गुणशालिनी गोवर्धन कवि की आर्याएँ सज्जनों के हृदयों में पहुँचती हैं।"

'आर्या सप्तशती' सचमुच ही संस्कृत साहित्य का बहुमूल्य रत्न है। इसमें 'वज्जालग्ग' के समान विषयानुसार आर्याओं का क्रम नहीं रखा गया है, अपितु, आर्याओं के प्रथम वर्ण को लेकर वर्णानुक्रम से व्रज्याओं का विभाजन

किया गया है, जैसे, अकारव्रज्या, आकारव्रज्या आदि। ग्रन्थारम्भ में ५४ आर्याएँ तथा मुख्य काव्य में ६९६ आर्याएँ तथा अन्त में ६ आर्याओं में अपने काव्य की प्रशंसा की गई है। इस प्रकार पूरे ग्रन्थ में ७५६ आर्याएँ हैं।

'आर्यासप्तशती' की गीतियाँ

नखलिखितस्तनि कुरबकमयपृष्ठे भूमिलुलितविरसाङ्गि।
हृदयविदारणनिःसृतकुसुमास्त्रशरेव हरसि मनः ॥[1]

आर्या० नकारव्रज्या ३२४

कुरबक के फूलों को बिछाकर उसी पर अपने प्रियतम के साथ रतिकेलि करके आनेवाली नायिका से उसकी सखी परिहासपूर्वक कहती है, क्योंकि कुरवक के दो-चार फूल अब तक उसकी पीठ पर चिपके हुए हैं, "भूमि पर लेटती हुई हे व्याकुल अङ्गों वाली! तुम्हारी पीठ पर कुरवक के फूल सटे हुए हैं और स्तनों पर नखक्षत बने हुए हैं। तुम्हें देखकर मैं हर्ष से फूली नहीं समा रही हूँ, यह समझकर कि कामदेव के बाण तुम्हारे हृदय को चीरते हुए पीठ की ओर जा निकले!"

निहितार्धलोचनायास्त्वं तस्या हरसि हृदयपर्यन्तम्।
न सुभग समुचितमीदृशमंगुलिदाने भुजं गिलसि ॥[2]

—आर्या०, नकारव्रज्या ३३९।

पूर्वराग की वेदना में सन्तप्त नायिका को मदन-ज्वर से बचाने के लिए उसकी सखी नायक के पास जाकर कहती है, "मेरी सखी ने तुम्हें आधी आँखों से ही देखा, बस उसी आधी आँख को ही अपने हाथ में पाकर तुमने उसके हृदय तक को हर लिया। हे सुभग! अँगुली पाकर पहुँचा (भुजा) पकड़ लेना, कहाँ का न्याय है?"

---

१. उर्दू के एक शायर की कल्पना की उड़ान देखिए:

आहू नहीं ये मजनूँ है लैला,
पहन कर बोस्तीं निकला है घर से।
जिसे तूम सींग समझे है ये हैं ख़ार,
गड़े हैं पांव से निकले हैं सर से॥

२. मिलाइए, छ्वै छिगुनी पहुँचो गिलत, अति दीनता दिखाय।
बलि-बावन को ब्यौंत लखि, को बलि तुम्हें पत्याय॥

—बिहारी-सतसई

पश्योत्तरस्तनूदरि फाल्गुनमासाद्य निर्जितविपक्षः ।
वैराटिरिव पतङ्गः प्रत्यानयनं करोति गवाम् ॥
– आर्या०, पकार० ३५८ ।

सखी प्रोषितपतिका नायिका को सान्त्वना देती हुई कहती है, "हे सखि ! देखो, जिस प्रकार विराट-पुत्र उत्तर अर्जुन (फाल्गुन) की सहायता से दुर्योधन आदि शत्रुओं को पराजित करके उनके द्वारा छीनी गई गायों को लौटा लाया था उसी प्रकार उत्तर दिशा की ओर बढ़ता हुआ सूर्य फाल्गुन मास को पाकर शिशिर को पराजित करके उसके द्वारा छीन ली गई अपनी किरणों को पुनः लौटा रहा है (फाल्गुन मास में कामदेव के बाणों से आहत होकर तुम्हारा पति शीघ्र ही घर लौट आएगा, और तुम इस मास की सहायता से अपने पति की वृत्तियों को अपने वश में कर लो और वह जा न सके) ।

ज्योत्स्नागर्भितसैकतमध्यगतः स्फुरति यामुनः पूरः ।
दुग्धनिधौ नागाधिपतल्पतले सुप्त इव कृष्णः ॥
—आर्या०, जकार० २४५ ।

"चाँदनी में चमकती हुई बालुका-राशि के बीचोबीच यमुना का प्रवाह ऐसा शोभित हो रहा है मानो क्षीरसागर में शेष-शय्या पर कृष्ण (काले रंग के विष्णु) सो रहे हों । (शरत्काल में चतुर्दिक् व्याप्त निर्मल चाँदनी, यमुना का रमणीय बालुका तट तथा निरुद्विग्न वातावरण को देखकर कोई प्रेमी अपनी प्रिया से सांकेतिक रूप में बालुका-तट को शय्या बनाकर रमण की कामना प्रकट कर रहा है ।)

राधा का उल्लेख

राज्याभिषेकसलिलक्षालितमौलेः कथासु कृष्णस्य ।
गर्वभरमन्थराक्षी पश्यति पदपङ्कजं राधा ॥[1]
—आर्या०, रकार० ४८८ ।

"राधा ने जब सुना कि कृष्ण का राज्याभिषेक हुआ, तब उसकी आँखें गर्व के भार से झुक गईं और कृष्ण की चर्चा के बीच वह नीचे अपने चरण-

१. मिलाइए,
एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥ —कुमारसम्भव

कमलों को निहारने लगी (राधा ने कृष्ण के असाधारण गुणों को सुना और जब सोचा कि इतने महामहिम होते हुए भी वे मुझे प्राणों से चाहते हैं तब उसका हृदय गर्व से खिल उठा, किन्तु किसी के सम्मुख वह व्यक्त न हो, यही सोचकर पैरों को देखने लगी)।

पतितेंऽशुके स्तनार्पितहस्तां तां निबिडजघनपिहितोरुम्।
रदपदविकलितफूत्कृतिशतधुतदीपां मनः स्मरति ॥[१]

—आर्या०, पकार० ३६८।

कोई व्यक्ति विरहावस्था में संयोग-काल के सुखमय दिनों का स्मरण करता हुआ कहता है, "मेरा मन प्रिया की उस काल की चेष्टाओं को स्मरण कर रहा है जब (रात्रि-वेला में केलि-मन्दिर के भीतर) वस्त्र शरीर से नीचे गिर जाने पर उसने दोनों ओठों से अपने स्तनों को और जघनों से जाँघों को अच्छी तरह ढककर दन्तक्षत से पीड़ित ओठों से सैकड़ों बार दीपक को बुझाने की चेष्टा की थी किन्तु उसकी शिखा काँप-काँप कर रह गई थी (ओठ की विकलता से अच्छी तरह फूकते नहीं बनता था, इसीलिए दीपक काँप कर रह जाता था, बुझता नहीं था)।

'आर्या' में शृङ्गार रस आकण्ठ पूर्ण है। प्राकृत की 'गाहा सत्तसई' और हिन्दी की 'बिहारी सतसई तथा संस्कृत की 'आर्यासप्तशती' ये तीनों ही सतसइयाँ भारतीय शृङ्गारपरक साहित्य की शृंगार हैं।

पण्डितराज की गीतियाँ

पण्डितराज जगन्नाथ का नाम संस्कृत के स्वच्छन्द गीतिकारों की प्रथम पंक्ति में आता है। वाणी पर इतना महान अधिकार रखने वाले कम कवि हुए हैं। प्रकाण्ड पांडित्य के साथ कवि-प्रतिभा का ऐसा योग 'हरविजय' महाकाव्य के कर्ता महाकवि रत्नाकर और नैषधकार श्रीहर्ष में ही देखा गया। इनका पांडित्य 'रसगंगाधर', 'चित्रमीमांसाखंडन' और 'मनोरमा-कुचमर्दन' में

---

१. मिलाइए,

नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां,
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः॥ —मेघदूत, उत्तरमेघ ५

अपनी पूर्णता के साथ प्रकट हुआ है। ये ही ग्रन्थ इनकी महती आलोचना-शक्ति के भी निदर्शक हैं। इन्होंने महाकाव्य की रचना नहीं की, इनकी स्वच्छन्द गीतियों के ही संग्रह मिलते हैं। इनमें कुछ तो स्तोत्र काव्य हैं, जिनका उल्लेख यथास्थान किया जायगा, किन्तु 'भामिनीविलास' में इनकी विशुद्ध लौकिक गीतियाँ ही सङ्कलित हैं। इन्हें अपने पांडित्य और कवित्व शक्ति दोनों पर महान् गर्व था। इन्हें अपने समान महाकवि आसेतुहिमाचल कोई भी कवि दृष्टि में नहीं आया।[1] अपनी कविता के माधुर्य की प्रशंसा करते हुए ये कहते हैं--

गिरां देवी वीणागुणरणनहीनादरकरा-
यदीयानां वाचाममृतमयमाचामति रसम्।
वचस्तस्याकर्ण्य श्रवण सुभगं पण्डितपते-
रधुन्वमूर्धानं नृपशुरथवाऽयं पशुपतिः॥[2]

—भामिनी॰, विलास ४।३९।

मधु-द्राक्षा साक्षादमृतमथवा माधरसुधा
कदाचित्केषाञ्चिन्न खलु विदधीरन्नपि मुदम्।

---

१. आमूलाद्रत्नसानोर्मलयवलयितादाच कूलात्पयोधे-
यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशंकं वदन्तु।
मृद्वीकामध्यनिर्यन् यसृणरसझरी माधुरीभाग्यभाजां
वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः॥

—भामिनीविलास, विलास ४।३८।

२. मिलाइए,

सुमिरत सारदा हुलसि हँसि हंस चढ़ी
विधि सों कहति पुनि सोई धुनि ध्याऊँ मैं।
ताल-तुक-हीन अङ्ग-भङ्ग छविछीन भई,
कविता बिचारी ताहि रुचि रस प्याऊँ मैं।
केसौदास, देव, घनआनँद, बिहारी सम
सुकवि बनावन की तुम्हैं सुधि द्याऊँ मैं।
सुनि 'रतनाकर' की रचना रसीली नैंकु
फीकी परी बीनहिं सुरीली करि ल्याऊँ मैं।

—उद्धव शतक, प्राक्कथन।

ध्रुवं ते जीवन्तोऽप्यहह मृतका मन्दमतयो
न येषामानन्दं जनयति जगन्नाथभणितिः ॥
– वही, विलास ४।४० ।

"सरस्वती अपनी वीणा के तारों में झंकृति उठाना बन्द करके जिसके काव्य के अमृतमय रस का आस्वादन करती हैं, उसकी (पंडितराज की) श्रुतिमधुरा वाणी को सुनकर जो सिर नहीं हिलाता वह या तो मनुष्य देहधारी पशु है अथवा योगीश्वर शिव ।

"यह सम्भव है कि संसार में कुछ ऐसे मनुष्य हों जिन्हें शहद, अंगूर साक्षात् अमृत अथवा सुन्दरी की अधर-सुधा का पान करके कभी हर्ष न होता हो, किन्तु जगन्नाथ की कविता को सुनकर जिनके हृदय में आनन्द की तरंगें नहीं उठतीं वे जड़बुद्धि निश्चय ही जीते हुए भी मृतक (जीवन्मृत) हैं ।

पण्डितराज सन् १६५० में दिल्ली में थे ।[1] यह शाहजहाँ का शासन-काल था और इस समय तक हिन्दी काव्य पूर्णतया प्रौढ़ हो चुका था । हिन्दी के अनेक महाकवियों का सम्पर्क दिल्ली-दरबार से रहा है । अतः पण्डितराज ने हिन्दी काव्यों का अवश्य ही अनुशीलन किया होगा; क्योंकि हिन्दी की अनेक कविताओं का प्रभाव इनकी अनेक गीतियों पर स्पष्ट ही पड़ा दिखाई पड़ता है । फ़ारसी कविता की भंगी भी इनकी कविताओं में यत्र-तत्र मिलती है, जिससे प्रतीत होता है कि इन्होंने फ़ारसी-साहित्य भी पढ़ा था । प्रतिभा और व्युत्पत्ति के समान योग से इनका काव्य निस्सन्देह उत्तमोत्तम कोटि का हुआ ।

'भामिनी विलास' में चार विलास हैं, प्रास्ताविक विलास (१२९ गीतियाँ) शृंगारविलास (१८३ गीतियाँ), करुणाविलास (१६ गीतियाँ) और शान्त-विलास (४६ गीतियाँ) । इसके प्रास्ताविकविलास में अन्योक्तियों का संग्रह है । ऐसी उत्तम अन्योक्तियाँ 'भल्लट शतक' के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ में नहीं मिलतीं । अन्य विलासों में नाम के अनुरूप ही रचनाएँ संकलित हैं । इस ग्रन्थ के अतिरिक्त इनकी लौकिक गीतियाँ 'रसगंगाधर' में प्रचुर परिमाण में आई हैं । दोनों ग्रन्थों से कतिपय गीतियाँ यहाँ दी जा रही हैं—

१. पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी-लिखित 'भामिनीविलास' की भूमिका पृ० १२; 'लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर' प्रेस द्वारा मुद्रित संस्करण, सं० १९८२ ।

अन्योक्तियाँ

अयि दलदरविन्द स्यन्दमानं मरन्दं
तव किमपि लिहन्तो मञ्जु गुंजन्तु भृंगाः।
दिशि-दिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन्
परिमलमयमन्यो बान्धवो गन्धवाहः॥

—भा०, प्रा० ५।

याते मय्यचिरान्निदाघमिहिरज्वालाशतैः शुष्कतां,
गन्ता कं प्रति पान्थसन्ततिरसौ सन्तापमालाकुला।
एवं यस्य निरन्तराधिपटलैर्नित्यं वपुः क्षीयते,
धन्यं जीवनमस्य मार्गसरसो धिग्वारिधीनां जनुः॥[1]

—भा०, प्रा० १६।

आपेदिरेऽम्बरपथं परितः पतङ्गा
भृङ्गा रसालमुकुलानि समाश्रयन्ते।
संकोचमञ्चितसरस्त्वयि दीनदीने
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैतु॥[2]—भा०, प्रा० १७।

पौलोमीपतिकानने निवसतां गीर्वाणभूमिरुहां
येनाघ्रात समुज्झितानि कुसुमान्याजघ्रिरे निर्जरैः।
तस्मिन्नद्य मधुव्रते विधिवशान्माध्वीकमाकांक्षति
त्वं चेदंचसि लोभमम्बुज तदा किं त्वां प्रतिब्रूमहे॥

—वही, ४६।

पिब स्तन्यं पोत त्वमिह मददन्तावलधिया,
दृगन्तानाधत्से किमिति हरिदन्तेषु परुषान्।
त्रयाणां लोकानामपि हृदयतापं परिहरन्
अयं धीरं धीरं ध्वनति नवनीलो जलधरः॥—वही, ६०।

---

२. मिलाइए, "कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं ·····"

—पल्लटशतक।

१. मिलाइए, "सर सूखे पंछी उड़ै, और सरन समाहिं।
दीन मीन बिनु पंख के, कहु 'रहीम' कहँ जाहिं॥—रहीम दोहावली

धीरध्वनिभिरलं ते नीरद मे मासिको गर्भः ।
उन्मदवारणबुद्ध्या मध्ये जठरं समुच्छलति ॥

—वही, ६१ ।

औदार्यं भुवनत्रयेऽपि विदितं सम्भूतिरम्भोनिधे-
र्वासो नन्दनकानने परिमलो गीर्वाणचेतोहरः ।
एवं दातृगुरोर्गुणाः सुरतरोः सर्वेऽपि लोकोत्तराः
स्यादर्थिप्रवरार्थितार्पणविधावेको विवेको यदि ॥—वही, ६६ ।

व्यागुञ्जन्मधुकरपुंजमंजुगीतान्याकर्ण्य श्रुतिमदजाल्लयातिरेकात् ।
आभूमीतलनतकन्धराणि मन्येऽरण्येऽस्मिन्नवनिरुहां कुटुम्बकानि ॥

—वही, १२४ ।

दोर्दण्डद्वयकुण्डलीकृतलसत्कोदण्डचण्डांशुग-
ध्वस्तोद्दण्डविपक्षमण्डलमथ त्वां वीक्ष्य मध्ये रणम् ।
वल्गद्गाण्डिवमुक्तकाण्डवलयज्वालावलीताण्डव-
भ्रश्यत्खाण्डवरुष्टपाण्डवमहो को न क्षितीशः स्मरेत् ॥

—वही, १२८ ।

'हे प्रफुल्लितकमल ! तुम्हारे झरते हुए पराग का यत्किंचित् पान करके भौंरे भले ही गूँजें, किन्तु यह निरपेक्ष पवन जो तुम्हारी सुगन्धि को लेकर सभी दिशाओं में पहुँचाता फिरता है, वही तेरा सच्चा मित्र है (बहुतेरे मित्र ऐसे होते हैं जो आश्रयदाता से अपनी जीविका पाकर उसके पास बैठकर उसको प्रसन्न करने के लिए उसी का गुणगान किया करते हैं, किन्तु सच्चा मित्र तो वही होता है जो निस्स्वार्थ भाव से प्रशंसनीय पुरुष का यश संसार में फैला देता है) ।

"उस राह के पास ही स्थित सरोवर का जीवन धन्य है, जो इस चिन्ता में क्षीणकाय होता जा रहा है कि ग्रीष्म के सूर्य की प्रचण्ड ज्वाला का भक्ष्य बनकर जब मैं शीघ्र ही (कुछ दिनों में) सूख जाऊँगा तब प्यास से पीड़ित पथिकों का समूह किसकी शरण में जायगा, किन्तु अक्षय जलवाले समुद्र के जन्म को धिक्कार है (जिससे किसी एक भी प्यास नहीं बुझ पाती) ।

"हे सङ्कुचनशील सरोवर ! तुम्हारे सूख जाने पर पक्षी इधर-उधर आकाश में उड़ गए, भौंरे (तुम्हारे कमलों का जो मकरन्द-पान करते थे वे) आम

की मञ्जरियों का आश्रय ले रहे हैं किन्तु यह बताओ कि इन बेचारी मछलियों की क्या दशा होगी ? (स्वाभिमानी आश्रित जन तो एक को छोड़कर दूसरे के आश्रय में जा नहीं सकते चाहे उनका शरीरान्त ही हो जाय)।"

"हे कमल ! जिस भौंरे ने नन्दनवन में शोभित देव-तरुओं के पुष्पों की सुगन्ध का पहले ही आस्वादन किया और उसके द्वारा परित्यक्त पुष्पों को तत्पश्चात् देवता प्राप्त कर सके, वही भ्रमर यदि दैवयोग से पराग की इच्छा से तुम्हारे पास आ गया है और तुम खुलकर उसे मकरन्द-पान नहीं कराते हो तो फिर मैं तुम्हें क्या कहूँ ! (यदि राज-सभा की शोभा बढ़ाने वाला विद्वान् किसी सामान्य व्यक्ति के यहाँ पहुँच जाय तो उसे लोभ त्यागकर खुले हृदय से उसका स्वागत करना चाहिए ।)"

"(सिंहिनी अपने स्तनपायी सिंह-शावक से कहती है) हे बच्चे ! तुम दूध पीओ, मत्त गजराज के भ्रम से अपनी कठोर दृष्टि को इधर-उधर मत दौड़ाओ । यह तो तीनों लोकों के मनस्ताप को दूर करता हुआ नवनील मेघ गम्भीर ध्वनि से गर्जन कर रहा है (किसी लोकोपकारी महापुरुष को शत्रु नहीं समझना चाहिए ।

"हे मेघ ! तुम अपने गम्भीर गर्जन को बन्द करो । नहीं जानते, मेरे पेट में एक मास का बच्चा है और वह तुम्हारी ध्वनि को मत्त गजराज की चिंघाड़ समझ कर मेरे पेट में ही उछल रहा है । (असाधारण पुरुष माता के गर्भ में से ही अपनी असाधारणता का परिचय देने लगते हैं ।)

कल्पवृक्ष की उदारता सारे संसार में प्रसिद्ध है । उसका जन्म समुद्र से है, निवास-स्थान नन्दनवन है और उसकी सुगन्ध देवताओं के चित्त को चुराने वाली है । इस प्रकार दाताओं के शिरोमणि सुरतरु के सभी गुण लोकोत्तर हैं, किन्तु याचक-श्रेष्ठ को दान का उपयुक्त पात्र समझ कर दान देने का विवेक भी यदि कहीं होता ! (सुरतरु पात्रापात्र का विचार किए विना ही सभी को मनोवाञ्छित वस्तुएँ दे देता है, यही उसमें दोष है । दाता को पात्र की योग्यता समझकर ही तदनुसार उसे दान करना चाहिए ।)

इस वन के वृक्षों की डालियों को पृथ्वीतल तक झुकी हुई देखकर मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है मानों आसपास गुञ्जन करते हुए भौंरों के मञ्जुल गीतों को सुनकर उसकी माधुरी में मन के लीन होने के कारण ही ये वृक्ष

झुककर धरती से लग गए हों। (यहाँ पुष्प-फल-पल्लव भार को जो वृक्षों की नम्रता का कारण है, कारण न मानकर भ्रमर-गुञ्जन ही कल्पित कारण माना गया है। सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा की रमणीयता द्रष्टव्य है।)

"दोनों बलवती भुजाओं से चक्राकार किए हुए धनुष से छूटे प्रखर तीरों से शत्रु-दल को ध्वस्त करते हुए रण-भूमि में तुम्हें देखकर ऐसा कौन राजा है जिसे घोर शब्द करते हुए गाण्डीव के बाणों से बरसती अग्नि से खाण्डव वन को भस्म करते हुए अर्जुन की याद न आ जाय।"

अन्य विलासों से—

(श्रृंगारविलास से)

कस्तूरिकातिलकमालि विधाय सायं
स्मेरानना सपदि शीलय सौधमौलिम्।
प्रौढिं भजन्तु कुमुदानि मुदामुदारा-
मुल्लासयन्तु परितो हरितो मुखानि ॥[1]

—भा०, श्रृंगार० ४।

गुरुभिः परिवेष्टितापि गण्डस्थल-
कण्डूयनचारुकैतवेन।
दरदर्शितहेमबाहुनाला
मयि बाला नयनाञ्चलं चकार॥ —वही, १८।

गुरुमध्यगता मया नतांगी
निहता नीरजकोरकेण मन्दम्।
दरकुण्डलताण्डवं नतभ्रू—
लतिकं मामवलोक्य घूर्णितासीत्॥ —वही, १९।

निरुध्य यान्तीं तरसा कपोतीं
कूजत्कपोतस्य पुरो दधाने।
मयि स्मितार्द्रं वदनारविन्दं
सा मन्द-मन्दं नमयाम्बभूव॥ —वही, २९।

---

१. तुलनीय—

हा हा बदन उघारि दृग सफल करैं सब लोय।
रोज सरोजन के परै, हँसी ससी की होय॥ —विहारी-सतसई

गुरुमध्ये हरिणाक्षी मर्तिकशकलैर्निहन्तुकामं माम्।
रदयंत्रितरसनाग्रं तरलितनयनं निवारयाञ्चक्रे॥ —वही, ४९।

शयिता शैवलशयने सुषमाशेषा नवेन्दुलेखेव।
प्रियमागतमपि सविधे सत्कुरुते मधुरवीक्षणैरेव॥
—वही ८२।

"हे सखि ! सायङ्काल अपने भाल पर कस्तूरी का तिलक सजाकर मुख पर मन्द मुस्कान लेकर भवन की छत पर चल, जिससे तुझे (तेरे चन्द्र के सदृश मुख को) देखकर कुमुद विकसित हो जायँ और सारी दिशाओं के मुखों पर उल्लास छा जाय।

"गुरुजनों से घिरी रहने पर भी मेरी सुन्दरी प्रिया ने अपने कपोल खुजलाने के बहाने अपनी स्वर्णकान्त भुजा को दिखाते हुए मेरी ओर कटाक्ष फेंका।

"गुरुजनों के बीच बैठी हुई सङ्कोचशीला प्रिया को जब मैंने कमल की कली से मारा तब अपने कुण्डलों को तनिक नचाती हुई और भौंहों को झुकाए हुए ही उसने मुझे देखकर घूरा।

"आगे निकल जाने का यत्न करने वाली कपोती को बलपूर्वक रोके हुए कूजते कपोत के सम्मुख लाकर जब मैंने प्रिया को यह दृश्य दिखलाया तब उसने एक बार मुस्कुराते हुए मेरी ओर देखकर अपने मुख-कमल को झुका लिया।

"गुरुजनों के बीच जब मैंने मृगनयनी को मिट्टी के छोटे टुकड़े से मारना चाहा तब उसने जिह्वा के अग्रभाग को दाँतों से दबाकर चञ्चल आँखों से मुझे मना किया।"

"(विरहावस्था में जब नायिका अत्यन्त दुर्बल और कृशाङ्गी हो गई तब नायक परदेश से लौटा, किन्तु उस समय नायिका में शय्या से उठकर स्वागत करने की भी शक्ति शेष नहीं रह गई थी। कोई दर्शक नायिका की तत्कालीन अवस्था का वर्णन अपने मित्र से करता हुआ कहता है—) नायिका सेवार की शय्या पर द्वितीया के चन्द्रमा समान पड़ी हुई है, शरीर में कान्ति (मुख-कान्ति) मात्र शेष रह गई है। अतः प्रियतम के अपने पास आ जाने पर भी वह उसका स्वागत मधुर दृष्टि से ही कर रही है।"

पंडितराज पर जैसा कि हमने पहले कहा है, हिन्दी के रीतिकालीन कवियों का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा था, इसे जानने के लिए इनके 'भामिनीविलास' का 'शृंगारविलास' देख जाना पर्याप्त होगा। इनकी दृष्टि भी विशेष रूप में अलङ्कार-योजना पर ही टिकी है। जहाँ कहीं ये तत्कालीन चमत्कारप्रिय प्रवृत्ति से स्वच्छन्द हो सके हैं वहाँ इनका कवि-हृदय मनोमुग्धकर रूप में सामने आ गया है।

रसगङ्गाधर की गीतियाँ

अबलानां श्रियं हृत्वा वारिवाहैः सहानिशम्।
तिष्ठन्ति चपला यत्र स कालः समुपस्थितः॥

—रस०, आनन २, पृ० ३२।

करतलनिर्गलदविरलदानजलोल्लासितावनीवलयः।
धनदाग्रमहितमूर्तिर्जयतितरां सार्वभौमोऽयम्॥

—रस०, आनन २, पृ० ७०।

राज्ञो मत्प्रतिकूलान्मे महद्भयमुपस्थितम्।
बाले ! वारय पान्थस्य वासदानविधानतः॥

— रस०, आनन० २, पृ० ८७।

निर्भिद्य क्ष्मारुहाणामतिघनमुदरं येषु गोत्रांगतेषु
द्राघिष्ठस्वर्णदण्डभ्रमभृतमनसो हन्त धित्सन्ति पादान्।
यैः सम्भिन्ने दलाग्रप्रचलहिमकणे दाडिमीबीजबुद्ध्या
चञ्चूचाञ्चल्यमञ्चन्ति च शुकशिशवस्तेंऽशवः पांतु भानोः॥

—रस०; आनन २, पृ० १०७।

"अबलाओं की शोभा का हरण करके जहां चपलाएँ निरन्तर मेघों के साथ निवास करती हैं, वह (वर्षा-) काल आगया। (दूसरा अर्थ यह हुआ कि जहाँ कुलटाएँ निर्बलों का धन छीनकर सदा नीचों के साथ रमण किया करती हैं, वही कलि-काल आगया। यह शब्दशक्तिमूला ध्वनि का उदाहरण है।)

"हथेली से निरन्तर गिरते हुए दान के (संकल्प) जल से सारे पृथ्वी-मण्डल को उल्लसित करने वाले और धन का दान करनेवालों में सर्वप्रथम पूजित शरीर वाले इस सार्वभौम की श्रेष्ठता स्वतःसिद्ध है। (अपनी सूँड़

से निरन्तर मद की धारा बरसा कर पृथ्वी-मण्डल को आनन्दित कर देनेवाला और कुवेर के सम्मुख प्रशंसित मूर्तिवाला यह सार्वभौम [नामक दिग्गज] सर्वश्रेष्ठ है।)

"हे नवयौवना सुन्दरी ! राजा मुझ से अत्यन्त रुष्ट हो गया है, और मुझे उससे महान् भय उपस्थित हो गया है, इसलिए मुझ राही को निवास करने का स्थान देकर मेरी रक्षा करो। (कोई विरही रात में पूर्णिमा के चन्द्रमा को राह में जाते समय, देखकर काम-पीड़ा से अत्यन्त विह्वल होकर किसी सुन्दरी के द्वार पर जाकर उससे प्रार्थना करता है कि मैं विरही हूँ और बहुत दिनों से सम्भोग-सुख से वञ्चित हूँ, यह रात का राजा चन्द्रमा मेरी काम-पीड़ा को और भी बढ़ा रहा है, अतः निवास-स्थान और सम्भोग दान देकर [काम-पीड़ा से] मेरी रक्षा करो।)

"वृक्षों के अत्यन्त घने मध्य भाग को पार करके, जिन सूर्य-किरणों के भूतल पर आ जाने से शुक पक्षियों के बच्चे उन्हें स्वर्ण-दण्ड समझकर भ्रम से उन पर पैर रखने की इच्छा करते हैं और वृक्षों के पत्तों के छोर पर टिकी हुई ओस की बूँदों को उन्हीं किरणों के संयोग से अनार के दाने समझकर उन पर चोंचें चलाने लगते हैं, वे ही सूर्य-किरणें हम सबकी रक्षा करें। (यहाँ स्वतःसम्भवी भ्रान्तिमान् अलंकार से सूर्य का विश्व को आनन्द-दान रूप वस्तु व्यंग्य है।)

'रस गंगाधर' में उदाहरण के लिए भामिनी-विलास से भी बहुत सी गीतियाँ ले ली गई हैं। हिन्दी के आलंकारिक कवियों की भाँति जगन्नाथ ने उदाहरण के लिए सायास रचनाएँ नहीं की हैं, अपितु अपने पूर्वनिर्मित काव्यों से लेकर उन्हें उदाहरणों में स्थान दिया है। संस्कृत के आलंकारिकों में 'रुद्रट' और 'पंडितराज' दो ही ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने स्वरचित कविताओं को ही उदाहरणों में स्थान दिया है। पण्डितराज के पश्चात् आज तक इतना महान् आचार्य और महाकवि एक भी नहीं हुआ। बादशाह शाहजहाँ के कर-पल्लव की छाया में रहते हुए भी इनकी कविता दरबारी ढंग की नहीं हो सकी, क्योंकि पंडितराज इस तथ्य को भलीभाँति जानते थे कि सत्कवि सम्राट् से भी महान् होता है। इनके जीवन के उत्तर काल में सम्भवतः इनके काव्य का समादर कम हो गया था, इसीलिए इन्होंने बड़े ही व्यथापूर्ण शब्दों में कहा था—

विद्वांसो वसुधातले परवचः श्लाघासु वाचंयमा
भूपालाः कमलाविलासमदिरोन्मीलन्मदाघूर्णिताः ।
आस्ये धास्यति कस्य लास्यमधुना धन्यस्य कामालस-
स्वर्वामाधरमाधुरीमधरयन् वाचां विपाको मम ॥

—भामिनी०, शान्त० ४३ ।

अर्थात् विद्वज्जन दूसरों की कविता की प्रशंसा से उदासीन हैं और राजा लोग वैभव की मदिरा पीकर उन्मत्त हो उठे हैं (इन दोनों प्रमुख काव्याश्रयों के अभाव में), फिर कामालस देवांगनाओं की अधर-मधुरिमा का भी तिरस्कार करने वाली मेरी वाणी का यह विपाक (मेरा उत्तमोत्तम काव्य) किस धन्य पुरुष के मुख-प्राङ्गण में नृत्य करेगा ।

———

मध्यकालीन कवयित्रियाँ

प्राचीन भारत में स्त्रियाँ विद्या के क्षेत्र में पुरुषों से पीछे नहीं रही हैं। वैदिक ऋचाओं में कितनी ही के साथ 'ऋषिकाओं' के नाम भी जुड़े हुए हैं और जो विद्वान् वेदों को पौरुषेय मानते हैं, उनके अनुसार उन-उन ऋचाओं की रचना उन-उन ऋषिकाओं द्वारा ही हुई है। लौकिक साहित्य के निर्माण में स्त्रियों का बराबर योगदान रहा है। 'थेरी गाथा' पालि भाषा में निर्मित एक ऐसा सूक्ति-संग्रह है, जिसकी रचना स्त्रियों द्वारा ही हुई है। संस्कृतके सूक्ति-संग्रहोंः, सुभाषितरत्नभाण्डागार कवीन्द्रवचन समुच्चय, सुभाषितावलि, सदुक्तिकर्णामृत, सूक्तिमुक्तावलि, शार्ङ्गधर पद्धति, सूक्तिरत्नहार, तथा अलङ्कार-ग्रन्थों में ३५ से ऊपर कवयित्रियों की कविताएँ तथा बहुतों से सम्बद्ध सूक्तियाँ मिलती हैं। उनमें विजका, शीलाभट्टारिका, फल्गुहस्तिनी, विकटनितम्बा, सुभद्रा, मोरिका, इन्दुलेखा, मारुला और गङ्गादेवी प्रमुख हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें कितनी ऐसी हैं जिन्होंने प्रबन्ध काव्य रचे। स्फुट कविताएँ भी इनकी बहुत कम संख्या में उपलब्ध हैं। दाक्षिणात्या रामभद्राम्बा ने 'रघुनाथाभ्युदय' और गङ्गादेवी का 'मधुराविजय' नामक दो प्रबन्ध मिलते हैं।

---

१. (क) ऋग्वेद, मण्डल १०, सूक्त १२५, जिसे 'देवी सूक्त' कहते हैं, इसकी रचयित्री अम्भृण ऋषि की कन्या 'वाक्' थीं।

(ख) ऋग्वेद, मं० १०, सू० ८५ की रचना 'सावित्री सूर्या' ऋषिका ने की है।

(ग) ऋक्, मं० १०, सूक्त ४० को कक्षीवान् की पुत्री 'घोषा' ने रचा है।

इसी प्रकार और भी अनेक ऋषिकाएँ हैं, जिन्होंने वेद-मन्त्रों का साक्षात्कार किया था। उनमें अत्रि-कन्या अपाला (ऋक्, मं० ८, सूक्त ९१) और विश्ववारा (ऋ०, मं० ५, सू० २८), विवस्वान् की पुत्री यमी (ऋ०, मं० १०, सू० १५४), श्रद्धा कामायनी (ऋ०, मं० १०, सू० १५१), पुलोमा की पुत्री शची (ऋ०, मं० १०, सू० १५९), लोपामुद्रा (ऋ०, मं० १, सू० १७९) आदि विशेष प्रख्यात हैं।

प्राकृत की कवयित्रियाँ

प्राकृत-साहित्य का सबसे प्राचीन गीति-संग्रह 'गाहा सत्तसई' है। इसकी बहुत-सी गाथाओं के रचयिताओं के नाम मिलते हैं, उनमें आठ नाम कवयित्रियों के भी हैं—

१—रेवा

रेवा के नाम से दो गाथाएँ सप्तशती में मिलती हैं, एक में कलहान्तरिता नायिका का वर्णन है और दूसरी में खण्डिता का। गाथाएँ इस प्रकार हैं—

अवलम्बिअमाण परम्मुहीएँ एन्तस्स माणिणि पिअस्स।
पुट्ठपुलउग्गमो तुह कहेइ संमुहठिअं हिअअम्॥

—गाथा० १।८७।

किं दाव कआ अहवा करेसि कारिस्सि सुहअ एत्ताहे।
अवराहाएँ अलज्जिर साहसु कअए खमिज्जन्तु॥

—गाथा० १।९०

"(मानिनी नायिका रुष्ट होकर केलि-मन्दिर से बाहर निकल आई थी और उसका पति उसे मनाता पीछे-पीछे चला आ रहा था। नायिका की मान-जन्य कठोरता दूर हो चुकी थी, फिर भी वह अपनी कठोरता को मुख पर बनाए थी, यह लक्षित करके नायिका की सखी ने उसे लौटाने के लिए कहा—) हे मानिनी, प्रिय तुम्हारे पीछे-पीछे चला आ रहा है, फिर भी तुम मान का अवलम्बन करके उससे मुँह फेर रही हो (केवल दिखावटी क्रोध के कारण), किन्तु पीठ का तुम्हारा पुलक (रोमाञ्च) तुम्हारे सम्मुख स्थित हृदय को प्रकट किए दे रहा है (तुम्हारा रोमाञ्च तुम्हारे मान-भंग का सूचक है, अतः दिखावटीपन छोड़कर केलि-सदन में लौट जाओ)।"

"हे निर्लज्ज प्रिय! पहले तुमने कितने ही अपराध किए हैं, और कितने ही इस समय कर रहे हो, तथा जाने अभी भविष्य में कितने और करोगे, इन अगणित अपराधों में बताओ किन-किन के लिए मैं तुम्हें क्षमा करूँ? (जब तुम्हारे इतने अपराधों पर मैंने आज तक तुम्हें क्षमा किया है तब अब भी मैं तुम्हारे अपराधों को क्षमा करूँगी ही।)"

पहई

एक्कं पहरुव्विरणं हत्थं मुहमारुएण वीअन्तो।
सो वि हसन्तीएँ मए गहिओ वीएण कण्ठम्मि ॥

—गाथा० १।८६

"(स्वाधीनपतिका नायिका अपने सौभाग्यातिशय को सखियों से कहती है। नायिका ने अपने पति का हाथ से ताड़न किया और हाथ में चोट आ जाने पर नायक ने अपने मुँह से फूँक-फूँक कर उसका उपचार किया, यद्यपि उसी पर मार पड़ी थी। इसी को नायिका गर्व के साथ कह रही है—) प्रहार से उद्विग्न मेरे एक हाथ को जब मेरा पति फूँक दे रहा था (मुँह से फूँक-फूँककर पीड़ा को दूर करने का यत्न कर रहा था) तब (उसके प्रगाढ़ प्रेम से पुलकित होकर हँसती हुई मैंने अपने दूसरे हाथ से उसके गले को लपेट लिया (एक ही हाथ से उसे आलिङ्गन-पाश में बाँध लिया)।"

वद्धावही

गिम्हे दवग्गिमसिमइलिआइँ दीसन्ति विज्झसिहराइं।
आससु पउत्थवइए ण होन्ति णव पाउसब्भाइं ॥[1]

—गाथा० १।७०

(किसी नायिका का पति परदेश जाते समय कह गया कि ग्रीष्म-काल बीतते ही मैं लौटकर आ जाऊँगा। ग्रीष्म बीत गया, बादल दक्षिण-दिशा से उठने लगे, तब विरहिणी को नायक के किसी अन्य तरुणी में आसक्त हो जाने का सन्देह हुआ और वह यह सोचते ही व्याकुल हो गई। प्रोषिता को सान्त्वना देती हुई उसकी सखी ने समझाया कि तेरा सन्देह निर्मूल है।)

"विन्ध्य पर्वत के शिखर दावाग्नि से उठते हुए धुएँ से काले दिखाई पड़ रहे हैं, हे विरहिणी! धीरज रखो ये वर्षा के नए बादल नहीं हैं।"[2]

---

१. एक गाथा की प्रति में इसे 'अनुराग-रचित' कहा गया है। इसका कवि-विन्ध्याचल के पार्श्ववर्ती भाग का निवासी प्रतीत होता है।

२. मिलाएँ—धुरवा होहिं न लखि उठे धुवाँ धरनि चहुँ कोद।
जारत आवत जगत को पावस प्रथम पयोद ॥ —विहारी सतसई

अणुलच्छी (अनुलक्ष्मी)

अणुलच्छी की चार गाथाएँ सत्तसई में आई हैं। चारों शृङ्गार रस से निर्भर हैं। अणुलच्छी उच्च कोटि की कवयित्रियों में श्रेष्ठ प्रतीत होती हैं।

जं तुज्झ सई जाआ असईओ जं च सुहअ अह्मे वि।
ता किं फुट्टउ बीअं तुज्झ समाणो जुआ णत्थि॥—गा० ३।२८

हसिअं सहत्थतालं सुक्खवडं उवगएहिं पहिएहिं।
पत्तअफलाणँ सरिसे उड्डीणे सूअविन्दम्मि॥—गा० ३।६३

ण वि तह छेअरआइँ वि हरन्ति पुणरुत्तराअरसिआइं।
जह जत्थ व तत्थ व जह व तह व सब्भावणेहरमिआइं॥
—गा० ३।७४

दिढमूलबन्धगण्ठि व्व मोहआ कहँ वि तेण मे बाहू।
अम्हेहि वि तस्स उरे खुत्त व्व समुक्खआ थणआ॥—गा० ३।७६

"तुम्हारी पत्नी सती है, और हे सुभग! हम असती हैं, (तुम हमसे अपनी स्त्री का अनुराग त्याग कर सम्भोग करो, ऐसा हम भी नहीं चाहतीं) किन्तु तुम्हारे समान कोई अन्य युवक नहीं है, फिर बीज कैसे अंकुरित होगा? (तुम केवल इसलिए मेरे साथ सम्भोग करो कि मुझे तुम्हारे ही समान पुत्र प्राप्त हो। इसी बहाने वह अपने अनुराग को प्रकट कर रही है और अपने असतीत्व का गोपन भी करना चाहती है)।

"पथिकों का दल सूखे हुए वट वृक्ष के पास जाकर, उसके पत्तों और फलों के समान शुकों के समूह के उड़ जाने पर ताली बजाकर बड़े ज़ोरों से हँस पड़ा। (जो सहज ही गुणों से हीन हैं, उन पर चिपकाया गया बनावटी गुणों का तमगा उन्हें गुणवान् नहीं बना सकता। किसी-किसी का मत है कि इस कथन के द्वारा दूती ने नायिका को संकेत-स्थल के निर्जन न होने की सूचना देकर उसे वहाँ जाने से मना किया।)

"रत-व्यापार-कुशल पुरुषों के पुनरुक्तवत् राग-रसिक विदग्धतापूर्ण रत-व्यापार उतने हृदयहारी नहीं होते, जितने कि जैसे हों, जहाँ हों, यहाँ हों, वहाँ हों, ऐसे हों-वैसे हों किन्तु सद्भाव एवं स्नेह से किए रत-व्यापार हृदयहारी होते हैं।

"उसने बड़ी कठिनाई से बड़ी देर बाद आलिंगन में बँधे हुए मेरे हाथों को छोड़ा और मैंने भी उसकी छाती पर गड़ा दिए गए-से अपने स्तनों को जैसे कठिनाई से उखाड़ पाया। (दीर्घ प्रवास के कारण एक-दूसरे को छोड़ते बनता ही नहीं था।)"

ससिप्पहा (शशिप्रभा)

जह जह वाएइ पिओ तह तह णच्चामि चञ्चले पेम्मे।
वल्ली वलेइ अंगं सहावथद्धे[1] वि रुक्खम्मि॥ —गा० ४।४।

"जैसे-जैसे मेरा प्रियतम (पति) मुझे नचाने के लिए वाद्य बजाता है, मैं चंचल प्रेम में उसी ताल पर वैसे-वैसे नाचती हूँ। वृक्ष यद्यपि एक स्थान पर स्थिर रहता है तथापि लता उससे लिपटकर अपने अङ्गों को तदनुकूल मोड़ती बढ़ती जाती है।" (किसी सखी के यह प्रश्न करने पर कि प्रियतम तुम्हारी कोई पर्वाह नहीं करता फिर तुम मान क्यों नहीं करती हो, नायिका ने अपने अनुरागातिशय को द्योतित करते हुए उपर्युक्त उत्तर दिया।)

रोहा (रोधा)

जेण विणा ण जिविज्जइ अणुणिज्जइ सो कआवराहो वि।
पत्ते वि णअरदाहे भण कस्स ण वल्लहो अग्गी॥
—गा० २।६३।

"(कलहान्तरिता नायिका के मान-मोचनार्थ सखी उसे समझाती हुई कहती है—) जिसके बिना जीवित नहीं रहा जा सकता यदि वह अपराध करे तो भी उसका अनुनय किया जाता है, भला बतला कि जो अग्नि सारे नगर को क्रोधाविष्ट होकर जला डालती है, क्या उस पर किसी का प्रेम कभी कम होता है? (क्योंकि अग्नि के बिना मानव जीवित ही नहीं रह सकता।)"

असुलद्धी ?

सहि दुम्मेन्ति कलम्बाइं जह मं तह ण सेसकुसुमाइं।
णूणं इमेसु दिअहेसु वहइ गुडिआधणुं कामो॥
—गा० २।७७।

---

१. 'ट्ठिए' पाठान्तर है।

णाहं दूई ण तुमं पिओ त्ति णो अह्म एत्थ वावारो।
सा मरइ तुज्झ अअसो तेण अ धम्मक्खरं भणिमो॥

—गा० २।७८

"(प्रोषितपतिका वर्षा ऋतु के आने पर अपनी वेदना सखी के सम्मुख व्यक्त करती हुई कहती है—) हे सखि ! कदम्ब तरु के पुष्प मुझे जितनी मर्म-व्यथा पहुँचाते हैं उतने अन्य (वसन्तादि ऋतुओं में होने वाले; क्योंकि सम्प्रति वर्षा-काल है और साम्प्रतिक वेदना ही सर्वापेक्षा दुःखदायिनी प्रतीत होती है) कुसुम नहीं। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि आजकल के दिनों में कामदेव गुटिका का ही धनुष धारण करता है (कदम्ब के फूल गुटिका के आकार के होते हैं और वेही आजकल अपने सौरभ और आकार से अधिक पीड़ित करते हैं।)

(वाग्विदग्धा सखी नायिका की विरहावस्था का चित्र नायक के समक्ष प्रस्तुत करके यह भी कह देती है कि सन्देश वहन करना मेरा काम नहीं है, यतः नायक की उत्कण्ठा विशेष बलवती हो जाय और वह चलने के लिए शीघ्रता करे।)

" मैं दूती नहीं हूँ, और न तुम मेरे इतने प्रिय ही हो (जिससे तुम्हारे सुख के विचार से मुझको बाध्य होना पड़ा हो) और यह हमारा व्यापार भी नहीं है, किन्तु यदि वह तुम्हारे विरह में मर जायगी तो अयश के भाजन तुम्हीं बनोगे (तुम पर स्त्री-हत्या का पाप लगेगा)। इसीलिए अपना धर्म समझ कर तुम्हें मैंने उसकी दशा की सूचना दे दी है (यदि मैं जान-बूझकर तुमसे न कहती तो मैं भी पाप की भागिनी बनती)।"

माधवी

णूमेन्ति जे पहुत्तं कुविअं दासा व्व जे पसाअन्ति।
ते व्विअ महिलाणं पिआ सेसा सामि व्विअ वराआ॥

—गा० १।६१

"जो (अपनी पत्नियों पर) प्रभुत्व का गोपन करते हैं और पत्नी के रुष्ट हो जाने पर दासों के समान उन्हें मनाते हैं वे ही महिलाओं के (सच्चे) वल्लभ होते हैं, शेष बेचारे स्वामी मात्र ही होते हैं (जो स्त्रियों का ताड़न करते हैं, स्त्रियाँ उन्हें अपना हृदय समर्पित नहीं करतीं, अतः उनका जीवन शोचनीय ही समझना चाहिए)।"

संस्कृत गीतियों की कवयित्रियाँ

विज्जका

यों तो सभी कवयित्रियों की कविताओं में ध्वनि-प्राधान्य मिलता है तथापि विज्जका दो-एक गिनी-चुनी कवयित्रियों में प्रमुख दिखाई पड़ती हैं। अन्यों की अपेक्षा इनकी गीतियाँ अधिक संख्या में मिलती हैं। इनके नाम से दी हुई गीतियाँ 'कवीन्द्र-वचन समुच्चय', धनिक के 'दशरूपावलोक', मुकुलभट्ट की 'अभिधावृत्तिमातृका' और मम्मट भट्ट के 'काव्यप्रकाश' में उद्धृत मिलती हैं, इससे ये दशम शती ईस्वी से पूर्व रही होंगी। इनका समय अनुमानतः नवम शती ईस्वी होगा। इनकी कोई रचना (प्रबन्ध) वा रचना-संग्रह अद्यावधि उपलब्ध नहीं हो सका है।

महाकवि राजशेखर ने 'कार्णाटी विजया' को कालिदास के अनन्तर वैदर्भी रीति की सिद्ध कवयित्री मानकर कहा है—

सरस्वतीव कार्णाटी विजयाङ्का जयत्यसौ।
या विदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम् ॥[१]

—शार्ङ्गधर०, १८४

सम्भव है, यह 'विजया' और 'विज्जका' दोनों एक ही हों, किन्तु निश्चयात्मक रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता। इनकी कुछ गीतियों का रसास्वादन कीजिए—

दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति।

---

१. इनकी एक गर्वोक्ति इस प्रकार मिलती है—

एकोऽभून्नलिनात्ततश्च पुलिनाद्वल्मीकतश्चापरे,
ते सर्वे कवयो भवन्ति गुरवस्तेभ्यो नमस्कुर्महे।
अर्वाञ्चो यदि गद्यपद्यरचनैश्चेतश्चमत्कुर्महे
तेषां मूर्ध्नि ददामि वामचरणं कर्णाटराजप्रिया ॥

—सु० सु० र० भां०, ३। वि० प्र०, २

एकाकिन्यपि यामि तद्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः ॥[१]

--कवीन्द्रवचनसमुच्चय, ५००

"हे पड़ोसिन! तनिक-क्षण भर मेरे घर पर नजर रखना, क्योंकि प्रायः इस बच्चे (मेरे बच्चे) का पिता कूएँ का फीका पानी नहीं पीता, इसलिए मैं अकेली ही यहाँ से तमाल वृक्षों से घिरे हुए (जहाँ दिन में भी रात का-सा अँधेरा रहता है) सोते से जल लेने जाती हूँ, भले ही वहाँ घने उगे हुए नडकुल (एक तरह का वेत) की कड़ी गाँठें शरीर में खरोंच लगाएँ।" (यहाँ पड़ोसिन से बच्चे और घर की रखवाली करने के लिए कथन के बहाने नायिका उपपति को सङ्केत-स्थल की सूचना सङ्केत से ही दे रही है।) आचार्य केशव मिश्र ने इसमें 'भाविकत्व' नामक अर्थ गुण गाना है।)

धन्यासि या कथयसि प्रिय-संगमेऽपि
विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ॥[१]

—कवीन्द्रवचन०, २६८।

(कोई मुग्धा नायिका अपनी सखियों के बीच एक सखी का सम्भोग वर्णन सुनकर अपनी तत्कालीन दशा का वर्णन करती हुई कहती है—) "सखि! तुम धन्य हो जो सम्भोग के समय भी विश्वास और धैर्य के साथ सैकड़ों मीठी-मीठी बातें कर लेती हो, मैं तो तुम सबके सामने शपथ करके कहती हूँ कि ज्यों ही प्रिय मेरी नीवी पर हाथ रखता है, त्यों ही बेसुध (हर्षातिरेक और लज्जा से) हो जाती हूँ और फिर मुझे कुछ याद ही नहीं रहता (कि प्रिय ने क्या-क्या किया)।" मम्मट भट्ट ने इसे स्वतःसम्भवी

---

२. यह गीति धनिक के 'दशरूपावलोक' प्रकाश २।२१ के उदाहरण में और मुकुलभट्ट की 'अभिधावृत्तिमातृका' में तथा आगे चलकर केशवमिश्र के 'अलङ्कार शेखर' तृतीय रत्न, द्वितीय मरीचि में पृ० २३ पर (काशी संस्कृत सिरीज पुस्तकमाला' की प्रति में) उद्धृत है।

१. यह गीति मम्मट भट्ट के 'काव्यप्रकाश' के उ० ४।६१ में दी गई है।

वस्तु द्वारा अलङ्कार व्यंग्य के लिए उद्धृत किया है और यहाँ 'व्यतिरेक' को व्यंग्य माना है।[1]

विकटनितम्बा

विकटनितम्बा का नाम संस्कृत कवयित्रियों में बड़े आदर के साथ परिगणित होता है। इनकी अधिक गीतियाँ तो उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु महाकवि राजशेखर ने इनका जो यशोगान किया है उससे इनकी उच्च प्रतिभाशालिता का पता अवश्य ही चलता है। राजशेखर की इनके विषय में यह उक्ति है—

के वैकटनितम्बेन गिरां गुम्फेन रञ्जिताः।
निन्दन्ति निजकान्तानां न मौग्ध्यमधुरं वचः॥
—शार्ङ्गधरपद्धति, सूक्तिमुक्तावलि, सुभाषितहारा०।

"भला ऐसा कौन है जो विकटनितम्बा की मधुर पद-रचना से प्रसन्न (मुग्ध) होकर अपनी प्रियाओं की मुग्धता से मधुर वाणी को भूल न जाय।"

इससे यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि विकटनितम्बा असाधारण प्रतिभा से अलंकृत महाकवयित्री थीं। उनकी एक गीति यह है—

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृंग लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु।
बालामजातरजसं कलिकामकाले व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः॥[2]

"हे भौंरे! (जब तक इस नवमल्लिका का पूर्ण विकास नहीं हो जाता) तब तक अन्य सम्भोगक्षम पुष्पलतिकाओं के साथ अपने चंचल मन का विनोदन करो। भला इस नवमल्लिका की अजातरजस्का मुग्धा कली को असमय ही क्यों प्रपीड़ित कर रहे हो!"

शीलाभट्टारिका

शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरुच्यते।
शीलाभट्टारिकावाचि बाणोक्तिषु च सा यदि॥
—सुभा० सु० र० भां०, ३। पृ० २८३

---

१. अत्र त्वमधन्या अहन्तु धन्येति व्यतिरेकालङ्कारः।
—काव्यप्रकाश, उल्लास ४, पृ० ६७ (हिं० सा० स०, प्रयाग से प्रकाशित प्रति से)

२. यह गीति 'दशरूपक' के चतुर्थप्रकाश में 'चापल्य' नामक संचारी भाव के लिए उद्धृत की गई है।

शीला काश्मीर की रहनेवाली विदुषी कवयित्री थीं। कविवर धनदेव ने इनकी प्रशंसा में एक सूक्ति रची है, जो 'शार्ङ्गधर पद्धति' में सङ्कलित है। विद्वानों ने इनकी रचना की चर्चा में इनकी वाणी के माधुर्य और अर्थ की रमणीयता की प्रशंसा की है।[१] इनकी एक गीति आचार्य मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' में उद्धृत मिलती है,[२] रुय्यक ने उनका खण्डन करते हुए उसे दिया है[३] और साहित्यदर्पणकार ने भी मम्मट की मान्यता के खण्डन के लिए उसी को उद्धृत करके उसमें अलंकारों की स्थिति सिद्ध करने का यत्न किया है।[४] इससे इनका समय मम्मट से पहले अर्थात् ग्यारहवीं शती ईस्वी से पहले माना जायगा। शीला की प्रसिद्ध गीति यह है—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥

---

१. देखिए, 'Samskrit Poetesses' डॉ० चौधरी-लिखित, Part I, कलकत्ता १९३९।

२. "क्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः। यथा—'यः कौमारहरः स एव हि वरः..........।' अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः रसस्य च प्राधान्यान्नालंकारता।"-काव्यप्रकाश, उल्लास १, उदा० १।

३. "एवं विभावनायामपि कारणाभावः कारणविरुद्धमुखेन क्वचित्प्रतिपाद्यते। तथा च सति, यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा—

× × ×

इत्यत्र विभावनाविशेषोक्त्योः संकरः। तथा ह्युत्कण्ठाकारणं विरुद्धं यः कौमारहर इत्यादि निबद्धमिति विभावना। तथा यः कौमारहर इत्यादेः कारणस्य कार्यं विरुद्धं चेतः समुत्कण्ठत इत्युत्कण्ठाख्यं निबद्धमिति विशेषोक्तिः। विरुद्धमुखेनोपनिबन्धात्केवलमस्पष्टम्। साधकबाधकप्रमाणाभावाच्चात्र सन्देहसंकरः।"—अलंकारसर्वस्व, पृ० १६१-१६२।

४. "एतच्चिन्त्यम्। अत्र हि विभावनाविशेषोक्तिमूलस्य सन्देहसंकारालंकारस्य स्फुटत्वम्।"—साहित्यदर्पण, परि० १।

इस विवेचन में विश्वनाथ ने आचार्य रुय्यक की बात को आँख मूँद कर मान लिया है। उनका स्वकीय विमर्श नहीं है।

"जिसने कुमारीपन में ही मेरे मन में स्थान बना लिया था वही मेरा आज पति भी है, वे ही चैत्र की (चाँदनी) रातें भी हैं, मालती के फूलों की सुगन्ध से निर्भर कदम्ब-कुञ्जों से आने वाला वही मत्त समीरण है, और मैं भी वही हूँ. (यद्यपि सारी बातें यही हैं) तथापि रति-क्रिया सम्बन्धी क्रीड़ा के लिए (आज भी) नर्मदा नदी के तट पर शोभित वेतवृक्षों के नीचे चलने को मेरा मन हठ कर रहा है !"

मोरिका

इनकी कविताओं के देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये अच्छी कवत्रियी थीं, किन्तु इसके जीवन-वृत्त का कुछ भी पता अभी तक नहीं चल सका है। 'सुभाषितावली' और 'शार्ङ्गधरपद्धति' में इनके नाम की चार गीतियाँ प्राप्त हैं, दो यहाँ दी जा रही हैं—

मा गच्छ प्रमदाप्रिय प्रियशतैरभ्यर्थितस्त्वं मया,
बालाप्रांगणमागतेन भवता प्राप्नोत्यवस्थां पराम्।
किञ्चास्याः कुचभारनिःसहतरैरंगैरनङ्गाकुल-
स्त्रुट्यत्कञ्चुकजालकैरनुदिनं निःसूत्रमस्मद्‌गृहम् ॥[1]

—सु० सु० रत्न०, २। पृ० १६६। ४

लिखति न गणयति रेखा निर्झरवाष्पाम्बुधौतगण्डतटा।
अवधि दिवसावसानं माभूदिति शङ्किता बाला ॥

—वही, विश्लिष्टदशा २। ७, भाण्ड २।

सुभद्रा

राजशेखर ने सुभद्रा की प्रशंसा इस प्रकार की है—

पार्थस्य मनसि स्थानं लेभे खलु सुभद्रया।
कवीनाञ्च वचोवृत्तिचातुर्येण सुभद्रया ॥

—सूक्तिमुक्तावलि, सुभाषितहारावलि

—सुभा० सु० र० भां०, सुभद्राप्रशंसा, पृ० २८३

---

१. यह कविता 'मारिका' के नाम से मिलती है। सम्भव है यह मोरिका से भिन्न कोई कवयित्री हो।

"सुभद्रा (कृष्ण की भगिनी) ने अपने वचन-चातुर्य्य के द्वारा अर्जुन के मन में स्थान पाया और कवयित्री सुभद्रा ने अपने वाग्वैदग्ध्य के द्वारा कवियों के मन को अपना आवास बनाया।"

एक प्रकाण्ड विद्वान् और कवि की यह प्रशंसा सुभद्रा के महाकवयित्री होने का दृढ़ प्रमाण है। अवश्य ही इनकी गीतियों की संख्या अधिक होगी, किन्तु सम्प्रति 'सुभाषितावलि' में इनकी एक ही गीति मिलती है—

दुग्धञ्च यत्तदनु यत्क्वथितं ततो नु
माधुर्यमस्य हृतमुन्मथितं च वेगात्।
जातं पुनर्घृतकृते नवनीतवृत्ति
स्नेहो निबन्धनमनर्थपरम्पराणाम्॥

—सु० सुधारत्न०, लोभगर्हण, पृ० ३४९।४२।

"दूध को पहले उबाला गया, फिर उसमें दही का जामन देकर उसकी मधुरता छीन ली गई। फिर (दही बन जाने पर) वेग से उसे मथा गया और घृत बनाने के लिए मक्खन को पिघलाया गया। सच है, स्नेह (प्रेम) के क्षेत्र में अनर्थों की एक परम्परा जुड़ी रहती है।" प्रेम के गाम्भीर्य के निदर्शन के साथ-साथ अर्थान्तरन्यास की शोभा भी दर्शनीय है।

राजकन्या

कहते हैं कि विल्हण कवि की पत्नी का नाम राजकन्यका था। दोनों ही काव्य-सृष्टि में प्रवीण थे। प्रश्नोत्तर के रूप में एक कविता देखिए—

निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम्।
उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव कृता विनिद्रा नलिनी न येन॥

—सुभा० सुधारत्न भां०, ५६४।८।

फल्गुहस्तिनी

इनकी केवल दो गीतियाँ 'सुभाषितावलि' में मिलती हैं। उनमें से एक 'शार्ङ्गधरपद्धति' में भी पाई जाती है। काव्य-प्राप्ति के इस अभाव के कारण इनकी ख्याति अधिक नहीं है।

त्रिनयनजटावल्लीपुष्पं निशावदनस्मितं
ग्रहकिसलयं सन्ध्यानारीनितम्बनखक्षतिः।

तिमिरभिदुरं व्योम्नः शृङ्गं मनोभवकार्मुकं
प्रतिपदि नवस्येन्दोर्बिम्बं सुखोदयमस्तु नः ॥

——सुभाषितसुधारत्नभाण्डागार, मं० २८७

मारुला

श्री विधुशेखर भट्टाचार्य के मत से शीला भट्टारिका भोजराज की सभा-कवयित्री थीं। उन्हीं के साथ इन्हें भी वहीं की सभा-कवयित्री कोई-कोई विद्वान् कहते हैं। एक कविता देखिए—

कृशा केनासि त्वं प्रकृतिरियमङ्गस्य ननु मे,
मलाधूम्रा कस्माद् गुरुजनगृहे पाचकतया।
स्मरस्यस्मान् कच्चिन्नहि नहीत्येवमवद-
च्छिरःकम्पं बाला मम हृदि निपत्य प्ररुदिता ॥

——सुभा० सु० रत्नभां०, कान्तायाः कुशलाशंसनम्, पृ० १५४।२।

लक्ष्मी—

इनके वृत्त के विषय में कहीं से कोई सूत्र कहीं मिलता। इनके नाम से निम्नांकित गीति ख्यात है—

भ्रमन्वनान्ते नवमञ्जरीषु न षट्पदो गन्धफलीमजिघ्रत्।
सा किन्न रम्या स च किन्न रन्ता बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा ॥

——सु० सु० रत्नभां० (प्रारब्धप्रभावशंसनम्) पृ० ३७६।६६

———

नाटकों में संस्कृत गीतियाँ

नाटकों में गीतियों का विधान भारतीय नाट्यशास्त्र की अनिवार्य व्यवस्था है। लास्य के दस प्रकारों में 'गेयपद' का प्रमुख स्थान रखा गया है। रञ्जना-वैचित्र्य के लिए लास्याङ्गों की योजना आवश्यक है। आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है—

यानि लास्यांगानि'वद्यन्ते तेभ्यः कश्चिद्वैचित्र्यांशो लोकापरिदृष्टोऽपि रञ्जनावैचित्र्याय कविप्रयोक्तृभिर्नाट्ये निबन्धनीयः।

—अभिनवभारती, नाट्यशास्त्र, १९, १२०

'गेयपद' का लक्षण अभिनव ने इस प्रकार दिया है—

ध्रुवागानपञ्चकमन्तरालापस्वररहितं यत्र प्रयोगयोग्यं
भवति स काव्यप्रयोगो गेयपदमित्युक्तं भवति।

—अभिनवभारती, नाट्य० १६।१२१।

नाटक में गीतियों की योजना यद्यपि कथा-प्रसङ्ग के अनुकूल होती है तथापि बहुत-सी गीतियाँ स्वच्छन्द काव्य होती हैं और वे रसाभिव्यक्ति के लिए प्रसङ्ग-निरपेक्ष हुआ करती हैं। नाटक में गीतियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसीलिए नाटक की रचना सिद्ध कवि का ही काम माना जाता रहा है। आज नाटककार का सुकवि होना आवश्यक नहीं है। प्राकृत के गीत 'स्थित-पाठ्य' कहे जाते थे।[1] गीति की विकास-परम्परा में नाटक के गेयपदों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, इनकी योजना विभिन्न भावों और रसों की अभिव्यक्ति के लिए होती है। परम्परा-क्रम में सर्वप्रथम संस्कृत नाटककारों में भास के गीत आते हैं, अतः पहले उन्हीं के गेयपद हम यहाँ देंगे। तदनन्तर क्रमानुसार अन्य नाटकों के गीत दिए जायँगे।

महाकवि भास की गीतियाँ

महामहोपाध्याय पंडित गणपति शास्त्री ने 'अनन्तशयनग्रन्थमाला' से

१. .... स्थितपाठ्यं तदुच्यते।
मदनोत्तापिता यत्र पठति प्राकृतं स्थिता ॥
—साहित्यदर्पण, परि० ६।२१५।

तेरह नाटकों को प्रकाशित कराया और उन्हें असन्दिग्ध रूप से भास-रचित माना है। बहुसंख्यक विद्वान् यह मानते हैं कि ये नाटक महाकवि भास-रचित हैं। कुछ विद्वान् इससे सहमत नहीं, वे इन नाटकों को 'मत्तविलास' प्रहसन-प्रणेता युवराज महेन्द्र विक्रम अथवा 'आश्चर्य चूडामणि' नाटक के रचयिता शीलभद्र द्वारा रचित मानते हैं। इन नाटकों को दाक्षिणात्य किसी कवि द्वारा रचित मानने वालों में श्री बर्नेट प्रमुख हैं।[१] कुछ विद्वानों का एक तीसरा ही मत है। वे यह मानते हैं कि ये नाटक हैं तो भास-रचित; किन्तु जिस रूप में ये उपलब्ध हुए हैं, यह मूल नाटक का रंगमंच के उपयुक्त संशोधित-रूप है।[२] किन्तु अनेक ठोस प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि ये नाटक भास-रचित मूल रूप में हैं। कालिदास ने इनको बड़े सम्मान के साथ स्मरण किया है, यह पहले कहा जा चुका है। इनकी कविता को आचार्य भामह, दण्डी, अभिनवगुप्त, राजशेखर आदि ने अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है और इनके द्वारा रचित नाटकों का स्पष्ट उल्लेख भी किया है। अनुमानतः ये ईसा पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दी में हुए थे। इनके तेरह नाटकों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) प्रतिमा, (२) अभिषेक, (३) बालचरित, (४) पञ्चरात्र, (५) मध्यम व्यायोग, (६) दूतवाक्य, (७) दूतघटोत्कच, (८) कर्णभार, (९) उरुभङ्ग, (१०) स्वप्नवासवदत्त, (११) प्रतिज्ञा यौगन्धरायण, (१२) अविमारक और (१३) चारुदत्त।

महाकवि भास के नाटकों से यहाँ कतिपय गीतियाँ दी जा रही हैं, जो उनकी कवित्व-शक्ति का परिचय स्वतः देंगी—

कामेनोज्जयिनीं गते मयि तदा कामप्यवस्थां गते
दृष्ट्वा स्वैरमवन्तिराजतनयां पञ्चेषवः पातिताः।
तैरद्यापि सशल्यमेव हृदयं भूयश्च विद्धा वयं
पञ्चेषुर्मदनो यदा कथमयं षष्ठः शरः पातितः?

(—स्वप्नवासव०, अं० ४।?)

---

१. Barnett : Bulletin of school of Oriental studies, III. P. 35,520–21.

२. Dr. Dasgupta : History of Sanskrit Literature. Val. I, P. 107–8.

महाराज उदयन अपनी प्राणप्रिया वासवदत्ता के वियोग से सन्तप्त होकर अपने मित्र वसन्तक से कहते हैं, हे मित्र ! उज्जयिनी जाने पर ज्यों ही मेरी दृष्टि अवन्तिराज-पुत्री पर पड़ी थी त्यों ही कामदेव ने अपने पाँचों बाण एक साथ ही मुझ पर छोड़ दिए थे और आज भी उनके प्रहार से मेरा हृदय पीड़ित है। फिर यह तो बताओ कि जब वह अपने पाँचों बाण मुझ पर चला कर अपने तूणीर को रिक्त कर चुका था, तब फिर उसने यह छठा बाण मुझ पर चलाया किस प्रकार ?

भ्रमति सलिलं वृक्षावर्ते सफेनमवस्थितं
तृषित-पतिता नैते क्लिष्टं पिबन्ति जलं खगाः ।
स्थलमभिपतंत्यार्द्राः कीटा बिले जलपूरिते
नववलयिनो वृक्षा मूले जलक्षयरेखया ॥
—प्रतिमा, अं० ५।२

राम सींचे गए वृक्षों को देखकर कहते हैं, पेड़ों के थालों में फेनिल जल चक्कर काट रहा है। अभी उसके गँदले होने के कारण प्यास मिटाने को पास आए हुए पक्षी उसे पी नहीं रहे हैं। थाले की दरारों में छिपे हुए कीड़े उनमें पानी भर जाने के कारण किनारे की ओर झपटे आ रहे हैं। पानी के कुछ सूख जाने के कारण पेड़ों के चारों ओर रेखा बन गई है।

प्रकृति के उग्र रूप का वर्णन देखिए—

अत्युष्णा ज्वरितेव भास्करकरैरापीतसारा मही
यक्ष्मार्ता इव पादपाः प्रमुषितच्छाया दवाग्न्याश्रयात् ।
विक्रोशन्त्यवशा दिवोच्छ्रितगुहा व्यात्ताननाः पर्वता
लोकोऽयं रविपाकनष्टहृदयः संयाति मूर्च्छामिव ॥
—अविमारक

ग्रीष्मकालीन सूर्य की प्रखर किरणों ने पृथ्वी का सारा रस ही चूस लिया है। वह मानो ज्वर के ताप से सन्तप्त हो रही हो। दावाग्नि ने वृक्षों के पत्ते झुलस दिए हैं, उनकी दशा यक्ष्मा-ग्रस्त रोगी की हो गई है। पर्वत अपने गुहा रूपी मुँह को फैलाकर ताप से मानो चिल्ला रहे हों। सारा संसार सूर्य के प्रचण्ड ताप से सुध-बुध खोकर मूर्च्छित हुआ जा रहा है।

कालिदास के नाटकों में प्रयुक्त संस्कृत गीतियाँ

कविगुरु कालिदास के नाटक जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य में अप्रतिम हैं,

उसी प्रकार उनके नाटकों की गीतियाँ भी अद्वितीय हैं। कालिदास की वाणी साहित्य के उपवन की जिस क्यारी में विचरण करने को निकली है, उसके समक्ष अन्य कवि-वाणियाँ हतप्रभ दिखाई पड़ने लगी हैं। यह प्राचीन सुभाषित अपनी यथार्थता में आज भी हिमाचल के समान अविचल है—

पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाऽधिष्ठितकालिदासा।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव॥
—सु० सु० रत्नभाण्डागार, ३का० प्र०।

वाणी के वरदान-स्वरूप इस महाकवि की कविता सहृदयों को भावविभोर कर देती है। राजभवन से लेकर ऋषियों के कुटीरों तक उन्मुक्त विचरण करनेवाली कवि-प्रतिभा ने काव्य में अलौकिकानन्ददातृत्व को प्रतिष्ठित कर दिया है। महाकवि बाणभट्ट ने इस कवि-शिरोमणि की कविता से आनन्द-विभोर होकर पाठक मात्र के मन की बात कह डाली है—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥
—सु० सु० रत्नभाण्डागार, ३ का० प्र०।

विद्वानों ने रचना-वैशिष्ट्य की दृष्टि से इनके नाटकों का रचना-क्रम इस प्रकार माना है—

१. मालविकाग्निमित्र, २. विक्रमोर्वशीय और ३. अभिज्ञानशाकुन्तल। इनके तीनों नाटकों से क्रमानुसार कतिपय गीतियाँ यहाँ दी जा रही हैं।

मालविकाग्निमित्र से—

वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तयुक्तं द्वितीयम्।
पादांगुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम्॥
माल०, अं० २।६।

"हस्त-सन्धि पर मौन कंकणवाले बाएँ हाथ को नितम्ब पर रखकर, दायाँ हाथ श्यामा लता की डाली के समान नीचे लटकाए, पैर के अंगूठे से धरती पर पड़े जिस फूल को यह इधर-उधर कर रही है उसी पर दृष्टि टिकाए

इसका सीधा और छरहरा आधा शरीर इतना कमनीय हो गया है जितना कि नृत्य के समय भी नहीं था।"

महाकवि की यह चित्र-विधायिनी गीति अपनी कलात्मकता में अद्वितीय है। सुन्दरी की भावपूर्ण मूर्ति पाठक के समक्ष उपस्थित हो जाती है। किशोर प्रतिभा का यह काव्य कवि-गुरु बनने की क्षमता का पूर्वाभास निश्चयात्मक रूप में प्रस्तुत करता है।

अनतिलम्बिदुकूलनिवासिनी बहुभिराभरणैः प्रतिभाति मे।
उडुगणैरुदयोन्मुखचन्द्रिका हतहिमैरिव चैत्रविभावरी॥

—माल०, अं० ५।७।

"कम लम्बी साड़ी को मुख पर डाले और बहुत से आभूषणों से सुसज्जित वह सुन्दरी, शीत से रहित निर्मल आकाश में तारों से शोभित चैत मास को उस रजनी के समान मनोहारिणी लग रही है, जिसमें चाँदनी शीघ्र ही खुल-खिल पड़ने वाली हो।"

'उपमा कालिदासस्य' सूक्ति का निदर्शन इस गीति के द्वारा पूर्णतया हो जाता है। कालिदास की उपमाएँ भावों को निखार-सँवार देती हैं, रूप को चमका देतीं और क्रिया को गतिमती बना देती हैं। कालिदास जैसे द्वित्र महाकवियों के काव्यों को देखकर ही आचार्य आनन्दवर्धन ने विधान बनाया—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥

—ध्वन्या०, २।१६

विक्रमोर्वशीय से

उष्णालुः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी,
निर्भिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्यालीयते षट्पदः।
तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डवः सेवते,
क्रीडावेश्मनि चैष पञ्जरशुकः क्लान्तो जलं याचते॥

—विक्रमो०, अं० २।२२

"शिशिर ऋतु की दोपहरी में गर्मी से घबराकर मोर पेड़ की जड़ के थाले में (पेड़ की जड़ में पानी डालने से थाले में ठंडक रहती है) बैठ रहा

है, कनेर की कलियों को ऊपर से खोलकर भौंरे उनमें छिपे जा रहे हैं, जल-कुक्कुट वापी के गर्म जल को छोड़कर तट की कमलिनी की छाया में आ बैठा है और केलि-भवन में पिंजरे का तोता प्यास के मारे जल की याचना कर रहा है।"

राजभवन से लगे हुए विलास-उपवन की सीमित प्रकृति पर महाकवि की दृष्टि कितनी बारीकी से पड़ी है और किस कौशल से उन्होंने गीति-बद्ध किया है, देखते ही चित्र खिल उठता है। चमत्कारैकरसिक बिहारीलाल को यह दृष्टि कहाँ से मिलती, उन्होंने तो तमाशबीनों के लिए ही यह नुमाइशी करामात दिखाई है--

कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोबन सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ॥

—बिहारी-सतसई, ५६५

कालिदास का यह कितना प्रकृतिरम्य सहज काव्य-चित्र (चित्रकाव्य नहीं) है, भावक का हृदय ही समझेगा। जिनका साथ बहुत लम्बी परम्परा से चले आते हुए प्रकृति के अञ्चल से छूट चुका है, उनकी बात अलग है, किन्तु भारत-भूमि के निवासी ही कालिदास के काव्य का रसास्वादन कर सकते हैं, शहरी लोग नहीं।

कवि-गुरु का मनोवैज्ञानिक अध्ययन इस आर्या में देखिए—

नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासङ्कटस्खलितवेगः।
विघ्नितसमागमसुखो मनसिशयः शतगुणीभवति॥

—विक्रमो०, अं० ३।८

"जिस प्रकार नदी का प्रवाह विषम शिलाओं से अवरुद्ध होकर और भी वेगवान् हो जाता है, उसी प्रकार जिसका सम्भोग-सुख विघ्नित हो जाता है वह कामदेव सौ गुना अधिक बलशाली हो उठता है (नायक और नायिका के सम्मिलन में जब विघ्न उपस्थित होते हैं तब उनकी मिलनेच्छा और भी अधिक बढ़ जाती है)।

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद्विश्रान्तपुष्पोद्गमा।

चिन्तामौनमिवास्थिता मधुलिहां शब्दैर्विनालक्ष्यते
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ॥[१]
—विक्रमो०, अं० ४।६८

"(पुरूरवा ने उर्वशी को चारों ओर खोजते हुए एक लता को देखा और उसे ही उर्वशी समझ कर वह कहने लगा) "ऐसा प्रतीत होता है कि मेरी कोपाविष्टा प्रिया ने पैर पड़ने पर भी मेरा जो अपमान किया था उसी के कारण उसे पश्चात्ताप हुआ है। यह वर्षा के जल से भींगा पल्लव ही आँसुओं से धुला उसका अधर है, ऋतुकाल के व्ययतीत हो जाने पर इसमें जो फूल नहीं दिखाई पड़ रहे हैं, वही आभूषणों से शून्यता है, भौरों की गूँज यहाँ नहीं सुनाई पड़ रही है वही मेरी प्रिया की चिन्तामयी मूकता है।"

श्रमखेदसुप्तमपि मां शयने या मन्यसे प्रवासगतम्।
सा त्वं प्रिये सहेथाः कथं मदीयं चिरवियोगम् ॥[२]
—वि०, अं० ४।७३

"तुम श्रम से थककर मेरे सो जाने पर भी मेरे प्रवास-काल की वेदना का अनुभव करती हो, वही तुम मेरा इतने दिनों का वियोग भला किस प्रकार सहन कर सकती थीं।"

यह वाणी कितने प्रेमार्द्र कण्ठ से निःसृत हुई है, सहृदय ही समझ सकते हैं। दम्पति का पारस्परिक प्रेम कितने अचल विश्वास पर आधारित और कितना गम्भीर है, अनुभूतिगम्य ही है। नाटकों में आई हुई कालिदास की आर्याएँ प्राकृत की आर्याओं (गाथाओं) से भावोत्कर्ष में तनिक भी घटकर नहीं हैं, अपितु कवि-गुरु के हाथों में आकर वे और भी परिष्कृत हो उठी हैं। भावों का इतना रमणीय और कोमल विलास अन्यत्र कहाँ देखने में आ पाता है!

---

१. आचार्य आनन्द ने इसमें 'रसवद्' अलङ्कार माना है और निम्नलिखित कारिका को समर्थन में उद्धृत किया है—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥
—ध्वन्या०, उद्योत २।५।

२. हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा।
इदानीमावयोर्मध्ये सरित्सागरभूधराः ॥—हनुमन्नाटक
—सुभाषितसुधारत्न भाण्डागार में इसे वाल्मीकि-रचित कहा गया है।

अभिज्ञानशाकुन्तल की गीतियाँ

शाकुन्तल विश्व का अप्रतिम काव्य-ग्रन्थ । ऐसी मनोहारिणी रचना विश्व के किसी कवि ने अभी तक नहीं दी । वस्तु, पात्र (नेता) और रस सभी दृष्टियों से इसकी मूर्धन्यता सर्वमान्य है । प्रारम्भ की मङ्गलगीति 'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या' से लेकर भरतवाक्य 'प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः' तक पूरा रूपक ही किसी के समक्ष रखने की इच्छा होती है । गीतियों के चयन के समय किसे रखें और किसे छोड़ें, मन की यह उलझन सुलझती ही नहीं । कवि-गुरु की प्रतिभा, उनकी सर्वातिशायिनी अन्तर्दृष्टि प्रकृति के रमणीय दृश्यों का चयन, पात्रों के निसर्ग सुन्दर स्वभाव की मोहक झाँकी देखकर मन उस दिव्य-लोक में आत्म-विस्मृत हो जाता है । जर्मन महाकवि गेटे जैसा प्रतिभाशाली और पाश्चात्य संस्कृति में पला महान् व्यक्तित्व भी इस महती कृति के सम्मुख नतमस्तक हो गया और इसकी मुक्तकण्ठ से स्तुति की ।[1] गेटे की इस सम्मति का मूल्याङ्कन करते हुए श्री एम० आर० काले कहते हैं—

When we remember that Goethe himself was the greatest poet of Germany and one of the world, we realize the importance of his estimate of our poet.

—Introduction, The vikramorvasiya, P. 17.

'अभिज्ञानशाकुन्तल' की कतिपय गीतियों का रसास्वादन करें—

ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम् ।

---

१. Wouldst thou the young years blossoms and the fruits of its decline,
And all by which the soul is Charmed, enraptured, feasted, fed ?
Wouldst thou the earth and heaven itself in one sole name Combine ?
I name thee, O Sakuntala, and all atonce is said.

—Goethe
(Translated from the German by Mr. E. B. Eastwick.)

दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमूर्व्यां प्रयाति ॥
—शाकुन्तल, अं० १।७।

(दुष्यन्त का रथ कृष्णसार का पीछा कर रहा है और मृग अत्यन्त त्वरित गति से आगे उड़ता चला जा रहा है। मृग की पलायन-भङ्गिमा का निरीक्षण करते हुए राजा सूत से कहता है—) "अपनी गर्दन को अभिरामता से मोड़े हुए, पीछे-पीछे दौड़ते हुए रथ पर दृष्टि गड़ाए, बाण-प्रहार के भय से शरीर के पिछले भाग को सिकोड़ कर अग्रभाग को पूर्णतया आगे खींचे हुए है। दौड़ने के श्रम से खुले हुए मुँह से अधकटे कुशों को राह पर बिखेरता जा रहा है। देखो तो ऊँची छलाँगें भरने के कारण आकाश-मार्ग से ही जाता दिखाई पड़ रहा है, धरती पर तो बहुत कम दृष्टि आ रहा है (मानों धरती पर पैर ही न रखता हो)।"

प्राण-रक्षा के लिए प्राणपण से भागते हुए मृग का ऐसा निसर्ग सुन्दर रमणीय चित्र कवि-गुरु के अतिरिक्त और कौन प्रस्तुत कर सकता है? दुष्यन्त आश्रम-भूमि में जा पहुँचता है, शस्त्र-ग्रहण आश्रम की मर्यादा के प्रतिकूल है, यह सोचकर राजा वन के जीवों को शान्त विहार की छूट देता हुआ अपने धनुष की प्रत्यञ्चा शिथिल कर देता है। राजा का कथन कितना श्रुतिमधुर है—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विश्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रान्तिं लभतामिदञ्च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥[1]
—वही, अं० २।६

"अब भैंसे निश्चिन्त होकर कृत्रिम जलाशयों के जल को सींगों से उछाल-उछालकर उसी में डुबकी लगाएँ। वृक्ष की छाया में बैठकर मृगों का झुण्ड

१. मम्मट भट्ट ने दोषान्वेषण करते हुए इसके तृतीय चरण में कारक-सम्बन्धी 'भग्नप्रक्रम' दोष पाया और उसे इस प्रकार ठीक कर देने की राय दी—

'विश्रब्धा रचयन्तु सूकरवरा मुस्ताक्षतिम्'
—काव्यप्रकाश, उल्लास ७, उदा० २५

आँखें मूँदकर जुगाली का आनन्द ले। सूकरों के यूथपति निश्चिन्तता के साथ तलैयों में मोथों को उखाड़-उखाड़ फेंकें और अपनी डोरी के बन्धन को ढीला करके हमारा धनुष भी विश्राम कर ले।''

आखेट के समय वन कितना उपद्रुत हो उठता है, यह ध्वनि भी इस गीति से निकलती है। पद-लालित्य और अर्थ-सौष्ठव दोनों ही दृष्टियों से इसकी उत्तमता श्लाघ्य है। आचार्य वामन ने 'समग्रगुणोपेता वैदर्भी' के लिए इसी मनोरम गीति को उद्धृत किया है।[1]

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथन्नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥

—वही, अं० ४।६

"आज शकुन्तला (पुत्री) चली जायगी, यह सोचकर मेरा हृदय उत्कण्ठा से आत्म-विस्मृति में डूब रहा है, गला आँसुओं से रुँधा जा रहा है, दृष्टि चिन्ता के भार से धुँधली हो गई है। जब मुझ जैसे वनवासी (तपोधन और वीतराग) को वात्सल्य स्नेह के कारण ऐसी व्याकुलता हो रही है, तब बेचारे गृहस्थ अपनी पुत्रियों के विरह के नए-नए दुःख से न जाने कितनी हृदय-विदारिणी वेदना का अनुभव करते होंगे ?"

इस गीति में कवि-गुरु ने भारतीय-संस्कृति का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्र प्रस्तुत किया है। यह भारतीय जीवन की महती विभूति है। भारतीय जन ही इसके वास्तविक मूल्य को समझ सकते हैं। पाश्चात्य सभ्यताभिमानी युगानुयुग से चली आती हुई इस मृदुल रमणीय भावना का अनुभव भला किस प्रकार कर सकेंगे ! इसी प्रकार कालिदास के अमर काव्यों में सर्वत्र भारतीय संस्कृति के रमणीय चित्र सर्वत्र देदीप्यमान रूप में मिलते हैं।

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥

वही, अं० ४।९

---

१. काव्यालङ्कारसूत्र, अध्याय २, सूत्र ११ के समर्थन में उद्धृत।

"जो शकुन्तला तुम लोगों को (आश्रम-वृक्षों और वृक्षकों को) बिना जल पिलाए (थालों में बिना जल डाले) स्वयं जल नहीं पीती थी, तुम्हारे प्रति स्नेह के कारण अपने शृंगार के लिए पल्लव तक नहीं लेती थी, और तुम्हारे फूलने के समय जो सर्वप्रथम उत्सव मनाती थी, वही आज पति-गृह जा रही है। अतः सभी मिलकर इसे सस्नेह जाने की आज्ञा दो।"

इस गीति में प्रकृति के साथ मानव-जीवन की एकात्मता के साथ ही साथ एक ऐसे सहृदय पिता के हृदय की अगाध करुणा प्रवाहित हो रही है जो प्रकृति के साथ मानव-जीवन की अभिन्नता का अनुभव करता है, जिसके हृदय में पुत्री के भावी वियोग को सोचकर वेदना का सिन्धु लहरा रहा है।

रम्याणि वीक्ष्य मधुराँश्च निशम्य शब्दा-
न्पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥

—वही, अं० ५।२

"रमणीय वस्तुओं को देखकर और मधुर शब्दों को सुनकर सुखी पुरुष भी जो किसी अज्ञात वस्तु के अभाव का अनुभव करने लगता है, वह निश्चय ही पूर्व जन्म के प्रेम के स्थिर भावों को अज्ञात रूप में स्मरण करता है (प्रेम का सम्बन्ध जन्मान्तरों में भी टूटता नहीं, वह अमिट रूप में मानव-मन में स्थिर रहता है)।"

प्रेम के अनुपम गायक कालिदास को छोड़कर और कौन ऐसी सूक्तियों के निर्माण में समर्थ हो सकता है?

आकाश-मार्ग से धरित्री का जो चित्र कवि-गुरु ने खींचा है और आज से दो सहस्र वर्षों पूर्व, वह आज के वायुयान-युग में भी अपनी यथार्थता में अद्वितीय है। महाकवि ने अपनी प्रतिभा से यह सिद्ध कर दिया है कि 'कवयः क्रान्तदर्शिनः' उक्ति में अर्थवाद मात्र नहीं है। चित्र देखिए—

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णस्वान्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात्पादपाः।
सन्तानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते॥

—वही, अं० ७।८

दुष्यन्त का रथ स्वर्ग से आते समय हेमकूट पर्वत पर आकाश से नीचे बड़े वेग से उतरता है। राजा मातलि नामक सारथी को नीचे का दृश्य दिखाता हुआ कहता है, "ऐसा प्रतीत होता है मानो ऊपर उठते हुए शैल-शिखर से धरती नीचे उतर रही हो, अब वृक्षों के केवल पत्ते ही नहीं, शाखाएँ भी दिखाई पड़ रही हैं, नदियाँ जो ऊपर से अत्यन्त कृश धारावाली दृष्टि आती थीं अब चौड़ी और साफ दिखाई पड़ने लगी हैं। ऐसा जान पड़ता है मानो कोई पृथ्वी को जोरों से फेंक कर मेरे पास भेज रहा हो।"

इस चित्रात्मक गीति को देखकर ऐसा विश्वास बँधने लगता है कि महाकवि ने विमान-यात्रा की थी और यह दृश्य अपनी आँखों देखा था। वात्सल्य भाव का अङ्कन कितनी सहृदयता से किया गया है—

आलक्ष्य दन्तमुकुलाननिमित्तहासै-
रव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन्।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो
धन्यास्तदंगरजसा मलिनीभवन्ति॥

—वही, अं० ७।१७

"अकारण हँसकर श्वेत दँतुलियों को दिखाने वाले और मनोहारिणी तुतली बोली बोलने वाले, धूलि-धूसरित शिशुओं को गोद में लेने से जिनके शरीर और वस्त्र मलिन हो जाते हैं बच्चों को गोद में खिलानेवाले वे प्रेमी जन धन्य हैं।"

भारतीय जीवन का ऐसा प्रशस्त रूप, भारतीय संस्कृति और सभ्यता का अभिराम चित्रण शाकुन्तल के टक्कर का अन्यत्र किसी काव्य में नहीं मिलता।

अश्वघोष

अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' दो महाकाव्यों और 'शारिपुत्र' नामक प्रकरण की रचना की थी। इनमें केवल 'सौन्दरनन्द' पूर्णरूप से संस्कृत में प्राप्त हो सका है, 'बुद्धचरित' का केवल आधा भाग और प्रकरण के चार-छः अधूरे पृष्ठ। अश्वघोष निस्सन्देह महाकवि हैं, जिस प्रकार प्रबन्धों के ग्रन्थन में इन्हें पूरी-पूरी सफलता मिली है और इनकी कविता उच्च कोटि की हुई हैं, उसी प्रकार प्रकरण की गीतियाँ भी अवश्य ही हृदयावर्जनीय रही

होंगी, किन्तु खेद है कि अद्यावधि वह ग्रन्थ अपने पूर्ण रूप में हस्तगत नहीं हो सका है।

मुद्राराक्षस से

कन्नौज के मौखरिवंशीय नरेश अवन्ति वर्मा के समय में अर्थात् छठी शती के उत्तरार्द्ध में 'मुद्राराक्षस' नाटक की रचना हुई; क्योंकि इस के भरत-वाक्य में कवि राजा से म्लेच्छ-पीड़ित मही की रक्षा की प्रार्थना या कामना प्रकट करता है। भिन्न-भिन्न हस्तलिखित प्रतियों में भिन्न-भिन्न नरेशों के नाम मिलते हैं। किसी में चन्द्रगुप्त का, किसी में दन्तिवर्मा का और किसी में चन्द्रगुप्त का। चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य) के शासन-काल में म्लेच्छों का आक्रमण नहीं हुआ था अतः उस समय इसकी रचना नहीं मानी जा सकती। दन्तिवर्मा दक्षिण के पल्लववंशीय नृपति थे (७२० ईस्वी के आसपास), किन्तु उनके समय भी भारत पर म्लेच्छों के आक्रमण का कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतः मौखरि-नरेश अवन्तिवर्मा नाम ही कवि का रखा प्रतीत है।[1]

महाकवि गुणाढ्य की पैशाची भाषा में निर्मित (अब मूल रूप में अप्राप्य) 'वृहत्कथा' के आश्रयण द्वारा इस अनुपम नाटक की सृष्टि हुई है। 'वृहत्कथा' रामायण तथा महाभारत की भाँति परवर्ती कवियों के लिए एक महान् आश्रय-स्थली रही है। उसमें चाणक्य ने पूर्वमन्त्री शकटाल की सहायता से जिस प्रकार नन्दवंश का समूल उच्छेद कर डाला, उसका पूरा-पूरा वृत्त दिया गया है।[2] इस महाकथा-ग्रन्थ की रचना महाराज हाल के सभा-पण्डित आचार्य गुणाढ्य ने की थी और उस ग्रन्थ का संस्कृत रूप ही आज हमें देखने को मिलता है।

इस नाटक का मुख्य विषय राजनीति है और इसमें रक्तहीन बौद्धिक युद्ध का ही प्रदर्शन है। विना शस्त्र-युद्ध के ही यह एक महती राजनीतिक विजय

---

१. म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः।
स श्रीमद्वन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः॥
—मुद्राराक्षस, भरतवाक्य।

२. चाणक्यनाम्ना तेनाथ शकटालगृहे रहः।
कृत्यां विधाय सहसा सपुत्रो निहतो नृपः॥
योगानन्दे यशःशेषे पूर्वनन्दसुतस्ततः।
चन्द्रगुप्तः कृतो राजा चाणक्येन महौजसा॥ —बृहत्कथा

का प्रतिष्ठापक है। यह नाटक नाटककार के बुद्धिवैभव का चूड़ान्त निदर्शन है। पूरे संस्कृत-साहित्य में ऐसा एक भी नाटक नही है, जिसमें शृङ्गार का इस प्रकार नितान्त अभाव हो। यह वीररसाश्रित काव्य है। गीतियों की भाषा अलंकारों से आविल नहीं है अर्थात् कवि ने जान-बूझकर आलङ्कारिक चमत्कार के प्रदर्शन में भावों की सहजता को बिगाड़ा नहीं है। इस दृष्टि से भी नाटक की प्राचीनता सिद्ध होती है, जब कि अलङ्कारवादी युग का प्रवर्तन नहीं हुआ था। भावोत्कर्षी तथा रूप-विधायक अलंकार ही कवि द्वारा आयोजित हुए हैं। तृतीय अंक का शारदीय वर्णन काव्य की दृष्टि से भी अत्यन्त रमणीय है।

यहाँ 'मुद्राराक्षस' की कतिपय गीतियाँ दी जाती हैं—

आस्वादितद्विरदशोणित - शोणशोभां
सन्ध्यारुणामिव कलां शशलाञ्छनस्य।
जृम्भाविदारितमुखस्य मुखात्स्फुरन्तीं
को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम्॥ —मुद्रा० १।८

"(चाणक्य चन्द्रगुप्त का अहित सोचने वालों को काल के गाल में जाने से विरत होने की चेतावनी देता हुआ ललकार कर कहता है——) चन्द्रमा की सन्ध्याकालीन अरुण कला के सदृश, सिंह की जँभाई के समय खुले मुख की (भयंकर) उस दाढ़ को कौन तोड़ने का साहस कर रहा है जो मत्त गजेन्द्र के रक्त से लाल रंग की शोभा धारण किए हुए है ?"

यहाँ कवि ने अप्रस्तुत-विधान द्वारा प्रस्तुत का इस सुन्दरता के साथ निदर्शन किया है कि वह और भी प्रभावशाली रूप में ज्योतिष्मान् हो उठा है। उपयुक्त पदावली में उत्साह छलकता दिखाई पड़ रहा है। सफल कवि के लिए इस सूझ से काम लेना अनिवार्य है, जिससे वर्णनीय और भी रूपवान् तथा प्रभावशाली हो उठे।

उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानां
वटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तूपमेतत्।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभि-
र्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्॥
—मुद्रा०, अं० ३।१५

(जिस आत्माभिमानी महान् कूटनीतिज्ञ चाणक्य ने एक राजवंश का संहार करके नए राजवंश को अपने बुद्धि-कौशल से प्रतिष्ठित किया, जिसका यश महासिन्धु के पार यूनान तक फैला हुआ था, उसी का जीवन कितना त्यागमय था, कवि यही दिखाने के लिए उसकी कुटिया का चित्रण करता हुआ कहता है—) "देखो, यह एक ओर उपलों के तोड़ने के लिए पत्थर का टुकड़ा पड़ा हुआ है, दूसरी ओर विद्यार्थियों द्वारा लाई गई कुशाओं का ढेर खड़ा है। छप्पर पर सूखने के लिए जो लकड़ियाँ डाली गई हैं, उनसे पुरानी झोंपड़ी की छत नीचे की ओर झुक गई है।"

भारत के ब्राह्मण-जीवन का कितना त्यागमय, भोग-कामना-मुक्त सरल और उदात्त चित्रण है, जो विश्व के किसी अन्य भूखण्ड में देखने को नहीं मिल सकता। सात्त्विक जीवन का इससे सुन्दर रूप अन्यत्र भला कहाँ मिलेगा? कवि की विशेषता यह है कि इस नाटक को गीतयाँ भी प्रमुख कथा-धारा को प्रगतिमी बनाने में सहायक हैं और वे उससे टूटे हुए कहीं भी नहीं मिलते। कुसुमपुर के एक उजड़े हुए उपवन का कितना स्वाभाविक चित्रण निम्नलिखित गीति में कवि ने किया है, कवि की अप्रस्तुत-योजना भी सहृदयता की पूर्ण परिचायिका है, साथ ही साथ कवि की दृष्टि राजनीति से सर्वथा अपसरित भी नहीं हुई है—

विपर्यस्तं सौधं कुलमिव महारम्भरचनं
सरः शुष्कं साधोर्हृदयमिव नाशेन सुहृदम्।
फलैर्हीना वृक्षा विगुणनृपयोगादिव नया-
स्तृणैश्छन्ना भूमिर्मतिरिव कुनीतैरविदुषः॥

—मुद्रा०, अं० ६।११

"राजभवन उसी प्रकार विपर्यस्त हो गया है जिस प्रकार बहुकुटुम्बिजनों वाला कुल छिन्न-भिन्न हो जाता है। सरोवर सूख गया है (उसकी सूखी मिट्टी में दरारें पड़ गई हैं), जैसे सज्जन का हृदय मित्रों के नाश से आनन्द-शून्य होकर विदीर्ण हो जाता है। वृक्ष उसी भाँति फलों से हीन दिखाई पड़ रहे हैं जैसे गुणहीन राजा नीति से रहित हो जाता है और धरती इस प्रकार घास से ढक गई है जैसे मूर्ख की बुद्धि कुनीतियों से ढक जाती है।"

इस प्रकार गीतियों का आदर्श-रूप हमें इस नाटक में देखने को मिलता है। गीतियों में भी भोग पर नहीं, त्याग पर कवि की दृष्टि टिकी हुई दिखाई

पड़ती है। इस महाकवि ने गीतियों को नई वाणी और नए भाव दिए हैं। संस्कृत-साहित्य में इस आदर्श की ओर दृष्टि रखने वाले कम कवि दिखाईपड़ते हैं। यही भारतीय संस्कृति का चिरकाल से चला आता हुआ प्रशस्त पथ है।

मृच्छकटिक से

'मृच्छकटिक' नामक प्रकरण को सट्टक का ही भाई-बन्धु वा सगोत्रीय कहा जायगा, क्योंकि इसमें आद्यन्त प्राकृत का ही शासन देखने को मिलता है। संस्कृत है, किन्तु जैसे किसी राजसभा में कोई विदेशी व्यक्ति। संस्कृत की गीतियाँ भी बीच-बीच में अपनी छटा दिखाती रहती हैं, दो-एक देख ही लीजिए—

उदयति हि शशाङ्कः कामिनीगण्डपाण्डु-
ग्रंहगणपरिवारो राजमार्ग-प्रदीपः।
तिमिरनिकरमध्ये रश्मयो यस्य गौराः
स्नुतजल इव पङ्के क्षीरधाराः पतन्ति॥

—मृच्छ०, अं० १.५७

"कामिनी के कपोल-प्रान्त-सा पाण्डुवर्ण चन्द्रमा उदित हो रहा है, उसके राजमार्ग पर तारों का समूह प्रदीपों के समान जगमगा रहा है। चन्द्रमा की उज्ज्वल किरणें अन्धकार-राशि में गिरती हुई ऐसी लग रही हैं मानो जलहीन पङ्क में दूध की धाराएँ गिर रही हों।"

प्रकृति का कितना रमणीय दृश्य महाकवि शूद्रक ने उपस्थित कर दिया है इस छोटी-सी गीति में! उत्प्रेक्षा भी कितनी मनोरम और सुरुचिपूर्ण है कि कवि-प्रतिभा को साधुवाद देते जी नहीं अघाता। चन्द्रास्त का भी एक चित्र देखिए—

असौ हि दत्वा तिमिरावकाशमस्तं व्रजत्युन्नतकोटिरिन्दुः।
जलांवगाढस्य वनद्विपस्य तीक्ष्णं विषाणाग्रमिवावशिष्टम्॥

—वही, अं० ३।६

"यह चन्द्रमा अन्धकार को फैलने के लिए पूरा स्थान देकर डूब रहा है। उसका तनिक-तनिक दिखाई पड़ता हुआ ऊपरी सिरा जल में अवगाहन करते हुए जंगली हाथी के उस दाँत के समान लग रहा है जो थोड़ा-थोड़ा जल के ऊपर निकला दिखाई पड़ रहा हो।"

कितना सुन्दर अप्रस्तुत लाया गया है जो डूबते हुए चन्द्रमा के रूप को उसी रमणीयता के साथ दृष्टि के समक्ष उपस्थित किए दे रहा है। प्रस्तुत प्राकृतिक दृश्य के लिए अप्रस्तुत भी प्रकृति के क्षेत्र से ही महाकवि ने लिया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय कवियों की दृष्टि प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में स्वच्छन्द विचरण करती थी, वह लिपट कर राजवैभव के बीच ही केन्द्रित नहीं हुई थी।

महाकवि शूद्रक का लोक-विषयक अध्ययन संस्कृत कवियों में अप्रतिम था। ऐसा हास्यरसिक कवि क्षेमेन्द्र के अतिरिक्त दूसरा नहीं हुआ। महाकवि की हास्यरसिकता (ज़िन्दादिली) की प्रमाणस्वरूपा दो-एक गीतियाँ देखिए—

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गमेतेन मोचयति भूषणसम्प्रयोगान्।
उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनञ्च ॥

—वही, अं० ३।१६

"(शर्विलक नामक एक चोर ब्राह्मण मकान में सेंध लगाता है और अपने जनेऊ का विभिन्न रूप में उपयोग करता है। उसकी दृष्टि में यज्ञोपवीत की उपयोगिता यह है—) इससे दीवार में सेंध बनाने के लिए स्थान की नाप-जोख करते हैं, इससे भूषणों की (कंगन आदि की) कीलों के बन्धन छुड़ाए जाते हैं, ताले से बन्द द्वार को यह खोल देता है और यदि साँप-बिच्छू दैवात् काट लें तो इससे बाँध भी सकते हैं।"

चोर सोए हुए आदमियों को किस प्रकार पहचानता है, शर्विलक कहता है—

निःश्वासोऽस्य न शङ्कितः सुविशदस्तुल्यान्तरं वर्तते
दृष्टिर्गाढनिमीलिता न विकला नाभ्यन्तरे चञ्चला।
मात्रं स्रस्तशरीरसन्धिशिथिलं शय्याप्रमाणाधिकं
दीपं चापि न मर्षयेदभिमुखं स्याल्लक्ष्यसुप्तं यदि ॥

—वही, अं० ३।१८।

"इस सोए हुए आदमी की साँसें साफ-साफ और तुल्य समय के अन्तर से निकल रही हैं, अतः यह सचमुच ही सोया है। दृष्टि इसकी अच्छी तरह मुँदी हुई है, व्याकुल और भीतर चञ्चल भी नहीं है। शरीर की सन्धियाँ

ढीली और शय्या के प्रमाण से इधर-उधर हैं (इन लक्षणों से यह स्पष्ट है कि यह सोया हुआ है)। ऐसे समय यदि लक्ष्य सामने सोया हुआ हो तो दीप को बुझाना भी नहीं चाहिए।''

कितना सूक्ष्म पर्यवेक्षण है और चोर की सूझ का कितना प्रगाढ़ ज्ञान महाकवि को है, यही द्रष्टव्य है। राजकरण का कितना संश्लिष्ट और सच्चा चित्र शूद्रक ने खींचा है, जो अन्यत्र अलभ्य है—

चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलं दूतोर्मिशङ्खाकुलं
पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरं नागाश्वहिंस्राश्रयम्।
नाना वाशककङ्कपक्षिरचितं कायस्थसर्पास्पदं
नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते॥

—वही, अं० ९।१४।

"हिंस्रों से भरा हुआ यह राजकरण समुद्र हो रहा है, जिसमें चिन्तित (विचारमग्न) मन्त्रिजन जल के समान, राजदूत लहरों और शंखों के समान, चारों ओर फैले हुए गुप्तचर नक्र और मकर हैं। हाथी और घोड़े इस समुद्र के हिंस्र पशु हैं, नाना प्रकार के कपटीजन कंक पक्षी हैं और कायस्थ साँप हैं। इसका तट नीति से टूटा हुआ है (अनीति बरती जा रही है)।"

एक पतनोन्मुख राजकरण का इससे समीचीन वर्णन भला और क्या हो सकता है! शूद्रक ने संस्कृत-साहित्य में सचमुच ही युगान्तर उपस्थित कर दिया है, जिसके कारण यूरोपीय विद्वान् भी उसकी इस कृति पर विस्मय-विमुग्ध हैं।

हर्षवर्धन के नाटकों से

महाराज हर्षवर्धन का जीवन-वृत्त महाकवि बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में बड़ी सहृदयता से अंकित किया है। ये नृशंस हूणों का भारत से उच्छेद करने वाले महाराज प्रभाकर वर्धन और रानी यशोमती के पुत्र थे। पिता और ज्येष्ठ भ्राता राज्यवर्धन के देहावसान के अनन्तर इन्होंने शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया। थानेश्वर इनकी राजधानी थी। इन्होंने सन् ६०६ से ६४७ ई० तक उत्तर भारत पर शासन किया। ये स्वयं वीर नरेश थे और इन्होंने बंगाल, आसाम और बल्लभी राज्यों को जीत कर समग्र उत्तर भारत में एक संगठित राज्य की प्रतिष्ठा की थी। दक्षिण भारत विजय के समय

चालुक्यवंशी राजा पुलकेशी द्वितीय के समक्ष इन्हें पराजित होना पड़ा। किन्तु उत्तर भारत पर जिस योग्यता और निष्ठा से इन्होंने शासन किया और जिस प्रकार साहित्य और संस्कृति के प्रचार और प्रसार में योग दिया, उस प्रकार की योग्यता परवर्ती किसी अन्य नरेश में देखने को नहीं मिली।

वीर होने के साथ ही ये बहुत बड़े साहित्यानुरागी और साहित्य-स्रष्टा भी थे। इनकी सभा में कादम्बरी के रचयिता महाकवि बाण, 'सूर्यशतक' के रचयिता महाकवि मयूर और दिवाकर रहते थे। इनके तीन रूपक मिलते हैं, (१) प्रियदर्शिका, (२) रत्नावली और (३) नागानन्द। इनमें 'रत्नावली' की ख्याति सर्वाधिक हुई। आचार्य धनञ्जय ने 'दशरूपक' में नाटक-संधियों और वृत्तियों को समझाने के लिए इनकी 'रत्नावली' नाटिका का प्रमुख रूपसे आश्रय लिया है और उसकी भलीभाँति विवेचना की है।[1] साहित्य-दर्पणकार ने भी इस नाटिका का अपने विवेचन में पर्याप्त आश्रय लिया है।[2] इन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'ध्वन्यालोक' जैसे महान् ग्रन्थ में भी 'रत्नावली' के गीतियाँ उद्धृत मिलती हैं। 'प्रियदर्शिका' नामक प्रणय-नाटिका साधारण ढंग की है और यही हर्ष की प्रथम कृति प्रतीत होती है। 'रत्नावली' उससे परवर्ती है और इसमें कवि-प्रतिभा का पूरा-पूरा परिपाक देखने को मिलता है। किन्तु 'नागानन्द' नाटक इनकी सबसे प्रौढ़ कृति है। इसमें प्रणय ही सर्वस्व नहीं है अपितु त्यागमय जीवन का आदर्श प्रतिष्ठित हुआ है। इस नाटक की कतिपय प्राकृत गीतियाँ हम पहले दे आए हैं। तीनों रूपक-कृतियों के कथांश में तो साम्य है ही, गीतियों में भी साम्य है। कुछ गीतियाँ तो तीनों ही में मिलती हैं। 'नागानन्द' नाटक में गान्धर्व-विवाह की प्रतिष्ठा है तथा पूर्ववर्ती दोनों नाटिकाओं में पट्टमहिषियों की स्वीकृति से द्वितीय विवाह सम्पन्न होते हैं। गीतियाँ उत्तम और भावपूर्ण हैं। पद-रचना सरल तथा ललित है।

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन्कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम्॥[3]

—रत्ना०, अं० २।३

१. देखिए, 'दशरूपक' प्रथम और द्वितीय प्रकाश।

२. देखिए, 'साहित्यदर्पण' के षष्ठ परिच्छेद का 'दृश्यकाव्य'-विवेचन।

३. 'ध्वन्यालोक' के द्वितीय उद्योत की १९ वीं कारिका—

"(राजा अपने मित्र विदूषक से उस समय बात करते हुए परिहास-पूर्वक कह रहा है, जब दोहद-प्रयोग द्वारा राजा वाली लता तो कलियों से भर उठी, किन्तु रानी वासवदत्ता की लता दोहद-प्रयोग से तनिक भी प्रभावित प्रतीत नहीं हुई। आज उन्हीं दोनों लताओं को देखने के लिए राजा को रानी के साथ जाना है। राजा कहता है—आज मैं स्वच्छन्दतापूर्वक कलियों से भरी हुई (परस्त्री-पक्ष में—उद्दाम कामना से पूर्ण), पीले रंग-वाली (प्रेम से पाण्डु वर्ण पड़ी हुई), विकासवती (प्रेमोन्माद में जँभाई लेती हुई), पवन के झोंकों में झूमती हुई (आयासपूर्वक लम्बी साँसें लेती हुई), तथा मदन-वृक्ष से लिपटी हुई (काम के आवेग से पूर्ण) इस विलास-उपवन की लता को पर-नारी के समान देखकर देवी के (वासवदत्ता के) मुख को अवश्य ही क्रोध से लाल कर दूँगा (अर्थात् मेरी विकसित लता को देखकर रानी ईर्ष्या के कारण लाल पड़ जायँगी)।"

यहाँ कवि ने अवसर देखकर उपमा के साथ श्लेष का ग्रहण जिस कौशल से किया है, उसी के कारण काव्य चमक उठा है। आगे की घटना की सूचना पहले ही दे देने से यह गीति नाटक में समासोक्तिमूलक 'पताका स्थानक' रूप में प्रयुक्त हुई है। कवि का कौशल और उसकी सहृदयता दोनों ही श्लाघ्य हैं।

एक स्थल पर राजा सागरिका से आलिङ्गन-दान की प्रार्थना कर रहा है, उसका कथन अत्यन्त भावपूर्ण और मार्मिक है—

> शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ
> रम्भागर्भनिभं तवोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ।
> इत्याह्लादकराखिलाङ्गि रभसान्निःशङ्कमालिङ्गय मा—
> मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ॥
>
> —रत्नावली, अं० ३।११।

'निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥'

के विश्लेषण के अवसर पर तथा 'दशारूपक' के प्रथम प्रकाश की तेरहवीं कारिका—

सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्'

के लिए उद्धृत किया गया है।

"(महाराज उदयन अपनी भावी पत्नी सागरिका से अपनी अनङ्ग पीड़ा के प्रशमन की प्रार्थना करते हुए कहते हैं—) हे प्रिये! मेरे अङ्ग अनङ्ग-ताप से जल रहे हैं, तुम आओ और दृढ़तापूर्वक मेरा आलिङ्गन करके मेरे ताप को दूर करो, क्यों कि (तुम में ताप-प्रशमनकारिणी अपार शीतलता है) तुम्हारा मुख चन्द्रमा है (जिसमें अमृत—अधरामृत है), तुम्हारी आँखें कमल की-सी और हाथ पद्म के सदृश (शीतल तथा आनन्ददायक) हैं, तुम्हारी जाँघें कदली-स्तम्भ के मध्यवर्ती भाग के समान (कोमल और मृदुल) हैं तथा बाहें कमल-नाल के सदृश (शीतल) हैं। इस प्रकार, हे सुन्दरी तुम्हारे सभी अङ्ग आह्लाद प्रदान करने वाले हैं (मुझ पर दया करके मेरी रक्षा करो)।"

शृङ्गार के अतिरिक्त भयानक रस की भी अभिव्यञ्जना में हर्षदेव पूर्णतया सफल हुए हैं। पद-योजना द्वारा ओज टपका पड़ता है और भय सदेह उपस्थित प्रतीत होता है। महारानी वासवदत्ता ने जिस भवन में सागरिका को बाँध रखा था, उसी में पूर्व योजनानुसार आग लग जाती है और उस भयानक दृश्य को देखकर महारानी का हृदय करुणा से भर जाता है। वह कहती हैं—

> हर्म्याणां हेमशृंगश्रियमिव शिखरैरर्चिषामादधानः
> सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपन-पिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः ।
> कुर्वन् क्रीडामहीध्रं सजलजलधरश्यामलं दृष्टिपातै-
> रेषप्लोषार्तयोषिज्जन इह सहसैवोत्थितोऽन्तःपुरेऽग्निः ॥[१]
>
> —वही, अं० ४।१४

"अन्तःपुर में सहसा अग्नि प्रज्वलित हो उठी है, जिसकी ऊँची उठती हुई लपटें राजभवन के स्वर्ण-शिखर की-सी शोभा धारण कर रही हैं। रमणीय विलास-उपवन के वृक्षों की जलती हुई चोटियाँ इसके तीखे अभिताप को प्रकट किए देती हैं। कीडा-शैल पर घिरती हुई धूम-राशि देखकर ऐसा लगता है मानो जल से भरे श्यामल मेघ आगए हों। तीव्र दाह से अन्तःपुर की स्त्रियाँ उच्च स्वर से आर्त क्रन्दन कर रही हैं।"

---

१. 'दशरूपक' की ४५वीं कारिका के 'विद्रवोवध-बन्धादिः' अंश के 'विद्रव' नामक 'अवमर्शाङ्ग' के लिए यह कविता उद्धृत की गई है।

कवि ने अग्नि-काण्ड का कितना भयानक तथा हृदय-द्रावक वर्णन किया है और दृश्य की उग्रता की दृष्टि से सामने चित्र उपस्थित कर दिया है। यह चित्र-विधायिनी गीति कवि की उच्चकोटि की प्रतिभा की परिचायिका है।

रमणीय प्रकृति का एक दृष्टि-विलोभनीय चित्र उपस्थित करनेवाली गीति के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि हर्षदेव को सच्चे महाकवि का हृदय प्राप्त था। अलङ्कार का सन्निवेश अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य और रस से आक्षिप्त है,[1] देखिए—

उदयतटान्तरितमियं प्राची सूचयति दिङ्निशानाथम्।
परिपाण्डुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी॥

—वही, अं० १।२४।

"यह प्राची दिशा अपने अभितः पीले पड़े हुए मुख के द्वारा उदयाचल के तट-प्रान्त में छिपे चन्द्रमा की सूचना उसी प्रकार दे रही है जिस प्रकार रमणी का पीला मुख उसके हृदयस्थित प्रिय की सूचना देता है।"

कितनी भावमयी आर्या है, सहृदय-जनों के हृदय ही प्रमाण हैं।

'नागानन्द' नाटक से

भारतीय संस्कृति मानव-जीवन का साफल्य गुरु-जनों (विशेषतः माता और पिता) की सेवा में देखती है। माता-पिता की सेवा पुरुष का प्रधान कर्तव्य है। हर्षदेव का ध्यान इधर विशेष रूप से है, इसीलिए जीमूतवाहन अपने मित्र विदूषक के कहता है—

तिष्ठद् भाति पितुः पुरो भुवि यथा सिंहासने किं तथा?
यत्संवाहयतः सुखं तु चरणौ तातस्य किं राजकम्?
किं भुक्ते भुवनत्रये धृतिरसौ मुक्तोज्झिते या गुरोः?
आयासः खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तत्रास्ति कश्चिद्गुणः?॥[2]

—नागा०, अं० १।७

---

१. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्ययत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः॥

—ध्वन्यालोक, उद्योत २, का० १६।

२. यह गीति 'दशरूपक' के द्वितीय प्रकाश में इस शङ्का के हेतु उद्धृत की गई है कि जीमूतवाहन 'धीरोदात्त' नायक कैसे कहा जा सकता है, जब कि वह 'धीरशान्त' की भाँति इस प्रकार की विरक्तिमयी बातें कहता है। फिर आगे इस शङ्का का निराकरण किया गया है।

"पुत्र पिता के सामने धरती पर बैठा हुआ जिस प्रकार शोभित होता है, क्या सिंहासन पर बैठ कर वैसा शोभित हो सकता है ? पिता के चरणों को पलोटने से उसे जो सुख होता है वह राज-समूह द्वारा पूजित होने से भला प्राप्त हो सकता है ? पिता के जूठन को ग्रहण करने में जो सन्तोष मिलता है, वह क्या त्रिभुवन का सम्राट् होने पर भी मिल सकता है ? पिता का त्याग करनेवाले पुत्र की राज्य-प्राप्ति निरा परिश्रम ही है। ऐसे राज्य में क्या कोई भी गुण हो सकता है ?"

मलय पर्वत की रमणीयता का वर्णन करते हुए जीमूतवाहन कहता है—

माद्यद्दिग्गज-गण्ड-भित्ति-कषणैर्भग्नस्रवच्चन्दनः
क्रन्दत्कन्दरगह्वरो जलनिधेरास्फालितो वीचिभिः।
पादालक्तकरक्त-मौक्तिकशिलः सिद्धांगनानां गतै-
र्दृष्टोऽयं मलयाचलः किमपि मे चेतः करोत्युत्सुकम् ॥

—वही, अं० १।९

"मदोन्मत्त दिक्कुंजरों के गण्डस्थलों की रगड़ से चन्दन वृक्ष के तनों से रस चू रहा है। समुद्र की उत्ताल तरङ्गों के थपेड़ों से इसकी कन्दराएँ चीत्कार कर उठती हैं। सिद्धों की रमणियों के चरणों के लाक्षा-रस से इसके मुक्ता-प्रस्तर लाल रंग से रँग गए हैं। ऐसा रमणीय मलय पर्वत देख कर चित्त (उसके पास चलने को) उत्सुक हुआ जा रहा है।"

हर्षदेव का तपोवन-वर्णन अत्यन्त हृदयहारी है। ऐसा विश्वास होता है कि महाकवि ने स्वयं तपोवन का साक्षात्कार किया था। यह वर्णन केवल पठन अथवा श्रवण के आधार पर नहीं किया गया है। मुनियों, वटुओं, पक्षियों, वृक्षों, मृगों का इतना स्वाभाविक चित्रण किया गया है कि देखते जी अघाता ही नहीं। नागानन्द नाटक का आरम्भ ही इतना आह्लादकर है कि इसके महत्त्व के प्रति किसी प्रकार का सन्देह ही नहीं रह जाता। भारतीय जीवन का जो उदात्त स्वरूप इस नाटक में महाकवि ने प्रस्तुत किया है, वही हमारे कविराजों और महाकवियों का आदर्श रहा है। कालिदास, भवभूति, बाण, हर्षदेव उसी आदर्श के प्रतिष्ठापक रहे हैं, जिस तपोवन के वर्णन में हमारे महाकवियों ने अपने हृदय का सम्पूर्ण रस समर्पित कर दिया है, वह भारत का एक ज्वलन्त सत्य था। वहीं से सम्पूर्ण भारतीय जीवन का सञ्चालन होता था। वहाँ से उद्घुष्ट आदेश राजा और प्रजा-जन सभी शिरसा धारण

करते थे। वहीं से विद्या की ज्योत्स्ना सारे देश में अपनी उज्ज्वल प्रभा विकीर्ण करती थी। जीमूतवाहन तपोवन को देखकर परमाह्लादित हो उठता है और वेरोक उसकी प्रत्येक विशेष वस्तु अपने मित्र विदूषक को दिखाता हुआ कहने लगता है--

वासोऽर्थं दययेव नातिपृथवः कृत्तास्तरूणां त्वचो
भग्नाऽऽलक्ष्यजरत्कमण्डलु नभस्स्वच्छं पयो नैर्झरम्।
दृश्यन्ते त्रुटितोज्झिताश्च वटुभिर्मौञ्ज्यः क्वचिन्मेखला
नित्याकर्णतया शुकेन च पदं साम्नामिदं पठ्यते॥
—वही, १।११

मधुरमिव वदन्तः स्वागतं भृङ्गशब्दै-
र्नतिमिव फलनम्रैः कुर्वतेऽमी शिरोभिः।
मम ददत इवार्घ्यं पुष्पवृष्टिं किरन्तः
कथमतिथिसपर्यां शिक्षिताः शाखिनोऽपि॥ —वही, १।१२

स्थानप्राप्तावधानं प्रकटितसमतामन्द्रतारव्यवस्था-
निर्ह्रादिन्या विपञ्च्या मिलितमलिरुतेनेव तन्त्रीस्वरेण।
एते दन्तान्तरालस्थिततृणकवलच्छेदशब्दं निशाम्य
व्याजिह्माङ्गाः कुरङ्गाः स्फुटललितपदं गीतमाकर्णयन्ति॥
—वही, १।१३

"मित्र! देखो, ऋषियों ने वस्त्र के लिए दया के साथ वृक्षों की पतली-पतली छालें ही निकाली हैं (जो कहीं-कहीं दिखाई पड़ रही हैं)। कहीं-कहीं आकाश के समान निर्झर के निर्मल जल में टूटे-फूटे कमण्डलु स्पष्ट दिखाई पड़ रहे हैं। कहीं-कही मुनिकुमारों द्वारा टूटने पर फेंकी हुई मूँज की मेखलाएँ पड़ी दृष्टि आ रही हैं और इधर तनिक ध्यान दो, नित्य सुनते-सुनते स्मरण हो गए सामवेद के पद को यह तोता रट रहा है।

"हे मित्र! इन तपोवन को तरुवरों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानों इन्हें भी ऋषियों ने अतिथि-पूजा की शिक्षा दी हो। भौरों का मधुगुञ्जन ही इनका स्वागत-वचन है, फलों के भार से झुके हुए इनके सिर मानों हमें प्रणाम करने के लिए झुक गए हों और फूलों की वर्षा करते हुए ये मानों हमें अर्घ्य दे रहे हों।

"भौंरों के गुञ्जन के समान, सम्बद्ध तारों की समन्वित व्यवस्था से बजती हुई वीणा के स्वर से मुग्ध होकर दाँतों के बीच घासों के ग्रास दबाए जुगाली के बाधक शब्दों से रोके अंगों को सर्वथा निश्चल करके बड़ी सावधानी के साथ मृग गीत के सुव्यक्त मञ्जुल पदों को सुन रहे हैं (कितना आनन्द मिलता है इन्हें मधुर गीत के श्रवण से कि अपनी विश्राम-प्रदायिनी जुगाली तक इन्होंने बन्द कर दी है)।"

कितना बिम्बग्राही चित्र कवि ने अंकित किया है कि यह अपनी स्पष्ट रेखाओं में अत्यन्त भास्वर और नयनाभिराम हो उठा है। सारा तपोवन दृष्टि के सम्मुख उतर आता है। प्राचीन महाकवियों की लेखनी-तूलिका की यही विशेषता रही है कि उन्होंने अपने हृदय की अगाध सहानुभूति से मानवेतर प्रकृति को भी मानववत् अपने आलिङ्गनपाश में लपेट लिया है। मानवेतर प्रकृति भी हमारे समस्त मानवोचित व्यवहारों से अलङ्कृत होकर उपस्थित होती है। मानव-हृदय की कोमलता की परीक्षा प्रकृति के अतिरिक्त श्रृंगार और करुण के क्षेत्र में होती है।[1]

श्रृङ्गार के क्षेत्र में विप्रलम्भ-पक्ष अतिशय हृद्य होता है और श्रेष्ठ कवि की परीक्षा की यह कसौटी है। सस्ता संयोग श्रृंगार तो हृदय के ऊपरी स्तर की वस्तु है, किन्तु विप्रलम्भ हृदय के निचले भीतरी तल की वस्तु। करुण रस की भी स्थिति वैसी ही होती है, विप्रलम्भ की अन्तिम सीमा पर करुण का आवास होता है, इसीलिए महाकवि एवं महामनीषी भवभूति ने करुण रस को ही सब रसों का मूल वा जनक माना। इस मान्यता में उनकी सहृयता के साथ ही साथ उनका महान् चिन्तन भी अन्तर्हित है।[2] यदि हृदय में करुणा का सञ्चार अवरुद्ध हो गया, तो मानव की चेतनता छिन गई समझनी

---

१. श्रृंगार एव मधुरः परःप्रह्लादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति॥
श्रृंगारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः॥
ध्वन्यालोक, उद्योत २, कारिका ७।८

२. एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारानम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥
—उत्तररामचरित, अं० ३।४७

चाहिए। करुणा मानव की चेतनता की प्रथम और प्रमुख शर्त है, यों तो इसकी स्थिति सहृदयों ने निश्चेतनों में भी स्वीकार की है। यहाँ हम महाराज हर्षदेव के शृंगार और करुण रसों की अभिव्यञ्जक दो-एक गीतियाँ रखेंगे और उनके हृदय की द्रवणशीलता से परिचित होंगे—

दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालापमाभाषिता
शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति बलादालिङ्गिता वेपते।
निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते
याता वामतयैव मेऽद्य सुतरां प्रीत्यै नवोढा प्रिया॥

—नागा० अं० ३।४

"(विद्याधर-कुमार जीमूतवाहन अपनी नव परिणीता वधू के मुग्धात्व का वर्णन मन ही मन करता हुआ कहता है—) मेरी नवोढ़ा प्रिया देखने पर अपनी आँखें नीची कर लेती है। कुछ कहने पर बोलती ही नहीं। शय्या पर (सखियों द्वारा बिठाई जाने पर) मुँह दूसरी ओर फेर लेती है। बलात् आलिङ्गन करने पर काँपने लगती है और सखियाँ जब शयन-कक्ष से बाहर जाती हैं तब यह भी उन्हीं के साथ निकल जाना चाहती है। इस प्रकार यह अपने प्रतिकूल आचरण द्वारा मेरे हृदय के प्रेम को (हर्ष को) और भी बढ़ा रही है।"

नवोढा का कितना स्वाभाविक चित्रण है, कहीं तनिक भी कृत्रिमता के लिए अवकाश नहीं है। यह गीति संयोग शृंगार का उत्कृष्ट उदाहरण है। निम्नलिखित गीति में वन-वास के गुणों का रम्य वर्णन, किन्तु लोक-हित की निरवकाशता के कारण उसकी त्याज्यता का कितना सुन्दर निर्देश किया गया है—

शय्या शाद्वलमासनं शुचि शिला सद्म द्रुमाणामधः
शीतं निर्झरवारि पानमशनं कन्दाः सहाया मृगाः।
इत्यप्रार्थितलभ्यसर्वविभवे दोषोऽयमेको वने
दुष्प्रापार्थिनि यत्परार्थघटनावन्ध्यैर्वृथा स्थीयते॥[1]

—वही, अं० ४।२

---

१. एक अद्वैतवादी संन्यासी की सूक्ति से मिलाइए—
सुखशीतलतरु-मूल-निवासः शय्याभूतलमजिनं वासः।
सर्वपरिग्रह-भोग-त्यागः कस्य सुखं न करोति विरागः॥
—जगद्गुरु शङ्कराचार्य (चर्पटमञ्जरी)

"जहाँ हरी-हरी कोमल घास की शय्या, बैठने के लिए पवित्र शिला, घने वृक्षों की छाया ही घर, पीने के लिए झरने का शीतल जल और भोजन के लिए कन्द (मूल-फल आदि) तथा नाना प्रकार के वन्य जन्तु (पशु-पक्षी आदि) मित्र मिलते हैं, ऐसा सुखप्रद वन होता है। वहाँ संसार का सारा वैभव बिना माँगे ही मिल जाता है। किन्तु वन में याचकों का जो सर्वथा अभाव रहता है, यही एक मात्र उसका दोष है। ऐसे याचकों से हीन वन में, जहाँ हम किसी का हित नहीं कर सकते, रहना ही व्यर्थ प्रतीत होता है।"

अभावों से भरे और सन्तप्त जगत् पर अपनी घनीभूत करुणा की छाया का दान करने की उद्दाम कामना जीमूतवाहन की महासत्त्वता की द्योतिका है। यही हर्षदेव के काव्यत्व की चरम परिणति है।

जीमूतवाहन ने नागकुमार शंखचूड के जीवन की रक्षा के लिए अपना शरीर गरुड़ को समर्पित कर दिया। गरुड़ प्रतिदिन एक नाग का भक्षण करता था, किन्तु जिस दिन उसे जीमूतवाहन मिला, उस दिन उसकी (जीमूतवाहन की) प्रसन्न मुख-मुद्रा, रक्त-पान करने पर भी प्रसन्नता की अविकृति ने परम हिंसक गरुड़ के चित्त में भी उद्वेग उत्पन्न कर दिया। वह भक्षण से विरत हो गया। यह देखते ही विद्याधर-कुमार ने कहा—

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्त-
मद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि च ते महात्मन्
किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन्॥[1]

—वही, अं० ५।१६

कविवर अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना का मत है—
तब लगि ही जीबो भलो, दीबो परै न धीम।
बिनु दीबो जीबो जगत, मोहिं न रुचै रहीम॥—रहीम-रत्नावली

१. इस गीति को दशरूपकार ने धीरोदात्त नायक का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए दिया है। देखिए, 'दशरूपक', प्रकाश २, कारिका ४ और ५।
महासत्त्वोऽति गम्भीरः क्षमावानविकत्थनः। —कारिका ४ का उत्तरार्द्ध
स्थिरो निगूढाऽहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः॥
यथा नागानन्दे जीमूतवाहनः। —का० ५ का पूर्वार्द्ध

"हे गरुड़ ! मेरी रक्त-वाहिनी धमनियों से रक्त बह ही रहा है (अर्थात् अभी मेरे शरीर से रक्त समाप्त नहीं हुआ है), और अभी भी मेरी देह में मांस है। मैं देख रहा हूँ कि अभी भोजन से तुम्हारी तृप्ति भी नहीं हुई है। फिर यह तो बताओ कि तुमने बीच ही में भोजन से मुँह क्यों मोड़ लिया ?"

गरुड़ की चिन्ता का कारण दिखाते हुए कवि ने जीमूतवाहन के उन लोकोत्तर गुणों का उल्लेख गरुड़ द्वारा कराया है जिनके कारण गरुड़ जैसे हिंस्र जीव के हृदय में भी हिंसा को दबाकर ग्लानि और करुणा का उद्रेक हो उठता है। गरुड़ मन ही मन सोच रहा है—

ग्लानिर्नाधिकपीयमानरुधिरस्याप्यस्ति धैर्य्योदये-
र्मांसोत्कर्तनजा रुजोऽपि वहतः प्रीत्या प्रसन्नं मुखम्।
गात्रं यन्न विलुप्तमेकपुलकस्तत्र स्फुटो दृश्यते
दृष्टिर्मय्युपकारिणीव निपतत्यस्यापकारिण्यपि ॥

वही, अं० ५।१५

"यद्यपि मैंने इसके शरीर का अधिक रक्त पी लिया है, तथापि (पर-रक्षण-जन्य) सन्तोष के उद्रेक के कारण इसके मन में तनिक भी विषाद नहीं हो रहा है। मांस के स्थान-स्थान से नोंचे जाने की असह्य पीड़ा होने पर भी मुख हर्ष से खिला हुआ है, जहाँ-जहाँ शरीर नोचे जाने से बचा रह गया है वहाँ एकमात्र रोमाञ्च ही स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है और मुझ जैसे अपकारी (प्राणहन्ता) पर भी इसकी दृष्टि ऐसी पड़ रही है मानो मैंने इसका कोई उपकार किया हो।"

यहाँ कवि ने कितना मर्मस्पर्शी दृश्य उपस्थित कर दिया है। वहां 'विशेषोक्ति' अलंकार की योजना नहीं की गई है, वह तो भाव का अंग होकर अवतरित हुआ है। गरुड़ के मन में तो कुतूहल ही उत्पन्न हुआ[1] किन्तु दर्शक और पाठक आँसू की धारा में भींगे बिना न रहे। यही हिंसा-जर्जर विश्व को भारत का महान् सन्देश है।

---

१. "ततः कुतूहलमेव जनितमस्यानया धैर्यवृत्त्या।"
—नागानन्द, अं० ५, पृ० १६८ (शारदा-भवन, काशी से प्रकाशित प्रति)

भयानक और उग्र प्रकृति को लेकर जो गीतियाँ हर्षदेव ने रची हैं, वे तद्विषयक भवभूति की गीतियों से टक्कर लेती हैं। इस प्रकार हम भवभूति के मार्ग-दर्शक के रूप में हर्षदेव को पाते हैं। समुद्र के उग्र रूप का वर्णन करने में कवि ने ध्वनि-चित्र उपस्थित करने में अद्‌भुत सफलता प्राप्त की है—

उन्मज्जज्जलकुञ्जरेन्द्र रभसाऽऽस्फालानुबन्धोद्धतः
सर्वाः पर्वतकन्दरोदरभुवः कुर्वन्प्रतिध्वानिशः।
उच्चैरुच्चरतिध्वनिः श्रुतिपथोन्माथी यथाऽयं तथा
प्रायः प्रेङ्खदसंख्यशंखधवला वेलेयमागच्छति॥

—नागा०, अं० ४।३

"उत्ताल तरङ्गों के उत्थान के साथ ऊपर निकलते हुए अगणित मत्त मकरों के वेग के साथ जल-ताड़न से उत्पन्न पर्वत की कन्दराओं के अन्तर्भाग को प्रतिध्वनित करता हुआ, कानों के पर्दे फाड़ने वाला समुद्र का ऊँचा गर्जन ज्यों-ज्यों जोरों के साथ सुनाई पड़ रहा है, त्यों-त्यों असंख्य श्वेत शंखों से धवलित समुद्र-तट निकट आता जा रहा है।"

ध्वन्यात्मक समस्त पदावली समुद्र के उच्च सङ्कुल निर्घोष को स्वतः प्रकट किए दे रही है। भावानुगामिनी पद-योजना कवि की उच्च प्रतिभा का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसी प्रकार गरुड़ के आगमन की प्रतीक्षा में बैठा हुआ जीमूतवाहन प्रकृति के भयोत्पादक परिवर्तन द्वारा ही गरुड़ के आने का अनुमान कर लेता है। उस समय समग्र वातावरण भयोत्पादक दृश्यों से भर उठता है। जीमूतवाहन कहता है कि शिलाओं को उड़ानेवाले वेगमय पवन के उठते झकोरों से ऐसा अनुमान होता है कि पक्षिराज अब तुरत आने ही वाला है[1]—

तुल्याः संवर्तकाभ्रैः पिदधति गगनं पंक्तयः पक्षतीनां
तीरे वेगानिलोऽम्भः क्षिपति भुव इव प्लावनायाम्बुराशेः।

---

१. यथाऽयं चलितमलयाचल शिलासञ्चयः प्रचण्डो नभस्वान्, तथा तर्कयामि आसन्नीभूतः खलु पक्षिराज इति।

—नागानन्द, अं० ४, पृ० १४३।

कुर्वन्कल्पान्तशङ्कां सपदि च सभयं वीक्षितो दिग्द्विपेन्द्रैः
देहोद्योतैर्दशाऽऽशा कपिशयति मुहुर्द्वादशादित्यदीप्तिः ॥[1]
—वही, अं० ४।२१ ।

"गरुड़ के पक्षमूलों की पंक्तियाँ प्रलयकालीन मेघों के समान आकाश को ढकती जा रही हैं। वेगवान् पवन समुद्र के जल को इस प्रकार किनारे की ओर फेंक रहा है मानों पृथ्वी को जलमग्न कर देना चाहता हो। शीघ्र ही कल्पान्त की शङ्का से दिग्गज बार-बार भय के साथ उसकी ओर देख रहे हैं और बारहों सूर्यों की कान्ति धारण करने वाला गरुड़ अपने शरीर की कान्ति से दसों दिशाओं को काली-पीली बनाए दे रहा है (पक्षमूलों की कान्ति से काली और शरीर की कान्ति से पीली बना रहा है)।"

स्पष्ट है कि 'नागानन्द' नाटक की रचना के समय महाराज हर्षदेव की प्रतिभा उच्चता के शिखर पर थी। जिस रस किंवा भाव को इन्होंने वर्णनीय चुना है, उसी को पूर्णता पर पहुँचाया है, साथ ही किसी एक ही रस में इन्होंने अपनी प्रतिभा को सीमित नहीं रखा है। मानव की कोमल और उग्र, चारों प्रकार की चित्तवृत्तियों[2] का सफल चित्रण इनके रूपकों में मिलता है। अतः शृङ्गार, वीर, वीभत्स और रौद्र सभी क्षेत्रों में इनका समान अधिकार दिखाई पड़ता है। नागानन्द में करुण रस अपने पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ है। ऐसा विश्वास होता है कि जीवन के अन्तिम प्रहर में इन पर बौद्धधर्म का पूरा-पूरा अधिकार हो चुका था, अन्यथा 'नागानन्द' जैसी कृति प्रस्तुत करने में ये कदापि कृतकार्य नहीं हो पाते। इसीलिए इस महाकवि की रचना पर मुग्ध होकर पीयूषवर्षी जयदेव ने कहा था, "हर्षो हर्षः।"[3]

'वेणीसंहार' की संस्कृत गीतियाँ

'वेणीसंहार' वीर रस-प्रधान नाटक है। इसकी संस्कृत गीतियों में ओज

---

१. तुलनीय, वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ७४।१४-१८ और रघुवंश, सर्ग ११।५८-६४।

२. स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्द-समुद्भवः ।
विकाश-विस्तर-क्षोभ-विक्षेपैः स चतुर्विधः ॥
—दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, का० ४ ।

३. देखिए, 'प्रसन्नराघव' नाटक की प्रस्तावना ।

कूट-कूट कर भरा हुआ है। भीम इस नाटक का नायक है, जो धीरोद्धत है। उसकी उक्तियाँ दर्प से भरी हुई हैं। इसके द्वितीय अंक में शृङ्गार रस का समावेश किया गया है, जिसे मम्मटभट्ट ने नाटक का महान् दोष माना है।[1] इसकी कविताओं में वीर और उसका सहायक रौद्र रस पूर्णतया प्रस्फुटित हुए हैं। इसके रचयिता भट्टनारायण परम वैष्णव थे। इन्होंने भीमसेन के मुख से कृष्ण की जो भगवत्ता प्रतिपादित की है, उससे इनकी वैष्णवता का पूर्ण समर्थन होता है। उस गीति में भी भीमसेन का औद्धत्य उछलता-कूदता दिखाई पड़ता है—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोत्सेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः।
यं वीक्ष्यन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्ता-
त्तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्ति देवं पुराणम् ॥[2]
—वेणी० १।२३

जिस पुराण पुरुष (श्री कृष्ण) को सत्त्वनिष्ठ आत्माराम ऋषि अनुरक्त होकर निर्विकल्प समाधि में ज्ञानोदय से अज्ञानान्धकार की ग्रन्थियों को छिन्न-भिन्न करके प्रकाश और अन्धकार के परे (रज और तमसे पृथक्) स्थित देखते हैं, उन्हें मोह के अन्धकार में अन्धा बना हुआ दुर्योधन भला कैसे पहचान सकता है?"

द्रौपदी के केश-कर्षण और वस्त्र-हरण के अपमान की ज्वाला को हृदय में दबाए, सन्धि की बात से क्षुब्ध भीम अपनी विकट प्रतिज्ञा द्रौपदी को सुनाता हुआ अत्यन्त ओजस्वी शब्दों में कहता है—

---

१. 'अकाण्डे प्रथनं यथा वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्केऽनेकवीरक्षये प्रवृत्ते भानुमत्या सह दुर्योधनस्य शृङ्गार-वर्णनम्।
—काव्यप्रकाश, उल्लास ७, रसदोष ८, पृ० २११।

२. काव्यप्रकाशकार ने इसे 'प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोर्सत्वे सत्यप्रतीतत्वं गुणः' के उदाहरण में (अप्रतीतत्व भी कहीं-कहीं गुण हो जाता है) रखा है।—काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, उदाहरण-संख्या ३०७।

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसंचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावविद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति[1] कचाँस्तव देवि भीमः ॥[2]

—वही, अं० १।२१

"अपनी फड़कती हुई भुजाओं से घूमती हुई प्रचण्ड गदा के प्रहार से दुर्योधन की दोनों जाँघों को चूर-चूर करके ताजे घने रक्त से रँगे अपने हाथों से, हे देवि ! यह भीम तुम्हारे बिखरे केशों का शृङ्गार करेगा।"

भीमसेन की प्रचण्ड प्रतिज्ञा को कवि ने जिस प्रकार की समस्त पदावलियों और टंकार भरे शब्दों में काव्य-बद्ध किया है, वे भीमसेन की क्षुब्ध और उग्र मूर्ति को सामने ला खड़ी कर देते हैं। यह गीति कवि की महती क्षमता का यथार्थ और प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इस नाटक में भीमसेन के पश्चात् अश्वत्थामा का बड़ा ही उग्र और भयङ्कर रूप चित्रित किया गया है। अपने पिता आचार्य द्रोण का छलपूर्वक वध सुनकर वह प्रलयकालीन अग्नि-सा धधक उठता है, उसके क्रोध की कोई सीमा ही नहीं रहती है। कवि ने उसे एक पितृभक्त वीर पुत्र के रूप में आरम्भ में उपस्थित किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपने क्रोध की प्रचण्ड ज्वाला में सम्पूर्ण पाण्डव-दल को भस्म करके ही छोड़ेगा। वह उसी दशा में अङ्गराज से कहता है—

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥

—वेणी०, अं० ३।३२

"पाण्डवी सेना में अपनी भुजाओं की शक्ति से उन्मत्त जितने शस्त्रधारी हैं, पाञ्चाल वंश में जितने बालक, युवा, वृद्ध और अपनी माताओं के गर्भ में

---

१. किसी-किसी प्रति में 'उत्तम्भयिष्यति' पाठ मिलता है, जिसका अर्थ है 'बाँधेगा'।

२. यह गीति 'ध्वन्यालोक' में उद्योत २, का० ६ के अन्तर्गत 'ओज' के उदाहरण में और 'दशरूपक' में 'बीजागमः समाधानम्' सूत्र की समाधान नामक मुखसन्धि के लिए उद्धृत किया गया है।

निवास करने वाले तक हैं, जितने उस (आचार्य द्रोण की नृशंस हत्या) कर्म के दर्शक हैं और जितने योद्धा रणाङ्गण में मेरे विरुद्ध युद्ध करने वाले हैं आज मैं क्रोध में अन्धा होकर उन सबका संहार कर डालूँगा। यदि उनमें सारे विश्व का संहारक यमराज भी हुआ तो उसे भी बिना मारे छोड़ूँगा नहीं।"

इस गीति में ओज गुण शब्दाश्रित न होकर अर्थाश्रित है। इस गीति को ध्वनिकार ने अर्थगत ओज के उदाहरण-स्वरूप रखा है।[१] रौद्ररस का यह अत्यन्त उज्ज्वल उदाहरण है। यहाँ दीर्घ समास-रचना की अपेक्षा है ही नहीं।

इसी कविवर द्वारा रचित यह निम्नलिखित सूक्ति है, जो अपनी सुन्दरता और प्रभविष्णुता के कारण पण्डितों की जिह्वा पर नाचा करती है। अश्वत्थामा द्वारा 'राधागर्भभारभूत' 'सूतापसद' आदि अपमानजनक सम्बोधनों से आहत होने पर कर्ण कहता है—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्॥

—वही, अं० ३।३७

"चाहे मैं सारथी हूँ अथवा सारथि-पुत्र, किसी जाति में जन्म लेना अपने अधीन नहीं, अपितु दैवाधीन है। हाँ, पुरुषार्थ अपने अधीन अवश्य है (और मुझे विश्वास है कि पौरुष में कोई मुझ से आगे नहीं बढ़ सकता)।"

गिने-चुने शब्दों में कवि ने बहुत बड़ी बात कह डाली है, जो अपने में शाश्वत सत्य को छिपाए एक शाश्वत आदर्श-वाक्य बन गई है। यह शक्ति महाकवियों में ही मिलती है, सामान्य पद्यकारों में नहीं। भाग्यवादी युग को बहुत पीछे छोड़कर आज के पुरुषार्थ युग के मानवों के लिए वह महामन्त्र-स्वरूप ही है।

---

१. देखिए, ध्वन्यालोक, उद्योत २, कारिका ९ के अन्तर्गत—
"तत्प्रकाशनपरश्चार्थोऽनपेक्षित दीर्घसमासरचनः प्रसन्नवाचकाभिधेयः" वृत्ति का उदाहरण। —पृष्ठ सं० १३७ (आचार्य विश्वेश्वर द्वारा अनूदित, हिन्दी ध्वन्यालोक, प्रथम संस्करण)

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभियानी
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः ।
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्यांगराजस्य मित्रं
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥[१]

—वही, अं० ५।२६

कौरवी सेना के विध्वंस के पश्चात् युद्ध-भूमि से राजभवन चले आए हुए दुर्योधन को खोजते हुए भीम और अर्जुन वहीं आ पहुँचते हैं जहाँ वह अपने पिता धृतराष्ट्र से बात कर रहा था। भीम दुर्योधन के अनुजीवियों से पूछता है, "जुए में छल करने वाला, लाख के भवन में आग लगाने वाला, द्रौपदी के केश और उत्तरीयवस्त्र खींचने में चतुर, पाण्डवों को दास कहने वाला, दुःशासन आदि का राजा, सौ भाइयों में ज्येष्ठ और कर्ण का मित्र वह अभिमानी दुर्योधन कहाँ है ? हमें बतला दो, हम क्रोध से नहीं, अपितु यों ही उसे देखने भर आये हैं।"

चार्वाक राक्षस युद्धिष्ठिर के पास उस समय आता है जब भीम और दुर्योधन से गदा-युद्ध होता है। वह बतलाता है कि गदा-युद्ध में भीम मारा गया और अब अर्जुन तथा सुयोधन के बीच गदा-युद्ध चल रहा है। यह सुनकर युधिष्ठिर पाञ्चाली के साथ अग्नि में प्रवेश की तैयारी करते हैं। वातावरण बड़ा ही करुण हो जाता है। भीमसेन को जलाञ्जलि देते समय युधिष्ठिर का विलाप अत्यन्त करुणा से पूर्ण है—

मया पीतं पीतं तदनु भवताम्बास्तनयुगं
मदुच्छिष्टैर्वृत्तिं जनयसि रसैर्वत्सलतया ।
वितानेष्वप्येवं तव मम च सोमे विधिरभू-
न्निवापाम्भः पूर्वं पिबसि कथमेवं त्वमधुना ॥

—वही, अ० ६।२१

"हे वत्स भीमसेन ! मेरे पी लेने के पश्चात् तुमने माता के दोनों स्तनों का पान किया, मेरे जूठे दूध को प्रेमपूर्वक तुम पीते थे, यज्ञ के समय सोम-

१. ध्वनिकार ने इसे 'गुणीभूत व्यंग्य का सङ्कर' कहा है। देखिए, ध्वन्यालोक, उ० ३, का० ४४, पृ० ४३८ (आचार्य विश्वेश्वर द्वारा अनूदित, गौतम बुकडिपो, प्रकाशन, प्रथम संस्करण)

लता के रस-पान के समय भी तुम ऐसा ही करते थे (मेरे पी लेने पर तुम सोम-रस पीते थे), फिर भला यह तो बताओ कि इस पितृदेव तर्पण के जल को आज तुम मुझसे पहले क्यों पी रहे हो ?"

उपरिलिखित गीति के शब्दों के भीतर जिस करुण भाव की अभिव्यक्ति बैठी हुई है, वह अकथनीय है। इन शब्दों के पीछे अपार वेदना का सिन्धु लहरा रहा है, उसे सहृदय जन ही देखकर उसमें अवगाहन कर सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह नाटक मुख्यतया वीर रस-परक है और कवि की प्रतिभा का विलास वीर और उसके सहायक रसों की रङ्गस्थली में प्रमुख रूप में देखा जा सकता है। गीतिकार की दृष्टि से भट्टनारायण एक सफल और रस-सिद्ध कवि हैं, इसमें सन्देह नहीं।

भवभूति के नाटकों की गीतियाँ

महाकवि भवभूति का समय आठवीं शताब्दी ईस्वी का पूर्वार्द्ध है। ये कान्यकुब्ज-नरेश यशोवर्मा के सभा-रत्न थे। यशोवर्मा का नामोल्लेख महाकवि कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में किया है और कहा है कि ये कश्मीर-नरेश ललितादित्य द्वारा युद्ध में परास्त किए गए थे।[1] यशोवर्मा महाकवियों के आश्रय-दाता होने के साथ ही साथ स्वयं भी विद्वान् और महाकवि थे। इनके द्वारा रचित 'रामाभ्युदय' नामक एक नाटक का पता चलता है।[2] इनका समय आठवीं शती का पूर्वार्द्ध है. अतः महाकवि भवभूति का समय भी वही हुआ।

इनके तीन रूपक उपलब्ध हैं, जिनमें दो नाटक हैं और एक प्रकरण। 'महावीररचित' और 'उत्तर रामचरित' नाटक हैं तथा 'मालती-माधव' प्रकरण है। ये तीनों ही संस्कृत के श्रेष्ठ रूपकों में परिगणित हैं, तथापि 'उत्तर-राम-

---

१. कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादि-सेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुति-वन्दिताम् ॥—राजतरङ्गिणी ४।१४४,

२. देखिए, 'दशारूपक', प्रकाश ३, कारिका २५ के पूर्वार्द्ध की वृत्ति में 'रामाभ्युदय' का उल्लेख बालिवध के हटा देने के प्रसङ्ग में तथा 'वक्रोक्ति जीवित' के चतुर्थ उन्मेष की २५वीं कारिका की वृत्ति में—'यथा रामाभ्युदय-उदात्तराघव-वीरचरित-बालरामायण-कृत्यारावण-मायापुष्पकप्रभृतयः।'—पृष्ठ ५३६।

चरित' इनकी सर्वोत्तम कृति है और कालिदास से तुलना करते हुए प्राचीनों ने इस कथन को मान्यता दे दी—

उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते ।

भवभूति ने शृंगार, वीर और करुण तीनों रसों पर बड़े ही अधिकार के साथ लेखनी चलाई है। 'मालती माधव' प्रकरण में शृंगार का सुन्दर रूप देखा जा सकता है, 'महावीरचरित' में वीर रस का और 'उत्तर रामचरित' में करुण का। कालिदास तो भारतीय साहित्य-क्षेत्र के निर्विवाद रूप से अप्रतिभ कवि हैं किन्तु उनके समक्ष यदि कोई कवि यत्किंचित् तुलनार्थ खड़ा किया जा सकता है तो वह ये ही महाकवि हैं। भाषा की वाच्यशक्ति जितना कार्य कर सकती है उसकी पराकाष्ठा भवभूति में हमें मिलती है, किन्तु जिसे वाणी द्वारा कहा ही नहीं जा सकता उस भाव को कालिदास की वाणी अपनी अन्तःशक्ति (व्यञ्जना) द्वारा पाठक के हृदय में रख देती है। कालिदास की वाणी के प्रभावशाली व्याख्यान मूक हैं, वह कम शब्दों में अकथनीय को कह जाती है, भवभूति की वाणी कहती है कि अकथनीय कुछ है ही नहीं। 'मालतीमाधव' की कतिपय कविताओं पर कालिदास का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है। जीवन के आदर्श इन्होंने वाल्मीकि से ग्रहण किए हैं और समग्र राम-चरित को इन्होंने अपने दो नाटकों में समेट लिया है। प्रतिभा के साथ व्युत्पत्ति का ऐसा तुल्य योग तीन ही चार महाकवियों में पाया जाता है। महाकवि राजशेखर ने इन्हें वाल्मीकि का अवतार माना है—

बभूव वल्मीकभुवः पुरा कविः ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम् ।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः ॥
—बालरामायण १।२६

भवभूति ध्वनि-चित्र के सर्वोत्तम चित्रकार हैं। इनकी पदावलियाँ परोक्ष दृश्य को प्रत्यक्ष कर देती हैं, यही इनकी सबसे बड़ी विशेषता है। कालिदास हृदय के मधुर-पक्ष के कवि हैं और ये उग्र पक्ष के। इनकी करुणा अधिक वाचाल है और कालिदास की अधिक वाग्मी, अतः मर्म-स्पर्शिनी। इन्होंने प्रकृति के उग्र और भीषण क्षेत्र में मन रमाया है और कालिदास ने कोमल और आह्लादक, कालिदास काव्य-गगन के पीयूषवर्षी सुधांशु हैं और ये ज्वालावलित चण्डकर। दोनों ही ने प्रकृति का तन्मयतापूर्वक पर्यवेक्षण

किया है और अपनी रुचि के अनुसार रुचिकर प्रकृति-खण्डों का चित्रण किया है। भवभूति पूर्णतया आदर्शवादी हैं और कालिदास आदर्शोन्मुख होते हुए भी अधिक स्वच्छन्दतावादी। भवभूति की यद्यपि अपने उपस्थिति-काल में उतनी प्रतिष्ठा नहीं थी, जैसा कि तत्कालीन विद्वानों और कवियों द्वारा अपनी उपेक्षा का इन्होने स्वयं ही उल्लेख किया है।[१] किन्तु उत्तरोत्तर इनकी प्रतिष्ठा बढ़ती गई और इनके पश्चाद्वर्ती अनेक महाकवियों ने इनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उनमें प्राकृत के महाकवि वाक्पतिराज[२], महाकवि राजशेखर, गोवर्द्धनाचार्य[३] आदि प्रमुख हैं। इनकी गीतियाँ मम्मटभट्ट के 'काव्यप्रकाश' धनञ्जय के दशरूपक, कुन्तक के 'वक्रोक्तिजीवित' महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक' रूय्यक के 'अलङ्कारसर्वस्व', 'वामन की 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति', कविराज विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण', क्षेमेन्द्र के 'सुवृत्ततिलक' आदि विभिन्न लक्षण-ग्रन्थों में पाए जाते हैं। ध्वनिकार ने अपने 'ध्वन्यालोक' में इनकी एक भी गीति नहीं दी है। मम्मटभट्ट ने 'उत्तररामचरित' की कोई भी गीति दोष में नहीं दी है, नहीं कहा जा सकता कि इसका कारण क्या है।

इनकी तीनों रूपक-कृतियों से कतिपय गीतियाँ दी जा रही हैं—

परिमृदितमृणालीम्लानमङ्ग' प्रवृत्तिः
कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु।
कलयति च हिमांशोर्निष्कलङ्कस्य लक्ष्मी—
मभिनवकरिदन्तच्छेदकान्तः कपोलः॥[४]

—मालतीमाधव, अङ्क १।

---

१. ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैव यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥
—मालतीमाधव, प्रस्तावना

२. भवभूइ जलहि निग्गय कव्वामय रसकणा इव फुरंति।
जस्स विसेसा अज्जवि विअडेसु कहाणिवेसेसु॥—गउडवहो, ७८६

३. भवभूतेः सम्बन्धाद्भूधर भूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥
—आर्यासप्तशती, ग्रन्थारम्भ-व्रज्या, ३६

४. इस गीति को वाग्देवावतार मम्मट नें 'काव्यप्रकाश' के चतुर्थ उल्लास की उदाहरण-संख्या २८ में रखा है। इस गीति में केवल अनुभाव ही दिखाया गया है।

"(माधव मालती के शरीर को देखकर कहता है–) इसके अंग मसले हुए कमल-तन्तु के समान मुर्झाए हुए हैं, परिवार के लोगों के बहुत कहने-सुनने पर इसका मन गृह-कर्मों में जैसे-तैसे लगता है, नए-नए कटे हुए हाथी-दाँत के सदृश इसके उज्ज्वल कपोल निष्कलङ्क चन्द्रमा की कान्ति धारण कर रहे हैं।"

माधव मालती के लिए अपनी अभिलाषा व्यक्त करता हुआ मन ही मन कहता है—

> प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया–
> स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि।
> यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा–
> दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः॥
>
> —वही,

"यदि भोले नयनों वाली प्रियतमा की, प्रेम में पगी, प्रणयबद्ध, पूर्व परिचय के कारण गम्भीर अनुराग व्यक्त करने वाली और स्वभावतः मधुर चेष्टाएँ मेरे प्रति हो जातीं (तो कितना आनन्द प्राप्त होता), जिनकी कल्पना मात्र से मेरी बाह्य इन्द्रियों के व्यापार रुक जाते हैं और मेरा अन्तःकरण सुध-बुध भूलकर आनन्द में निमग्न हो जाता है।"

प्रणयी के पूर्वानुराग की दशा का कितना हृदय-स्पर्शी चित्र है, उसकी कल्पनाएँ कितनी मर्म-मधुर, रंगीन रंग-भवन बनाने वाली और मधुर पीड़ा से भींगी हुई हैं। यह विप्रलम्भ शृङ्गार का 'अभिलाष' नामक प्रकार है।[1]

जाती हुई मालती ने माधव को देखकर बड़ी ही आकर्षक रीति से कटाक्षपात किया। उस कटाक्ष-प्रेषण की रीति और उसके अपने हृदय पर पड़े प्रभाव का वर्णन करता हुआ माधव मकरन्द से कहता है—

---

१. 'काव्यप्रकाश' के चतुर्थ उल्लास में विप्रलम्भ शृङ्गार के प्रकार बताते हुए—
'अपरस्तु अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधः। क्रमेणोदाहरणम्।'
यह कहकर 'अभिलाष' नामक विप्रलम्भ के लिए इस गीति को उद्धृत किया गया है। देखिए, उदाहरण-संख्या ३२।

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त-
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥ —वही, अं० १।२६ ।

"(गुरुजनों के साथ) जाती हुई बार-बार कन्धे को तनिक झुका-झुका कर खिलते हुए कमल के सदृश मुख वाली, लम्बी वरुणियों वाली उस सुन्दरी ने अमृत और विष से सने कटाक्ष (रूपी वाण) को मेरे हृदय में गाड़ दिया (कटाक्ष प्रेम से युक्त होने के कारण अमृतमय और वियोग में दुःख देने के कारण विषमय कहा गया है) ।"[1]

माधव का प्रेम मालती के प्रति पुरातन संस्कारवश इतना प्रगाढ़ हो गया है कि वह प्रत्येक वस्तु को मालती के हो रूप में देखने लगता है । प्रेम का यह चरम उत्कर्ष वा अन्तिम परिणति है । सोचता हुआ वियोगी माधव कहने लगता है—

लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्ण-रूपेव च
प्रत्युप्तेव च वज्रलेपघटितेवान्तर्निखातेव च ।
सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभिः
चिन्तासन्तति-तन्तुजालनिविडस्यूतेव लग्ना प्रिया ॥[2]

—मालती०, अं० ५।१०

"मेरी प्रिया मेरे मन में लीन-सी हो गई है, लिखी-सी है, उसकी मूर्ति मन में उत्कीर्ण-सी है; चित्र अन्तःपटल पर अङ्कित-सा है, वज्रलेप से जड़ी हुई-सी, भीतर ही गाड़-सी दो गई है । मानो मेरी चेतना में कामदेव के पाँचों

---

१. इस गीति को 'वक्रोक्तिजीवित' के तृतीय उन्मेष की—

तां साधारणधर्मोक्तौ वाक्यार्थे वा तदन्वयात् ।
इवादिरपि विच्छित्या यत्र वक्ति क्रियापदम् ॥ —कारिका ३१

के उपमालंकार के निदर्शन में उद्धृत किया गया है । 'व्यक्तिविवेक' के द्वितीय विमर्श के अन्तर्गत शब्दों के 'अनौचित्य विचार' के बीच समास-स्वरूप-विवेचन के अवसर पर इसे उद्धृत किया गया है —पृ० सं० २१६ । 'दशारूपक' में 'विधानं सुखदुःखकृत्' (का० २०) के तथा चतुर्थ प्रकाश में अन्योन्यानुराग के उदाहरण-स्वरूप इस गीति को रखा गया है ।

२. दशरूपक, प्रकाश ४, कारिका २० की टीका में उद्धृत ।

बाणों द्वारा कील दी गई हो और अगणित चिन्ताओं के सूत्र-जाल में जकड़ी हुई-सी है।"

प्रेमी के चिन्ताकुल हृदय का इतना संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया गया है, जो ब्रह्मलीन योगी की मनःस्थिति से साम्य रखता है। यह भवभूति के सच्चे प्रणयी हृदय की सूचना देता है। यह केवल मौखिक जल्पना नहीं है, इसकी गम्भीरता और सचाई का निकष सहृदयों का प्रेमाम्बुधि-लीन अन्तःकरण ही है। इसी मर्मस्पर्शिता को काव्य में लाने के लिए उर्दू के प्रख्यात कवि ने कहा है—

'इश्क को दिल में दे जगह नासिख्।
इल्म से शायरी नहीं आती॥' —महाकवि 'नासिख'

'महावीर-चरित' से

'मालतीमाधव' में भवभूति ने शृंगार रस को अपनाया और उसके चित्रण में पूर्ण सफलता प्राप्त की। 'महावीर चरित' में इन्होंने वीर रस में अपनी प्रतिभा का अपूर्व कौशल प्रदर्शित किया और वीर रस के क्षेत्र में मूर्द्धन्य स्थान प्राप्त किया। इस नाटक में रामायण की कथा का पूर्वार्द्ध गृहीत है और राम को निष्कलंक आदर्श पुरुष के रूप में उपस्थित करने का यत्न किया गया है। बाली को रावण का सहायक दिखाया गया है। राम का वीर रूप अत्यन्त आकर्षक और चरित पूर्णतया उदात्त है, महाकवि को वीर रस में जितनी सफलता इस नाटक में मिली है, उतनी कवि-गुरु कालिदास को रघुवंश और कुमारसम्भव के वीर रसात्मक स्थलों पर नहीं मिल पाई है। सचमुच ही ओज गुणात्मक गाढ़बन्ध रचना में इनके समक्ष दो-एक कवि ही टिक सकते हैं। कुछ वीर गीतियों का आस्वादन कीजिए—

स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिवप्रादुर्भवत्यग्रतः
रामस्य त्रिपुरान्तकृद्दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनुः।
शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डकः
तस्मिन्नाहित एव निर्जितगुणं कृष्टं च भग्नं च तत्॥[1]

महावीर०, १।५३

---

१. यह गीति 'दशरूपक' के द्वितीय प्रकाश में नायक की दक्षता के लिए उद्धृत की गई है। प्रथम कारिका में नायक के लिए गिनाए गए गुणों के प्रदर्शनार्थ। कारिका इस प्रकार है—

"सहस्रों वज्रों द्वारा बनाया हुआ-सा और देवों के तेज से युक्त भगवान् शिव का धनुष जब राम के सामने आया तब हाथ में लेते ही उसकी प्रत्यञ्चा खिंची और वह टूट गया। उस समय राम की भुजा उनके शरीर में इस प्रकार शोभा पा रही थी जिस प्रकार हाथी के बच्चे की सूँड़ और बछड़े का दोर्दण्ड शोभा पाता है।"

भगवान् परशुराम की उग्रता को कवि ने उनके दारुण कर्म द्वारा प्रकट किया है और उस दारुण कर्म का उल्लेख बड़ी ही ओजपूर्ण वाणी में किया है। भगवान् परशुराम अपने स्वभाव का परिचय वीरदर्पपूर्ण वाणी में स्वयं ही देते हुए कहते हैं—

उत्कृत्योत्यगर्भानपि शकलयतः क्षत्रसन्तानरोषा—
दुद्दामस्यैकविंशत्यवधिविशसतः सर्वतो राजवंश्यान्।
पित्र्यं तद्रक्तपूर्णह्रद - सवनमहानन्दमन्दायमान-
क्रोधाग्नेः कुर्वतो मे न खलु न विदितः सर्वभूतैः स्वभावः ॥[1]
वही, ५।१६।

"जिसने क्षत्रियों के गर्भस्थ शिशुओं के टुकड़े-टुकड़े कर डाले, जिसने सारे भूमण्डल के क्षत्रियों का इक्कीस बार संहार किया और उनके रक्त से लबालब भरे कुण्डों में यज्ञान्त-स्नान कर-करके जिसकी क्रोधाग्नि कुछ शान्त हुई, ऐसे सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र वीर का (मेरा) स्वभाव क्या सभी जीवों को विदित नहीं है? (मेरे क्रोधी स्वभाव से विश्व के सभी जीव परिचित हैं।)"

दोर्दण्डाञ्चित-चन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत—
ष्टंकारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः।
द्राक्पर्यासकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर—
भ्राम्यत्पिंडितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ॥[2]
— वही, १।५४।

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥
—दशरूपक, प्रकाश २, का० १

१. 'दशरूपक', प्रकाश ४ के 'उग्रता' नामक संचारी भाव के प्रदर्शनार्थ उद्धृत।

२. यह गीति 'दशरूपक' के चतुर्थ उल्लास में 'अद्भुत' रस के लिए उद्धृत की गई है और आचार्य रुय्यक ने 'अलंकार-सर्वस्व' में इसे 'अधिक' अलङ्कार के उदाहरण-स्वरूप स्थान दिया है।

"विशाल भुजदण्डों में भगवान् शङ्कर के धनुर्दण्ड को लेकर तोड़ने से जो प्रचण्ड ध्वनि उठी वही बालक राम के चरित की प्रस्तावना की डिण्डिम घोषणा थी। उस घोषणा की प्रचण्डता कपाल-सम्पुट के सदृश मिलते हुए इस ब्रह्माण्ड रूपी बर्तन के भीतर घूमती हुई पिण्डीभूत हो गई है और आश्चर्य है, कि आज भी वह डिंडिम घोषणा रुक नहीं रही है!"

यह गीति अद्भुत रस का उत्तम उदाहरण है। पदावलियों की गाढबन्धता ऐसी ओजपूर्ण है जो धनुर्भङ्ग की प्रचण्ड चक्राकार घूमती हुई उद्दाम ध्वनि का भी प्रत्यक्षीकरण कराने में पूर्णतया समर्थ है। उस धनुर्भङ्ग रूप महत्कर्म के प्रदर्शन के साथ ही साथ उसके महान् प्रभाव और ध्वनि की प्रसरणशीलता को भी कवि ने अपनी समस्त पद-शय्या द्वारा प्रत्यक्ष करा दिया है। ओज का ऐसा रमणीय रूप भवभूति की गीतियों में ही मिलता है।

'उत्तर रामचरित' की गीतियाँ

उत्तर-चरित में प्रमुखता करुण रस को प्रदान की गई है, यद्यपि अन्य रसों का भी यथास्थान सुन्दर परिपाक मिलता है। जिस प्रकार 'महावीर-चरित' में भवभूति ने राम के चरित को निष्कलंक रखने के लिए ऐतिहासिक वृत्त में कहीं-कहीं परिवर्तन किया है, उसी प्रकार इस नाटक में आदर्श की स्थापना के लिए यथास्थान कवि ने परिवर्तन कर लिए हैं। राम नाटक के आरम्भ में ही प्रतिज्ञा सुनाते हैं—

स्नेहं दयां च सौख्यञ्च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

—उत्तर०, अं० १।१२

दाम्पत्य-प्रेम के जो आदर्श-चित्र भवभूति ने प्रस्तुत किए हैं, वैसे चित्र अन्यत्र कम ही देखने को मिल पाते हैं। राम का सीता के प्रति जो प्रेम है, उसका चित्र प्रस्तुत करते हुए भवभूति राम से कहलाते हैं—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्-
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥

—वही, अं० १।३९

"जिसमें सुख और दुःख दोनों दशाओं में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, जो सभी अवस्थाओं में हृदय को विश्रान्ति प्रदान करता है। वृद्धावस्था में भी जिसका आनन्द क्षीण नहीं होता और विवाह-काल से लेकर अन्त तक जो निरन्तर परिपक्व होता हुआ स्नेह के तत्त्व पर स्थित होता है। ऐसा उदात्त मंगलमय प्रेम किसी-ही-किसी भाग्यशाली मनुष्य को प्राप्त होता है।"

महाकवि के इस विमृष्ट भाव को गीति-बद्ध देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने न केवल धर्मशास्त्र के आधार पर इस आदर्श की मान्यता की की घोषणा की है अपितु इन्होंने स्वयं एक लम्बा पारिवारिक जीवन व्यतीत किया था और स्वानुभूति को ही काव्य के रूप में उतार दिया है। दाम्पत्य जीवन के मधुर अमृत-फल का रसास्वादन किए बिना उसके आद्यन्त मनोरम रूप का आकर्षक चित्रण किया ही नहीं जा सकता। 'जरसा यस्मिन्न-हार्यो रसः' उक्ति इसी सत्य की घोषणा कर रही है। राम स्वयं सीता की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलाश्चन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः॥[1]

—उत्तर०, अं० १।२९

"यह सीता घर में साक्षात् लक्ष्मी है, आँखों के लिए अमृत की शलाका है। इसका रसमय स्पर्श शरीर के लिए चन्दन-रस के समान आनन्दप्रद है। कण्ठ में यह (प्रिया का) बाहु शिशिर के सदृश शीतल और मोतियों की माला के समान सुन्दर है। अधिक क्या कहें इसका क्या-क्या आह्लाददायक नहीं है, हाँ, इसका यदि कुछ असह्य नहीं है तो केवल विरह।"

---

१. इस गीति को प्रसिद्ध आलंकारिक और रीति के प्रतिपादक आचार्य वामन ने रूपक अलङ्कार के उदाहरण में दिया है।
देखिए, 'काव्यालङ्कारसूत्र' अध्याय ३, अधिकरण ४, सूत्र ६ में उद्धृत।
—'दशरूपक' प्रकाश ३, सू० १८ के 'गण्ड: प्रस्तुतसम्बन्धिभिन्नार्थं सहसोदितम्' के लिए उद्धृत।

प्रिया-विषयक प्रेम का इससे सुन्दर निदर्शन और क्या हो सकता है? राम के मुख से महाकवि ने गृहिणी के आदर्श-स्वरूप का उल्लेख भी करवा दिया है।

रामचन्द्र, लक्ष्मण द्वारा लाए गए चित्र को दिखाते हुए सीता से एक स्थल का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

अलसलुलितमुग्धान्यध्वसञ्जातखेदा—
दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि ।
परिमृदितमृणाली दुर्बलान्यङ्गकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ॥[1] —उत्तर०, १।

'हे प्रिये, यह वही वन-स्थली है, जहाँ मार्ग चलने के श्रम से अलस और अत्यन्त मुग्ध तथा मसले गए मृणाल के सदृश उन दुर्बल अंगों को मेरे अंक में डालकर सो गई थीं, जिन्हें मैंने अनवरत आलिङ्गनों द्वारा मीड़ दिया था।"

सीता-वनवास के समय राम कितने दुःख और कितनी अनुचिन्तना में पड़ गए थे कि उनके स्वाभाविक ज्ञान का तिरोधान ही हो गया था, इसी का प्रकाशन भवभूति ने राम के कथन द्वारा ही कर दिया है—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्यज्जडयति च तापं च कुरुते ॥[2]

—उत्तर०

"हे प्रिये, इस समय मेरी इन्द्रियों का समूह यह निर्णय कर सकने में सर्वथा असमर्थ है कि तुम्हारा स्पर्श सुख दे रहा है अथवा दुःख, यह अत्यन्त मोह है किंवा निद्रा है? यह विष का प्रसार है वा मदिरा है? तुम्हारे प्रत्येक

---

१. देखिए, 'दशरूपक', उल्लास ४ में 'श्रम' संचारी भाव के लिए उद्धृत।

२. देखिए, 'दशरूपक', उल्लास ४ की २६ वीं कारिका में आये 'मोह' नामक संचारी भाव का उदाहरण।

स्पर्श में मेरी सारी इन्द्रियों को ज्ञानशून्य बना देने वाला कोई विकार मेरे हृदय को जड़ीभूत बनाने के साथ ही साथ सन्तप्त भी किए डालता है।"

कितनी सुन्दरता के साथ राम के विरह-कातर हृदय का यथार्थ चित्र अङ्कित किया गया है, कि वाणी मूक हो जाती है, हृदय उस मनोज्ञ रस-धारा में विसुध अवगाहन करने लगता है। सचमुच ही भवभूति की शिखरिणी-बद्ध गीतियाँ अत्यन्त मार्मिक हैं। महाकवि क्षेमेन्द्र ने इनको शिखरिणी का सर्वोत्तम कवि कहा है और उनके कथन में दो मत नहीं हो सकते।[1] इनकी शिखरिणीबद्ध गीतियों पर सहृदय जन सदा से ही रीझते आ रहे हैं। विप्रलम्भ करुण की छटा इस वृत्त में अत्यन्त मर्मस्पर्शी होती है। एक और शिखरिणी लीजिए—

असारं संसारं परिमुषितरत्नं त्रिभुवनं
निरालोकं लोकं मरणशरणं बान्धवजनम्।
अदर्पं कन्दर्पं जननयननिर्माणमफलं
जगज्जीर्णारण्यं कथमसि विधातुं व्यवसितः॥[2]

—मालतीमाधव ५।३०।

"संसार को सारहीन, त्रिभुवन को रत्नहीन, लोक को आलोकहीन (अन्धकारमय), बान्धवों को मृततुल्य, कामदेव को दर्पहीन, मानवों के नयनों को निष्फल और जगत् को उजड़े वन के रूप में बदल देने की क्यों ठान ली है?"

यह बात कापालिक को मालती के वध के लिए प्रस्तुत देख माधव ने कही थी।

---

१. भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरंगिणी।
रुचिरा घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति॥

—सुवृत्ततिलक, विन्यास ३।३३।

२. यह शिखरिणी महाकवि क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्ततिलक' के द्वितीय विन्यास, पृष्ठ १२ पर उद्धृत की है। इसी को आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' के प्रथम उन्मेष की सातवीं कारिका के २१ वें उदाहरण में रखा है। देखिए 'वक्रोक्तिजीवित', पृ० ३०, आचार्य विश्वेश्वर द्वारा सम्पादित और हिन्दीकृत।

सम्भोग शृंगार के अत्यन्त आह्लादकारी रूप भवभूति ने यथास्थान 'उत्तर-चरित' में दिए हैं, जिनमें स्वाभाविकता का पूर्णतया निर्वाह हुआ है। प्रेमी रात्रि में एक-दूसरे से सटे, भावावेश में पुलकित, क्रमहीन बातें करते हुए बाहों को बाहों में जकड़े किस प्रकार रात्रि को क्षण भर के सदृश व्यतीत कर देते हैं, भवभूति को इस रसमय जीवन का पूरा-पूरा अनुभव है। देखिए उनके राम अपनी प्राणप्रिया से क्या कह रहे हैं—

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
सपुलकपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेवं व्यरंसीत् ॥[1] —उत्तर०, १।२७

"हे प्रिये! (तुम्हें स्मरण है कि) जब हम दोनों पास ही पास कपोल से कपोल सटाए, बाहों में बाहें मिलाए, पुलकित आलिंगनपाश में बँधे, धीरे-धीरे असम्बद्ध बातें करते हुए पहर के पहर पड़े रहते थे और रात कब बीत गई इसका पता ही नहीं चलता था!"

भवभूति इस वास्तविकता से पूर्णतया परिचित थे कि प्रेम की उत्पत्ति में बाह्य कारणों का योग नहीं हुआ करता अपितु कोई अदृश्य, अलक्षित आभ्यन्तर कारण ही प्रेम का जनक होता है। इसी सत्य का उद्घाटन अत्यन्त सहृदयता के साथ उस महाकवि ने किया है। इस विचार में भारत की आध्यात्मिक दृष्टि भी झाँक रही है—

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन्प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः ॥
—उत्तर० अं० ६।१२

"प्रेम बाह्य कारणों के आश्रित नहीं होता, कोई अलक्षित कारण ही पदार्थों को आपस में मिलाता है (कोई भीतरी कारण दो हृदयों को परस्पर

---

१. देखिए, 'दशारूपक'—
"अनुकूलौ निषेवेत यत्रान्योन्यं विलासिनौ।
दर्शनस्पर्शनादीनि स सम्भोगो मुदान्वितः ॥" अ० ४।६६
के लिए उद्धृत।

सम्बद्ध करता है) देखो, कमल सूर्योदय पर ही खिलता है और चन्द्रकान्त मणि चन्द्र-दर्शन द्वारा ही द्रवित होती है (कहाँ सूर्य और कहाँ कमल ? कहाँ चन्द्र और कहाँ चन्द्रकान्त मणि ? इनमें कोई बाह्य कारण सम्बद्धता का नहीं दृष्टिगोचर होता। अतः यह मानना पड़ता है कि प्रेम किसी अदृश्य कारण पर ही अवलम्बित होता है, बाह्य पर नहीं)।''

कितने पते की बात महाकवि के हृदय से निःसृत हुई है। कोई साधारण कवि इस स्तर तक पहुँच ही नहीं सकता। ऐसी ही बात महाकवि कालिदास ने भी 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में कही है[1] और उसी के अनुशीलन के परिणाम-स्वरूप यह महाकवि भी इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि प्रेम किसी प्रत्यक्ष कारण से उद्‌भूत नहीं होता, वह जन्मान्तरों की अदृश्य पद्धति पर चलता है। यह शाश्वत सत्य है कि प्रेम रूप, कुल, सम्पत्ति आदि बाह्य कारणों की अपेक्षा नहीं रखता।

प्रकृति-चित्रण

भवभूति की यह भी एक महती विशेषता थी कि इनकी दृष्टि प्रकृति के बीहड़ भीम-भयंकर रूप को देखकर भी आनन्दित हो उठती थी। प्रकृति के भयानक रूप से उद्विग्न होकर आँखें फेर लेने को ये कवि की दुर्बलता समझते थे। इनके द्वारा अङ्कित एक प्रकृति-खण्ड के भयङ्कर रूप का दर्शन कीजिए —

निष्कूजस्तिमिताः क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः
स्वेच्छासुप्त-गभीरभोगभुजग-श्वास-प्रदीप्ताग्नयः।
सीमानः प्रदरोदरेषु विलसत्स्वल्पाम्भसो यास्वयं
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरः स्वेदद्रवः पीयते॥

—उत्तर०, अं० २।१६

"दण्डकवन का कोई भाग तो निःशब्द और नितान्त शान्त है और कहीं पर सिंह आदि हिंस्र पशुओं का भयानक गम्भीर गर्जन सुनाई पड़ रहा है, कहीं

१. रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥

—अभिज्ञान० ५।२

मस्ती से सोए हुए भारी फणावाले सर्पों की साँस से अग्नि की लपटें निकल रही हैं, छोटे-छोटे पल्वलों में कहीं-कहीं थोड़ा-थोड़ा पानी झलमलाता दृष्टि आता है, विशाल अजगर के शरीर से पसीना छूट रहा है और प्यासे गिरगिट उसी को पीकर अपनी प्यास बुझा रहे हैं।"

गोदावरी नदी के संगम पर उच्छल जल-तरङ्गों की मनोहारिणी छटा महाकवि ने गीति के माध्यम से प्रत्यक्ष उपस्थित कर दी है। गीति को पढ़ते ही गोदावरी हमारे सामने आ उपस्थित हो जाती है। जिन्होंने उसकी वेगमयी जल-धारा का साक्षात्कार किया होगा वे कवि की भाव-धारा में निमग्न हुए बिना न रहेंगे—

> एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरी-वारयो
> मेघालम्बितमौलिनीलशिखराः क्षोणीभृतो दक्षिणाः।
> अन्योन्य-प्रतिघात-संकुलचलत्कल्लोल-कोलाहलै-
> रुत्तालास्त इमे गभीरपयसः पुण्याः सरित्संगमाः ॥
> — उत्तर०, अं० २।३०

"गोदावरी नदी का जल पर्वत की कन्दराओं में गद्गद ध्वनि करता हुआ प्रवाहित हो रहा है। दक्षिण देश के पर्वतों के शिखर ऊपर से लटकते हुए जल भरे बादलों से नीले रंग के दिखाई पड़ रहे हैं जहाँ कई गम्भीर जल-धाराएँ आकर एक-दूसरे से मिल रही हैं वहाँ एक-दूसरे की टकराहट से बड़ा ही संकुल कोलाहल हो रहा है और लहरें भी ऊँची उठ-उठकर आकाश को छूने की होड़-सी कर रही हैं।"

इस गीति में अर्थ-सौन्दर्य से अधिक नाद-सौन्दर्य दर्शनीय है। महाकवि का अपूर्व भाषाधिकार अपनी श्रेष्ठता का यहाँ स्वयं उद्घोष कर रहा है। शब्दों की संघटना द्वारा नदियों की धारा का चञ्चल कोलाहल स्पष्ट श्रुतिगोचर हो रहा है। महाकवियों में नाद-सौन्दर्य को प्रत्यक्ष कराने की अपूर्व क्षमता होती है। संस्कृत-साहित्य में भवभूति इस गुण में अन्य महाकवियों के अग्रणी हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भवभूति की क्षमता भाव-जगत से लेकर वाह्य-प्रकृति के क्षेत्र तक अद्भुत है, किसी-किसी क्षेत्र में तो ये कवि-गुरु से भी आगे बढ़ते दिखाई पड़ते हैं। इन्होंने संस्कृत गीति-साहित्य को अपनी अनुपम देन द्वारा बहुत ही समृद्ध किया तथा उसे प्रगति-पथ पर अग्रसर भी किया है, इसीलिए कालिदास के पश्चात् इसी महाकवि पर सहृदयों की दृष्टि आकर टिकती है इनके किसी महान् प्रेमी ने यहाँ तक कह डाला—

'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते ।'

'तापसवत्सराज' की गीतियाँ

'तापसवत्सराज' नाटक की रचना महाकवि अनङ्गहर्ष ने, जिन्हें मातृराज नाम से लोग जानते थे, की है। इनके पिता का नाम नरेन्द्रवर्धन था। यदि महाकवि राजशेखर द्वारा प्रशंसित 'माउराज' ही मातृराज हों, तो इन्हें कलचुरिवंशीय कोई नरेश मानना पड़ेगा, क्योंकि राजशेखर की स्तुति इस प्रकार है—

'माउराज' समो जज्ञे नान्यः कलचुरिः कविः ।
उदन्वतः समुत्तस्थुः कति वा तुहिनांशवः ॥
—राजशेखर ।

इस नाटक का विशद उल्लेख आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' में बड़े ही मनोयोग से किया है। इनके अतिरिक्त आचार्य अभिनवगुप्त ने भी इसके विशिष्ट अंशों को लेकर उनकी बड़ी उत्तम व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। ध्वन्या-लोक' में इसकी एक गीति दी गई है, जिससे पता चलता है कि अनंगहर्ष आचार्य आनन्द के पूर्ववर्ती थे, अर्थात् इनका समुद्भव नवम शती ईस्वी से पहले हो चुका था। इस नाटक की एक अधूरी प्रति बर्लिन के राजपुस्तकालय में सुरक्षित है और उसी के आधार पर सन् १६२८ में मैसूर से यदुगिरि स्वामी के सम्पादकत्व में इसका एक संस्करण प्रकाशित हुआ था।

उदयन अपने समय का एक प्रख्यात राजा था। इसका आख्यान 'कथासरित्सागर' आदि ग्रन्थों में दिया गया है। उसका जीवन-वृत्त इतना नाटकीय था कि उसकी चर्चा उसके मरणोपरान्त शताब्दियों चलती रही। महाकवि भास ने उसके जीवन-वृत्त को लेकर दो नाटक लिखे, स्वप्नवासवदत्ता और प्रतिज्ञायौगन्धरायण। कवि-गुरु के समय में भी उदयन की लोक में बड़ी चर्चा थी, उसकी अनेक कथाएँ वृद्धों के मुख से लोग एकत्र होकर सान्ध्यगोष्ठियों में बड़े चाव से सुना करते थे। इसकी चर्चा उन्होंने अपने रुबन्ध गीतिकाव्य 'मेघदूत' में राह चलते कर ही दी है।[1] आगे चलकर

---

१. प्राप्यावन्तीनुदयन-कथा-कोविद-ग्रामवृद्धान्
पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम् ।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ॥
—मेघदूत, पूर्वमेघ २२ ।

सप्तम शतक के पूर्वार्द्ध में सम्राट् हर्षदेव ने उदयन के वृत्त को ही कथाधार बनाकर 'प्रियदर्शिका' और 'रत्नावली' नामक दो सुन्दर नाटिकाएँ प्रस्तुत कीं। इसके अनन्तर 'तापसवत्सराज' नाटक भी उदयन के ही वृत्त को लेकर रचा गया। महाराज अनंगहर्ष के समय तक वत्सराज की विशेष चर्चा थी। भवभूति-रचित 'मालती-माधव' प्रकरण में कामन्दकी नाम की एक भिक्षुणी लाई गई है, उसी प्रकार 'तापसवत्सराज' में भी 'सांकृत्यायनी' नाम की एक बौद्ध भिक्षुणी उतार ली गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि अनंगहर्ष भवभूति के परवर्ती थे और इसीलिए उन्होंने भवभूति का अनुसरण किया। अतः इनका समय आनन्द से पूर्व और भवभूति के पश्चात् अर्थात् अष्टम शतक के उत्तरार्द्ध में होना चाहिए।

आनन्द कुन्तक और अभिनवगुप्त के अतिरिक्त इस नाटक की गीतियाँ मम्मट भट्ट, भोज, राजशेखर, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में ससम्मान दी हैं। इस नाटक में करुणविप्रलम्भ का अत्यन्त उत्तम परिपाक पाया जाता है। इसकी गीतियाँ नितान्त हृदय-स्पर्शिनी और लोकोत्तराह्लादजननी हैं। आचार्य कुन्तक और अभिनव जैसे महामनीषी इस नाटक पर जितने मुग्ध हुए हैं उससे ही इसकी उत्तमता का अनुमान किया जा सकता है। दुर्भाग्यवश आज इसका पूर्णरूप हमारे सामने लभ्य नहीं है, वक्रोक्तिजीवित की जो हस्तलिखित प्रतियाँ अद्यावधि उपलब्ध हो सकी हैं, उनमें भी बहुत से स्थलों की लिखावट बड़ी अस्पष्ट और दुरधिगम्य है। उन स्थलों में 'तापस-वत्सराज' के कुछ अंश भी हैं जो कुन्तक ने लिए हैं। इसमें कथा का आकर्षक निर्वाह तो हुआ ही है, गीतियों की उत्तमता के विषय में भी दो मत नहीं हो सकते। इसके प्रमाण-स्वरूप कतिपय गीतियाँ यहाँ दी जा रही हैं—

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षिताऽसि ॥[1]

—तापस०, अं० २१६

---

१. ध्वनिकार ने इसे पदगत असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य के उदाहरण में रखा है और कहा है—
"अत्र हि 'ते' इत्येतत्पदं रसमयत्वेन स्फुटमेवावभासते सहृदयानाम्।"
—ध्वन्यालोक, उद्योत ३, का० ४, पृ० २३६

"(वासवदत्ता आग में जल गई, यह समाचार पाकर वत्सराज (उदयन) शोक-सन्तप्त और विक्षिप्त होकर कहता है—) जिस समय चतुर्दिक् अग्नि की लपटें लहराने लगी होंगी उस समय मेरी प्राण-प्रिया काँप उठी होगी, भय से उसका अञ्चल धरती पर गिरकर लोट रहा होगी, उन (मेरे हृदय में समाए हुए कमल-सदृश बड़े-बड़े और मृग-शावक के नेत्रों-से चञ्चल) निस्सहाय एवं निराश नेत्रों को चारों ओर फेंकती हुई सुन्दरी को धुएँ से अन्धे अग्नि ने देखा ही नहीं (अन्यथा देखने पर वह जलाने का साहस ही नहीं कर सकता था) और क्रूरता तथा कठोरता के साथ सहसा जला कर भस्म कर दिया।"

अपने चारों ओर मृत्यु की लपलपाती जिह्वा को देखकर, कहीं कोई त्राणकारी मिल जाय इस टिमटिमाती आशा-भरी आँखों को चारों ओर आकुलता से फेरनेवाले भयाकुल व्यक्ति का कितना मार्मिक चित्र मातृराज ने प्रस्तुत किया है, देखते ही हृदय अपार करुणा की धारा में डूबने लगता है। 'ते लोचने' पद में प्रेमी की कितनी कोमल चिरसंचित प्रेममयी भावनाएँ अन्तर्हित हैं, सहृदयजन ही अनुभव कर सकते हैं।

करतलकलिताक्षमालयोः समुदितसाध्वससन्नहस्तयोः।
कृतरुचिरजटानिवेशयोरपर इवेश्वरयोः समागमः॥
—तापस०, अं० ३।८४

"दोनों के हाथों में अक्षमाला शोभित थी, स्तम्भ सात्विक भाव के उदय के कारण दोनों के हाथ अवसन्न हो गए थे, दोनों के सिर पर सुन्दर जटा-जूट बँधे थे। इस प्रकार दोनों का (नायक और नायिका का) समागम देखकर ऐसा प्रतीत हुआ जैसे भगवान् शिव और पार्वती परस्पर मिल रहे हों।"

—व्यक्तिविवेककार ने ध्वनिकार के मत का खण्डन करते हुए इस गीति को देकर अपने मत का समर्थन इस प्रकार किया है—
"इत्यत्र ते इति योऽयमसमसौन्दर्यनिधानभूतयोः पुरःपरिस्फुरतोरिव-लोचनयोः परामर्शः स हि सामग्रीयोगान्नायकस्य शोकदहनोद्दीपन-विभावतामेतयोरनुमापयतीति मुख्यवृत्या तद्वाच्यस्यार्थस्यैव लिङ्गता, न पदस्य।" —व्यक्तिविवेक, विमर्श २, पृ० ४४९
—आचार्य हेमचन्द्र ने इस परामर्श में ध्वनिकार का ही अनुसरण किया है। देखें काव्यानुशासन, अ० १, अर्थशक्तिमूल व्यङ्ग्यार्थ पृ० ५३।

यहाँ कवि ने सुन्दर अप्रस्तुत-विधान द्वारा स्वभाव का महत्त्व परिपुष्ट किया है। आचार्य कुन्तक ने इसे 'औचित्य' नामक गुण के उदाहरण में रखा है। इस गीति की पद-योजना इतनी लालित्यपूर्ण और सन्तुलित है कि देखते-सुनते हृदय खिल उठता है। थोड़े से चुने शब्दों में कितना सुन्दर चित्र अंकित कर दिया गया है, जो काव्यगत चित्रकारी का ज्वलन्त निदर्शन है।

इस नाटक में करुणा की अजस्र धारा अनवरुद्ध गति से प्रवाहित हो रही है। वत्सराज की तो वासवदत्ता प्राणप्रिया ही थी, गृह में आग लग जाने और उसके अन्तर्हित हो जाने पर पशुओं में कितनी बेकली छा गई है, कवि के शब्दों में सुनिए—

धारावेश्म विलोक्य दीनवदनो भ्रान्त्वा च लीलागृहा-
न्निःश्वस्यायतमाशु केसरलतावीथीषु कृत्वा दृशः।
किं ये पार्श्वमुपैषि पुत्रक कृतैः किं चाटुभिः क्रूरया
मात्रा त्वं परिवर्जितः सह मया यान्त्यातिदीर्घां भुवम्॥

तापस०, अं० २।११

कर्णान्तस्थितपद्मरागकलिकां भूयः समाकर्षता
चञ्च्वा दाडिमबीजमित्यभिहता पादेन गण्डस्थली।
येनाऽसौ तव तस्य नर्मसुहृदः खेदान्मुहुः क्रन्दतो
निःशङ्कं न शुकस्य किं प्रतिवचो देवि त्वया दीयते॥

—वही, अं० २।१३

"वासवदत्ता का पालतू हरिण उन-उन स्थानों पर दौड़-दौड़कर उसे खोजता फिर रहा है जहाँ-जहाँ उसे पहले देख चुका था और फिर वत्सराज के पास आकर उनके अञ्चल को खींचने, पैर और हाथ की अँगुलियाँ चाटने लगता है, यह देखकर राजा उसे समझाते हुए कहता है—) हे पुत्र! तुम स्नानागार को देखकर, हताश उतरे मुँह से क्रीड़ा-गृहों में भटक कर, लम्बी साँस लेकर केसर की क्यारियों और लता-वीथियों में आँखें दौड़ाकर क्यों आ रहे हो और मेरी चाटुकारिता कर रहे हो? तुम्हारी निष्ठुर माता ने दूर देश (स्वर्ग) की यात्रा करते समय मेरे साथ तुम्हें भी यहीं छोड़ दिया है।

"हे देवि! जिसने तुम्हारे कान में लटकती हुई पद्मराग मणि के खण्ड को अनार का बीज समझकर उसे खींचते हुए अपने पंजे से तुम्हारे कपोल

पर खरोंच लगा दी थी, वही तुम्हारा शृंगार-सखा तोता बार-बार निर्भय होकर वेदना से चिल्ला रहा है, तुम उसकी पुकार पर उसे उत्तर क्यों नहीं दे रही हो ?"

इन उक्तियों में पशु-पक्षियों की व्याकुलता के पीछे राजा के हृदय का अगाध वेदना-सिन्धु लहराता स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है। इन गीतों को देखकर निश्चयत्वेन मानना ही पड़ेगा कि अनङ्गहर्ष एक सिद्ध महाकवि थे। इसीलिए सहृदय-शिरोमणि कुन्तक ने 'तापसवत्सराज' का एक पूरा अंश ही करुण रस के उदाहरण-स्वरूप अवतरित कर लिया है।[1]

सर्वत्र ज्वलितेषु वेश्मसु भयादालीजने विद्रुते
त्रासोत्कम्पविहस्तया प्रतिपदं देव्या पतन्त्या तदा।
हा नाथेति मुहुः प्रलापपरया दग्धं वराक्या तथा
शान्तेनापि वयन्तु तेन दहनेनाद्यापि दह्यामहे ॥[2]

—वही, अं० ३।१०

"घरों में चारों ओर आग लग जाने पर, सखियों के भाग खड़ी होने पर, भय और तज्जन्य कम्प से निष्क्रिय और पग-पग पर गिरती हुई 'हा नाथ, हा नाथ !' कह-कह कर चिल्लाती बेचारी (प्राणप्रिया वासवदत्ता) को जलाकर अग्नि आज यद्यपि शान्त हो गई है तथापि हम उस शान्त अग्नि में आज भी जले जा रहे हैं।"

इस गीति के अन्तिम चरण में विरोध नामक अलंकार के द्वारा करुण रस कितने उत्कर्ष को पहुँच गया है, यह स्पष्ट देखा जा सकता है। ऐसे रसोत्कर्षी अलंकारों की योजना महाकवियों के काव्यों में ही पाई जाती है और प्रस्तुत नाटक में ऐसी गीतियों की आद्यन्त परम्परा बनी हुई है। करुण रस की अनेकानेक गीतियों में पुनरुक्ति हुई है तथापि कवि की प्रौढ़ प्रतिभा के

१. 'बक्रोक्तिजीवित', उन्मेष ३, कारिका ७, उदाहरण-संख्या २७, २९, पृ० सं० ३२८, ३२३ तथा उन्मेष ४ की कारिका ७, ८ के अन्तर्गत 'प्रकरण-वक्रता' के लिए उद्धृत किया गया है। देखिए, पृ० सं० ५०५, ५०६ (आचार्य विश्वेश्वर द्वारा व्याख्यात 'वक्रोक्तिजीवित' प्रथम संस्करण से)

२. वही।

परिणामस्वरूप शैली की विचित्रता के कारण पुनरुक्तवत् नीरसता कहीं भी नहीं आने पाई है और सर्वत्र ही भावों की आकर्षिणी नूतनता बनी हुई है। करुणरस से भींगी एक गीति और देखिए—

त्वत्सम्प्राप्ति-विलोभनेन सचिवैः प्राणा मया धारिता
तन्मत्वा त्यजतः शरीरकमिदं नैवास्ति निःस्नेहता।
आसन्नोऽवसरस्तवानुगमने जाता धृतिः किन्त्वयं
खेदो यच्छतधा गतं न हृदयं तद्वत्क्षणे दारुणे॥

—तापस०, अं० ६।३

"(वत्सराज विलाप करते हुए अपने आप कह रहा है, हा देवि!) तुम मुझे फिर प्राप्त हो जाओगी इस लालच को दिखा-दिखाकर सचिवों ने मेरे प्राणों की रक्षा की। उनकी बातें मानकर आजतक मैं जीवित रहा और आज शरीर को जो त्यागने जा रहा हूँ (प्रिया के मिलन से नितान्त निराश होकर) इससे मेरे प्रेम की दुर्बलता सूचित नहीं होगी। आज जब तुम्हारे ही पथ के अनुसरण करने का अवसर मुझ प्राप्त हुआ है तो हृदय में धैर्य अवश्य ही आ गया है, किन्तु खेद एक ही बात का है कि उस (तुम्हारी मृत्यु के) दारुण क्षण में मेरे हृदय के सैकड़ों खण्ड क्यों नहीं हो गए।"

एक ही बात को कवि कथन के प्रकरण को बदल-बदल कर कितने हृदय-स्पर्शी ढंग से प्रस्तुत करता जाता है, यही उसकी महती प्रतिभा का प्रमाण है।[1] 'तापसवत्सराजचरित' आज यद्यपि पूर्णरूप में उपलब्ध नहीं है तथापि उसके प्राप्त अंशों से यह निर्भ्रान्त रूप में कहा जा सकता है कि यह संस्कृत के श्रेष्ठ नाटकों में एक अवश्य है। 'उत्तररामचरित' करुण रस का श्रेष्ठ नाटक है, तथापि उसमें पद-पद पर राम की मूर्च्छा, उसी प्रकार निरन्तर रोना और विसूरना पाठक के हृदय को कहीं-कहीं पुनरुक्ति के कारण उबा

---

१. कुन्तक ने इन करुण रसात्मक प्रकरणों पर अपनी सम्मति व्यक्त करते हुए हृदय खोलकर कहा है—
"तदेवं सकलचन्द्रोदय-प्रकरणप्रकारेषु प्रस्तुतकथासंविधानकानुरोधात् मुहुर्मुहुरुपनिबध्यमानं यदि परिपूर्णपूर्वविलक्षणरूपकाद्यलंकार-रामणीयक निर्भरं भवति तदा कामपि रामणीयकमर्यादां वक्रतामवतारयति। यथा हर्षचरिते यथा वा तापसवत्सराजचरिते।
— वक्रोक्तिजीवित, उन्मेष ४, कारिका ७, ८ की वृत्ति, पृ० ५०४।५०५

देता है किन्तु अनङ्गहर्ष ने अपनी असामान्य प्रतिभा के बल से पाठक के हृदय को आद्यन्त रमाने का श्लाध्य प्रयत्न किया है और इसीलिए पाठक रसास्वादन से विरत कहीं भी नहीं हो पाता है। यद्यपि उदयन के आख्यान को लेकर इससे पूर्व अनेक उत्तमोत्तम रूपक-कृतियाँ प्रस्तुत की जा चुकी थीं तथापि अपने असाधारण कवि-कौशल से कवि ने इसे सर्वथा नए साँचे में ढालकर नूतन रूप-रंग में निखार-सँवार दिया है। दुःख और क्लेश यह सोचकर होता है कि 'अभिजात जानकी' और 'तापसवत्सराज' जैसी न जाने कितनी उत्तम काव्य-कृतियाँ अन्धकार के गर्भ में विलीन हो चुकी होंगी और हम इन्हें खोकर आँखें मूँदे सोए ही रह गए।

'अनर्घराघव' की गीतियाँ

मुरारि कवि की अपने समय में पर्याप्त प्रशंसा थी। इनके विषय की अनेक उक्तियाँ साहित्यिकों में प्रचलित हैं। उन उक्तियों वा सूक्तियों द्वारा इतना पता अवश्य चलता है कि ये भवभूति के परवर्ती थे।[1] महाकवि राजानक रत्नाकर ने इनका उल्लेख एक श्लेषगर्भ छन्द में किया है, जिससे ये उनके (८२५ ई० से) पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं।[2] इस प्रकार इनका समय भवभूति और रत्नाकर के बीच अर्थात् आठवीं शती के उत्तरार्द्ध भाग में निश्चित प्रतीत होता है। भवभूति और रत्नाकर के समान इन्होंने भी अपने विषय में गर्वोक्ति कही है, जिससे यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस महाकवि में अन्यों के ही सदृश आत्म-विश्वास शैलवत् अडिग था। इनकी गर्वोक्ति इस प्रकार है—

देवीं वाचमुपासते हि बहवः सारं तु सारस्वतं
जानीते नितरामसौ कविकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः।

---

१. मुरारिपदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा।
भवभूतिं परित्यज्य मुरारिमुररीकुरु॥

२. अङ्कोत्थ (अङ्केऽथ) नाटक इवोत्तमनायकस्य—
नाशं कविर्व्यधित यस्य मुरारिरित्थम्।
आक्रान्तकृत्स्नभुवनः क्व गतः स दैत्यः
नाथो हिरण्यकशिपुः सह बन्धुभिर्वः॥—हरविजय, ३८।६७।

अब्धिर्लङ्घित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरतां
आपातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः ॥[1]
—सु० सु० रत्न भां०, मुरारिप्रशंसा, पृ० २८२।४

"दिव्य वाणी की उपासना तो बहुतेरे कवि करते हैं किन्तु सारस्वत सार को भलीभाँति केवल मुरारि कवि ही जानता है। वानर योद्धाओं ने समुद्र का लंघन तो किया किन्तु उसकी गहराई को तो पाताल तक डूबा हुआ मन्थाचल ही जानता है (वानर भटों की पहुँच भला वहाँ कहाँ !) ।"

ये मौद्गल्यगोत्रीय श्री वर्द्धमानक और तनुमती के पुत्र थे। इन्हें 'बाल-वाल्मीकि' की उपाधि प्राप्त थी। यद्यपि आज इनकी केवल एक कृति 'अनर्घ-राघव' नामक नाटक ही प्राप्त है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी कतिपय कृतियाँ और भी रही होंगी। इनकी कतिपय स्फुट सूक्तियाँ भी संग्रह-ग्रन्थों तथा लक्षण-ग्रन्थों में पाई जाती हैं। इन्होंने भवभूति के रौद्र, वीभत्स, भयानक और अद्भुत रस वाले नाटकों से उद्विग्न दर्शकों के समक्ष वीर और अद्भुत रस से युक्त तथा गम्भीर और उदात्त वस्तु से अलंकृत नाटक को प्रस्तुत किया है और यह आदर्श समस्त मानवों के लिए आनन्दवर्धक होगा, ऐसी आशा व्यक्त की है—

तस्मै वीराद्भुतारम्भगम्भीरोदात्तवस्तवे ।
जगदानन्दकाव्याय सन्दर्भाय त्वरामहे ॥
—अनर्घराघव, अं० १।६

इस नाटक में दी गई गीतियाँ आनन्दवर्धक अथच उत्तम हैं, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु भवभूति की गीतियों से इन गीतियों की कोई तुलना नहीं है। भवभूति प्रथम कोटि के महाकवियों में हैं, किन्तु लोकरञ्जन की दृष्टि से 'अनर्घ-राघव' बहुजनसुखाय अवश्य ही विशेष सफल कहा जायगा। उच्च कोटि के लक्षण-ग्रन्थों में इस नाटक की गीतियाँ नहीं दी गई हैं। इनकी कविता में ओज गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान है और अर्थ-व्यक्ति में स्फुटता के कारण

१. इस गर्वोक्तिमयी सूक्ति को राजानक रुय्यक ने 'दृष्टान्त' अलंकार के उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया है, देखिए; 'अलंकारसर्वस्व', पृ० ९६ (निर्णयसागर से पांडुरंग जीवाजी द्वारा प्रकाशित प्रति का द्वितीय संस्करण) ।

रस-चर्वण में सामान्य पाठक को भी किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। दो-एक गीतियाँ देखिए—

तीर्त्वा भूतेशमौलिस्रजममरधुनीमात्मनासौ तृतीय—
स्तस्मै सौमित्रिमैत्रीमयमुपहृतवानातरं नाविकाय।
व्यामग्राह्यस्तनीभिः शबरयुवतिभिः कौतुकोदञ्चदक्षं
कृच्छ्रादन्वीयमानस्त्वरितमथ गिरिं चित्रकूटं प्रतस्थे॥[1]

—अनर्घराघव, अं० ५।२।

"राम ने लक्ष्मण और सीता के साथ शिव जी की शिरोमालिका सदृश गङ्गा को पार करके और केवट को लक्ष्मण की मित्रता रूप उतराई देकर, ऊँचे उरोजों वाली शबर-रमणियों की क्रीड़ा-भूमि चित्रकूट पर्वत के लिए तुरत ही प्रस्थान किया।"

काश्मीरेण दिहानमम्बरतलं वामभ्रुवामानन-
द्वैराज्यं विदधानमिन्दुदृषदां भिन्दानमम्भःशिराः।
प्रत्युद्यत्पुरुहूतपत्तनवधू दत्तार्घदर्भाङ्कुर—
क्षीबोत्सङ्गकुरङ्गमैन्दवमिदं बिम्बं समुज्जृम्भते॥

—अं० २।७२।

"सारे आकाश को कुङ्कुम से रँगता, सुन्दरियों के मुखों से होड़ लेता, चन्द्रकान्त मणियों की जल-धारा को दो भागों में बाँटता और अमरावती की देवाङ्गनाएँ राह में आती जाती जिसे नर्भाङ्कुर खिला देती हैं उस मलवाले हरिण को गोद में लिए हुए यह चन्द्रबिम्ब सामने प्रकाश फैला रहा है।"

प्रत्यासन्न तुषारदीधितिकरक्लिश्यत्तमोवल्लरी
वल्याभिर्मखधूमवल्लिभिरमी सम्मीलितव्यञ्जनाः।
श्वः संचीवरयिष्यमाणबटुकव्याधूतशुष्यत्त्वचो
निद्राणातिथयस्तपोधनगृहाः कुर्वन्ति नः कौतुकम्॥

—अं० २।६८।

---

१. राजानक रुय्यक ने इस गीति को 'परिणाम' अलंकार के निदर्शनार्थ उद्धृत किया है—

"तस्य सामानाधिकरण्यवैयधिकरण्यप्रयोगाद्द्वैविध्यम्। आद्यो यथा—"

—अलङ्कारसर्वस्व, पृ० ५१।

'राजशेखर' के नाटकों की गीतियाँ

महाकवि राजशेखर का संक्षिप्त कवि-परिचय 'कर्पूरमञ्जरी' नामक सट्टक की गीतियों को उद्धृत करते समय पहले ही दिया जा चुका है। राजशेखर की प्रतिभा बहुमुखी थी। नाटक के क्षेत्र में उतरकर उन्होंने चार रूपक कृतियाँ दीं, जिनमें 'कर्पूरमञ्जरी' सट्टक है, शेष तीन कृतियाँ संस्कृत-भाषा-बद्ध हैं। भिन्न-भिन्न भाषाओं पर इनका अद्भुत अधिकार था। कवि-रूप में ये भवभूति की कोटि के महाकवि थे। इनकी तीनों रूपक-कृतियों—बालरामायण, बाल-भारत और विद्धशालभञ्जिका, से कतिपय गीतियाँ यहाँ दी जा रही हैं।

'विद्धशालभञ्जिका से'

यह चार अङ्कों की एक सफल नाटिका है। इसकी गीतियाँ वक्रोक्तिजीवित अलङ्कारसर्वस्व, काव्यानुशासन, साहित्यदर्पण आदि लक्षण-ग्रन्थों में उद्धृत की गई हैं। दो गीतियाँ देखिए—

गर्भग्रन्थिषु वीरुधां सुमनसो मध्येऽङ्कुरं पल्लवाः
वाञ्छामात्रपरिग्रहः पिकवधूकण्ठोदरे पञ्चमः।
किञ्च त्रीणि जगन्ति जिष्णु दिवसैर्द्वित्रैर्मनोजन्मनो
देवस्यापि चिरोज्झितं यदि भवेदभ्यासवश्यं धनुः॥[1]

—विद्ध०, अं० १।१३

"वीरुधों की गर्भ-ग्रन्थियों में फूल, अंकुरों के भीतर पल्लव तथा कोकिला के कण्ठ के भीतर पञ्चम स्वर ग्रहण करने की इच्छा मात्र हो रही है (अभी ये तीनों ही मनोमुग्धकर वस्तुएँ गर्भस्थ ही हैं, उत्पन्न नहीं हुईं, होना ही चाहती हैं), किन्तु दो ही तीन दिनों में तीनों लोकों को जीतने वाले कामदेव के हाथों में अभ्यासवश वह धनुष आ जायगा जिसे उन्होंने बहुत दिनों से हाथ में लिया ही नहीं। (अब वसन्त दो ही तीन दिनों में अपनी पूरी सेना के साथ शस्त्रसज्ज कामदेव-सेनापति के साथ उतर आयेगा)।"

---

१. यह गीति 'वक्रोक्तिजीवित' के तृतीय उन्मेष की प्रथम कारिका के अन्तर्गत पृ० ३०१, आचार्य हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' की 'विवेक' नाम्नी टीका में अध्याय ३ के पृ० १३४ पर उद्धृत है। 'कवीन्द्रवचनामृत' में सं० ६८ और 'सदुक्तिकर्णामृत' में सं० २७५।१ में लिखित।

नायक के समक्ष अनुरागिणी नायिका की विरहावस्था की दशा कितने प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत की गई है। इस ढंग को विहारी आदि हिन्दी के कतिपय चमत्कारवादी कवियों ने अपना लिया था। कथन का ढंग देखिए—

दाहोऽम्भः प्रसृतिम्पचः प्रचयवान् बाष्पः प्रणालोचितः
श्वासाः प्रेङ्खितदीप्रदीपलतिकाः पाण्डिम्नि मग्नं वपुः।
किञ्चान्यत्कथयामि रात्रिमखिलां त्वन्मार्गवातायने
हस्तच्छत्रनिरुद्ध चन्द्रमहसस्तस्याः स्थितिर्वर्तते ॥[1]

विद्धशाल०, अं० २।२१

"तुम्हारे विरह में नायिका के शरीर का ताप इतना बढ़ गया है कि चुल्लू-चुल्लू भर पानी शरीर छूते ही सूख जाता है। आँसू इतने वेग से प्रवाहित होता है कि उससे नाली में जल की धारा बह सकती है। उसके उष्ण निःश्वास दीप-शिखाओं के समान छूटते हैं। देह श्वेतता में डूब रही है (शरीर में रक्त ही नहीं रह गया है), और मैं अधिक कहाँ तक कहूँ, वह सारी रात चन्द्रमा को अपनी हथेली की छतरी से छिपाकर (चन्द्रमा वियोगावस्था में उसे सूर्य्य के समान जलाने वाला प्रतीत होता है) वातायन पर बैठी तुम्हारी राह निहारा करती है।"[2]

कितना अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है। दाह, आँसू, श्वास, शरीर आदि प्रभावशाली विशेषणों के योग से कितने चमत्कारपूर्ण हो गए हैं। वेदनाधिक्य

---

१. रुय्यक ने इसे 'सम्बन्धातिशयोक्ति' के लिए उद्धृत किया है। देखिए, 'अलङ्कारसर्वस्व' पृ० ८७ (पाण्डुरङ्गजीवा जी द्वारा प्रकाशित, निर्णय-सागर यन्त्रालय से मुद्रित, द्वितीयसंस्करण)। 'सुभाषितावली' में पद्य-संख्या १४११ और 'कवीन्द्रवचनामृत' में संख्या २७६ में दी गई है। 'वक्रोक्तिजीवित के प्रथमोन्मेष में 'विशेषणवक्रता' के उदाहरण-स्वरूप पृ० ७२ पर, उदाहरण संख्या ४८ में तथा उन्मेष २ के उदाहरण ७० में, पृ० २४६ पर इसे कुन्तक ने दिया है। अप्पय दीक्षित की 'चित्रमीमांसा', पृ० १०३ पर इसे स्थान दिया गया है।

२. मिलाइए विहारी लाल के इस दोहे से—
औंधाई सीसी सुलखि, बिरह बरति बिललात।
बीचहिं सूखि गुलाब गो, छींटौ छुयौ न गात॥
——विहारी-सतसई, ५०६

को सूचित करने का कितना वैचित्र्यपूर्ण ढंग राजशेखर ने अपनाया है। यह दूसरी बात है कि कथन का यह ढंग हृदय में करुणा उत्पन्न करने के स्थान पर मनोरंजना ही प्रदान कर पाता है।

'बालरामायण' से

कन्नौज के प्रतिहारवंश-भूषण महाराज महेन्द्रपाल इनके प्रथम आश्रयदाता थे और उन्हीं के आग्रह पर कविराज राजशेखर ने 'बालरायायण' का अभिनय सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया था। यह नाटक दस अङ्कों में समाप्त हुआ है और इसमें पूरा राम-चरित संक्षिप्त रूप में बड़े ही कौशल के साथ निबद्ध किया गया है। इस नाटक में कविराज की प्रतिभा का चरमोत्कर्ष देखने को मिलता है। वास्तव में यह नाटक दृश्य काव्य के उतने मेल में न होकर श्रव्य काव्य के ही मेल में अधिक है। इसकी पद्य-संख्या ७४१ है, जिनमें शार्दूल-विक्रीडित और स्रग्धरा जैसे लम्बे छन्दों की संख्या कम नहीं है। 'शार्दूल-विक्रीडित' इनका सिद्ध छन्द माना जाता है। महाकवि क्षेमेन्द्र ने इसके लिए इन्हें प्रमाण-पत्र देते हुए इस प्रसिद्धि का समर्थन किया है—

शार्दूलविक्रीडितैरेव प्रख्यातो राजशेखरः।
शिखरीव परं वक्रैः सोल्लेखैरुच्चशेखरः॥

—सुवृत्ततिलक, विन्यास ३।३५

मेरा अनुमान है कि रामचरित पर इस महनीय ग्रन्थ को प्रस्तुत करने के ही कारण इन्होंने अपने को वाल्मीकि और भवभूति का अवतार माना। इसके साथ ही इनमें आदिकवि का-सा भूगोल-ज्ञान और भवभूति के समान रुचिरोचित शब्द-गुम्फन था। भर्तृमेण्ठ के सदृश इनमें महाकाव्यकार की प्रतिभा थी। इन विशेषताओं को दृष्टि में रखकर ही इन्होंने अपने को उनकी परम्परा में स्थान दिया—

बभूव वल्मीकभवः पुरा कविः ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

—बालभारत, प्रस्तावना, १२।

बालरामायण की कतिपय गीतियों का रसास्वादन कीजिए—

आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षुर्नवं
भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि पदं लङ्केति दिव्या पुरी।

सम्भूतिर्द्रुहिणान्वये च तदहो नेदृग्वरो लभ्यते
स्याच्चेदेष न रावणः क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः ॥[1]

—बालरामायण, १।३६

"(वर में जितने गुण होने चाहिएँ उन सभी का समावेश रावण में दिखाया गया है, तथापि एक ऐसे महान् दोष का उद्घाटन भी कर दिया गया है, जो सारे गुणों पर मिट्टी फेर देता है) रावण की आज्ञा इन्द्र की शिखा-मणि की सखी है, शास्त्र ही इसके नए नेत्र हैं, पिनाकी भगवान् शिव में इसकी अटूट भक्ति है, स्थान इसका दिव्य लंकापुरी है और ब्रह्मा के कुल में इसका जन्म है। भला किस वर में इतने गुण उपलब्ध हो सकते हैं ? हाँ, यदि यह रावण न होता (अर्थात् लोकों को सन्ताप पहुँचाने वाला न होता, तब तो यह सारे गुणों का समाहार ही हो जाता), किन्तु सारे के सारे गुण कहाँ मिलते हैं ?"

जनक के पुरोहित शतानन्द जनक से यह कह रहे हैं। कथन का ढंग कितना सारगर्भ और यथार्थता लिए हुए है। भला राजशेखर की प्रतिभा की उच्चता का इससे सुन्दर निदर्शन और क्या हो सकता है। इसे कुन्तक ने 'रूढिवैचित्र्य वक्रता' के उदाहरण में रखा है।

चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्तिकेयो विजेयः
शस्त्रव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः।
अस्त्येवैतत्किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां
बद्धस्पर्द्धः तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः ॥[2]

—बालरामा०, अ० २।

१. 'वक्रोक्तिजीवित' उन्मेष २ में रूढिवैचित्र्य वक्रता' के द्वितीय प्रकार का उदाहरण, उदा० सं० २६। 'काव्य प्रकाश' में उदाहरण-संख्या २७८।

२. यह गीति 'वक्रोक्तिजीवित' के प्रथम उन्मेष की १६वीं कारिका में 'प्रत्यय-वक्रता' के द्वितीय भेद 'कारकवैचित्र्य' के लिए उद्धृत किया गया है। देखिए पृष्ठ ८४ और फिर उसी के द्वितीय उन्मेष की २६वीं कारिका की उदाहरण संख्या १०० में 'बद्धस्पर्द्धः' को रखा है, देखिए, पृ० २७६।

—'काव्यप्रकाश' के सप्तम उल्लास में मम्मटभट्ट ने 'विजेयः' को 'विजितः' के अर्थ में प्रयुक्त देखकर 'पदैकदेशगत अवाचकत्वदोष' के उदाहरण में रखा है। देखिए, 'काव्यप्रकाश', उल्लास ७, उदा० २०१, पृ० १५६ (हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा प्रकाशित तथा श्री हरिमङ्गलमिश्र द्वारा अनूदित प्रति, प्रथम संस्करण)।

"(रावण परशुराम से कहता है कि हे परशुधर !) त्रिपुरासुर का वध करनेवाले भगवान् शिव आपके धनुर्विद्या-गुरु हैं, आपने कार्तिकेय को जीत लिया है, शस्त्र (परशु) से फेंके गए समुद्र से रिक्त भूमि आपका निवास-स्थान है और यह सम्पूर्ण पृथ्वी (महर्षि कश्यप को दान की गई) भिक्षा (हन्तकार) है। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है, किन्तु रेणुका (एक निरपराध स्त्री और वह भी अपनी माता) का कण्ठच्छेद करनेवाले (ऐसे जघन्य कर्म करनेवाले) आपके परशु के साथ स्पर्द्धा करते हुए मेरा चन्द्रहास खड्ग लज्जित हो रहा है।"

बात कितने कौशल से कही गई है, तलवार लज्जित होती है, परशु के जघन्य कर्म से। कहना तो यह है कि आपने एक ऐसा दुष्कर्म किया है, जो वीर पुरुष कदापि नहीं कर सकता, इसीलिए आपसे युद्ध करना मेरे गौरव के प्रतिकूल है। ध्वनिवादो की दृष्टि में अगूढ़ व्यंग्य की यहाँ प्रतीति है और वक्रोक्तिवादी इसे 'कारकवैचित्र्यकृत प्रत्ययवक्रता' कहेगा। इस गीति में नाटकीयता का पूरा-पूरा समावेश है, कथन का ढंग चमत्कृति से पूर्ण और अतीव आह्लादजनक है।

राजशेखर का वर्णविन्यास कितना श्रुतिमधुर, भावाभिव्यञ्जक और अधिकारपूर्ण होता है, इसे देखकर चित्त प्रसन्न हो उठता है। इससे कवि का महान् भाषाधिकार तो प्रकट होता ही है, उसकी प्रथम कोटि की प्रतिभा का भी प्रदर्शन हो जाता है। सीता-स्वयंवर के अवसर पर रावण अपनी सेना की टुकड़ी के साथ रानियों के सहित मिथिलापुरी में आया हुआ है। वहाँ आते ही वह अपने सेनापतियों को आदेश दे देता है कि यहाँ वन-प्रान्त में हमारी राजमहिषियाँ स्वेच्छापूर्वक आनन्दोपभोग करके अपने मार्ग-श्रम का परिहार करें, इनकी सुख-सुविधा में किसी प्रकार की त्रुटि न होने पाए—

ताम्बूलीनद्धमुग्ध - क्रमुकतरुतलस्रस्तरे सानुगाभिः
पायं पायं कलाचीकृतकदलदलं नारिकेलीफलाम्भः ।
सेव्यन्तां व्योमयात्राश्रमजलजयिनः सैन्यसीमन्तिनीभि-
र्दात्यूहव्यूहकेलीकलितकुहकुहारावकान्ता वनान्ताः ॥[1]

—बालरामा० अं० १।६३

१. आचार्य क्षेमेन्द्र ने इसे उत्तम स्रग्धरा वृत्त के लिए उद्धृत किया है। देखिए, 'सुवृत्ततिलक' विन्यास २।४०, ४१ के नीचे उद्धृत पृ० १४ (चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, काशी से प्रकाशित)।

"ताम्बूल की लताओं से घिरे, छरहरे सुपारी के तरुओं के नीचे बिस्तरों पर बैठकर केले के पत्तों के दोनों में नारियल के फलों का जल पी-पीकर हमारे सैन्य की सीमन्तिनियाँ अपनी अनुचरियों के साथ आकाश मार्ग से आने के पसीने को सुखा देने वाले और कौवों की केलि में उठते हुए काँव-काँव शब्दों से भरे हुए इन वन-प्रान्तों का सेवन भलीभाँति करें।

यहाँ देखिए, दो-दो वर्णों का व्यवधानहीन प्रयोग, पायं पायं, कदलदलं, दात्यूह-व्यूह, केली-कलित, कुहकुहाराव, और कान्ता-वनान्ताः शब्दों में। श्रुति-माधुर्य गीति का एक प्रमुख गुण है, जो इस गीति में पूर्ण मात्रा में विद्यमान है। 'सुवृत्ततिलक' में 'स्रस्तरे' के स्थान पर 'प्रस्तरे' पाठ है, जो अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है, वन-प्रान्त की दृष्टि से। रावण सीता को यज्ञ-भूमि में देखकर विमुग्ध भाव से कह रहा है—

इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जड़िता दृष्टिर्मृगीणामिव
प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमलता श्यामेव हेमप्रभा।
कार्कश्यं कलया च कोकिलवधूकण्ठेष्विव प्रस्तुतं
सीतायाः पुरतश्च हन्त शिखिनां बर्हाः सगर्हा इव॥[1]

बालरामा०, अं० १।४२

"इस सुन्दरी के समक्ष चन्द्रमा कालिख पुता-सा प्रतीत हो रहा है। मृगियों की दृष्टि जड़वत् हो गई है। विद्रुमलता की लाली मलिन पड़ गई है, सोने की कान्ति काली लग रही है, कोकिलाओं के कण्ठों में कर्कशता-सी आ गई है, और मोरों के पंख भद्दे-से प्रतीत हो रहे हैं"

इस श्रृंगारपूर्ण गीति में विपरीत लक्षणा का सौन्दर्य दर्शनीय है। आलंकारिक जन इसमें उत्प्रेक्षा की छटा, अप्रस्तुत-प्रशंसा की घटा और अनुप्रास की सटा देखकर चमत्कृत हुए बिना न रहेंगे। रीति यहाँ वैदर्भी उतर आई है और गुण प्रसाद। सीता, राम और लक्ष्मण के साथ वन में जा रही हैं, अभी थोड़ी ही दूर गई होंगी कि अब आगे चलना उनके लिए दूभर हो उठा। वे राम से

आचार्य कुन्तक ने इसे 'वर्णविन्यास-वक्रता' के लिए 'वक्रोक्तिजीवित' उन्मेष २, कारिका ३ में उद्धृत किया है, उदा० १०, पृ० १८० (आचार्य विश्वेश्वर द्वारा व्याख्यात)।

१. देखिए, वक्रोक्तिजीवित, उन्मेष ३, कारिका २१, उदा० ८४, पृ० ४१७।

व्याकुल होकर कहती हैं कि अब और कितनी दूर चलना है ? यह व्याकुलता भरी वाणी सुनकर राम की आँखों में आँसू आ जाते हैं। बड़ा ही मार्मिक चित्र महाकवि ने उरेहा है—

सद्यः पुरी परिसरेऽपि शिरीषमृद्वी
सीता जवात् त्रिचतुराणि पदानि गत्वा।
गन्तव्यमद्य कियदित्यसकृद्‍ब्रुवाणा
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम् ॥[1] —बालरामा०, अं० ५।३४

"शिरीष के पुष्प-सी कोमलाङ्गी सीता अभी नगरी के बाहर वेग से तीन-ही-चार पग गईं होंगी कि इतने ही में बार-बार पूछने लगीं कि आज कितनी दूर चलना है ? यह सुनकर राम की आँखों में पहली बार आँसू छल-छला आए (अब तक राम अपने जीवन में कभी रोए नहीं थे, आज सीता की व्यथा को देखकर वे अपने को सँभाल नहीं सके)।

सहृदय-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास राजशेखर की इस सूक्ति पर मुग्ध हो उठे और उन्होंने किञ्चित् संशोधन के साथ इसे ज्यों-की-त्यों लेकर अपनी वाणी में ढाल दिया—

पुर तें निकसीं रघुबीरबधू धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै।
पुनि बूझति हैं चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै ॥
—कवितावली, अयोध्याकाण्ड।

आचार्य कुन्तक ने राजशेखर की इस गीति की रमणीयता की प्रशंसा की है किन्तु उनकी थोड़ी-सी असावधानी के लिए उन्हें टोका भी है। उनका कहना है कि सीता जैसी साध्वी नारी के मुख से इस प्रकार की अधीरता भरी बात सुनने की सहृदय पाठक कल्पना तक नहीं कर सकते। यदि सीता एक ही बार ऐसी बात कह देतीं तो वह राम की आँखों में आँसू लाने के लिए काफी

---

१. 'वक्रोक्तिजीवित', उन्मेष १, कारिका ४ के अन्तर्गत तथा 'साहित्यदर्पण' परि० ३, का० १४६ के पूर्वार्द्ध—
"खेदो रत्यध्वगत्यादेः श्वासनिद्रादिकृच्छ्रमः।"
के 'खेद' के लिए उद्धृत।

था, फिर 'असकृत्' कहना चरित्र की महती दुर्बलता को प्रकट कर रहा है। अतः 'असकृत्' के स्थान पर 'अवशं' कहना विशेष समीचीन होता और एक महान् दोष का परिहार भी हो जाता।[१]

वीररस के लिए तो राजशेखर प्रख्यात हैं। वीररसात्मक गीतियों से उत्साह छलका पड़ता है, पदावलियाँ दीप्तिगुण से पूर्ण और अत्यन्त चमत्कार-जनक हैं—

क्षुद्राः संत्रासमेते विजहत हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः।
सौमित्रे तिष्ठ पात्रं त्वमसि नहि रुषां नन्वहं मेघनादः
किञ्चिद्भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि॥[२]

—बालरामा०

"(मेघनाद युद्ध-भूमि में सम्मुख उपस्थित वानरों और लक्ष्मण को सम्बोधित करता हुआ कहता है—) हे क्षुद्र वानरो! तुम सब अपने हृदय का भय दूर हटा दो। इन्द्र के ऐरावत गजराज के कुम्भ-स्थल को क्षुण्ण बना देने वाले मेरे ये बाण तुम लोगों के शरीर पर प्रहार करते लज्जित हो रहे हैं। लक्ष्मण! तुम रुको, तुम मेरे क्रोध के लक्ष्य नहीं हो। मैं मेघनाद हूँ और अपनी भौंहों की तनिक-सी मरोड़ से समुद्र को वशीभूत कर लेने वाले राम को ही खोज रहा हूँ।"

---

२. अत्र असकृत् प्रतिक्षणं कियदद्य गन्तव्यमित्यभिधानलक्षणः परिस्पन्दो न स्वभावमहत्तामुन्मीलयति न च रसपरिपोषाङ्गता प्रतिपद्यते। यस्मात्सीतायाः सहजेन केनाप्यौचित्येन गन्तुमध्यवसितायाः सौकुमार्यादेवंविधं वस्तु हृदये परिस्फुरदपि वचनमारोहतीति सहृदयैः सम्भावयितुं न पार्यते। न च प्रतिक्षणमभिधीयमानमपि राघवाश्रुप्रथमावतारस्य सम्यक् सङ्गतिं भजते सकृदाकर्णनादेव तस्योत्पत्तेः। एतच्चात्यन्तरमणीयमपि मनाङ्मात्रचलितावधानत्वेन कवेः कदर्थितम्। तस्मात् 'अवशम्' इत्यत्र पाठः कर्तव्यः।

—वक्रोक्तिजीवित, प्रथमोन्मेष, कारिका १०।

१. इस गीति को आचार्य मम्मट भट्ट ने वीर रस के उदाहरण में रखा है। देखिए, काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, उदा० ४०।

अन्तिम चरण उत्तम काव्य के चरम उत्कर्ष पर प्रतिष्ठित है, राम का विशेषण अत्यन्त चमत्कारजनक हैं।

'बालभारत' (प्रचण्ड पाण्डव) से

महाभारत को रूपकबद्ध करने का प्रयास राजशेखर का 'बालभारत' नामक नाटक है। जिस प्रकार रामायण को 'बालरामायण' के नाम से नाटक का रूप दिया गया है, उसी प्रकार यह भी महाकवि का प्रयास रहा है; किन्तु इस नाटक के केवल दो ही अङ्क अद्यावधि उपलब्ध हो सके हैं। नाटक का आरम्भ ही इसकी उत्कृष्टता का परिचायक है। आरम्भ में कवि ने भगवान् शिव की स्तुति की है और दर्शकों को शुभ आशीर्वचन कहा है—

शम्भोर्दक्षिणनासिकापुटभुवः श्वासानिलाः पान्तु वः।[२]

—बालभा०, नान्दी, २

राजशेखर को अपनी सरस्वती पर महान् गर्व था और वह गर्व निस्सार नहीं, यथार्थ था। इसीलिए वे सूत्रधार द्वारा कहलाते हैं—

अहो मस्टणोद्धता सरस्वती यायावरस्यं। यदाह,
ब्रह्मभ्यः शिवमस्तु वस्तुविततं किञ्चिद्वयं ब्रूमहे
हे सन्तः शृणुतावधत्त च धृतो युष्मासु सेवाञ्जलिः।
यद्वा किं विनयोक्तिभिर्मम गिरां यद्यस्ति सूक्तामृतं
माद्यन्ति स्वयमेव तत्सुमनसो याच्ञा परं दैन्यभूः॥

—प्रस्तावना ५,

राजशेखर ने यथास्थान हास्य रसपरक गीतियों का बड़ी सहृदयता से निर्माण किया है। शराबी व्यक्ति जब बोलने लगता है तब उसकी जिह्वा लड़खड़ाने लगती है, उच्चारण स्पष्ट नहीं हो पाता। बलभद्र अपने समय के प्रख्यात मद्यप थे और रेवती में उनकी प्रगाढ़ प्रीति थी। द्रौपदी-स्वयंवर के समय वन्दी उनका परिचय उन्हीं की स्खलित वाणी में देता हुआ कहता है—

---

२. ये सीमन्तितगात्रभस्मरजसो ये कुम्भकद्वेषिणो
ये लीढाः श्रवणाश्रयेण फणिना ये चन्द्रशैत्यद्रुहः।
ये कुप्यद्गिरिजाविभक्तवपुषश्चित्तव्यथासाक्षिणः
शम्भोर्दक्षिणनासिकापुटभुवः श्वासानिलाः पान्तु वः॥—नान्दी, २

किं किं किं चु चु चुम्बनैर्म म मुधा वक्त्राम्बुजस्याग्रतो
दे दे देहि पि पि प्रिये सु सु सुरां पात्रे त्रि रे रेवति।
मा मा मा वि विलम्बनं कु कु कुरु प्रेम्णा हली याचते
यस्येत्थं मदघूर्णितस्य तरसा वाचः स्खलन्त्याकुलाः॥
—बालभा०, अं० १।५२

'तुम्हारे मुख-कमल के सामने चुम्बन की क्या आवश्यकता (बस देखते ही रहने को जी चाहता है), हे रेवती! चषक में मदिरा भर कर दो। यह हली तुम्हारे सम्मुख प्रेमपूर्वक याचना कर रहा है।' मद से घूर्णित जिसकी वाणी इस प्रकार लड़खड़ाती है (ये वे ही बलभद्र हैं)।

कितना सफल चित्र बलराम का कवि ने उतारा है। कवि की अनुकृति कितनी सुन्दर और हृदयावर्जक है, साथ ही भाषा पर कवि के अधिकार की बात अधिक कहनी ही व्यर्थ है। आगे जब अर्जुन धनुष को उठा लेता है, तब पृथ्वी की रक्षा के लिए भीम पृथ्वी को सँभालते हैं और नकुल कहते हैं—

धत्से जर्जरतां न मेदिनि! मुधा मा शेष! शङ्कां कृथा-
स्तुभ्यं कूर्मपते! नमस्त्यज भयं दिक्कुंजराः! स्वस्ति वः।
यज्जिष्णुर्भुजयोर्बलेन नयति ज्यां हेलयैवाटनीं।
धत्ते पाणितलं तलेऽस्य धनुषो वामं हिडिम्बापतिः॥
—वही, अं० २, पृ० ७७

"हे पृथ्वी! तुम खण्ड-खण्ड न हो जाना, हे शेषनाग तुम व्यर्थ शङ्कित न होना, हे कूर्मराज! तुम्हें नमस्कार करता हूँ, तुम भय छोड़ दो। हे दिग्गजो! तुम लोगों का मङ्गल हो। यह अर्जुन अपने भुज-बल से सरलतापूर्वक जिस धनुष की डोरी को चढ़ा रहे हैं, इस धनुष के नीचे महावीर भीमसेन अपनी बाईं हथेली का सहारा दिए हुए हैं।"

धनुष की प्रत्यञ्चा चढ़ाने का कितना आतंककारी प्रभाव कवि की गीति द्वारा निर्मित हो उठा है, द्रष्टव्य है। इस चित्रण द्वारा उस यज्ञ-धनुष की प्रचंडता का भलीभाँति परिचय भी स्वतः व्यक्त हो रहा है। यह अंश गोस्वामी तुलसीदास को इतना भा गया कि उन्होंने इसे ज्यों-का-त्यों राम-चरित-मानस के धनुर्भङ्ग-प्रसङ्ग में उतार लिया।[1]

---

१. कुमार लक्ष्मण कहते हैं—
दिसि कुञ्जरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला।
रामु चहहिं संकर धनु तोरा। होहु सजग सुनि आयसु मोरा॥
—रामचरितमानस, बालकांड, दो० सं० २६०।

'कर्णसुन्दरी' की गीतियाँ

महाकवि विह्लण गीतिकारों में अग्रणी हैं, इनकी 'चौरपञ्चाशिका' का उल्लेख पहले हो चुका है। काश्मीर के कवियों में इनका प्रमुख स्थान है। कम ही महाकवियों के काव्यों में इनकी जैसी प्रौढ़ता मिलती है और कम ही मिल पाती हैं इनकी जैसी सूक्तियाँ। इन्होंने उत्तर भारत से दक्षिण भारत तक के सारे प्रसिद्ध स्थानों का पर्यटन किया था और बहुविध प्रकृति का खुली आँखों और मुक्त हृदय से दर्शन किया था। इनकी 'कर्णसुन्दरी' नाटिका अत्यन्त प्रौढ़ कृति है और गीतियों की दृष्टि से इसका महत्त्व सर्वमान्य है। इसमें महाराज कर्णदेव नायक हैं और वृत्त प्रायः सब का सब कविकल्पित ही है। इसकी रचना सन् १०८५ ई० के आसपास हुई। अन्त में भीमदेव के पुत्र कर्णदेव वा कर्णराज का कर्णाटक के राजा जयकेशी की कन्या के साथ विवाह सम्पन्न हुआ है। राजशेखर की 'विद्धशालभञ्जिका' से इसकी कथावस्तु मिलती-जुलती है। इसमें चार अङ्क और १४७ संस्कृत-गीतियाँ हैं। इसमें शृङ्गारपरक गीतियाँ अत्यन्त मनोहारिणी और रस-पेशल हैं। कपिपय गीतियाँ देखिए—

रक्ताशोकद्रुमाणां लसति किसलयश्रेणिरार्द्रापराध-
प्रेयः शौण्डीर्यपीतद्रविडवरवधू-चारुबिम्बाधरश्रीः।
उन्मेषश्चम्पकानामजरठमरठीगण्डपाली विलासः
कर्णाटीहास्यलेशान्विचकिलमुकुलस्फूर्तयो वार्तयन्ति ॥

—अं० १।४२।

रक्ताशोक रमणी के अरुणाधर की कान्ति धारण कर रहा है, चम्पकपुष्प कपोल-प्रान्त की कान्ति का स्पर्द्धी हो रहा है। कवि के अनुसार द्रविड़ सुन्दरी के अधर, मराठी युवती के कपोल और कर्णाटी का हास्य हृदयहारी होता है। अन्यत्र भी वसन्त-श्री का वर्णन करते हुए कवि उसका उन्मादक प्रभाव दिखाता हुआ कहता है—

लीलोद्याने चलकिसलयाः शाखिनः खेललोला-
श्लिष्यद्भृङ्गावलिवलयिता भान्ति यावन्त एते।
कोपावेशाद्वलयितधनुर्बद्धगोधाङ्गुलित्र-
तावद्भ्योऽपि त्रिभुवनजयी धावतीवासमास्त्रः ॥

—वही, अं० १।५१।

"विलास-उपवन में क्रीडारत चञ्चल भौंरों से भूषित चल किसलयों वाले ये वृक्ष जितने ही शोभित हो रहे हैं, उतना ही कोप से भरकर गोह के चमड़े का अङ्गुलित्र धारण करके विश्वविजयी कामदेव विश्व-प्राङ्गण में पैंतरे बदल रहा है।"

विरहिणी नायिका अपने प्रियतम के पास पत्र लिखकर विरह-निवेदन प्रस्तुत करती है। सुखदायिनी वस्तुएँ दुखदायिनी हो गई हैं, भयकारी भावनाएँ हृदय में उद्दीप्त होने लगी हैं। राजा उस पत्र को पढ़ता है—

धूर्तोऽयं सखि बध्यतामिति विधुं रश्मिव्रजैः कर्षति
ज्योत्स्नाम्भः परतः प्रयात्विति रिपुं राहुं मुहुर्याचते।
अप्याकाङ्क्षति सेवितुं सुवदना देवं पुरेद्विषिणं
भूयो निग्रहवाञ्छया भगवतः शृङ्गारचूडामणेः॥

—वही०, अं० ३।१६।

"हे सखि ! यह चन्द्रमा धूर्त है, इसे बाँध लो। यह अपनी किरण रूपी रस्सियों से खींचता है। इसकी चाँदनी मेरी ओर न आने पाए। यह अपने शत्रु राहु की बारम्बार याचना कर रहा है। यह चाहता है कि भगवान् शिव पुनः किसी सुन्दरी को अपनाएँ, इसीलिए उन्हें भी बाँध लेना चाहता है।"

'उदात्तराघव' की गीतियाँ

'उदात्तराघव' नाटक का उल्लेख आचार्य धनञ्जय (दशम शतक) के 'दशरूपक'[1] और आचार्य कुन्तक के 'वक्रोक्तिजीवित'[2] में अनेक स्थलों पर हुआ है। किन्तु आज यह नाटक उपलब्ध नहीं है। सहृदयधुरीण आचार्य कुन्तक ने इसकी प्रशंसा की है और 'प्रकरणवक्रता' के निदर्शनार्थ उसका इस प्रकार उल्लेख किया है—

---

१. देखिए, दशरूपक, प्रकाश २, आरभटी वृत्ति के अन्तर्गत 'वस्तूत्थापन' का उदाहरण, प्रकाश ३ की तृतीय कारिका के अन्तर्गत 'वस्तुसूचक' उदाहरण, चतुर्थ प्रकाश में 'जड़ता' नामक सञ्चारी भाव का उदाहरण तथा 'आवेग' का उदाहरण।

२. 'वक्रोक्तिजीवित' में उन्मेष १ कारिका २१ की वृत्ति में 'प्रकरणवक्रता' के लिए उद्धृत तथा उन्मेष ४ की २५वीं कारिका की वृत्ति में उल्लिखित।

तत्रप्रकरणे वक्रभावो यथा रामायणे मारीचमायामयमाणिक्यमृगानुसारिणो रामस्य करुणाक्रन्दाकर्णनकातरान्तःकरणया जनकराजपुत्र्या तत्प्राणपरित्राणाय स्वजीवितपरिरक्षानिरपेक्षया लक्ष्मणो निर्भर्त्स्य प्रेषितः। तदेतदत्यन्तमनौचित्यमुक्तम्। यस्मादनुचरसन्निधाने प्रधानस्य तथाविधव्यापारकरणमसम्भावनीयम्। तस्य च सर्वातिशयचरितयुक्तत्वेन वर्ण्यमानस्य तेन कनीयसा प्राणपरित्राणसम्भावनेत्येतदत्यन्तमसमीचीनमिति पर्यालोच्य 'उदत्ताराघवे' कविना वैदग्ध्यवशेन मारीचमृगमारणाय प्रयातस्य परित्राणार्थं लक्ष्मणस्य सीतया कातरत्वेन रामः प्रेरित इत्युपनिबद्धम्।

अत्र च तद्विदाह्लादकारित्वमेव वक्रत्वम्।

—वक्रोक्तिजीवित, उन्मेष १, कारिका २१ की वृत्ति

अर्थात् उनमें से प्रकरणगत वक्रभाव का उदाहरण रामायण में मायामय माणिक्य मृग के पीछे-पीछे दौड़नेवाले राम के करुणार्द्र क्रन्दन को सुनकर कातर हृदय से जानकी ने अपने जीवन की चिन्ता छोड़कर राम की प्राण-रक्षा के लिए लक्ष्मण को कटुवाक्य कहकर भेजा। यह वर्णन (रामायण में) अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि सेवक की उपस्थिति में प्रधान का वैसा (सेवक का) काम करना असम्भव है (अर्थात् जब लक्ष्मण वहाँ थे ही तब राम का मारीच को मारने के लिए जीना अनुचित था)। राम को सबसे उत्तम चरित्र होने के कारण, उनसे छोटे लक्ष्मण द्वारा उनके प्राणों की रक्षा की सम्भावना अत्यन्त अनुचित है, यही विचार कर 'उदात्त राघव' में कवि ने विदग्धतावश मृग मारने के लिए लक्ष्मण को भेजा है और उनकी रक्षा के लिए सीता द्वारा अत्यन्त कातर वाणी में राम भेजे गए हैं।

यहाँ सहृदयों का आह्लादकारित्व गुण ही वक्रता है।

इससे स्पष्ट है कि 'उदात्तराघव' उच्च कोटि का आदर्श नाटक था और उसका कर्ता नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से मण्डित था। इसकी जो गीतियाँ इतस्ततः उद्धृत मिलती हैं, उनमें उत्तम काव्य के गुण पूरी-पूरी मात्रा में पाए जाते हैं। उनमें से कुछ का रसास्वादन करें—

जीयन्ते जयिनोऽपि सान्द्रतिमिरव्रातैर्वियद्व्यापिभि-
र्भास्वन्तः सकला रवेरपिरुचः कस्मादकस्मादमी।

एताश्चोग्रकबन्धरन्ध्ररुधिरैराध्मायमानोदरा
मुञ्चन्त्याननकन्दरानलमुचस्तीव्रारवाः फेरवः ॥[1]
—उदात्तराघव

"न जाने क्यों घने अन्धकार-समूह ने अकस्मात् विजयशील दीप्तिमय सूर्य के प्रकाश पर भी विजय प्राप्त कर ली है और भयङ्कर कबन्धों के छिद्रों से रक्त-पान करके पेट फुलाए जोरों से शब्द करते हुए स्यार अपने मुख-गह्वरों से अग्नि की लपटें फेंक रहे हैं।"

भयानक रस का कितना प्रभावपूर्ण वर्णन है! कवि की प्रतिभा का यह ज्वलन्त प्रमाण है और अवश्य ही इसका कर्ता कोई महाकवि था।

निम्नलिखित गीति में कवि ने राम-वनवास से लेकर रावण के निधन तक की कथा की पूरी-पूरी सूचना दे दी है, जो उसकी भाषा की समाहार-शक्ति को द्योतित करती है—

रामो मूर्ध्नि निधाय काननमगान्मालामिवाज्ञां गुरोः
तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिलं मात्रा सहैवोज्झितम्।
तौ सुग्रीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परां सम्पदं
प्रोद्वृत्ता दशकन्धरप्रभृतयो ध्वस्ताः समस्ता द्विषः ॥[2]
—उदात्तराघव

"राम अपने पिता की आज्ञा को माला के समान सिर पर धारण करके वन को चले गए। उनकी भक्ति से भरत ने अपनी माता के साथ ही सम्पूर्ण

१. 'दशरूपक', प्रकाश २, का० ५६ के पूर्वार्द्धस्थ 'वस्तूत्थापन' के लिए उद्धृत गीति। 'साहित्यदर्पण' के षष्ठ परिच्छेद में 'आरभटी वृत्ति' का उदाहरण।

२. यह गीति 'दशारूपक' के तृतीय प्रकाश की तृतीय कारिका में 'वस्तु-सूचना' के निमित्त उद्धृत की गई है। यह ध्यान में रखने की बात है कि महान् आचार्य साधारण कृतियों से उद्धरण के लिए कविता का चयन नहीं करते। आचार्य धनञ्जय और धनिक विद्या से मण्डित प्रकाण्ड विद्वान् थे और उनकी दृष्टि साधारण कवि पर नहीं टिक सकती थी।

—कविराज विश्वनाथ ने इसे 'साहित्यदर्पण' के षष्ठ परिच्छेद की २७ वीं कारिका में 'वस्तु' के लिए उद्धृत किया है।

राज्य का परित्याग कर दिया। राम के दोनों सेवक सुग्रीव और विभीषण विपुल सम्पत्ति के अधिकारी बना दिये गए और उद्धत्त चरित्रवाले रावण आदि समस्त शत्रु नष्ट हो गए।"

गीति की प्रथम पंक्ति में राम की आदर्श पितृ-भक्ति, द्वितीय पंक्ति में भरत की लोकोत्तर भ्रातृ-भक्ति, तृतीय चरण में आदर्श सेवा का उत्तम परिणाम और चतुर्थ में अमर्यादित चरित्रवालों का पतन दिखाया गया है। इस प्रकार एक महान् सन्देश कवि ने लोक को सुनाया है। साथ ही प्रथम पंक्ति में 'उपमा' और द्वितीय पंक्ति में 'सहोक्ति' की कितनी रमणीय योजना हुई है, इसका सहृदय जन ही अनुभव कर सकते हैं। एक लोक-ख्यात इतिवृत्त को कवि ने मनोरम काव्य के साँचे में ढाल दिया है। साधारण को असाधारण रूप दे देना ही महती प्रतिभा का कार्य है। असाधारण का चित्रण तो साधारण कविजन भी कर सकते हैं।

'अभिजातजानकी' की गीतियाँ

'उदात्तराघव' के ही समान 'अभिजातजानकी' एक अद्यावधि अनुपलब्ध रूपक है, जिसकी गीतियाँ कतिपय अलंकार-ग्रन्थों में इतस्ततः उपलब्ध होती हैं। 'अभिजातजानकी' का उल्लेख आचार्य कुन्तक ने प्रकरण-वक्रता के प्रसङ्ग में किया है।[1] वहाँ सेनापति नील ने वानरों को सम्बोधित करते हुए कहा है—

शैलाः सन्ति सहस्रशः प्रतिदिशं वल्मीककल्पा इमे
दोर्दण्डाश्च कठोरविक्रमरसक्रीडा समुत्कंठिताः।
कर्णास्वादितकुम्भसंभवकथाः किन्नाम कल्लोलिनः
प्रायो गोष्पदपूरणेऽपि कपयः कौतूहलं नास्ति वः ॥[2]

—अभिजात०: सेतुबन्ध, अं० ३

"चारों दिशाओं में बाँबी के समान सहस्रों पर्वत हैं और तुम वानरों के भुजदण्ड भी कठोर विक्रम (का कार्य करने) के आनन्दपूर्ण खेल के लिए अत्यन्त उत्कंठित हैं। तुम लोगों ने अगस्त्य की कथा का रसास्वादन अपने

---

१. तद्यथा सेतुबन्धाख्ये 'अभिजातजानकी'—तृतीयेऽङ्के तत्र नीलस्य सेनापतेर्वचनम्। —वक्रोक्तिजीवित, उन्मेष ४

२. वक्रोक्तिजीवित, उन्मेष ४, कारिका १-२ के लिए उद्धृत।

कानों से किया है, फिर भी गाय के खुर के समान इस क्षुद्र समुद्र को पाटने में तुम जैसे खिलाड़ियों में कुतूहल क्यों नहीं जाग्रत हो रहा है ?"

आन्दोल्यन्ते कति न गिरयः कन्दुकानन्दमुद्रां
व्यातन्वानाः करपरिसरे कौतुकोत्कर्षहर्षे ।
लोपामुद्रापरिवृढकथाऽभिज्ञताऽप्यस्ति किन्तु
व्रीडावेशः पवनतनयोच्छिष्टसंस्पर्शनेन ॥[1]

—अभिजात० : सेतुबन्ध, अं० २

"(नील के प्रश्न का उत्तर देते हुए वानरों ने कहा) न जाने कितने पर्वत हम आनन्द में भरकर हथेली में गेंद की भाँति लेकर खिलवाड़-खिलवाड़ में उछालते रहते हैं और हम लोपामुद्रा के पति अगस्त्य की कथा से पूर्णतया परिचित भी हैं, किन्तु एक ही वस्तु है जो हमें आज ऐसा करने से रोक रही है और वह है हनुमान् के जूठन को छूने का लज्जा।"

महाकवि किस प्रकार किसी साधारण बात को कथन का ढंग बदलकर असाधारण बना देते हैं, इसका यह कथन प्रत्यक्ष उदाहरण है। प्रश्नोत्तर के रूप में महाकवि ने कथोपकथन में एक नूतन चमत्कार ला दिया है। आचार्य कुन्तक ने 'प्रकरण-वक्रता' के निदर्शनार्थ इन दोनों गीतियों को उद्धृत किया है। दुःख होता है यह सोचकर कि हम कितनी महती रूपक-कृति से वञ्चित हो गए। थोड़े से अंश को देखकर पूरी कृति को देखने की उद्दाम कामना सिन्धु-तरङ्ग-सी उठकर पर्वत से टकराकर गिर पड़ती है।

'महानाटक' की गीतियाँ

'हनुमन्नाटक' को उसकी महती आकृति के कारण 'महानाटक' भी कहते हैं। दो लेखकों ने इस नाम से रचनाएँ की हैं, एक मधुसूदन मिश्र ने और दूसरे दामोदर मिश्र ने। मधुसूदन के नाटक में १० अंक हैं और दामोदर के नाटक में १४ अंक। इनमें कहीं-कहीं प्राचीन कवियों की गीतियाँ भी ले ली गई हैं। गीतियों की दृष्टि से यह रचना उच्च कोटि की है। दामोदर मिश्र का नाटक विशेष ख्यात है। इसकी एक गीति 'ध्वन्यालोक' में भी मिलती

१. वही।

है ।[१] आनन्दवर्धन का समय नवीं शती (८५० ई०) है, अतः महानाटक इसके पूर्व की रचना होगी । इसकी कतिपय गीतियाँ यहाँ दी जा रही हैं—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वातासीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥

—महानाटक, अं० ५।७।

"स्निग्ध, श्यामल कान्ति से आकाश को आच्छादित करने वाले और उड़ती वक-पंक्ति से शोभित बादल चाहे कितने ही आएँ, जल-विन्दुओं से सिक्त शीतल समीर चाहे कितना ही चले, बादलों के मित्र मोरों को केकाध्वनि मनमानी उठती रहे, मैं कठोर हृदय 'राम' हूँ, सब कुछ सहन कर लूँगा । किन्तु विदेह-तनया की क्या दशा होगी ! महाशोक !! हा देवि ! तुम धीरज न खोना ।"

यहाँ 'राम' शब्द कितना साभिप्राय है, जिसके भीतर राम के जीवन की विगत सारी कठिनाइयाँ झाँकती दिखाई पड़ती हैं । इसी को ध्वनिकार ने 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि' कहा है । आचार्य कुन्तक ने इसे 'रूढ़िवैचित्र्य-वक्रता' के लिए उद्धृत किया है ।[२]

बाह्वोर्बलं न विदितं न च कार्मुकस्य
त्रैयम्बकस्य तनिमा तत एष दोषः ।
तच्चापलं परशुराम मम क्षमस्व
डिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरूणाम् ॥[३]

—महानाटक

"(राम धनुर्भङ्ग के कारण क्रुद्ध परशुराम के समक्ष अपनी निरपराधिता दिखाते हुए उनके क्रोध-शमन के लिए कहते हैं—) न तो मुझे बाहु-बल का पता था और न मैं यही जानता था कि भगवान् शिव का पिनाक इतना

---

१. ध्वन्यालोक, उद्योत २, कारिका १, 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि' का उदाहरण देखिए ।

२. 'वक्रोक्ति', उन्मेष २, कारिका ९, उदा० २७ ।

३. दशरूपक, प्रकाश २, वाग्मी नायक के लिए उद्धृत, कारिका १ ।

कृश है। इसी कारण (अज्ञान में) मुझ से ऐसा अपराध हो गया। अतः, हे परशुराम! मेरी चपलता को आप क्षमा करें। आप तो जानते ही हैं कि बच्चों की दुश्चेष्टाएँ गुरु-जनों में हर्ष उत्पन्न करती हैं (क्रोध नहीं)।'[1]

याञ्चां दैन्यपरिग्रहप्रणयिनीं नेक्ष्वाकवः शिक्षिताः
सेवा-संवलितः कदा रघुकुले मौलौ निबद्धोऽञ्जलिः।
सर्वं तद्विहितं तथाप्युदधिना नैवापरोधः कृतः
पाणिः सम्प्रति मे हठात् किमपरं स्प्रष्टुं धनुर्धावति ॥[2]

—महानाटक, अं० ४।७८

"(राम ने सिन्धु-तट पर बैठकर तीन दिनों तक समुद्र से राह देने की विनम्र प्रार्थना की, किन्तु कोई फल नहीं निकला। समुद्र की दुर्विनीतता देख उन्हें क्रोध हो आया और अपने धनुष की ओर हाथ बढ़ाते हुए उन्होंने कहा—) इक्ष्वाकुवंशीय वीरों को दीनता और दान की प्रणयिनी याचना का पाठ कभी पढ़ाया नहीं गया (इक्ष्वाकुवंशवाले दीनतापूर्वक दान कभी नहीं माँगते), रघुकुल में किसी की सेवा के लिए हाथ कब जोड़े गए? किन्तु जिस त्याज्य कर्म को हमारे वंश में किसी ने कभी भी नहीं अपनाया, उसे भी मैंने समुद्र के सामने निःसंकोच अपनाया, तिस पर भी इसने मुझे राह नहीं दी। अब तो मेरा हाथ हठात् धनुष की ओर बढ़ रहा है।"

राम ने अपने क्रोध को कितने उत्तम ढंग से व्यक्त किया है। चतुर्थ चरण की ध्वनि अत्यन्त हृदय-हारिणी है। 'हाथ अपने आप धनुष उठाने को मचल पड़ा है' कितना सुन्दर ध्वनिकाव्य है। गीतियों की ये विशेषताएँ ही इस नाटक के प्राण हैं। आचार्य कुन्तक को इसकी कारक-वक्रता ने मुग्ध कर लिया था। इस नाटक का समादर काव्य-प्रेमियों तथा राम-भक्तों में सर्वाधिक है। एक प्राचीन जनश्रुति के अनुसार यह नाटक स्वयं हनूमान् द्वारा लिखा गया था, किन्तु महर्षि वाल्मीकि की प्रार्थना पर उन्होंने इसे

---

१. मिलाइए,
जौ लरिका कछु अचगरि करहीं। गुरु पितु मातु मोद मन भरहीं ॥
—रामचरितमानस, बालकाण्ड (राम की उक्ति परशुराम के प्रति)

२. वक्रोक्तिजीवित, उन्मेष २, कारिका २७,२८, उदा० ६७
तथा
'सरस्वतीकण्ठाभरण' में पृ० ५२ पर उद्धृत।

समुद्रसात् कर दिया था। पत्थर पर उत्कीर्ण इस काव्य को महाराज भोजदेव ने समुद्र से निकलवाया, किन्तु पूरा काव्य मिल नहीं सका। उसका अधूरा अंश ही हाथ लगा। गीतियों की उत्तमता के ही कारण काव्य-रसिकों में इसका विशेष आदर है। कविकुल-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास ने इसकी अनेक सूक्तियों को अपनी 'भाषा' में बदल लिया है।

'चण्डकौशिक' की गीतियाँ

आचार्य क्षेमीश्वर का 'चण्डकौशिक' संस्कृत नाटकों में अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थान रखता है। इसके अतिरिक्त इनका लिखा 'नैषधानन्द' एक दूसरा नाटक है, किन्तु इसका उतना आदर नहीं हो सका। 'चण्डकौशिक' में हरिश्चन्द्र के सत्यव्रत का कठिन परिस्थितियों में निर्वाह दिखाया गया है और विश्वामित्र का उग्र चरित्र चित्रित किया गया है। इसमें कुल पाँच अङ्क हैं। इनका समय दशम शतक का आरम्भ है। इनका दूसरा नाटक 'नैषधानन्द' है, जो महाभारत की नल-दमयन्ती की कथा पर आश्रित है। दो-एक गीतियाँ देखें। यद्यपि गीति काव्य की दृष्टि से इसकी रचनाएँ मध्यम श्रेणी की ही हैं, तथापि शृंखला-क्रम में इसका भी स्थान है—

श्रूयन्ते ये हरिचन्द्रे, जगदाह्लादिनो गुणाः।
दृश्यन्ते ते हरिश्चन्द्रे, चन्द्रवत्प्रियदर्शने॥

—च० कौ०, १

अशनं वसनं वासो, येषाञ्चैवाविधानतः।
मगधेन समा काशी, गङ्गाऽप्यङ्गारवाहिनी॥

—च० कौ०, ३।

अर्थात् जिसके न भोजन की सुव्यवस्था है, न वस्त्र की और न ही निवास-स्थान की, उसके लिए काशी भी मगध के तुल्य और गङ्गा भी अग्नि-धारा ही हैं।

'प्रसन्नराघव' की गीतियाँ

इस बीच अनेक नाटक सृष्ट हुए किन्तु कालक्रमानुसार जयदेव का 'प्रसन्नराघव' विशेष सफल एवं उच्च कोटि का हुआ। अनेक लेखकों ने

भ्रान्तिवश गीतगोविन्दकार को ही प्रसन्नराघवकार मान लिया है।[१] किन्तु दोनों के कर्त्ता समान अभिधान रखने वाले दो भिन्न व्यक्ति हैं। गोविन्दकार का उल्लेख पहले हो चुका है, राघवकार मिथिलावासी थे और इन्होंने ही न्यायशास्त्र में आलोक नाम्नी टीका भी लिखी है। ये तर्कशास्त्र के प्रकाण्ड पंडित थे, राघव की प्रस्तावना में इन्होंने लिखा है और बड़े गर्व के साथ लिखा है—

येषां कोमलकाव्यकौशलकला-लीलावती भारती
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते।
यैः कान्ताकुचमण्डले कररुहाः सानन्दमारोपिता-
स्तैः किं मत्तकरीन्द्रकुम्भशिखरे नारोपणीयाः शराः॥

—प्रसन्नराघव, प्रस्तावना

"जिनकी वाणी कोमल काव्यकौशल-कला में विहार करती है, भला उनका तर्कशास्त्र की कर्कश शब्दावली के प्रयोग से बिगड़ता ही क्या है? (काव्यप्रणेता निस्सन्देह तार्किक भी हो सकता है), जिन हाथों ने रमणी के कुचमण्डल पर अँगुलियाँ आनन्दपूर्वक रखीं, क्या उन हाथों द्वारा मतवाले गजराज के कुम्भ-शिखर पर बाण नहीं चलाए जाने चाहिएँ (वीर पुरुष शृङ्गार और वीर दोनों को ही समान आदर दिया करते हैं)।"

इनके प्रसन्नराघव की एक सूक्ति कविराज विश्वनाथ ने (चौदहवीं शती) अपने साहित्यदर्पण में उद्धृत की है,[२] अतः इनका उनसे पूर्ववर्ती होना सिद्ध है। अतः ये त्रयोदश शतक में हुए होंगे, ऐसा अनुमित होता है। इस नाटक में सीता-स्वयंवर से लेकर लङ्का से राम के अयोध्या लौट आने तक का रामचरित बड़ी कुशलता के साथ अङ्कित किया गया है। रामचरित पर अनेक पूर्ववर्ती उत्तमोत्तम नाटकों के होते हुए भी इस महाकवि ने अपनी

---

१. देखिए 'विश्वसाहित्य की रूपरेखा' : संस्कृतसाहित्य, पृ० ४६३, लेखक श्री भगवतशरण उपाध्याय।

२. साहित्यदर्पण, परिच्छेद ४, कारिका ३ में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि के लिए उद्धृत—

कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः॥

—प्रसन्नराघव

नाटक-रचना में अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का पूरा-पूरा परिचय दिया है। इसमें कुल सात अंक है, जिनमें आरम्भ के चार अंकों में केवल बालकांड की ही कथा ग्रथित की गई है; शेष में पूरा वृत्त दिया गया है। काव्य की दृष्टि से यह नाटक अत्यन्त उच्च कोटि का है, इसकी प्रासादिकता ने काव्य में विशेष लालित्य ला दिया है। कतिपय गीतियाँ देखें—

अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः
परभणितिषु तोषं यान्ति सन्तः कियन्तः।
निजघनमकरन्दस्यन्दपूर्णालवालः
कलश-सलिल-सेकं नेहते किं रसालः॥

—प्रसन्नराघव, प्रस्ता०

"अपने काव्य का रसास्वादन करके मुदित होने वाले तो सभी कवि हैं किन्तु दूसरों के काव्य-रस का पान करके तुष्ट होने वाले सज्जन कितने हैं? (बहुत थोड़े सत्कवि दूसरे कवियों की काव्य-माधुरी के प्रशंसक होते हैं।) जिस आम के पेड़ का थाला अपने ही झरे हुए घनीभूत मकरन्द से भरा हुआ है, वह आम का वृक्ष क्या घड़े के जल से सिक्त होने की कामना नहीं करता? (अवश्य ही करता है)।"[1]

कितने पते की बात महाकवि जयदेव ने कह दी है। सच्चा कवि अन्य सत्कवियों का प्रशंसक अवश्य होता है। अर्थान्तरन्यास ने आकर सोने में सुगन्ध डाल दी है। महान् कवि की प्रतिभा उसकी बातों की चुटीली शैली प्रकट करती है, जिसे आचार्य कुन्तक ने 'वैदग्ध्यभङ्गीभणिति' कहा है।

हनूमान् सीता को खोजते हुए लङ्का गए और अशोक वन में उनसे मिलकर राम का सन्देश कितने मार्मिक ढंग से कहते हैं—

कस्याख्याय व्यतिकरमिमं मुक्तदुःखो भवेयं
को जानीते निभृतमुभयोरावयोः स्नेहसारम्।

---

१. गोस्वामी तुलसीदास महाकवि जयदेव की बात का समर्थन करते हुए उसे अपने शब्दों में दुहरा देते हैं—

निज कबित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका॥
जे पर-भनिति सुनत हरषाहीं। ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं॥

—रामचरितमानस, बालकाण्ड।

जानात्येवं शशधरमुखि प्रेमतत्त्वं मनो मे
त्वामेवैतच्चिरमनुगतं तत्प्रिये किं करोमि ॥[२] —प्रसन्न०

"(राम ने कहा है.) अपनी मनोवेदना किससे कहकर मैं अपना दुःख दूर करूँ, और कौन भला हम दोनों के ऐकान्तिक प्रेम-तत्व को जानता ही है ? हाँ, मेरा मन अवश्य ही उस प्रेम-तत्व को जानता है, किन्तु वह तो तुम्हारे साथ ही चला गया है। हे प्रिये! हे चन्द्रमुखी ! अब बताओ मैं क्या करूँ ? (मन भी अपने पास नहीं, जिसे समझाऊँ, अपना दुःख सुनाऊँ और प्रेम-तत्त्व सबसे कहने की बात नहीं। यही तो विवशता है)।

'पार्वतीपरिणय' की गीतियाँ

'पार्वतीपरिणय' नाटक के रचयिता महाकवि वामनभट्ट बाण हैं। ये दाक्षिणात्य थे और इनका समय १४२० के आसपास है। कविसार्वभौम, साहित्यचूड़ामणि आदि इनकी उपाधियाँ थीं। ये अपने समय के बहुत बड़े पण्डित थे। प्रस्तुत नाटक में उमा-शिव के विवाह का वृत्त लिया गया है। इसमें कुल पाँच अङ्क हैं। कुछ लोग भ्रमवश इसे महाकवि बाणभट्ट की रचना समझ बैठते हैं। एकाध मनोहारिणी गीतियाँ दी जाती हैं—

आधूय प्रणयं विवस्वति गते देशान्तरे पद्मिनी
सोढुं तस्य वियोगमक्षमतया म्लायत्सरोजानना।
सन्ध्यावल्कलिनी द्विरेफपरिषद्रुद्राक्षमालावती
तत्प्राप्तिस्पृहयेव सम्प्रति तपःसक्ता समालक्ष्यते ॥
—अं० ३।१७

"अपने प्रियतम सूर्य्य के प्रेम तोड़कर विदेश चले जाने पर कमलिनी उसके वियोग को सह न सकी। उसका कमल-मुख मलिन हो गया। उसने प्रिय को पुनः पा लेने की उद्दाम कामना से सन्ध्या का वल्कल पहन लिया, भौंरों की पंक्ति की रुद्राक्ष-माला सँभाली और अब वह तपस्या में लीन दिखाई पड़ रही है।"

---

२. मिलाइए,

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा ॥
सो मन रहत सदा तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं ॥
रा० च० मा०, सुन्दरकाण्ड।

गिरिवर-तटिनी-गुल्मैर्दर्शनपदवीं क्रमादुपारूढैः।
अवरोहति मयि रभसाद्भूरियमारोहतीव गगनतलम्॥[१]

—अं० ४।१०।

देवर्षि नारद आकाश से हिमालय पर उतरते हुए धरती के दृश्य का वर्णन कर रहे हैं—

"पहले पर्वत-शिखर दिखाई पड़े, फिर स्वच्छतोया नदियाँ और उसके पश्चात् वन-श्रेणियाँ। उतर रहा हूँ मैं नीचे, किन्तु ऐसा लगता है मुझे मानो पृथ्वी ही आकाश की ओर उड़ती चली आ रही हो।"

कुन्दमाला की गीतियाँ

इसके रचयिता का नाम धीरनाग है। यह रूपक बहुत इधर आकर प्रकाश में आ सका है। इस नाटक में महाकवि भवभूति का अनुकरण किया गया है। अतः यह भवभूति के बाद की रचना है और इसका समय बारहवीं शती ईस्वी के आस-पास ही होगा। इसमें रामायण का वही आख्यान लिया गया है जो उत्तर-रामचरित में गृहीत है। एक गीति दी जा रही है—

लङ्केश्वरस्य भवने सुचिरं स्थितेति
रामेण लोक-परिवाद-भयाकुलेन।
निर्वासितां जनपदादपि गर्भगुर्वीं
सीतां वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम्॥[२]

—कुन्दमाला, प्रस्तावना

"सीता रावण के भवन में अधिक दिनों तक रह गईं, इस लोक-निन्दा के भय से राम द्वारा अयोध्या से निर्वासित गर्भिणी सीता को लक्ष्मण जनपद से वन में लिए जा रहे हैं।"

---

१. इस गीति पर कालिदास की उस गीति का पूरा-पूरा प्रभाव देखा जा सकता है, जिसमें कवि-गुरु ने आकाश से रथ के साथ उतरते समय दुष्यन्त के मुख से धरती के उस समय के दृश्य का वर्णन कराया है। देखिए, अभिज्ञानशाकुन्तल, अं० ७।८।

२. इसे दर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने 'प्रयोगातिशय' नामक प्रस्तावना के निदर्शनार्थ उद्धृत किया है। देखिए, साहित्यदर्पण, परिच्छेद ६, कारिका २६, पृ० ३८० (हिन्दी साहित्यदर्पण, अनु० डा० सत्यव्रत सिंह)।

प्रयोगातिशय नाम्नी प्रस्तावना के लिए कवि सूत्रधार के द्वारा रंगमंच पर सीता और लक्ष्मण को सहसा उपस्थित दिखाता है और दर्शकों के हृदय में कुतूहल उत्पन्न करने में समर्थ होता है।

रुक्मिणीपरिणय की गीतियाँ

'रुक्मिणी परिणय' नामक ईहामृग[1] की रचना कविवर वत्सराज ने की है। ये परमर्दिदेव (राजा परमाल) के, जो कालिंजर के राजा थे, अमात्य थे। परमाल ने ११६३ ई० से १२०३ तक शासन किया और उनके पुत्र त्रैलोक्यवर्म ने तेरहवीं शती के पूर्वार्द्ध तक। वत्सराज दोनों ही नृपतियों के अमात्य थे, अतः इनका समय बारहवीं शती का अन्तिम चरण तथा तेरहवीं का प्रथम चरण होना चाहिए। इनके रूपकों का प्रकाशन 'रूपकषट्क' के नाम से गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज, संख्या ८, के अन्तर्गत बड़ौदा से सन् १९१८ में सर्वप्रथम हुआ था। 'रुक्मिणी परिणय' में तीन अंक हैं, जिनमें कृष्ण द्वारा रुक्मिणी का हरण तथा उनका शिशुपाल और रुक्मी से युद्ध और अन्त में छलपूर्वक युद्ध का स्थगन दिखाया गया है। इसकी गीतियों का काव्यात्मक सौन्दर्य प्रशंसनीय है। भाषा प्रवाहपूर्ण तथा प्रसाद गुण से मण्डित है। इसकी एक गीति देखिए—

> दरमुकुलितनेत्रा स्मेरवक्त्राम्बुजश्री-
> रुपगिरिपतिपुत्रि-प्राप्तसान्द्रप्रमोदा।

---

१. ईहामृग की परिभाषा यह है—

> दिव्यपुरुषाश्रयकृतो दिव्यस्त्रीकारणोपगतयुद्धः।
> सुविहितवस्तुनिबद्धो विप्रत्ययकारकश्चैव॥
> उद्धतपुरुषप्रायः स्त्रीरोषग्रथितकाव्यबन्धश्च।
> संक्षोभविद्रवकृतः सम्फेटकृतस्तथा चैव॥
> स्त्रीभेदनापहरणावमर्दनप्राप्तवस्तुश्रृंगारः।
> ईहामृगस्तु कार्यः सुसमाहितकाव्यबन्धश्च॥
> यद्व्यायोगे कार्यं ये पुरुषा वृत्तयो रसाश्चैव।
> ईहामृगेऽपि ते स्युः केवलममरस्त्रिया योगः॥
> यत्र तु वधेप्सितानां वधो ह्युदग्रो भवेद्धि पुरुषाणाम्।
> किञ्चिद् व्याजं कृत्वा तेषां युद्धं शमयितव्यम्॥

—नाट्यशास्त्र, अध्याय १२।७८-८२

मनसिजमयभावैर्भावितध्यानमुद्रा
वितरतु रुचितं वः शाम्भवी दम्भभङ्गिः ॥ —पार्वती०, नान्दी

"भगवान् शिव की वह दम्भभङ्गिमा आप सबकी कामना पूरी करे, जिसमें भगवान् की आँखें ईषत् खुली हुईं, अधर पर मन्द मुस्कान की कान्ति बिखरी रहती है। भगवती उमा को पास बिठाए आनन्द में लीन और काममय भावों से युक्त ध्यान की मुद्रा बनी रहती है।"

विषय के अनुकूल नान्दी का निर्माण कवि-कौशल को आरम्भ में ही सूचित करता है। कवि की अन्य गीतियाँ भी अत्यन्त रुचिर और भाव-पेशल हैं।

'त्रिपुरदाह' की गीतियाँ

'त्रिपुरदाह' नामक डिम भी वत्सराज की रचना है। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'कर्पूरचरित' नामक भाण, हास्यचूड़ामणि नामक प्रहसन, किराता-र्जुनीय (व्यायोग), समुद्रमथन (समवकार) आदि रूपकों का निर्माण किया है। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में 'त्रिपुरदाह' नामक किसी प्राचीन डिम का उल्लेख किया है,[1] वत्सराज ने उसी आधार पर इस डिम की रचना की है, ऐसा प्रतीत होता है। इन रूपक-कृतियों से यह स्पष्ट है कि ये अपने समय के प्रतिभाशाली वरिष्ठ कवि थे और इनके रूपक राजा परमाल के आदेश से खेले गए थे। इनकी गीतियाँ भी उत्तम और सद्योहृदयग्राह्य हैं।

छाया और प्रतीक नाटकों की गीतियाँ

साधारण नाटकों के अतिरिक्त हमारे यहाँ दो अन्य प्रकार के नाटकों का सर्जन प्राचीन काल से होता आया है, ये हैं छाया नाटक और प्रतीक नाटक। कविवर सुभट का 'दूताङ्गद' छाया नाटकों का प्रतिनिधि माना जाता है। इनका समय तेरहवीं शती है। इन नाटकों में पात्रों के स्थान पर छायाएँ ही रङ्गमञ्च पर उतरती हैं। अनेक विद्वान् इसे ही नाटक का आदिमरूप स्वीकार करते हैं। प्रतीक नाटक की विशेषता यह है कि उसमें अमूर्त पदार्थों को मूर्त रूप दिया जाता है। बुद्धि, धैर्य, कीर्ति आदि इसके पात्र होते हैं। प्रतीक नाटक का सबसे प्राचीन रूप मध्य एशिया से प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थों के

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १८।८९।

साथ मिला। अश्वघोष के 'शारिपुत्र प्रकरण' के साथ एक प्रतीक नाटक का खण्डित अंश मिला था, यह नाटक किसी बौद्ध कवि का लिखा हुआ है। इसके पश्चात् कृष्ण मिश्र का 'प्रबोध चन्द्रोदय'[१] नामक प्रतीक नाटक मिलता है। कृष्ण मिश्र का समय एकादश शतक का मध्यभाग है। इसमें विवेक और मोह का युद्ध दिखाया गया है, जिसमें मोह पराजित होता है और अन्त में शाश्वत ज्ञान का उदय दिखाकर नाटक समाप्त किया गया है। इसकी गीतियाँ भक्ति से पूर्ण और ललित पदावली से शोभित हैं—

नित्यं स्मरन् जलदनीलमुदारहार—
केयूरकुण्डलकिरीटधरं हरिं वा।
ग्रीष्मे सुशीतमिव वा ह्रदमस्तशोकं
ब्रह्म प्रविश्य भज निर्वृतिमात्मनीनाम्॥

—प्रबोधचन्द्रोदय, अं० ५।३१।

"श्यामल मेघ की-सी कान्तिवाले, प्रलम्बहार, कङ्कण, कुण्डल और किरीट से शोभित हरि का स्मरण करते हुए ग्रीष्म ऋतु में शीतल जल से पूर्ण जलाशय के सदृश शोक-शमन करने वाले ब्रह्म में प्रविष्ट होकर मोहमय जगत् से पृथक हो जाओ।"

उत्तुङ्ग पीवर कुचद्वयपीडिताङ्ग—
मालिङ्गितः पुलकितेन भुजेन रत्या।
श्रीमाञ्जगन्ति मदयन्नयनाभिरामः
कामोऽयमेति मदघूर्णितनेत्रपद्मः॥

—अं० १।१०।

काम और रति का जोड़ा किस मुद्रा में चला आ रहा है, कवि ने चित्र खींच कर रख दिया है।

---

१. हिन्दी के महाकवि केशवदास ने सोलहवीं शती में 'प्रबोधचन्द्रोदय' का पद्यानुवाद 'विज्ञानगीता' नाम से किया था। उनकी रचना नाटक न होकर काव्य-रूपक हो गई है। ब्रजभाषा में गद्य की दुर्बलता ही इसका कारण है। —लेखक

'प्रबोधचन्द्रोदय' के अतिरिक्त कविवर यशःपाल का 'मोहराजपराजय' वेदान्तदेशिक का 'संकल्प 'सूर्योदय' और कवि कर्णपूर का 'चैतन्यचन्द्रोदय' प्रख्यात प्रतीक नाटक हैं। इनकी गीतियाँ भी अन्यन्त रमणीय और शान्त-रस को उद्रिक्त करने वाली हैं। लौकिक गीतियों के बीच ये गीतियाँ भी अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। इन्हें भक्तिरसपरक गीतियों में सुरक्षित स्थान प्राप्त है।

अन्य परवर्ती रूपक और उनकी गीतियाँ

संस्कृत भाषा में रूपकों की रचना अजस्र गति से आजतक होती चली आ रही है। रूपक के लघु प्रकारों में 'भाण'[1] अधिक लिखे गये और रचयिता भी प्रायः दक्षिणदेशवासी ही थे। नाटिकाएँ भी लिखी गईं किन्तु कम। मदनपाल सरस्वती ने (धारा-नरेश अर्जुनवर्मा के गुरु) 'विजयश्री' की 'पारिजातमञ्जरी' नाम्नी नाटिका १३ वीं शती में लिखी, जिसका कथानक बड़ा ही रोचक है और उसके नायक परमारवंशीय महाराज अर्जुनवर्मा ही हैं। नाटिका चार अङ्कों में समाप्त हुई हैं।

'वृषभानुजा' नाटिका की गीतियाँ

इस नाटिका के रचयिता गंगा-यमुना-तीरस्थ सुवर्णशेखर (?) नामक नगर के निवासी कविवर मथुरादास कायस्थ हैं। यह कृति अवश्य ही प्राचीन है और इसकी भाषा अत्यन्त प्राञ्जल है। इसमें राधा और कृष्ण का आदर्श प्रेम बड़ी सुरुचि के साथ अङ्कित किया गया है। भावों का निखार और भाषा

---

१. भाण की परिभाषा—

भाणः स्याद्धूर्तचरिते नानावस्थान्तरात्मकः ॥
एकांक एक एवात्र निपुणः पण्डितो विटः ।
रङ्गे प्रकाशयेत्स्वेनानुभूतमितरेण वा ॥
सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः ।
सूचयेद्वीरश्रृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यवर्णनैः ॥
तत्रेतिवृत्तमुत्पाद्यं वृत्तिः प्रायेण भारती ।
मुखनिर्वहणे सन्धी लास्याङ्गानि दशापि च ॥

—साहित्यदर्पण, परिच्छेद ६।२२७–२३०

की प्रासादिकता कवि की महती प्रतिभा को प्रकट करती है। इसकी दो-एक गीतियों का रसास्वादन कीजिए—

कदा वृन्दारण्ये नवघननिभं नन्दतनयं
परीतं गोपीभिः क्षणरुचिमनोज्ञाभिरभितः।
गमिष्यामस्तोषं नयनविषयी कृत्य कृतिनो
वयं प्रेमोद्रेकस्खलितगतयो वेपथुभृतः ॥

—वृषभानुजा, प्रस्ता०, ६

"(सूत्रधार नन्दी से पारिषदों के कृष्णप्रेम की चर्चा करता हुआ कहता है—) भला वह आनन्ददायी समय कब आएगा जब कि हम नये मेघ की-सी कान्तिवाले नन्द-नन्दन को, बिजली-सी कान्तिवाली गोपाङ्गनाओं से चारों ओर से घिरे हुए प्रेम के वशीभूत स्खलित गति और कम्पित देह से, देखकर परम तुष्टि प्राप्त करेंगे।"

तां हेमचम्पकरुचिं मृगशावकाक्षीं
पार्श्वे स्थितां च पुरतः परिवर्तमानाम्।
पश्चात्तथा दशदिशासु परिस्फुरन्तीं
पश्यामि तन्मयमहो भुवनं किमेतत् ॥[1]

—वृषभानुजा, अं० ३।११

"(विरह-व्याकुल कृष्ण राधा को स्मरण करते हुए अपने आप कहते हैं—) उस सुवर्ण और चम्पक पुष्प की-सी कान्तिवाली तथा मृगछौने की-सी आँखों वाली (प्रिया राधा) को मैं अपने पास खड़ी, सामने उपस्थित, पीछे आती हुई तथा दसों दिशाओं में छाई हुई देख रहा हूँ। अहो! क्या यह सारा विश्व ही राधामय हो गया है?"

---

१. मथुरादास कायस्थ के पूर्ववर्ती महाकवि अमरुक ने यही बात पहले लिख दी है—

प्रासादे सा पथि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा
पर्यङ्के सा दिशि दिशि च सा तद्वियोगातुरस्य।
हं हो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति ते कापि सा सा
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः ॥—अमरुशतक

प्रेम की कितनी उज्ज्वल और उत्कृष्ट व्यञ्जना है। प्रेमी को सारा संसार प्रेमिकामय दिखाई पड़ रहा है।

कृष्ण मधुर मणिनूपुर ध्वनि को दूर से ही सुनकर वितर्कपूर्वक अनुमान कर रहे हैं—

वासन्तीमधुपानमत्तमधुपध्वानः किमुज्जृम्भते
किं वा हंसकदम्बकूजितमिदं दूरात्समुत्सर्पति।
आं ज्ञातं मणिनूपुरध्वनिरयं मद्वल्लभायाः स्फुटं
दृश्यन्ते हि दिशास्तदङ्गकरुचा हेमाम्बुसिक्ता इव॥[1]

—वृषभा० अं०, २।६

"क्या यह वासन्ती कुसुमों के मकरन्द-कणों का पान किए हुए मतवाले भौंरों का गुञ्जन है ? अथवा यह हंसों का कल कूजन दूर से चला आ रहा है ? हाँ, अब समझा, यह मेरी प्रिया के मणि-नूपुरों की स्पष्ट ध्वनि ही है, क्योंकि उसकी (गौराङ्गी राधा की) अंग-कान्ति से दिशाएँ सुनहले जल में सींची हुई-सी दिखाई पड़ने लगी हैं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'वृषभानुजा' एक उत्तम नाटिका है और उसकी गीतियाँ अपनी सहज शोभा से मण्डित हैं। कवि कहीं भी पांडित्य-प्रदर्शन के चक्कर में नहीं पड़ा है। इसकी गीतियों का आस्वादन साधारण पाठक भी बिना किसी प्रकार की कठिनाई के कर सकते हैं। यह नाटिका सम्भवतः गीतगोविन्दकार के पश्चात् लिखी गई है।

प्रहसनों की गीतियाँ

संस्कृत-साहित्य के गम्भीर ग्रन्थों में भी हास्य-विनोद एवं व्यंग्य की सामग्री स्थान-स्थान पर मिलती है, तथापि रूपक के एक विशिष्ट प्रकार 'प्रहसन' की भी रचना प्राचीन काल से होती आ रही है। उपलब्ध प्रहसनों में पुलकेशी द्वितीय तथा हर्षवर्धन का समकालीन (६००–६५० ई०) पल्लव-नरेश

---

१. मिलाइए—

नाचि अचानक ही उठे, बिनु पावस बन-मोर।
जानति हौं नन्दित करी, इहिं दिसि नन्दकिसोर॥

—बिहारी-सतसई,

महेन्द्र विक्रम का रचित 'मत्तविलास' सबसे प्राचीन है। प्रहसन एकांकी होता है, किन्तु यह आद्यन्त हास्य रस से आपूर्ण रहता है। कापालिक, बौद्ध और पाशुपत आदि तत्कालीन सम्प्रदायों की स्थिति का बड़ा ही मनोरञ्जक चित्रण इसमें मिलता है। इसकी एक गीति देखें—

पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षितव्यं
ग्राह्यः स्वभावललितो विकृतश्च वेषः।
येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म
दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणिः॥

—मत्तविलास ७

"मदिरा-पान करना चाहिए, प्रियतमा का मुख देखना चाहिए और स्वभाव-सुन्दर विकृत वेश धारण करना चाहिए। इस प्रकार रहन-सहन का उपदेश देकर जिसने मोक्ष का मार्ग दिखाया वे भगवान् दीर्घायु हों।"

'लटकमेलक' प्रहसन की गीतियाँ

कविराज शंखधर ने अत्यन्त लोकप्रिय प्रहसन 'लटकमेलक' की रचना १२ वीं शती में की। ये कान्यकुब्जेश्वर गोविन्दचन्द्र के सभाकवि थे। इसका प्रथम उल्लेख 'शार्ङ्गधरपद्धति' के दो श्लोकों में पाया जाता है[1] और इधर आकर कविराज विश्वनाथ ने सङ्कीर्ण प्रहसन के उदाहरण-स्वरूप इसका नामोल्लेख किया है[2] तथा हास्य के उदाहरण में एक श्लोक देकर कह दिया है "अस्य लटकमेलक प्रभृतिषु परिपोषो द्रष्टव्यः।"[3] 'लटकमेलक' का अर्थ

---

१. कतिपयनिमेषवर्तिनि जन्मजरामरणविह्वले जगति।
कल्पान्तकोटिबन्धुः स्फुरति कवीनां यशःप्रसरः॥
—सुभा० सु० रत्न०, २, कविप्रशंसा, कविस्तुति २०।

एष स्वर्गतरङ्गिणीजलमिलद्दिग्दन्तिदन्तद्युति-
भ्रंश्यद्राजतकुम्भविभ्रमधरः शीतांशुरभ्युद्यतः।
हंसीयत्यमलाम्बुजीयति लसड्डिण्डीरपिण्डीयति
स्फारस्फाटिक कुण्डलीयति दिशामानन्दकन्दीयसि॥
—सुभाषित सुधा०, २, निशाकर-रमणीयता, ९७

२. वृत्तं बहूनां धृष्टानां सङ्कीर्णं केचिदूचिरे।
तत्पुनर्भवति द्व्यङ्कमथवैकाङ्कनिर्मितम्॥
यथा लटकमेकलादिः।
—साहित्यदर्पण, परि० ६।२६७॥

३. देखिए, 'साहित्यदर्पण', परि० ३, का० २१९ का उदाहरण।

है, 'धूर्तसम्मेलन'। यह प्रहसन दो अङ्कों में है। इसमें कौल मतावलम्बी शाक्त, दिगम्बर जैन, बौद्ध, मूर्ख वैद्य, ग्रन्थ-चुम्बी पण्डित आदि ढोंगियों का बड़ा ही हास्योत्पादक और मनोरञ्जक चित्र खींचा गया है। असामाजिक सामाजिकों के भ्रष्टाचार का बड़े ही चुलबुले ढंग से भण्डाफोड़ किया गया है। गद्य के साथ ही इसकी गीतियाँ भी हँसी की पिचकारियाँ हैं। देखिए कवि ने किस उद्देश्य से इस प्रहसन की रचना की—

चित्रं चरित्रं स्खलितव्रतानां शीलाकरः शङ्खधरस्तनोति।
विद्वज्जनानां विनयानुवर्ती धात्रीपवित्रीकरणः कवीन्द्रः॥

—प्रस्ता०, ७

अर्थात् विविध रूपधारी ढोंगी धार्मिकों के विचित्र चरित्र का उद्घाटन करने के लिए इसकी रचना हुई। महाराज गोविन्दचन्द्र का गुणगान भी प्रस्तावना में कवि ने मुक्त कण्ठ से किया है। इसकी कतिपय हास्य रसपूर्ण गीतियाँ पढ़िए—

वामागमाचारविदां वरिष्ठः परापकार-व्यसनैकनिष्ठः।
अयं स वेदार्थपथप्रतीपः सभासलिः कौलकुलप्रदीपः॥

—लटक०, अं० १।१३

"वाममार्ग के आचारज्ञों में श्रेष्ठ, दूसरों के एक मात्र अपकार में लीन और वेदार्थ पथ के विपरीत चलने वाला, कौल मार्गावलम्बी यही सभासलि है।"

भ्रष्टकौल का कितना सुन्दर परिचय दिया गया है। इसी प्रकार वैद्यराज जन्तुकेतु की रतौंधी की दवा देखिए—

अर्कक्षीरं वटक्षीरं स्नुहीक्षीरं तथैव च।
अञ्जनं तिलमात्रेण पर्वतोऽपि न दृश्यते॥

—अं० १।२६

"मदार का दूध, बरगद का दूध और स्नुही का दूध मिलाकर अञ्जन बनावे। उस अञ्जन का तिलभर अंश आँख में लगा लेने पर सामने खड़ा पर्वत भी न दिखाई देगा।"

प्रसिद्ध दार्शनिक महामहोपाध्याय पुङ्कटमिश्र का भी परिचय लीजिए—

गुरोर्गिरः पञ्चदिनान्युपास्य
वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रयञ्च ।
अमी समाघ्रातवितर्कवादाः
समागताः पुङ्कटमिश्रपादाः ॥[1]

—लटक०, अं० २।१४

"उन्हीं पुङ्कटमिश्र के श्री चरण यहाँ आ पहुँचे हैं, जिन्होंने प्रभाकर मीमांसा को पाँच दिनों में, वेदान्त शास्त्र को तीन दिनों में घोख डाला तथा पूरे न्याय शास्त्र को सुँघनी बनाकर सूँघ लिया है।"

सभासलि नामक शाक्त दिगम्बर जैन के साथ दन्तुरा नाम्नी वेश्या कुट्टनी का विवाह कराया गया है। एक चतुर्वेदी ब्राह्मण आकर विवाह सम्पन्न कराता है। गलितयौवना कुट्टनी को देखकर चतुर्वेद परिहासपूर्वक कहता है—

स्तनौ प्रचलितावस्या विमर्दार्तावधोमुखौ ।
विशुष्कस्य नितम्बस्य वार्तां कर्तुमिवोद्यतौ ॥

—वही, अं० २।३३

"मर्दन से व्याकुल होकर इसके दोनों स्तन नीचे मुँह लटकाए मानो सूखे हुए इसके नितम्ब से बातें करने को तैयार होकर चल पड़े हैं।"

कितना सुन्दर हास्य एक गलितयौवना कामोन्मत्ता कुलटा को लेकर सृष्ट हुआ है और उत्प्रेक्षा ने उसमें जान डाल दी है। इस प्रकार पूरा प्रहसन अपने नाम को यथार्थ सिद्ध करने में पूर्णतया समर्थ है। पात्रों और पात्रियों के नाम भी हास्योत्पादन में समर्थ सहायक का काम करते हैं। इसमें कतिपय शृङ्गार रस-परक गीतियाँ बड़ी सुन्दर हैं। जन्तुकेतु नामक नीम हकीम चरक के मत को इस प्रकार सुनाते हैं—

यस्य कस्य तरोर्मूलं येन केनापि पेषयेत् ।
यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति ॥

—वही, अं० १।२३

अर्थात् जिस किसी पेड़ की जड़, जिस किसी वस्तु के साथ पीसकर किसी भी रोगी को दे दो, कुछ न कुछ फल होगा ही।

---

1. साहित्य दर्पण, परिच्छेद ३, का० २१६ के लिए दृष्टान्तस्वरूप उद्धृत।

'रससदन' भाण की गीतियाँ

इस भाण के कर्ता का नाम युवराज है। युवराज कवि दक्षिण भारत के केरल प्रान्त के कोटिलिङ्गपुर नामक प्रसिद्ध नगर के निवासी थे। अपने प्रस्तुत भाण में इन्होंने केवल इतना ही परिचय दिया है।[1] इनका वंश क्या था और ये किस समय हुए थे, इसका कुछ भी पता नहीं है। ये सभी शास्त्रों और काव्य-रचना में निष्णात थे और इनके समय में इनकी कविता बड़े चाव से सुनी जाती थी। अपनी विद्वत्ता और काव्य की प्रशंसा इन्होंने स्वयं बड़े गर्व से की है।[2] इनके रचे इतने ग्रन्थ कहे जाते हैं—

१. त्रिपुरदहनचरित, २. देवदेवेश्वराष्टक, ३. मुररिपुस्तोत्र, ४. रस-सदन भाण, ५. रामचरित, ६. श्रीपादसप्तक, ७. सदाशिवी, ८. सुधानन्द-लहरी और ९. हेत्वाभासोदाहरणश्लोक।

इस भाण में शृंगार रस की अच्छी गीतियाँ हैं। कतिपय गीतियाँ सुनिए—

---

१. प्रयते केरलदेशे प्रथितं राराष्ठि कोटिलिङ्गपुरम्।
श्रीमान्युवराजाख्यस्तत्रास्ते दीर्घदर्शिमुकुटमणिः॥ —नान्दी १

२. शास्त्रेषुशाततमशास्त्रसमापि बुद्धिः
काव्येषु नव्यनलिनाधिकसौकुमारी।
यस्यास्य तामरसलास्यरसा च वाणी
हर्षं न कस्य कुरुते युवराज एषः॥

—ग्रन्थकर्त्ता की प्रशस्ति, १२

अपि पुरुकृतरीढं पण्डितंमन्यमूढै—
र्मम तु सुकृतिरत्नं हन्त गृह्णन्ति सन्तः।
अवगणितमवर्चैर्दुरैरप्ययाप्याः
किमनणकमृणालं राजहंसास्त्यजन्ति॥ —वही १३

व्याकृत्यादिसमस्तशास्त्रसमुदायाम्भोधिकुम्भोसुतः
काव्यालङ्कृतिनाटकोद्धसुकृतौ काव्यास्य सत्यं समः।
पुण्यः पण्डितराजराजिगजताकुम्भाद्रिसम्भेदने
दम्भोलिर्युवराजकोविदमणिर्वर्वर्ति सर्वोपरि॥

—प्रशस्ति, १४

चोकूयन्ते विहंगा दिशि दिशि निजनीडद्रुमाग्रे निषण्णा
दोधूयन्ते वहन्तास्तुहिनजलकणान्कुन्दगन्धं वहन्तः।
लोलूयन्ते तमिस्रं दिनकरकिरणश्रेणयः शोणशोभा
बोभूयन्ते क्रमेण प्रकटिततनयः शैलगेहे द्रुमाद्याः॥

—रससदन, १९

प्रातःकालीन प्रकृति की शोभा का वर्णन करता हुआ कवि विट के शब्दों में कहता है, "पक्षी चारों ओर अपने घोंसलेवाले पेड़ के ऊपर कूजन कर रहे हैं। पवन ओस कणों और कुन्द की गन्ध को लेकर वृक्षों को कँपा रहा है। दिनकर की स्वर्णिम किरणें अन्धकार को बीन रही हैं और शैलगृहों पर वृक्ष, लताएँ आदि स्पष्ट रूप से शोभा पा रही हैं।"

प्रकृति का सीधा-सादा किन्तु मनोमोहक चित्र कवि ने बड़ी सहृदयता से उतार दिया है। प्रभात का एक और चित्र लीजिए—

नग्नां वीक्ष्य नभस्थलीं विगलितप्रत्यग्रधाराधर-
श्रेणीश्यामलवाससं पतिरसौ रक्तः स्वयं मुञ्चति।
इत्यन्तश्चिरमाकलय्य नलिनी शोकातिरेकादिव
व्यादायाम्बुजमाननं विलपति व्यालोलभृङ्गारवैः॥

—रससदन, २२

"आकाश को नग्न और बादल रूपी श्यामल वस्त्र को बिखरा हुआ देख (प्रभात होने पर आकाश के तारे लुप्त हो गए और बादल इधर-उधर बिखर गए) मेरा यह पति रक्त उगल रहा है (सूर्य के उदित होने पर आकाश में लाली फैल गई है)। इस बात को हृदय में देर तक सोचकर शोक की बाढ़ से कमलिनी अपने कमल-मुख को खोलकर चञ्चल भौंरों की गुञ्जन-ध्वनि में मानो विलाप कर रही है।"

मनुष्य अपनी मानसिक परिस्थिति की छाया प्रकृति पर भी देखता है। विट अपनी चिन्ता-धारा में आकाश से भूतल तक सारे वातावरण को शोकातिरेक में डूबा हुआ अनुमित करता है। यही कवि की महती सहृदयता है। रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास आदि अलङ्कारों की शोभा का क्या कहना! ऐसी ही अलङ्कृतियों पर मुग्ध होकर आचार्य वामन के मुख से निकल पड़ा था—

"सौन्दर्यमलङ्कारः।" —काव्यालङ्कारसूत्र, १

स्त्रियों के सामान्य स्वभाव का कवि ने जो रूप एक गीति में उपस्थित किया है, उससे उसके लोक-ज्ञान का पूरा-पूरा परिचय मिलता है। विशिष्ट स्त्रियों को छोड़कर सामान्यतः नारी की प्रकृति यही है—

स्वार्थानेव निधाय चेतसि मुहुः प्राणेश्वरोऽयं ममे-
त्युद्घोषत्यनुवर्तते च पुरुषं तत्तत्प्रियाराधनैः ।
नो जानाति कदापि तस्य तु हितं निष्किञ्चनत्वे पुन-
स्त्यक्त्वा तं भजतेऽन्यमीदृशदशः प्रायेण योषाजनः ॥

—रससदन, ४०

"नारी अपने चित्त में स्वार्थों को ही रखकर बार-बार यह कहती फिरती है कि यह मेरा प्राणेश्वर है और पुरुष के मनोनुकूल समयोपयुक्त उसकी सेवा करती है। यदि वही पुरुष कहीं दरिद्र हो गया, तो उसका हित वह सोच तक नहीं सकती और उसे छोड़कर दूसरे पुरुष की उपासना करने लगती हैं।"

नारी के स्वभाव के इस ओछेपन का समर्थन विश्व के सभी महाकवियों ने आरम्भ से किया[1] और लोक-व्यवहार में भी सामान्यतः यही देखा जाता है, अपवाद तो सर्वत्र ही होते हैं। लोक-जीवन के बीच रहने वाला सच्चा कवि सत्य के उद्घाटन से पराङ्मुख नहीं होता। सत्य की प्रतिष्ठा द्वारा वह लोक-मङ्गल का अभिलाषी होता है। सत्य पर पर्दा डालकर या सत्य की कटुता से घबराकर भावुकता और रङ्गीन कल्पना के लोकों में विचरने वाला कवि लोक-मङ्गल की साधना नहीं कर सकता। रमणी की मनोज्ञ शोभा का चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

---

१. स्थानं नास्ति क्षणो नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः ।
तेन नारद नारीणां सतीत्वमुपजायते ॥

—सुभा० सुधा०, नारीगर्हणा, १२

भर्ता यद्यपि नीतिशास्त्रनिपुणो विद्वान् कुलीनो युवा
दाता कर्णसमः समृद्धविभवः शृङ्गारदीक्षागुरुः ।
स्वप्राणाधिककल्पिता स्ववनिता स्नेहेन संलालिता
तं कान्तं प्रविहाय सैव युवती जारं पतिं वाञ्छति ॥—वही, ७९

पादाम्भोरुहमन्द-मन्दवसुधाविन्यासलीलाचल—
द्दोर्दण्डाञ्चलविश्लथांशुकमुहुः प्रत्यक्षवक्षोरुहम् ।
यातायातविधायि बाहुलतिकाभूषाभरणत्कारितं
यातं मत्तमदाबलेन्द्रमधुरं सूते मुदं चेतसि ॥ —रससदन, ५२

"मेरी प्रियतमा अपने चरण-कमल धरती पर मन्द-मन्द गति से रखती हुई चली जा रही है। मदगति के कारण उसकी साड़ी का अञ्चल भुजा के नीचे सरक आया है और उसके उरोज प्रत्यक्ष हो रहे हैं। उसकी बाहुलता के आगे-पीछे चलने से आभूषणों से झङ्कार उठ रही है। इस प्रकार मत्त चाल से चलती हुई प्रियतमा चित्त में आनन्द की लहरी उत्पन्न कर रही है।"

नारी का नखशिख महाकवि ने एक ही गीति में बड़ी उत्तमता से अङ्कित किया है। रमणी के रमणीयत्व की सार्थकता जिन अङ्गों द्वारा मानी जाती है उनका वर्णन भी ललित है—

पूर्णेन्दुप्रतिमानमाननमिदं नेत्रे स्वतश्चञ्चले
गण्डौ दर्पणखण्डवत्सुविमलौ बिम्बप्रकाशोऽधरः ।
वक्षोजौ मणिहेककुम्भरुचिरौ श्रोणी भृशं विस्तृता
पादौ पल्लवकोमलौ मृगदृशः सर्वं मनोमोहनम् ॥[1]

—वही, २२७

"यह मुख पूर्णिमा के चन्द्रमा का प्रतिमान है, आँखें अपने आप (सहज ही) चञ्चल हैं, कपोल-प्रान्त दर्पण की भाँति निर्मल और छायाग्राही हैं, अधर बिम्बफल के सदृश अरुण कान्तिधारी हैं, उरोज मणिमय स्वर्ण-कलश-से मनोहर और नितम्ब-फलक बड़ा ही चौड़ा है। पैर पल्लववत् कोमल हैं। और सच तो यह है कि इस मृगनयनी का सब कुछ मनोमुग्धकर है।"

---

१. मिलाइए महाकवि कालिदास की प्रसिद्ध गीति से जिसमें यक्ष ने अपनी प्रियतमा के अङ्गों का परिचय इस प्रकार दिया है—

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
गण्डच्छायां शशिनी शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते भीरु सादृश्यमस्ति ॥—उत्तरमेघ, ४६

कवि ने एक ऐसी गीति भी दी है जिसमें सङ्गीत-तत्त्व अधिक है और शब्दों की झंकार हृदय को नचा देती है। सुन्दरी को देखकर नायक सहर्ष कह उठता है—

धवलकुसुमधारिणी मृदुलहसितकारिणी
विशदविमलहारिणी विविधलसितहारिणी।
तरुणहृदयहारिणी मदनजलधितारिणी
विपुलजघनधारिणी द्विरदमधुरचारिणी॥

—वही, २३३

भाव स्पष्ट है। पूरे भाग को देखकर कवि के कौशल और उसकी ऊँची प्रतिभा की प्रशंसा करनी पड़ती है। यह एक उत्तम रचना है। गीतियों की दृष्टि से इसका स्थान ऊँचा है। अन्त में कवि ने महाकवियों की वाणी को अमरत्व प्रदान करने की भगवती कालिका से प्रार्थना की है, जो कवि की सचाई का प्रमाण है।

'शृंगारसर्वस्व' भाण की गीतियाँ

भाणों की रचना महाकवि वररुचि से मिलने लगती है। उनकी 'उभयाभिसारिका' के अनन्तर महाकवि शूद्रक का 'पद्मप्राभृतक' का नाम मिलता है, जो आजकल मिलता ही नहीं, किन्तु उसके कतिपय छन्द 'काव्यानुशासन' आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। 'धूर्तविटसंवाद' की रचना ईश्वरदत्त नामा कवि ने की थी, जिसका उल्लेख भोजदेव के 'शृंगारप्रकाश' में है। यह ११ वीं शती के पूर्व की रचना है। कविवर नल्ला-रचित 'शृंगारसर्वस्व' सत्रहवीं शती के आसपास रचा गया है। ये बालचन्द्र दीक्षित के पुत्र कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण चोल देश के कुम्भघोण नगर के निवासी थे। इन्होंने 'सुभद्रापरिणय' नामक नाटक भी रचा है। 'अद्वैतमञ्जरी' और उसकी 'परिमला' नाम्नी व्याख्या भी इन्हीं की लिखी मिलती है। इसकी प्रस्तावना के आरम्भ में सूत्रधार का कथन देखिए—

"सूत्रधारः—(सप्रश्रयमञ्जलिं[1] बद्ध्वा)

---

१. यह 'प्रश्रय' शब्द आज अनेक हिन्दी के लेखकों द्वारा 'आश्रय' के अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है। ऐसे ही अनेक शब्द मनमाने अर्थ में प्रयुक्त किए जा रहे हैं। विद्वज्जनों का कर्तव्य है कि ऐसे लेखकों को सचेत करें। —लेखक

वितन्वन्यत्कोणं विशिखमचिरादेव भगवा-
ननङ्गः केनापि त्रिभुवनमजय्यं विजयते।
यदालोको यूनामपहरति चेतांसि मसृणः
स वस्तन्यादन्यादृशसुखमपाङ्गो मृगदृशाम् ॥

—प्रस्तावना, ४

"सूत्रधार— (सविनय हाथ जोड़कर)

भगवान् कामदेव जिसके कोण को बाण बनाकर क्षण भर में ही किसी अन्य द्वारा अजेय त्रिभुवन को विजित कर लेते हैं और जिसका कोमल प्रकाश युवकों के चित्त को हर लेता है, वही मृगनैनियों का नेत्र-कटाक्ष हमारे हार्दिक शृंगार-सुख को विस्तृत करें।"

प्रभात का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

गच्छत्यस्तनितम्बमम्बरमपाकुर्वन्करैश्चन्द्रमाः
संगच्छन्त इव प्रियैस्तत इतो निष्क्रम्य चक्राङ्गनाः।
प्रच्छन्नाः कुलटा विटान् विजहति प्रायस्त्रियामात्यया-
न्नक्तं जागरणेन वारवनिता निद्रातुमुद्युञ्जते ॥ —वही, २१

"चन्द्रमा अपनी किरणों से आकाश को छोड़कर अस्ताचल में प्रवेश कर रहा है (चन्द्रमा रातभर अपनी प्रेयसी के साथ विलास करके उसके नितम्ब के वस्त्र को हटाकर प्रातःकाल होने के कारण अलग हट रहा है), इधर (धरती पर) चकवियाँ उड़-उड़कर चकवों से मिलने लगी हैं। रात बीतने पर कुलटाएँ छिपकर पर-पुरुषों का साथ छोड़ रही हैं और वेश्याएँ रातभर जागने के कारण अब सोने का उपक्रम कर रही हैं।"

विट अपनी कामना को प्रकृति-क्षेत्र में भी प्रतिफलित देखता है। उसे सारे वातावरण में विलास-ही-विलास दृष्टि आता है। यह कवि की मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचायक है। दूसरी ओर भगवान् सूर्य को देखिए—

पूर्वक्ष्माधरशिखाशिखराधिरूढो
लाक्षारसारुणवपुर्भगवान्दिनेशः।
प्राचीमुखस्य परिकर्मविशेषलिप्सोः
काश्मीरपङ्कतिलकश्रियमातनोति ॥

—शृङ्गारसर्वस्व, २३

"उदयाचल के शिखर पर चढ़ा हुआ लाक्षा रस के समान अरुण कान्तिवाला भगवान् सूर्य पूर्व दिशारूपी नायिका के मुख पर केसर द्वारा चित्रकारी कर रहा है।"

शृङ्गार रसपरक गीतियाँ भी बड़ी ही मनोहारिणी हैं, देखिए—

विद्युल्लतेव नवविद्रुमवल्लिकेव
ज्योत्स्नेव रत्नमयकृत्रिमपुत्रिकेव ।
मायेव पुष्पधनुषो मम पुण्यभूम्ना
कैषा परिस्फुरति कैतकपत्रगौरी ॥

—शृङ्गारसर्वस्व, २६

'बिजली की लता के समान, नई विद्रुमवल्ली सरीखी, चाँदनी-सी, रत्नों से निर्मित कृत्रिम पुतली जैसी और कामदेव की माया के सदृश यह केतकी के दल-सी गौरकान्ति वाली कौन सुन्दरी मेरे अनन्त पुण्यों के फल-स्वरूप मेरे समक्ष प्रकट हो गई है?"

कवि ने नारी-शरीर के वैशिष्ट्य-प्रदर्शन के लिए जितने उपमान ला उपस्थित किए हैं, वे सब के सब अपनी अलग-अलग विशेषता प्रकट करते हैं। केवल यों ही उपमानों की माला नहीं जोड़ दी गई है। 'कामदेव की माया' उपमान अपनी अकथनीय शोभा में अद्वितीय है। इसके अतिरिक्त पारिवारिक कलह की विगर्हणा करते हुए कवि ने इसके कुपरिणाम की ओर बड़ा ही मार्मिक सङ्केत किया है—

वलयनिकरं भग्नं बालेन्दु-संहति-सुन्दरं
करतलगते पात्रे कृत्वा वदन्परुषं वचः ।
कपिरिव नवां मालां बालां सवाष्पविलोचना-
मयमभिपतन्क्रुद्धो वृद्धो बलादनुकर्षति ॥

—शृङ्गारसर्वस्व, ४५

"दूज के चाँद के जोड़े-से कंकण टूट गए, उन्हें हाथ के बर्तन में रखे कठोर बातें कहता हुआ यह क्रुद्ध बूढ़ा रोती हुई तरुणी को उसी प्रकार बलाद् खींच रहा है जैसे कोई बन्दर नई माला को खींचकर तोड़ रहा हो।" उपमा का सौन्दर्य और प्रभाव कम प्रशंसनीय नहीं है। इन भाणों को देखने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि शृङ्गार-साहित्य पर वात्स्यायन के कामसूत्रों का प्रभाव व्यापक रूप से पड़ चुका था। संभोग के विविध आनुक्रमिक अंग और प्रकार

लाना महान् कवि-कर्म हो गया था। उत्तरोत्तर कविता का व्यापक क्षेत्र जो नारी-नखशिख में ही आ सिमटा, उसका कारण था कवि के साथ कामशास्त्र की पूर्णज्ञान-प्राप्ति की अनिवार्य शर्त। साथ ही साथ अन्य कवियों द्वारा काव्य के अन्य पक्ष भी समृद्ध होते रहे।

ऊपर संस्कृत के प्रमुख रूपकों का उल्लेख किया गया है। उनके अतिरिक्त आजतक रचे गये सैकड़ों रूपकों की रचना काल-क्रम से हुई है, जिनमें कितने ही आज मिलते भी नहीं। उनका उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों में मिलता है। मल्लिकामारुत, कौमुदीमित्रानन्द, प्रबुद्धरौहिणेय, मुद्रितकुमुद-चन्द्र, छलितराम, कन्दर्पकेलि, रैवतमदनिका, शृङ्गारतिलक, विलासवती, देवीमहादेव, बालिवध, मायाकापालिक, कनकावती-माधव, केलिरैवतक, राघवविलास, जानकीराघव, बालचरित, कुलपत्यङ्क, पुष्पमाला, प्रभावती, ययातिविजय, कृत्यारावण, राघवाभ्युदय, सौगन्धिकाहरण, समुद्रमथन, चन्द्रकला, वध्यशिला आदि रूपकों की रचना ने संस्कृत-साहित्य को समृद्ध किया है। इनकी गीतियाँ भिन्न-भिन्न लक्षण-ग्रन्थों में मिलती हैं। संस्कृत भाषा और साहित्य के पठन-पाठन के सातत्य का इनसे पता चलता है। इस सुदीर्घ कालावधि में संस्कृत-साहित्य का सर्जन कभी रुका नहीं। वह सिन्धु के समान अपनी मर्यादा के भीतर सदा ही तरङ्गित होता रहा। अन्य भाषाएँ बनती, बिगड़ती और तिरोहित होती रहीं किन्तु संस्कृत अविकृत रूप में अपनी अमरता को समेटे रही और इस अमरत्व के कारण वह सदा युवती रही, वृद्धत्व उसके निकट नहीं आ सका। आज भी श्रव्य तथा दृश्य दोनों ही प्रकार के काव्य अकुण्ठित गति से लिखे जा रहे हैं और लिखे जाते रहेंगे। अब हम गीतियों का विकास स्तुतिपरक काव्यों में देखेंगे।

———

स्तुतिपरक गीतियाँ

भगवच्चरणारविन्द में आत्मसमर्पण भारत की प्रथम विशेषता है। प्रार्थना की परम्परा वैदिक काल से ही यहाँ चली आ रही है। जब से दक्षिण भारत में उपासना वा भक्ति का प्राबल्य हुआ, तब से स्तुतिपरक काव्य की सृष्टि विविध मनःस्थितियों के आधार पर वेग से होने लगी। ये स्तुतियाँ न केवल संस्कृत भाषा में अपितु लोक भाषाओं में भी धड़ल्ले से लिखी जाने लगीं। इन स्तुतियों का सम्बन्ध धर्म से ही रहा है, धर्म वह जो समग्र सृष्टि के लिए मङ्गलविधायक है, न केवल व्यष्टि के लिए अपितु समष्टि के लिए भी। भारत में आगे चलकर अनेक धार्मिक सम्प्रदायों की सृष्टि होती गई। भगवान् की विभिन्न विभूतियों के पृथक्-पृथक् नामकरण किए गए और रुचि एवं प्रवृत्ति के अनुकूल विभूति विशेष को प्रधानता दी जाने लगी। शिव, विष्णु, चण्डी, सूर्य, बुद्ध, जिन आदि प्रमुख भगवत्-स्वरूपों की भिन्न-भिन्न महात्मा और पण्डित कवियों ने स्तुतियाँ लिखीं। ये स्तुतियाँ भक्तों ने भाव-सिक्त गद्गद कंठ से गाई हैं, अतः इनमें संगीत की माधुरी ऐसी है जो हृदय को स्वतः भावविभोर कर देती है। इनमें भक्त जीव की ससीमता, अल्पज्ञता, दीनता और दयनीयता का तथा अपने इष्टदेव की असीमता, सर्वज्ञता, उदारता और दयालुता का खुले हृदय से गान करता है। पण्डित भक्तों ने इन स्तुति-गीतियों में रस-माधुरी के साथ-साथ पूर्ण पाण्डित्य का चमत्कार भी दिखाया है। वेद में इन्द्र, अग्नि, रुद्र, मरुत्, सविता, उषा आदि की स्तुतियाँ पर्याप्त मिलती हैं, जिनका संक्षिप्त उल्लेख पहले किया जा चुका है। यहाँ हम लौकिक संस्कृत की स्तुति-गीतियों की चर्चा करेंगे।

'शिवमहिम्नस्तोत्र' की गीतियाँ

'शिवमहिम्नस्तोत्र' की रचना किसी पुष्पदन्त नामक महाकवि ने की है।[1] इनका ठीक-ठीक समय अब तक ज्ञात नहीं हो सका है। कविराज राजशेखर

---

१. श्रीपुष्पदन्तमुखपङ्कजनिर्गतेन स्तोत्रेण किल्विषहरेण हरप्रियेण।
कण्ठस्थितेन पठितेन समाहितेन सुप्रीणितो भवति भूतपतिर्महेशः॥
—शिवमहिम्नस्तोत्र (फलश्रुति)

ने इस स्तोत्र की एक गीति 'काव्य मीमांसा' में उद्धृत की है,[1] अतः नवम शतक के उत्तरार्द्ध से पूर्व इनका समय होना चाहिए। यह स्तोत्र भाव और पाण्डित्य दोनों ही दृष्टियों से अद्वितीय है। पूरा स्तोत्र शिखरिणी वृत्त में है, स्तोत्र के अन्त में कतिपय छन्द जोड़ दिए गए हैं, जिनमें शिव की महत्ता के प्रतिपादन के साथ इसकी फलश्रुति दी गई है और इसके रचयिता पुष्पदन्त का यत्किञ्चित् परिचय भी दे दिया गया है। यह अंश उनके किसी शिष्य द्वारा लिखा प्रतीत होता है। किन्तु स्तोत्र-पाठ में इसका भी पाठ-विधान है। मैंने इसकी एक ऐसी टीका देखी है जिसमें विद्वान् टीकाकार ने गीतियों का अर्थ शिव और विष्णु दोनों ही पक्षों में घटित किया है। इससे आचार्य पुष्पदन्त की असाधारण विद्वत्ता के साथ उनके रचना-विषयक महान् श्रम का भी परिचय मिलता है। उसकी दो-एक गीतियाँ देखिए—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेकोगम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

—शिवमहिम्न, ७।

अर्थात्, वेदत्रयी, सांख्य, योग, पाशुपत, वैष्णव आदि मत रुचि-विचित्रता के कारण ईश्वर-प्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न पथों का ग्रहण श्रेयस्कर बताते हैं, किन्तु वे सारे पथ उसी प्रकार तुम्हीं तक भिन्न-भिन्न मतावलम्बियों को ले जाते हैं जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नदियों की जल-प्रणालियाँ जल को समुद्र ही तक ले जाती हैं। इस प्रकार कवि ने शिव का ब्रह्मत्व प्रतिपादित किया है और नाना प्रकार के मतों से शैवमत का अविरोध भी दिखाया है। भगवान् शिव का व्यापकत्व अपनी मनोमुग्धकारिणी प्रतिभा से कवि ने अत्यन्त उदात्तता से चित्रित किया है। पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने अपने-अपने इष्टदेव के स्वरूपाङ्कन के लिए इसी महाकवि का अनुकरण किया है, देखिए—

वियद्व्यापी तारागणगुणितफेनोद्गमरुचिः
प्रवाहो वारां यः पृषतलघुदृष्टः शिरसि ते।

---

१. "किमीहः किं कायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं……"

—काव्य मीमांसा, अध्याय ८, पृ० ११६ पर उद्धृत
(हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला की प्रति)

जगद्द्वीपाकारं जलधिवलयं तेन कृतमि—
त्यनेनैवोन्नेयं धृतमहिम दिव्यं तव वपुः ॥

—शिवमहिम्न०, ५७।

"भगवान् शिव के शिर पर आकाश-स्थित जल का विशाल प्रवाह जल-बिन्दु सदृश प्रतीत होता है और आकाश में परिव्याप्त तारे उस जल-प्रवाह के फेन से प्रतीत होते हैं। जिस सिन्धु के बीच घिरा हुआ संसार एक द्वीप-सा प्रतीत होता है, उसी को जिन्होंने अपने हाथ का कंकण बना लिया है। बस इतने से ही उस विश्वव्यापी सदाशिव के दिव्य शरीर की परिकल्पना की जा सकती है।"

एक गीति में कवि ने त्रिपुर-संहार का बड़ा ही मर्मस्पर्शी विराट् चित्र प्रस्तुत किया है, इस रूपक की महती कल्पना महाकवि की भावना का साक्षात्कृत स्वरूप है—

रथः क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो
रथाङ्गे चन्द्रार्कौ रथचरणपाणिः शर इति।
दिधक्षोस्ते कोऽयं त्रिपुतृणमाडम्बरविधि—
र्विधेयैः क्रीडन्त्यो न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः ॥

—शिवमहिम्न०, १८

"भगवान् सदाशिव ने लोक-शत्रु त्रिपुर के संहार के लिए पृथ्वी को रथ, इन्द्र को सारथी, हिमालय को धनुष, सूर्य और चन्द्र को रथ के पहिए और विष्णु को बाण बनाया और इस प्रकार साधनयुक्त होकर त्रिपुर को भस्म कर डाला। यह सब विधान तो केवल दिखाने के लिए था, वास्तव में विधेयों के साथ क्रीडा करनेवाली भगवान् की बुद्धि कभी परतन्त्र नहीं रहती (भगवान शिव बिना किसी प्रकार के साधन के ही जो चाहें कर सकते हैं)।"

विष्णु ने महती तपस्या द्वारा अपनी एक आँख को भी कमल के स्थान पर आहुति देने को उद्युक्त होकर शिव की अनुकम्पा द्वारा विश्व-रक्षक का पद प्राप्त किया। ब्रह्मा शिव के द्वारा किस प्रकार दण्डित हुए अमर्यादित कार्य करके। इस प्रकार महाकवि ने सदाशिव के सगुण और निर्गुण दोनों

रूपों का बड़ा प्रभावशाली निरूपण किया है।[1] स्तुतिपरक गीतियों में इस स्तोत्र का सर्वोच्च स्थान है, इसमें सन्देह नहीं।

'शिवताण्डव' की गीतियाँ

यदि जनश्रुति को मान्यता प्रदान की जाय तो 'शिवताण्डव' को स्तुतिपरक गीतियों में सब से प्राचीन मानना पड़ेगा। इसे रावण-रचित कहा और माना जाता है। स्तोत्र के अन्त में यह श्लोक मिलता है—

पूजावसानसमये दशवक्त्रगीतं
यः शम्भुपूजनमिदं पठति प्रदोषे।
तस्य स्थिरां रथगजेन्द्रतुरङ्गयुक्तां
लक्ष्मीं सदैव सुमुखीं प्रददाति शम्भुः॥ —फलश्रुति

इसमें 'शिवताण्डव' को 'दशवक्त्रगीत' कहा गया है। कहा जाता है कि रावण इसका पाठ करके अपने मुण्ड काटकर अग्नि में हवन कर देता था। रावण एक विख्यात वेदज्ञ पण्डित था, उसने वेदों पर भाष्य लिखा था और उसका पांडित्य अद्वितीय था। इन गीतियों का कर्त्ता अवश्य ही अद्भुत प्रतिभा का कवि था। इन गीतियों की रचना 'नागराज' नामक वृत्त में हुई है। भाव, भाषा, पदबन्ध आदि के विचार से यह अत्यन्त ललित स्तुतिपरक गीतिकाव्य है। इसकी कतिपय गीतियाँ निदर्शनार्थ दी जा रही हैं—

जटाभुजङ्गपिङ्गलस्फुरत्फणामणिप्रभा-
कदम्बकुंकुमद्रवप्रलिप्तदिग्वधूमुखे।
मदान्धसिन्धुरासुरत्वगुत्तरीयमेदुरे
मनोविनोदमद्भुतं बिभर्तु भूतभर्तरि॥

—शिवताण्डव०, ४

---

१. बहलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नमः।
प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमो नमः॥
जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमो नमः।
प्रमहसिपदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः॥

—शिवमहिम्न०, ३०।

"जिसकी जटाओं से लिपटे हुए सर्पों की फणाओं पर स्थित मणियों की प्रभा का पुञ्ज दिग्वधुओं के मुखों पर कुङ्कुम के चूर्ण का लेप-सा कर दिया करता है और जिसने मदान्ध गजासुर के चर्म का नीलाभ उत्तरीय शरीर पर धारण कर रखा है, उस भूतनाथ (अखिल विश्व का पालन करनेवाले) भगवान् शिव के स्वरूप में अद्भुत मनोविनोद प्राप्त करो।"

सहस्रलोचनप्रभृत्यशेषलेखशेखर-
प्रसूनधूलिधोरणीविधूसराङ्घ्रिपीठभूः।
भुजङ्गराजमालयानिबद्धजाटजूटकः
श्रियै चिराय जायतां चकोरबन्धुशेखरः ॥[1]
—शिवताण्डव०, ६

"इन्द्रादि समस्त देवों के शिरोमुकुटों के फूलों की मकरन्द-राशि से जिनका चरण-पीठ रँग उठा करता है (देवगण जिनके चरणों की वन्दना इतना झुककर करते हैं कि उनके मुकुटों पर सजाए गए फूलों के मकरन्द उनके पाद-पीठ पर बरस पड़ते हैं), और जिनका जटा-जूट शेषनाग की माला से बँधा हुआ है, वे ही चन्द्रशेखर चिरकाल के लिए हमारी श्रीवृद्धि करते रहें।'

अखिल ब्रह्मांडनायक भगवान् शिव का सगुण रूप कवि ने इतनी आत्मीयता और मनोयोग से अंकित किया है कि उसका हृदय शिवमय हो गया प्रतीत होता है। इन स्तुति गीतों में शिव का सगुण रूप और उनके कार्यों का ही पुनः पुनः वर्णन मिलता है। इन्हें विशेष आकर्षक बनाने के लिए कवि ने भावगत चमत्कार लाने का भरपूर प्रयास किया है। इसके साथ ही भगवान् की समदर्शिता का भी महत्त्वपूर्ण वर्णन देकर उनकी परमात्मता का विद्वत्तापूर्ण प्रतिपादन किया गया है।

एक ही गीति में कवि ने उनके स्वरूप और अनेक कार्यों का बड़ी ही ललित शैली में उल्लेख किया है। संस्कृत भाषा को न समझने वाले भी इसके संगीततत्त्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते—

---

१. 'चकोरबन्धुशेखरः' शब्द का प्रयोग ध्यातव्य है। नागराज वृत्त के निर्वाह के साथ-ही-साथ शब्द भी कितना ललित और अर्थगर्भ हो उठा है।
—लेखक

प्रफुल्लनीलपङ्कजप्रपञ्चकालिमप्रभा-
वली विकण्ठकन्दलीरुचिप्रबद्धकन्धरम् ।
स्मरच्छिदं पुरच्छिदं भवच्छिद मखच्छिदं
गजच्छिदान्धकच्छिदं तमन्तकच्छिदं भजे ॥
—शिवताण्डव०, ९

"खिले हुए नील कमल की काली कान्ति जिनकी ग्रीवा में शोभित है (पुराणानुसार शिव ने हालाहल विष को पीकर उसे अपने गले में ही स्थान दे दिया, उस विष के कारण शिव जी का गला श्यामवर्णी प्रतीत होता है), जो कामदेव और त्रिपुर दैत्य के संहारक हैं, जो संसार का संहार करने वाले और दक्ष प्रजापति के यज्ञ को नष्ट करने वाले हैं जिन्होंने गजासुर और अन्धकासुर का संहार कर दिया और अधिक कहाँ तक कहें जो यमराज का भी अन्त करने वाले हैं उन्हीं देवाधिदेव महादेव शिव की मैं उपासना कर रहा हूँ।"

इस ताण्डव में कुल पन्द्रह गीतियाँ है, फलश्रुति को भी मिलाकर सोलह । शिव-भक्तों में इस स्तोत्र का सर्वाधिक प्रचार है । अपनी संगीतात्मकता के कारण यह और भी लोक-प्रिय हो उठा है ।

'सूर्यशतक' की गीतियाँ

'सूर्यशतक' के प्रणेता महाकवि मयूर हैं । मानतुङ्गाचार्य ने 'भक्तामर' नामक स्तोत्र की टीका के आरम्भ में लिखा है कि ये उज्जयिनी में वृद्धभोजराज के सभाकवि और बाणभट्ट के श्वशुर थे । आचार्य मेरुतुङ्ग-विरचित 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' में भी ये भोजराज के ही सभापण्डित कहे गए हैं किन्तु उसमें बाणभट्ट मयूर के बहनोई (भगिनीपति) कहे गए हैं । महाकवि राजशेखर ने कहा है—

अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातङ्गदिवाकरः ।
श्रीहर्षस्याभवत्सभ्यः समो बाणमयूरयोः ॥—शार्ङ्गधरपद्धति

इन बातों से इतना तो स्पष्ट ही है कि मयूर बाणभट्ट के समकालीन थे अर्थात् ये सातवीं शती ईस्वी के पूर्वार्ध भाग में हुए थे । इस एक ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य कोई भी इनका ग्रन्थ अद्यावधि देखने में नहीं आया । हाँ, इनके कतिपय फुटकल पद्य भी सुभाषित आदि संग्रह-ग्रन्थों में मिलते हैं । महाकवियों में इन्हें प्रारम्भ ही से ऊँचा स्थान मिलता आया है । राजशेखर जैसे बहुभाषाविद् महाकवि ने खुले हृदय से इनकी प्रशंसा इस प्रकार की है—

दर्पं कविभुजङ्गानां गता श्रवणगोचरम् ।
विषविद्येव मायूरी मायूरी वाङ् निकृन्तति ॥ —सूक्तिमुक्तावलि

"महाकवि मयूर की कविता मायूरी विषविद्या (सर्व का विष उतारने का मन्त्र) के समान जब कवि-भुजङ्गों को सुनाई पड़ती है तब उनका सारा दर्प चूर-चूर हो जाता है ।"

इधर आकर महाकवि जयदेव ने इन्हें कविता-कामिनी का कर्णपूर कहा है—

यस्याश्चोरः चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरो ।
—प्रसन्नराघव, प्रस्तावना

कहते हैं कि इस महाकवि को किसी कारणवश कुष्ठ रोग हो गया था और उसी के निवारणार्थ इन्होंने 'सूर्यशतक' की रचना की थी और ये रोग मुक्त हो गए थे । इस ग्रन्थ पर लिखी गई तीन प्राचीन टीकाएँ हैं, टीकाकार हैं, वल्लभदेव, मधुसूदन और त्रिभुवनपाल । यज्ञेश्वर शास्त्री की लिखी नवीन टीका भी मिलती है । मधुसूदन की लिखी टीका मिलतीं नहीं । 'सूर्यशतक' की गीतियाँ ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश आदि अलङ्कार-ग्रन्थों में उपलब्ध होती हैं । कतिपय गीतियाँ देखें—

गन्धर्वैर्गद्यपद्यव्यतिकरितवचोहृद्यमातोद्यवाद्यै-
राद्यैर्यो नारदाद्यैर्मुनिभिरभिनुतो वेदवेद्यैर्विभिद्य ।
आसाद्यापद्यते यं पुनरपि च जगद्यौवनं सद्य उद्य-
न्नुद्द्योतो द्योतितद्यौर्द्यतु दिवसकृतोऽसाववद्यानि वोऽद्य ॥
—सूर्यशतक, ३६

"भगवान् सूर्य का वह प्रकाश आप लोगों के पापों को नष्ट करे, जो समग्र अन्तरिक्ष को द्योतित कर रहा है, जिसका गुण-गान गन्धर्व और नारदादि आद्य ऋषि गद्य-पद्य-मिश्रित वाणी तथा आतोद्य वाद्य यन्त्रों [आतोद्य बाजे चार प्रकार के होते हैं, तत (वीणा आदि), वितत (घन, कांस्यताल आदि), घन (मुरज आदि) और सुषिर (वंशी आदि)] द्वारा जिसका मनोहारी गुण-गान किया करते हैं और जिसे पाकर सारा संसार यौवन को प्राप्त करता है ।"

चक्री चक्रारपंक्तिं हरिरपि च हरीन्धूर्जटिर्धूर्ध्वजान्ता-
नक्षं नक्षत्रनाथोऽरुणमपि वरुणः कूबराग्रं कुबेरः ।

रंहः संघः सुराणां जगदुपकृतये नित्ययुक्तस्य यस्य
स्तौति प्रीतिप्रसन्नोऽन्वहमहिमरुचेः सोऽवतात्स्यन्दनो वः ॥[1]
—सूर्य०, ७१

"भगवान् सूर्य का वह रथ आप लोगों की रक्षा करे जो लोकोपकार के निमित्त नित्य जुता रहता है, जिसके पहिए की अर-पंक्ति (पहिए की बीच में लगी हुई आड़ा लकड़ियाँ) की स्तुति विष्णु, घोड़ों की इन्द्र, ध्वजान्तों की रुद्र, धुरी की चन्द्र, सारथी अरुण की वरुण, जुए के अग्रभाग की कुबेर और वेग की देवगण प्रसन्नतापूर्वक प्रतिदिन किया करते हैं।"

इस गीति की रचना कवि ने अनुप्रास के मोह से की है, न कि पुराणों वा इतिहास-ग्रन्थों के प्रामाण्य पर, इसीलिए प्रकाशकार ने इसमें 'प्रसिद्धि विरोध' रूप अनुप्रास-दोष दिखाया है।[2] हिन्दी के कतिपय परवर्ती कवियों ने भी इस प्रकार का अनुप्रास-मोह दिखलाया है। इस प्रकार की कविताओं में चमत्कृति का ही प्राधान्य होता है, भाव वा रस का नहीं। मयूर ने अपने काव्य में पांडित्य-प्रदर्शन अधिक किया है, इसीलिए इसमें काव्योपयुक्त सुकुमार पदावली का अभाव पाया जाता है। आचार्य कुन्तक ने कठोर वा श्रुतिकटु वर्णों के प्रयोग को दोषयुक्त कहते हुए इनके एक पद्य को उद्धृत किया है[3] और उसी को आचार्य मम्मट ने नीरस कहकर उद्धृत किया है।[4] गीतियों का प्रधान गुण उसकी रस-पेशलता और भावात्मकता है, यदि भावक गीतियों को पढ़ वा सुनकर भावविभोर नहीं हुआ, रस-धारा में प्रवाहित नहीं हुआ तो उन्हें गीति नाम से पुकारना ही अपनी नीरसता का परिचय देना है। मयूर की बहुत-सी गीतियाँ अत्यन्त उच्च कोटि की भी हैं और उन्हें उत्तम काव्य कहा जा सकता है। देखिए—

नो कल्पापायवायोरदयरयदलत्क्ष्माधरस्यापि गम्या,
गाढोद्गीर्णोज्ज्वलश्रीरहनि न रहिता नो तमः कज्जलेन।

---

१. काव्यप्रकाश, उल्लास १० में प्रसिद्धि के अभाव रूप अनुप्रास-दोष के लिए उद्धृत, उदा० ५८०।

२. वही।

३. देखिए, वक्रोक्तिजीवित, उन्मेष २, उदाहरण २१।

४. देखिए, काव्यप्रकाश, उल्लास ७, उदा० ३०१।

प्राप्तोत्पत्तिः पतङ्गान्न पुनरुपगता मोषमुष्णत्विषो वो,
वर्तिः सैवान्यरूपा सुखयतु निखिलद्वीपदीपस्य दीप्तिः ॥
—सूर्य०, २३

"जम्बू आदि समस्त द्वीपों के दीप-स्वरूप (प्रकाशक) भगवान् सूर्य की वह दीप्ति आप लोगों को आनन्दित करे, जो और दीपकों की वर्त्तियों से भिन्न रूपवाली है, क्योंकि यह वत्ती कल्पान्तकारिणी उस वायु से भी नहीं बुझती जो अपने प्रचण्ड वेग से पर्वतों को भी विदीर्ण कर देती है (अन्य दीपक सामान्य वायु के झोंके से भी बुझ जाते हैं), जो दिन में भी उज्ज्वल प्रकाश को घनीभूत रूप में उद्गीर्ण करती रहती है (अन्य दीपक दिन में निष्प्रभ हो जाते हैं), जो अन्धकार रूप कज्जल से शून्य है (अन्य दीपों से कज्जल उत्पन्न होता है), जो पतङ्ग (सूर्य) से उत्पन्न होती है किन्तु पतङ्ग (दीपक पर उड़ने वाला कीड़ा) से बुझती नहीं (साधारण दीप को पतङ्ग बुझा देते हैं)।"

भगवान् सूर्य की दीप्ति का यह वर्णन अत्यन्त प्रभावपूर्ण एवं काव्यात्मक है। व्यतिरेक अलंकार का कितना सुन्दर निदर्शन है। आचार्य आनन्दवर्धन ने श्लेषरहित साम्य मात्र पर प्रतिष्ठित गीतिगत व्यतिरेकालङ्कार की चारुता की प्रशंसा की है।[1]

दत्तानन्दाः प्रजानां समुचितसमयाकृष्टसृष्टैः पयोभिः
पूर्वाह्णे विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यह्नि संहारभाजः।
दीप्तांशोर्दीर्घदुःखप्रभवभवभयोदन्वदुत्तारनावो
गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु ॥[2]
—सूर्य०, ९

१. ध्वनिकार ने श्लेषहीन व्यतिरेक अलङ्कार के लिए इस गीति को उद्धृत करके कहा है—

"अत्रहि साम्यप्रपञ्चप्रतिपादनं विनैव व्यतिरेको दर्शितः। नात्र श्लेषमात्राच्चारुत्वनिष्पत्तिरस्तीति श्लेषस्य व्यतिरेकाङ्गत्वेनैव विवक्षितत्वान्न स्वतोऽलङ्कारतेऽत्यपि न वाच्यम्। यत एवंविधे विषये साम्यमात्रादपि सुप्रतिपादिताच्चारुत्वं दृश्यत एव।

—ध्वन्यालोक, उद्योत २, कारिका १९

२. ध्वन्यालोक, उद्योत २, कारिका २१ में 'शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि' के लिए उद्धृत।

वे सूर्य की किरणें आप लोगों के हृदयों में उत्कृष्ट और अपरिमित सुख उत्पन्न करें जो गायों के समान समुचित समय पर दूध के समान जल को खींच कर फिर उसे बरसा कर लोक को आनन्द प्रदान करती हैं (गायें भी दिन भर दूध का संग्रह करतीं और सायंकाल उसे देकर पालक को आनन्दित करती हैं। जो दिन के पूर्व भाग में अर्थात् प्रातःकाल दिशाओं में फैल जातीं (गाएँ भी चरने के लिए सवेरे छूटती हैं) तथा दिन के अन्त होने पर एकत्र हो जाती हैं और जो लम्बे दुःखों के उत्पत्ति-स्थान संसार के भय रूपी समुद्र से पार करने के लिए नौका-स्वरूप हैं (आगमों के अनुसार गाएँ संसार-समुद्र से लोक को पार पहुँचाती हैं)।

इस गीति में श्लेष शब्दनिष्ठ नहीं है, अपितु वह आक्षिप्त रूप में उपस्थित होता है। अतः यहाँ श्लेष से अनुस्वानसन्निभ संलक्ष्यक्रम व्यंग्य है और शुद्ध ध्वनि का विषय है। इसी को दिखाने के लिए ध्वनिकार ने शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का स्वरूप समझाते हुए कहा है—

आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः॥

—ध्वन्यालोक, उद्योत २, कारिका २१

'चण्डीशतक' की गीतियाँ

बाण के पूर्वज सोन नद के तटवर्ती प्रीतिकूट नामक नगर में निवास करते थे। इनके पूर्वज प्राचीन काल से विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध थे। इनका गोत्र वात्स्यायन था। इनके पिता का नाम चित्रभानु था और वे भी अपने समय के प्रकाण्ड विद्वान् थे। जब बाण बच्चे थे तभी इनके माता-पिता का देहावसान हो गया। पैतृक सम्पत्ति की प्रचुरता के कारण बाण एक आवारा लड़के हुए। उन्होंने अपना प्रारम्भिक जीवन घुमक्कड़पने में बिताया किन्तु देशाटन का परिणाम इतना अवश्य हुआ कि इन्होंने प्रभूत मात्रा में अनुभव सञ्चित किया। उस समय इनके विच्छृंखल जीवन और फक्कड़पन की लोग खिल्ली उड़ाया करते थे। सहसा इनके दुर्नाम की चर्चा महाराज हर्षवर्धन के कानों तक पहुँची और वहाँ ये बुलाए गए। महाराज ने पहले इनके प्रति उपेक्षा और तिरस्कार का भाव ही दिखलाया किन्तु इनकी प्रकाण्ड विद्वत्ता का परिचय पाकर इन्हें अपना मित्र बना लिया। उसके अनन्तर बहुत दिनों तक ये उनकी सभा को अलंकृत करते रहे, फिर अपने घर लौट आए।

इनकी प्रथम रचना 'हर्षचरित' है, जिसमें इन्होंने अपना परिचय भी दिया है। किन्तु उसमें अपने विवाह और पुत्रों के विषय में कुछ भी नहीं कहा है। जनश्रुति के अनुसार महाराज हर्ष के सभा-कवि मयूरभट्ट की बहिन से इनका विवाह हुआ था। इनकी अपूर्ण 'कादम्बरी' की पूर्ति इनके प्रतिभाशाली पुत्र पुलिन्द भट्ट ने की।[1] वे आरम्भ में ही लिखते हैं—

याते दिवं पितरि तद्वचसैव सार्धं
विच्छेदमाप भुवि यस्तु कथाप्रबन्धः।
दुःखं सतां तदसमाप्तिकृतं विलोक्य
प्रारब्ध एव च मया न कवित्वदर्पात्॥

—कादम्बरी, उत्तरार्ध, १

अर्थात् पिता जी के अधूरे काव्य-ग्रन्थ से रसिकों को दुःखी देखकर ही मैंने इसकी पूर्ति में हाथ लगाया, सज्जन इसे मेरा कवित्व-दर्प नहीं समझेंगे।

'चण्डीशतक' की रचना का कारण

जनश्रुति कहती है कि एक दिन की बात है कि बाण की पत्नी इनसे रुष्ट होकर मान कर बैठी थी। प्रभात की रमणीय वेला आ पहुँची थी, किन्तु तिस पर भी उसका मान टूटा नहीं था। महाकवि ने सोचा कि एक सुन्दर कालोपयुक्त कविता सुनाकर उसका मान खण्डित करूँ। उन्होंने नूतन गीति रचते हुए उसे सुनाना आरम्भ किया—

"गतप्राया रात्रिः कृशतनु शशी शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णत इव।
प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो!......

ये गीति के तीन चरण ही सुना पाए थे कि इनके साले महाकवि मयूरभट्ट इनके यहाँ आ पहुँचे। उन्होंने बाण की गीति के तीनों चरण सुने थे और पहुँचते-पहुँचते चतुर्थ चरण की पूर्ति उन्होंने इस प्रकार कर सुनाई—

"कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि कठिनम्।"

---

१. केवलोऽपि स्फुरन् बाणः करोति विमदान्कवीन्।
किं पुनः क्लृप्तसन्धानः पुलिन्ध्रकृतसन्निधिः॥

—तिलकमञ्जरी (धनपाल-रचित)

मयूर के मुँह से ऐसी बात सुनकर बाण क्रुद्ध हो उठे और उन्हें कुष्ठी हो जाने का शाप दे डाला। मयूर ने भी इन्हें शाप दे दिया। अन्त में शाप से मुक्त होने के लिए बाण ने 'चण्डीशतक' की और मयूर ने 'सूर्यशतक' की (जिसकी चर्चा पीछे हो चुकी है) रचना की। परिणामस्वरूप दोनों ही शाप-मुक्त हो गए।

बाण की प्रशस्तियाँ

प्राचीन सूक्ति न जाने कब से चली आ रही है—

बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्।

सारा संसार बाण का जूठा है (कोई वस्तु बची नहीं जहाँ बाण की कवि-दृष्टि न पहुँची हो)। गोवर्धनाचार्य ने तो बाण को सरस्वती का अवतार ही माना है। वे कहते हैं—

जाता शिखण्डिनी प्राग्यथा शिखण्डी
तथाऽवगच्छामि।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी
बाणो बभूवेति॥

—आर्यासप्तशती, ग्रन्थारम्भव्रज्या ३७

अर्थात् बाण के रूप में वाणी और भी अधिक प्रगल्भ हो गई ('वाणी' के 'व' का 'बाण' के 'ब' में परिणत होना भी प्रगल्भता को द्योतित करता है)।

इधर महाकवि जयदेव ने बाण को कविता-कामिनी के हृदय में प्रतिष्ठित 'पञ्चबाण' की संज्ञा दे दी—

यस्याश्चोरः चिकुरनिकुरः कर्णपूरो मयूरो
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः
केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय॥

—प्रसन्नराघव, प्रस्तावना

कहने का तात्पर्य यह कि बाण सर्वविद्वज्जन-मान्य उच्चकोटि के महाकवि हैं। उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त 'पार्वतीपरिणय' नामक नाटक तथा 'पादताडितक' नलचम्पू भी इनके नाम से मिलते हैं। किन्तु विद्वानों इन दोनों

को दूसरों की रचना सिद्ध किया है। इनके 'चण्डीशतक' की एक गीति यहाँ दी जाती है—

विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे
जाताशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति त्यक्तवैरे कुवेरे।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषं पौरुषोपघ्ननिघ्नं
निर्विघ्नं विघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी॥[1]
—चण्डीशतक

"जब युद्ध-भूमि में औरों के पौरुष के विघ्नों पर जय पाने वाले अत्यन्त क्रुद्ध महिषासुर के सामने से एकादश रुद्र भाग खड़े हुए, सूर्य ठंढा पड़ गया, इन्द्र का वज्र टूक-टूक हो गया, चन्द्र अत्यन्त भीत हो उठा, मरुत की गति रुक गई, कुवेर ने हार मान ली, विष्णु का चक्र कुण्ठित हो गया तब उसे (असुर को) निर्विघ्न मार डालनेवाली, भावों से भरी हुई भवानी आप लोगों के पाप को नष्ट करें।"

पद-सन्धान कितना सुन्दर और मधुर एवं साभिप्राय है तथा अभीष्ट देवी के उत्कर्ष-प्रदर्शन का ढंग कितना मार्मिक है। भाषा का प्रसन्न प्रवाह अत्यन्त आह्लादजनक और प्रसाद गुण पूरी मात्रा में वर्तमान है। इससे स्पष्ट है कि कादम्बरीकार गीति-रचना में भी पूर्ण सिद्ध और समर्थ महाकवि था।

शङ्कराचार्य की गीतियाँ

शङ्कर का जन्म भारत के दक्षिण भाग में स्थित केरल प्रान्त में हुआ था। अल्प वय में ही इन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया था। इनका समय सातवीं शती ईस्वी का उत्तरार्द्ध भाग है। इनका पाण्डित्य सिन्धु-सा गम्भीर था। इन्होंने पन्द्रह वर्ष की अल्पायु से ही अवैदिक बौद्धादि सम्प्रदायों के आचार्यों को पराजित करना आरम्भ कर दिया था। बाल्यकाल में ही आसेतु-हिमाचल इनकी विजय-वैजयन्ती फहराने लगी। अन्य सम्प्रदायों के दिग्गज आचार्य इनके ज्ञान के दिगन्तव्यापी प्रकाश को देखकर दिनान्धों की भाँति तमोगह्वरों में शरण लेने लगे। दार्शनिक जगत् में इन्होंने अद्वैत दर्शन की प्रतिष्ठा की। इनकी मान्यता 'मायावाद' के नाम से प्रख्यात है। इनके

१. सरस्वतीकण्ठाभरण, परि० २।१० में 'वर्णानुप्रास वेणिका' के लिए उद्धृत।

अगाध पाण्डित्य, अलौकिक प्रतिभा और दिव्य ज्ञान के समक्ष सारा विश्व नतमस्तक हो गया और संसार ने इन्हें 'जगद्‌गुरु' की उपाधि से भूषित किया। बड़े-बड़े कर्मकांडियों और उपासना-मार्गियों को इनके आगे मूक होना पड़ा।

परमार्थतः अद्वैत के प्रतिष्ठाता होने पर भी व्यवहारतः इन्होंने सगुणोपासना का समर्थन किया है। जिसके प्रमाण-स्वरूप इनके द्वारा विरचित नाना देवी-देवों की स्तुति-गीतियाँ रखी जायँगी। आचार्य शङ्कर के नाम से विरचित स्तुतिगीतियों की संख्या विशाल है, किन्तु उनमें सब की सब गीतियाँ आद्य शङ्कराचार्य-विरचित नहीं हैं। हाँ, उनमें उच्च कोटि की ललित गीतियाँ अवश्य उनकी ही वाणी का प्रसाद है। इनकी गीतियों की पद-माधुरी, रसात्मकता, अर्थ-गाम्भीर्य और सहजता अपनी प्रासादिकता में अनुपम है। सङ्गीतात्मकता इन गितियों का महान् गुण है, जिसमें पाठक भावविभोर हो जाता है। 'आनन्दलहरी', 'मोहमुद्गर', 'आत्मबोध', 'अपराधभञ्जनस्तोत्र', 'यतिपञ्चक' आदि इनके रचित स्तोत्र हैं।

'सौन्दर्यलहरी' वा 'आनन्दलहरी'

'आनन्दलहरी' को कुछ लोग 'सौन्दर्यलहरी' भी कहते हैं। इसमें हम भगवती जगज्जननी उमा के अलौकिक रूप और उनके विश्वव्यापी प्रभाव का अनुपम वर्णन तन्त्रशास्त्र के गम्भीर रहस्यों से गुम्फित पाते हैं। भिन्न-भिन्न देव उन्हीं की कृपा से अपने प्रभाव-विस्तार में समर्थ हो पाते हैं। इसकी कतिपय गीतियाँ देखिए—

धनुःपौष्पं मौर्वी मधुकरमयी पञ्चविशिखा
वसन्तः सामन्तो मलयमरुदायोधनरथः।
तथाप्येकः सर्वं हिमगिरिसुते कामपि कृपां
अपाङ्गात्ते लब्ध्वा जगदिदमनङ्गो विजयते॥

—आनन्दलहरी, ६

'हे उमा! भौरों की प्रत्यञ्चा से युक्त फूल का धनुष, पाँच बाण, वसन्त सामन्त और मलयानिल का युद्ध-रथ लेकर अकेला कामदेव जो सम्पूर्ण विश्व को जीत लेता है, वह तुम्हारी नयन-कोर की कृपा का ही फल है (तुम्हारी कृपा के विना उसमें इतनी शक्ति ही कहाँ है कि वह एक व्यक्ति पर भी विजय प्राप्त कर ले)।"

महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथं
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि ॥—आनन्द०,९

"हे त्रिपुरसुन्दरी! तुम मूलाधार में पृथ्वी को, मणिपूर में अग्नि को, हृदय में मरुत् को, ऊपर आकाश को, भौंहों के बीच मन को, इस समस्त कुल-पथ को पार करके सहस्रार कमल में अपने पति (भगवान् शिव) के साथ नित्य एकान्त विहार करती रहती हो।"

इस गीति में जगद्गुरु ने तन्त्र शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों में योग के निगूढ़ तत्त्व को काव्य के परिवेश में अत्यन्त सुन्दरता के साथ बाँध दिया है। आचार्य के अतिरिक्त यह सामर्थ्य भला अन्य किसमें मिल सकती है ?

भगवती त्रिपुरसुन्दरी के अंगों का सौन्दर्य चित्रित करते हुए उनके केशों का वर्णन करते आचार्य कहते हैं—

धुनोतु ध्वान्तं नस्तुलितदलितेन्दीवरदलं
घनं श्लक्ष्णं स्निग्धं चिकुरनिकुरम्बं तव शिवे।
यदीयं सौरभ्यं सहजमुपलब्धुं सुमनसो
वसन्त्यस्मिन्मन्ये बलमथनवाटीविटपिनाम्॥

आनन्द०, ४३

"हे शिवे! नील कमलदल का भी तिरस्कार करनेवाली आप की वह घनी, सूक्ष्म और कोमल केश-राशि हमलोगों के अन्धकार का विनाश करे, जिसकी सुगन्ध को सहज ही प्राप्त करने के लिए ही मानों नन्दन वन के तरुवरों के फूल उसमें निवास कर रहे हों।"

जगदम्बिका महामाया के पारमार्थिक स्वरूप को जगद्गुरु ने त्रिगुणातीत परब्रह्म-महिषी कहा है। वे शारदा, रमा और उमा तीनों से परे हैं—

गिरामाहुर्देवीं द्रुहिणगृहिणीमागमविदो
हरेः पत्नीं पद्मां हरसहचरीमद्रितनयाम्।
तुरीया कापि त्वं दुरधिगमनिःसीममहिमा
महामाये विश्वं भ्रमयति परब्रह्ममहिषि॥

—आनन्द०, ९९

"हे महामाया ! आगमवेत्ताओं ने ब्रह्मा की पत्नी को वाणी देवी, विष्णु की पत्नी को लक्ष्मी औ शिव की सहचरी को पार्वती कहा है। किन्तु तुम उन तीनों से परे निःसीम महिमावाली कोई और ही हो जो सारे विश्व को नचा रही हो।"

'आनन्दलहरी' में कुल १०३ गीतियाँ हैं। १०२ गीतियों की रचना शिखरिणी में तथा अन्तिम गीति वसन्ततिलका वृत्त में है।

'मोहमुद्गर' की गीतियाँ

'मोहमुद्गर' की गीतियाँ मायामय विश्व से पृथक् होकर ब्रह्म की ओर आकृष्ट होने का उपदेश देती हैं। स्वार्थान्ध जगत् को त्याग देने पर ही वास्तविक सुख और शान्ति उपलब्ध हो सकती है, अन्यथा अन्त में पश्चात्ताप की अग्नि में दुःसह कष्ट और यातनाएँ झेलनी पड़ती हैं। देखिये इनमें कितना सच्चा लोकानुभव सङ्कलित है—

यावद्वित्तोपार्जनशक्तः तावन्निजपरिवारो रक्तः।
तदनु च जरया जर्ज्जरदेहे वार्ता कोऽपि न पृच्छति गेहे॥

—मोह०, ८

सुरमन्दिरतरुमूलनिवासः शय्याभूतलमजिनं वासः।
सर्वपरिग्रहभोगत्यागः कस्य सुखं न करोति विरागः॥

—वही०, १०

इन गीतियों में लोकज्ञान की परिपक्वता इतनी कूट-कूट कर भरी हुई है कि वाणी जैसे सीधे हृदय से अपने आप फूट निकली है। कहीं भी यत्नज पंक्ति देखने में नहीं आती। इसीलिए भावों की अभिव्यक्ति में कहीं भी रुकावट नहीं पाई जाती। शान्त रसपरक ऐसी उत्तम गीतियाँ अन्यत्र नहीं दिखाई पड़तीं। इसमें कुल १७ गीतियाँ हैं और सबकी सब अलौकिक आनन्द से भरी हुई।

'आत्मबोध'

'आत्मबोध' शुद्ध ज्ञानोपदेश है, इसका क्षेत्र भाव-लोक न होकर ज्ञान-लोक है। इसकी गीतियाँ सीधे बुद्धि से बातें करती हैं। जैसे—

व्यावृत्तेष्विन्द्रियेष्वात्मा व्यापारीवाविवेकिनाम्।
दृश्यतेऽभ्रेषु धावत्सु धावन्निव यथा शशी॥

—आत्मबोध, १८

अर्थात् अज्ञानी जनों को चञ्चल इन्द्रियों से ढ़की हुई आत्मा उसी प्रकार व्यापारी-सी प्रतीत होती है जिस प्रकार दौड़ते हुए बादलों में चन्द्रमा भी दौड़ता-सा लगता है। इसमें ६७ श्लोक हैं।

'अपराधभञ्जन' स्तोत्र

इसमें कुल १७ गीतियाँ हैं। ये गीतियाँ भक्ति रस से परिपूर्ण हैं। आरम्भ में भगवान् शिव का सगुणरूप-चित्रण, तदनन्तर मनुष्य की माता के उदर में स्थिति, पुनः मायामय जगत् में अविवेकपूर्ण जीवनयापन का वर्णन और अन्त में क्षमा-याचना की गई है। गीतियाँ बड़ी ही मर्म्मस्पर्शिणी हैं—

शान्तं पद्मासनस्थं शशधरमुकुटं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रं
शूलं वज्रञ्च खड्गं परशुमपि वरं दक्षिणांगे वहन्तम्।
नागं पाशं च घण्टां डमरुकसहितं चाङ्कुशं वामभागे
नानालङ्कारदीप्तं स्फटिकमणिनिभं पार्वतीशं भजामि॥

—अपराध०, १

वन्दे देवमुमापतिं सुरगुरुं वन्दे जगत्कारणं
वन्दे पन्नगभूषणं मृगधरं वन्दे पशूनाम्पतिम्।
वन्दे सूर्यशशाङ्कवह्नि नयनं वन्दे मुकुन्दप्रियं[1]
वन्दे भक्तजनाश्रयञ्च वरदं वन्दे शिवं शङ्करम्॥

—अपराध०, २

"शान्त पद्मासन लगाए आसीन जिन भगवान् शिव के शीश पर चन्द्र का मुकुट शोभित है, जिनके पाँच मुख और तीन नेत्र हैं, जिनके दाएँ भाग में त्रिशूल, वज्र, खड्ग और श्रेष्ठ फरसा है और बाएँ भाग में नाग, पाश, घण्टा

---

१. 'मुकुन्दप्रिय' विशेषण से यह स्पष्ट है कि भगवान् शङ्कराचार्य की परिष्कृत दृष्टि में शिव और विष्णु का अविरोध प्रतिष्ठित था। प्राचीन सभी महाकवियों ने इस अविरोध का उन्मुक्त हृदय से समर्थन किया है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी पूरे रामचरित में इस सत्य का समर्थन किया है तथा एक स्थान पर स्पष्ट शब्दों में राम से कहलवा दिया है—

सङ्करप्रिय मम द्रोही, सिवद्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महँ बास॥

—रामचरितमानस, लङ्काकाण्ड

और डमरू शोभित हैं, जिनके अङ्गों पर भिन्न-भिन्न अलङ्कार हैं तथा जिनके शरीर की कान्ति स्फटिक मणि के समान है, उनकी मैं वन्दना करता हूँ।

"देवों के गुरु उन भगवान् शिव की मैं वन्दना करता हूँ जो सारे विश्व के जनक हैं, जिनके शरीर पर सर्प आभूषण के समान शोभित हैं, जो मृग को धारण करते हैं और जो पशुपति हैं, सूर्य-चन्द्रमा और अग्नि जिनके तीनों नयन हैं, जो भगवान् विष्णु को अतिशय प्रिय हैं, जो भक्तजनों के आश्रय-स्थल और उन्हें (मनोवांछित) वर प्रदान करने वाले हैं।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये गीतियाँ शैव भक्तों के लिए महामन्त्र हैं और ज्ञान-लोक में पहुँचने के लिए प्रथम सोपान हैं। आजीवन देवाधिदेव की अर्चना मुक्तसङ्ग नहीं की, ध्यान-धारणा-प्राणायाम-प्रत्याहार-युक्त समाधि में लीन होकर सदाशिव का साक्षात्कार नहीं किया, फिर भी परम कृपालु दयामय शिव के चरणों की शरण में जाने पर सारे अपराध क्षम्य हो जायँगे। इस दृढ़ विश्वास को लेकर भक्त कहता है—

नग्नो निःसंगशुद्धस्त्रिगुणविरहितो ध्वस्तमोहान्धकारो
नासाग्रे न्यस्तदृष्टिर्विरहभवगुणैर्नैव दृष्टं कदाचित्।
उन्मत्तयावस्थया त्वां विगतकलिमलं शङ्करं न स्मरामि
क्षन्तव्यो मेऽपराधः शिव शिव भोः श्रीमहादेव शम्भो॥

—अपराधभञ्जन०, १०

"मैंने नग्न और निःसङ्ग शुद्ध, सत्-रज-तम तीनों गुणों से पृथक् रह कर मोह के अन्धकार को नष्ट करके नासिका के अग्रभाग में दृष्टि स्थिर करके विरह से उद्भूत गुणों से कभी देखा नहीं और उन्मत्त दशा में रहता हुआ मैं तुम्हें स्मरण भी नहीं करता हूँ। किन्तु हे भगवन्! मेरी अब से बार-बार प्रार्थना है कि मेरे इस अपराध को क्षमा कर दें।"

जिनका सारा शरीर और पूरा परिवेश निष्कल्मष एवं उज्ज्वल है वे ही शिव जी पाप की कालिमा से भक्तों की रक्षा करके उनके चित्त में पुण्य कर्मों की उज्ज्वलता ला सकते हैं—

गात्रं भस्मसितं सितञ्च हसितं हस्ते कपालं सितं
खट्वाङ्गञ्च सितं सितश्च वृषभः कर्णे सिते कुण्डले।

गङ्गाफेनसितं जटाचयसितं चन्द्रः सितो मूर्धनि
सोऽयं सर्वसितो ददातु विभवं पापक्षयं शङ्करः ॥

—अपराधभञ्जन, १७

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् शिव के विभिन्न स्वरूपों की स्तुतियाँ शङ्कर ने अत्यन्त मनोनिवेशपूर्वक लिखी हैं, उनके भीतर इनका शुद्ध और लोक-संग्रही हृदय स्पष्ट दृष्टि आता है। इसी प्रकार भगवती अन्नपूर्णा की, विष्णु की, हनूमान् की और अन्यान्य देवी-देवों की स्तुतियाँ प्राञ्जल भाषा में निबद्ध शङ्करकृत मिलती हैं। आद्य शङ्कर की स्तुतियाँ अन्य शङ्करकृत स्तुतियों से अपना पार्थक्य स्वतः प्रकट कर देती हैं।

'मुकुन्दमाला' की गीतियाँ

'मुकुन्दमाला' के कर्त्ता आचार्य कुलशेखर त्रिवांकुर के राजा थे। इनका समय दशम शतक था। इसका लिखा स्तोत्र वैष्णव स्तोत्रों में श्रेष्ठ माना जाता है। माला में कुछ २२ गीतियाँ है।[१] दक्षिण भारतीय आलवार वैष्णवों में इनका स्थान अत्यन्त ऊँचा और महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने विष्णु के अपर रूप कृष्ण की प्रमुख रूप से आराधना की है, कृष्ण वसुदेव और देवकी के पुत्र तो हैं किन्तु राधा-वल्लभ नहीं हैं। इसका तात्पर्य यह कि दक्षिण भारत में राधा की प्रतिष्ठा कृष्णप्रिया के रूप में नहीं हुई थी। वहाँ वृष्णिवंशप्रदीप का उल्लेख अवश्य है, किन्तु राधा का तो कहीं भी नहीं है। भक्त-शिरोमणि कुलशेखर ने अत्यन्त निरभिमानिता से भगवच्चरणों में आत्म-निवेदन करते हुए सब प्रकार से अपने दैन्य का ही उल्लेख किया है। भक्तप्रवर कुलशेखर और यामुनाचार्य द्वारा जिस भक्ति का रससिक्त कण्ठ से गान किया गया है, वही भक्ति अपने पूर्ण वेग के साथ आगे चलकर उत्तर भारत में फैल गई और उत्तर भारत के भक्तों के कण्ठों से हम जिन रसमयी गीतियों को सुनते

१. बाबू भुवनचन्द्र बासक द्वारा प्रकाशित और मुद्रित प्रति में, जो 'कांव्यसंग्रह' भाग २ में सङ्कलित है, कुल २२ गीतियाँ हैं। इसका मुद्रण 'शब्द ज्ञान रत्नाकर' प्रेस, कलकत्ता से १८७३ ई० में हुआ था। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपने 'संस्कृतसाहित्य का इतिहास' ग्रन्थ में 'मुकुन्दमाला' में ३४ श्लोक-संख्या बताई है, किन्तु 'काव्यसंग्रह' में दी गई 'मुकुन्दमाला' में २२ गीतियाँ ही मेरे देखने में आईं।

हैं, उनका स्वर भी वही दक्षिण भारतीय भक्तों का ही है। कतिपय गीतियाँ 'मुकुन्दमाला' से यहाँ दी जा रही हैं—

वन्दे मुकुन्दमरविन्ददलायताक्षं
कुन्देन्दुशंखदशनं शिशुगोपवेशम्।
इन्द्रादिदेवगणवन्दितपादपीठं
वृन्दावनालयमहं वसुदेवसूनुम्॥ —मुकुन्दमाला, १

"कमलदल के समान दीर्घ नयनों वाले, कुन्द, इन्दु और शंख के सदृश उज्ज्वल दाँतों वाले, गोप-शिशु का वेश बनाने वाले, वृन्दावन-वासी, वसुदेव के पुत्र उस कृष्ण की मैं वन्दना करता हूँ जिनके पाद-पीठ की वन्दना इन्द्रादि देवगण किया करते हैं।"

भक्ति की पहली शर्त है विश्वास। यदि अपने इष्टदेव की अलौकिक शक्ति में विश्वास नहीं है तो मनुष्य भक्त नहीं हो सकता। यह विश्वास ही इष्टदेव के प्रति अगाध श्रद्धा को भी जन्म देता है। भक्त-शिरोमणि महाराज कुलशेखर में हम इष्टदेव के प्रति असीम विश्वास का दर्शन करते हैं। अपने मन को सान्त्वना देते हुए उसी विश्वास के स्वर में ये कहते हैं—

मा भैर्मन्दमनो विचिन्त्य बहुधा यामीश्चिरं यातना
नैवामी प्रभवन्ति पापरिपवः स्वामी ननु श्रीधरः।
आलस्यं व्यपनीय भक्तिसुलभं ध्यायस्व नारायणं
लोकस्य व्यसनापनोदनकरी दासस्य किन्न क्षमः॥
—मुकुन्द०, १०।

"हे मेरे पापी मन! इन सब सांसारिक यातनाओं को सोच-सोचकर तू भयाकुल न हो (कि मुझे ये यातनाएँ भोगनी पड़ेंगी), जब हमारे रक्षक श्रीधर हैं तक ये हमारा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकतीं। आलस्य को दूर करके भक्ति द्वारा सरलतापूर्वक प्राप्य नारायण का ध्यान करो। वे जब सारे लोकों के दुःखों को दूर करते हैं क्या दास को क्षमा प्रदान करके उसका दुःख दूर नहीं करेंगे? (अवश्य ही दास का दुःख सर्वप्रथम दूर करेंगे)।"

कवि की निश्चला भक्ति का ज्वलन्त उदाहरण उसका एक श्लोक है, जिसमें कवि ने अपनी निःस्वार्थ भक्ति का ऐकान्तिक परिचय दिया है। देखिए कवि की प्रथम और अन्तिम कामना—

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो
नरके वा नरकान्तके प्रकामम्।
अवधीरितशारदारविन्दौ
चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि ॥

—मुकुन्द०, ८

"हे मुकुन्द ! चाहे मैं स्वर्ग में रहूँ या पृथ्वी पर अथवा नरक में ही क्यों न रहूँ, किन्तु हे नरकान्तक ! मेरी अन्तिम कामना यही है कि मरण-काल में आपके शरत्कालीन कमलोंसे चरणों की चिन्ता बराबर करता रहूँ।"

कितनी ऊँची और पवित्र भावना है ! पढ़कर हृदय गद्‌गद हो जाता है। यही सच्चे भक्त की मनःस्थिति होती है। इसी पवित्र भावना का परिणाम भारत में भक्ति के विकास के रूप में दिखाई पड़ा और जिसकी छाया में समग्र भारत आज भी शान्ति की साँसें ले रहा है। आचार्य यामुन का भी इनके साथ ही भक्ति के प्रसार में प्रमुख योग है।

'स्तोत्ररत्न' की गीतियाँ

'स्तोत्ररत्न' की रचना यामुनाचार्य ने की है। ये मद्रास प्रान्त के निवासी थे। इनका समय दसवीं शती ईस्वी है। श्रीवैष्णव मत के संस्थापक रामानुजाचार्य इन्हीं के शिष्य थे। तामिल भाषा में इनका नाम 'आलबन्दार' था, इस कारण इनके स्तोत्र का नाम 'आलबन्दार-स्तोत्र' भी है। इनके स्तुति-गीतों में काव्य माधुर्य पूर्णरूपेण भरा हुआ है, भावगत और भाषागत दोनों ही। भक्त के विशुद्ध अन्तःकरण से निकले दैन्यपूर्ण उद्‌गार ही रसपूर्ण स्तोत्र हो गए हैं। एक गीति देखिए—

नवामृतस्यन्दिनि पादपंकजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति।
स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरसं समीक्षते॥

—स्तवरत्न

"हे प्रभो ! अमृतवर्षी आपके चरण-कमल में जिसने अपनी आत्मा को लीन कर दिया है वह भला किसी अन्य वस्तु की कामना कैसे कर सकता है ? जो भौंरा मकरन्द-कणों से पूर्ण कमल में जा बैठा है, वह क्या कभी ईख के रस की ओर देख सकता है ?"

'शिवस्तोत्रावली' की गीतियाँ

उत्पलदेव काश्मीर के दार्शनिक आचार्यों में श्रेष्ठ स्थान रखते हैं। त्रिक-दर्शन के प्रतिष्ठापकों में ये मूर्धन्य स्थान रखते हैं। इनका समय नवम शती ईस्वी है। इनकी 'शिवस्तोत्रावली' स्तोत्र-साहित्य का शृङ्गार है। इसमें भगवान् शिव के रूप और गुणों का बड़ी सहृदयता से चित्रण और वर्णन किया गया है। गीतियों की संख्या २१ है। भगवान् शिव के प्रति अपनी अगाध एवं ऐकान्तिक श्रद्धा तथा निष्ठा व्यक्त करते हुए ये कहते हैं—

> कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम्।
> अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते॥
>
> —शिवस्तोत्रावली

"हे ईश! आपके कण्ठ के भीतर स्थित काटकूट भी मेरे लिए महा-अमृत है, किन्तु यदि आपसे पृथक् स्थित अमृत भी मुझे मिले तो वह मुझे नितान्त ही अरुचिकर है।"

'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' की गीतियाँ

'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' गीतियों का इतना सुन्दर संग्रह है कि रस, भाव, भाषा, चमत्कार आदि की दृष्टि से अन्य कोई भी स्तोत्र इससे उत्तम नहीं कहा जा सकता। इसके रचयिता काश्मीर के महाकवि जगद्धर भट्ट हैं। इन्होंने ग्रन्थ के अन्त में अपना परिचय दिया है, जिसके अनुसार इनके पितामह का नाम गौरधर था और वे अपने समय के विद्वानों में अग्रगण्य थे। उन्होंने यजुर्वेद पर 'वेदविलास' नामक भाष्य लिखा था। इनके पिता का नाम रत्नधर था, जो परम शैव थे और वे अच्छे कवि भी थे।[1]

---

१. पुरा पुरारेः पदधूलिधूसरः, सरस्वती स्वैरविहारभूरभूत्।
विशालवंशश्रुतवृत्तविश्रुतो, विपश्चितां 'गौरधरः' किलाग्रणीः॥
—वंशवर्णन, १

अनन्तसिद्धान्तपथान्तगामिनः, समस्तशास्त्रार्णवपारदृश्वनः।
ऋजुर्यजुर्वेदपदार्थवर्णना, व्यनक्ति यस्याद्भुतविश्रुतं श्रुतम्॥—वही, ३

सुतोऽभवद्रत्नधरः शिरोमणिर्मनीषिणामस्य गुणौघसागरः।
यमाश्रिताह्लास्तसरस्वती हरेरुरःस्थलं रत्नधरं श्रितां श्रियम्॥—वही, ४

अथास्य धीमानुदपादिवादिनां वितीर्णमुद्रो वदनेष्वनेकशः।
उदारसंस्कारसुसार-भारती-पवित्र-वक्त्राम्बुरुहो 'जगद्धरः'॥—वही, ७

जगद्धर ने अपने पुत्र यशोधर के लिए 'बालबोधिनी' नामक कातंत्र व्याकरण की एक वृत्ति लिखी थी। इनके दौहित्र की दौहित्री के पुत्र राजानक शितिकण्ठ ने इनकी वृत्ति पर काश्मीर के तत्कालीन-बादशाह हसनशाह (१४७२-१४८५ ई०) के समय टीका लिखी थी। अतः अनुमानतः इनका समय चौदहवीं शती का पूर्वार्द्ध होना चाहिए।

सोलह वर्ष की वय में ही इन्होंने 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' की रचना की थी। इसमें ३८ स्तोत्र तथा १४२५ गीतियाँ हैं। ये परम शैव थे। पिता से शिव-भक्ति का संस्कार प्राप्त करके इन्होंने सदाशिव की आराधना में ही अपना जीवन समर्पित कर दिया था। अतः इन्होंने अन्य किसी विषय पर लेखनी नहीं चलाई। कुसुमाञ्जलि भक्ति की स्रोतस्विनी है। करुण रस का इतना सुन्दर परिपाक किसी अन्य स्तुति-काव्य में नहीं मिलता। अलंकारों का निवेश अत्यन्त ललित ढंग से हुआ है। त्रिक-दर्शन के सिद्धान्तों का वर्णन भी अत्यन्त सुन्दरता के साथ स्थान-स्थान पर मिलता है। सहृदय जन इनकी गीतियों पर सदा से मुग्ध और द्रवित होते आए हैं। विद्वज्जनों को दृष्टि में रखकर इन्होंने यमक और श्लेष अलंकारों की योजना बड़ी ही मार्मिकता के साथ की है किन्तु कहीं भी भावों के सौन्दर्य की क्षति नहीं होने पाई है। उस समय इन अलंकारों में रचना करना ऊँची कविता की कसौटी माना जाता था। अतः अल्पवयस्क महाकवि उसमें भी पूर्ण सफलता प्राप्त करके रहा।

यहाँ इनकी कतिपय गीतियाँ दी जाती हैं—

स्वैरेव यद्यपि गतोऽहमधः कुकृत्यै-
स्तत्रापि नाथ तव नास्म्यवलेपपात्रम्।
दृप्तः पशुः पतित यः स्वयमन्धकूपे
नोपेक्षते तमपि कारुणिको हि लोकः॥

— स्तुतिकुसुमाञ्जलि, स्तोत्र ११।३८

"हे सदाशिव! मैं यद्यपि अपने ही कुकर्मों द्वारा नीचे गिर गया हूँ, तथापि वहाँ भी मैं आपके तिरस्कार एवं उपेक्षा का पात्र नहीं हूँ, क्योंकि यदि कोई पशु अभिमानवश अन्धे कुएँ में गिर जाता है तो भी करुणा से द्रवित जन उसे वहीं छोड़ नहीं देते। उसे भी अन्धकूप से निकाल उसकी रक्षा करते हैं (जब सामान्य जनों की कारुणिकता ऐसी होती है तब करुणा के अनन्त सिन्धु आप भला मेरी उपेक्षा किस प्रकार कर सकते हैं!)।"

प्रियतमोऽसि मतेर्मम सा पुन—
र्न गुणवत्यपि ते हृदयङ्गमा।
इति महेश भवद्विरहातुरा
भजति कामपि कामकदर्थनाम् ॥ —स्तो० १०।५३

"हे महेश! आप मेरी मति के प्रियतम हैं, किन्तु गुणवती होकर भी वह आपके हृदय में स्थान न पा सकी। अब वह आपके विरह में व्याकुल होकर काम के अपार अत्याचारों को झेल रही है।"

अपि नाथ जनार्दनस्य विष्णोरपि वैकुण्ठ इति प्रसिद्धिभाजः।
अधिकं सरुषोऽपि चेद्भवत्तो झगिति प्रागभवत्सुदर्शनाप्तिः॥
अपि सर्वजनाऽविरुद्धयुद्धेरपि तीक्ष्णस्य परं जितक्रुधोऽपि।
न कथं मम साधुनाऽपि यद्वा जगदीशोऽसि विभुः किमुच्यते ते॥
—१३।३९-४०॥

"हे नाथ! आपने जनार्दन (लोगों को दुःख देने वाले), वैकुण्ठ (कुण्ठित गतिवाले) नाम से प्रसिद्ध और बड़े ही क्रोधी (कंस पर क्रोध करने वाले) विष्णु को तो प्रसन्न होकर चटपट अपना सुदर्शन (चक्र और सुन्दर दर्शन) दे डाला, किन्तु सबसे प्रेम रखनेवाले, तीक्ष्ण बुद्धिवाले और क्रोध पर विजय कर लेनेवाले इस दास को आप अब भी अपना दर्शन क्यों नहीं देते? अथवा आप जगदीश्वर हैं, आप से क्या कहा जाय!"

तुहिनवाहिनवानिलजे मनः
सहसि रंहसि रञ्जयति प्रिया।
न रसिकोरसि कोष्णकुचा तथा
तव गुणानुगुणा नुतिगीर्यथा॥ —२७।२५

"हे परमेश्वर! गुणों में अनुराग रखनेवाली आपकी स्तुति-गीति जितना हृदय को आनन्दित करती है, उतना हेमन्त ऋतु से शीतल पवन चलने के समय उष्णकुचों वाली प्रिया उल्लासपूर्वक छाती से लगा कर आनन्दित नहीं कर पाती।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्तुति-कुसुमाञ्जलि में उत्तमोत्तम रसमयी गीतियों का विशाल भाण्डार है। उन्तालीस स्तोत्र में १४३६ गीतियाँ हैं। इसमें आद्यन्त भक्ति रस (शान्त-रस) का सिन्धु हिलोरें लेता भक्तों के हृदयों

को रस-मग्न करता रहता है। स्तोत्र-साहित्य में ऐसे ग्रन्थ कम ही देखने में आए।

'कृष्णकर्णामृत' की गीतियाँ

'कृष्णकर्णामृत' की रचना लीलाशुक विल्वमङ्गल ठाकुर ने की है। इस ग्रन्थ की रचना दक्षिण भारत में हुई थी। कहा जाता है, लीलाशुक दक्षिण भारत की कृष्णवेन्वा नदी के किनारे के रहने वाले थे। श्रीधरदास ने 'सदुक्तिकर्णामृत' नामक संग्रह-ग्रन्थ में 'कृष्णकर्णामृत' का १०५ वाँ श्लोक दिया है। 'सदुक्तिकर्णामृत' की रचनाएँ सन् १२०५ में सङ्कलित की गई थीं। अतः 'कृष्णकर्णामृत' की रचना बारहवीं शती में हुई होगी। अपने दक्षिण-भ्रमण के पश्चात् महाप्रभु चैतन्यदेव वहाँ से दो 'महारत्न' ले आए थे, एक ग्रन्थ था 'ब्रह्मसंहिता' और दूसरा था यही 'कृष्णकर्णामृत'। इस ग्रन्थ को ये लिखवा कर ले आए थे। इसका उल्लेख कविराज अग्रदास ने 'चैतन्य चीरतामृत' में किया है।[1] गौड़ीय वैष्णवों पर इस ग्रन्थ का बहुत बड़ा प्रभाव है। स्वयं चैतन्य देव उसके बहुत बड़े प्रेमी थे।

'कृष्ण कर्णामृत' न केवल कृष्ण-भक्तों की दृष्टि में अपितु काव्य-रसिकों के लिए भी अत्यन्त उत्कृष्ट ग्रन्थ है। शब्द-योजना भी उतनी ही मधुर और ललित है, जितने कि भाव मधुर और आह्लादक हैं। कतिपय गीतियाँ यहाँ दी जा रही हैं—

यामि त्वच्चरितामृतानि रसनालेह्यानि धन्यात्मनां
ये वा शैशवचापलव्यतिकरा राधावरोधोन्मुखाः।
ये वा भावितवेणुगीतगतयो लीलामुखाम्भोरुहे
धारावाहिकया वहन्तु हृदये तान्येव तान्येव मे॥

— कृष्णकर्णा०, १०६

---

१. तबे महाप्रभु आइला कृष्णवेन्ना तीरे। नानातीर्थ देखि ताहा देवता मन्दिरे॥
ब्राह्मणसमाज सब वैष्णव चरित। वैष्णव सकल पड़े कृष्णकर्णामृत॥
कर्णामृत सुनि, प्रभुर आनन्द हइल। आग्रह करिया पूँथि लेखाइया लइल॥
कर्णामृत सम वस्तु नाहि त्रिभुवने। याहा हइते हय शुद्ध कृष्णप्रेम ज्ञाने॥
सौन्दर्य माधुर्य कृष्णलीलार अवधि। से जाने ये कर्णामृत पड़े निरवधि॥
—चैतन्य चरितामृत, मध्य, नवम।

"हे कृष्णचन्द्र ! तुम्हारे चरित्र का जो अमृत धन्यात्माओं की रसनाओं द्वारा आस्वाद्य है, राधा को रोकने के लिए तुम्हारी जो शैशव-सुलभ चेष्टाएँ हैं, वंशी बजाते समय तुम्हारे मुख-कमल पर गीति की गतियों की जो लीला है, वे सब की सब धारावाहिक रूप में मेरे हृदय में प्रवाहित होती रहें।"

तेजसेऽस्तु नमो धेनुपालिने लोकपालिने।
राधापयोधरोत्सङ्गशायिने शेषशायिने ॥—कृष्णकर्णा०,७६

"विशिष्ट रूप में (कृष्ण रूप में) गायों का पालन करनेवाले, किन्तु वास्तविक रूप में सारे लोकों का पालन करनेवाले (विष्णु जगत् का पालन-पोषण करते हैं), विशिष्ट रूप में (कृष्णावतार में) राधा के पयोधरों के अङ्क में सोनेवाले पर मूलरूप में शेषनाग की शय्या पर शयन करने वाले, हे प्रभो ! तुम्हारे तेजःस्वरूप को मेरा नमस्कार स्वीकार हो।"

महान् कवि ने कितनी सुन्दरता और कुशलता से विष्णु और कृष्ण का एकत्व प्रतिपादित किया है और एक ही गीति के भीतर जिससे कि भोले-भाले भक्तजनों के हृदय में सन्देह के लिए अवकाश ही न रह जाय। कृष्ण-भक्त और रामभक्त महात्माओं का यह यत्न बराबर रहा है कि सामान्य जन इन्हें साधारण मनुष्य न समझ लें। दूसरी विशेषता है, उपर्युक्त दोनों गीतियों में राधा का उल्लेख है, जिससे प्रतीत होता है कि उस समय भक्त-मण्डली के बीच राधा की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इस ग्रन्थ की इन दो गीतियों में ही राधा का नामोल्लेख है।

ललित शब्दों का प्रयोग निम्नलिखित गीति में कितनी सुरुचि के साथ हुआ है कि भाषा का माधुर्य अपनी मनोरमता में चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया है। द्रष्टव्य है—

मुग्धं स्निग्धं मधुरमुरलीमाधुरीधीरनादैः
कारं कारं करणविवशं गोकुलव्याकुलत्वम्।
श्यामं कामं युवजनमनोमोहनं मोहनाङ्ग
चित्ते नित्यं निवसतु महो वल्लवीवल्लभं नः ॥—वही

कितने मधुर शब्दों में कवि ने कृष्ण का मनोमोहन रूप अङ्कित किया है और फिर उनसे अपने हृदय में बैठने की प्रार्थना की है। इस लोक-मोहन रूप को कौन अपने हृदय-मन्दिर में स्थान देना नहीं चाहेगा।

'लक्ष्मीसहस्र' की गीतियाँ

लक्ष्मीसहस्र के रचयिता का नाम वेङ्कटाध्वरि है। ये मद्रास प्रान्त के निवासी थे और श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के भक्त थे। इनका समय १६५० ई० के आसपास है। इन्होंने अंग्रेजों के उन दुराचरणों का वर्णन अत्यन्त चुटली भाषा में किया है, जो उन्होंने मद्रास में किए थे। उस पुस्तक का नाम 'विश्वगुणादर्श चम्पू' है। उस ग्रन्थ से स्पष्ट है कि परम भक्त होते हुए भी ये महान् लोकाराधक थे। 'लक्ष्मीसहस्र' इनकी वैयक्तिक भक्ति और उपासना का उद्‌गार है तथा चम्पू लोक-जीवन की मङ्गल-कामना से प्रेरित होकर उद्‌गीर्ण हुआ है। कहते हैं कि 'लक्ष्मीसहस्र' इनकी एक रात की रचना है। किन्तु इतना उत्कृष्ट काव्य यमक और श्लेष की छटा से मण्डित तथा भक्ति-भावना से आप्लावित एक रात में लिख लेना असाधारण बात है। आद्यन्त जिधर से देखें काव्य अपनी सुन्दरता में अनूठा है। भगवती लक्ष्मी के नख-शिख का वर्णन, कवि के दैन्य, आर्जव, आत्म-समर्पण, अनन्य प्रेम आदि भावनाओं का चित्रण अद्‌भुत पाण्डित्य के क्रोड़ में हुआ है। लक्ष्मी के कटि-प्रान्त का वर्णन कितना पाण्डित्यपूर्ण हुआ है, देखिए—

परमादिषु मातरादिमे यदिमं कोषकृताह मध्यमम्।
अमरः किल पामरस्ततः स बभूव स्वयमेव मध्यमः॥

—लक्ष्मीसहस्र

"हे मातः! इस सृष्टि में आदिकाल से विद्यमान सभी जीवों से आप की कटि आदिम है, किन्तु कोषकार अमरसिंह ने जो इसे मध्यम कह डाला[1], तो इस नितान्त अनुचित कर्म का फल उसे यह मिला कि वह स्वयं ही पामर अर्थात् नीच (था अमर अर्थात् देवता किन्तु देवता-पद से गिरकर वह) मध्यम लोक अर्थात् मर्त्यलोक का निवासी हो गया।

श्लिष्टार्थ लक्ष्मी का मध्यम अन्तिम मकार वाले शब्दों में (आदि + म) आदि मकार वाला है, तथापि कोषकार अमर ने उसे मध्य मकार वाला कहा (मध्य + म)। इसका समुचित फल उसे स्वयं ही मिल गया कि वह स्वयं

---

१. मध्यमं चावलग्नं च मध्योऽस्त्री द्वौ परौ द्वयोः।

—अमरकोष, काण्ड २, पंक्ति १२३२

ही मध्य मकार वाला हो गया ('अमर' शब्द में मध्य में 'म' है) और उसे नीचा देखना पड़ा ।''

पण्डितराज की स्तुतिगीतियाँ

पण्डितराज का जीवन-परिचय हम संक्षेप में 'लक्षणग्रन्थों में प्राकृत गीतियाँ' प्रकरण में दे आए हैं। इन्होंने पर्याप्त परिमाण में विभिन्न देवों और देवियों की स्तुतियाँ लिखी हैं, जो मुख्य रूप से पाँच लहरियों में हैं और इन्हें 'लहरीपञ्चक' कहते हैं। इनके नाम हैं—

(१) करुणालहरी (इसमें भगवान् विष्णु की स्तुति-गीतियाँ हैं),

(२) गङ्गालहरी वा पीयूषलहरी (गङ्गा जी की स्तुति),

(३) अमृतलहरी (यमुना-स्तुति),

(४) लक्ष्मीलहरी (लक्ष्मी-स्तुति) और

(५) सुधालहरी (सूर्य-स्तुति) ।

पण्डितराज न केवल शास्त्रों के चूड़ान्त विद्वान् थे अपितु महान् गीतिकार कालिदास और भवभूति की कोटि के महाकवि भी थे। इनके काव्य में यथार्थतः 'मृद्वीकामधुमाधुरी' है। इनकी लहरियों से कतिपय गीतियाँ यहाँ दी जा रही हैं—

कृतक्षुद्राघौघानथ सपदि सन्तप्तमनसः
समुद्धर्तुं सन्ति त्रिभुवनतले तीर्थनिवहाः ।
अपि प्रायश्चित्तप्रसरणपथातीतचरिता-
न्नरानूरीकर्तुं त्वमिव जननि त्वं विजयसे ॥[१]

—पीयूषलहरी

"हे मातः गङ्गे ! छोटे-मोटे पापों को करने के पश्चात् जिनके मन में एक प्रकार का सन्ताप उत्पन्न होता है (कि मैंने क्यों ऐसा पाप कर्म किया) वैसे लोगों का उद्धार करने की शक्ति रखनेवाले तीर्थ इस त्रिभुवन में बहुतेरे हैं, किन्तु जिन पापों के प्रायश्चित्त हो ही नहीं सकते ऐसे पापों के करनेवालों को अपनानेवाली तेरे समान अकेली तू ही है।"

---

१. इस गीति को पण्डितराज ने अपने 'रसगंगाधर' ग्रन्थ के द्वितीय आनन में अनन्वय अलङ्कार के लिए उद्धृत किया है।

नगेभ्यो यान्तीनां कथय तटिनीनां कतमया
पुराणां संहर्तुः सुरधुनि कपर्दोऽधिरुरुहे।
कया वा श्रीभर्तुः पदकमलमक्षालि सलिलै—
स्तुलालेशो यस्यां तव जननि दीयेत कविभिः ॥[1]

—पीयूषलहरी

"हे मातः! यह तो बताओ कि पर्वतों से निकलने वाली ऐसी कौन सी नदी है जिसे भगवान् शिव ने अपने सिर पर धारण किया हो अथवा जिसने भगवान् विष्णु के चरण-कमलों को धोया हो। अतः तुमसे लेश मात्र भी तुलना कविजन कर सकें ऐसी नदी है ही कौन-सी? (कोई भी नदी गङ्गा के तुल्य नहीं है)।

इन गीतियों में गङ्गा के प्रति महाकवि की परम भक्ति मुखरित हुई है और साथ ही साथ चमत्कार का भी पूर्ण अभिनिवेश दिखाई पड़ता है। पद-शय्या मधुर, ललित और प्रसाद गुणपूर्ण है।

पण्डितराज अत्यन्त स्वाभिमानी और प्रथम कोटि के पण्डित थे। जीवन के उत्तरवर्ती काल में इन्हें विषम परिस्थितियों से होड़ लेना पड़ा। किन्तु इन्हें किसी के समक्ष झुकनेवाली प्रकृति ही नहीं मिली थी। अपनी अन्तर्वेदना को होंठों पर लाना ये नहीं चाहते थे। अतः उस वेदना को इन्होंने केवल देवी-देवों के समक्ष ही प्रकारान्तर से प्रकट किया है। भगवती गङ्गा से अपना दैन्य आत्मनिवेदन के रूप में प्रस्तुत करते हैं—

बधान द्रागेव द्रढिमरमणीयं परिकरं
किरीटे बालेन्दुं नियमय पुनः पन्नगगणैः।
न कुर्यास्त्वं हेलामितरजनसाधारणधिया
जगन्नाथस्यायं सुरधुनि समुद्धारसमयः ॥[2]

—पीयूषलहरी

---

१. 'रसगङ्गाधर', आनन द्वितीय में अनन्वयालङ्कार-ध्वनि के लिए उद्धृत।

२. रसगङ्गाधर, द्वितीय आनन, अजहत्स्वार्थामूला ध्वनि के लिए उद्धृत, पृ० १२१ (पं० मदनमोहन झा द्वारा व्याख्यात, चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी द्वारा प्रकाशित प्रति)

"'हे देवसरि ! तुमने असंख्य साधारण पापियों का उद्धार किया है और उन्हें तारने में तुम्हें किसी विशेष तैयारी अथवा सावधानी की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। अतः मुझे भी उन्हीं साधारणों की भाँति शरण में आया समझ कर वैसी ही असावधान न रहना। मैं असाधारण पापी हूँ, अतः अब शीघ्र परिकर बाँधो और अपने किरीटस्थ बालचन्द्र (चन्द्र भी पूर्ण युवक नहीं है, बालक का गिर पड़ना स्वाभाविक है) को फिर सर्पों से कस लो, क्यों कि यह जगन्नाथ के (मेरे जैसे प्रथम कोटि के पापी के) समुद्धार का समय है।"

इनकी स्तुतिपरक एक गीति अन्त में देकर इनका उल्लेख यहीं समाप्त करता हूँ। शब्दार्थ का सुन्दर समन्वय यदि देखना हो तो सहृदय विद्वज्जन कविता-विलासी इनकी काव्य-वाटिका में विचरण करके उसका पर्यवेक्षण करें—

स्मृताऽपि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणा—
मभङ्गुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम्।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी॥[२]

—रसगङ्गाधर, मङ्गलगीति १

अर्थात् जो मेघमाला स्मरण करते ही (न कि दृष्टि का विषय होने पर) मनुष्यों के (न कि एक व्यक्ति के) तरुण आतप (दैहिक, दैविक और भौतिक तापत्रय) को अपनी करुणा से हर लेती है (न कि केवल सामान्य सूर्य के आतप से बचाती है) और जो नष्ट न होने वाली शरीर की कान्ति रूपी सैकड़ों बिजलियों से घिरी हुई है (सहस्रों गोप-रमणियों से घिरी है) यमुना के तीर पर स्थित सुरतरु (कदम्बतरु) का आश्रय लेनेवाली वही विचित्र मेघमाला मेरी मति (प्रतिभा) का चुम्बन करे (कृष्ण की मञ्जुल श्यामली मूर्ति सदा स्मरण रह कर मेरी बुद्धि का परिष्कार और प्रतिभा का विकास करती रहे, यही मेरी एकमात्र कामना है)।

मधुर भावना से आप्लावित तथा पांडित्य की महिमा से मण्डित और कोमल कान्त पदावलियों से अलंकृत ऐसी गीतियाँ संस्कृत-साहित्य से ढूँढने पर स्यात् मिलें। स्पष्ट है कि पंडितराज परम वैष्णव थे। 'करुणालहरी' इसका ज्वलन्त प्रमाण है, अन्य लहरियाँ भी इसी सत्य को प्रकट करती हैं।

---

२. इस गीति का माधुर्य गीतगोविन्दकार जयदेव से भिन्न और मेरे विचार से उससे कहीं उत्तम है।

'धर्मविवेक' की गीतियाँ

इस ग्रन्थ के रचयिता महाकवि हलायुध हैं। ये राष्ट्रकूट वंशीय नरेश कृष्णराज तृतीय के सभा-पण्डित थे, जिनका समय ९४० से ९५३ ई० तक है। इनका 'कविरहस्य' एक प्रसिद्ध शास्त्र काव्य है, जिसमें संस्कृत धातुओं के भिन्न-भिन्न अर्थों तथा समानाक्षर शब्दों के भिन्नार्थ भी बड़े पाण्डित्य के साथ दिखाए गए हैं। उदाहरण सबके सब अपने आश्रयदाता को ही लक्ष्य कर प्रस्तुत किए गए हैं। 'धर्मविवेक' में कुल श्लोक-संख्या २० है। यह एक संग्रह-पुस्तक है। इसमें नीति, धर्म, हास्य, भाग्यवाद आदि विषयों पर कवि ने सुन्दर काव्य-रचना की है। इन्हें हम शुद्ध स्तोत्र नहीं कह सकते। शिव और विष्णु पर कवि की समान आस्था दिखाई पड़ती है। गीतियाँ बड़ी ही चुटीली और व्यंग्यात्मक हैं। दो-एक पढ़ें—

कानीनस्य मुनेः स्वबान्धववधूवैधव्यविध्वंसिनो
नेप्तारः खलु गोलकस्य तनयाः कुण्डाः स्वयं पांडवाः।
तेऽमी पञ्च समानयोनिरतयः तेषां गुणोत्कीर्तनात्
अक्षय्यं सुकृतं भवेदविकलं धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः॥

—धर्मविवेक, ३

"अपने ही छोटे भाइयों (चित्राङ्गद और विचित्रवार्य, जो उसी सत्यवती से उत्पन्न हुए थे, जिससे कुमारी दशा में व्यासदेव हुए थे)[1] की वधुओं का वैधव्य नष्ट करने वाले (धृतराष्ट्र और पाण्डु का जन्म विधवा अम्बिका और अम्बालिका से व्यास के समागम से हुआ था)[2] कुमारी (सत्यवती) से उत्पन्न व्यास के गोलक पुत्र[3] (पति के मरने पर उसकी विधवा से उत्पन्न पुत्र को गोलक कहते हैं) पाण्डु के जारज पुत्र स्वयं पांडव थे। वे भी पाँचों (पांडव) एक ही स्त्री (द्रौपदी) के साथ पत्नी का सम्बन्ध रखते थे, (इस प्रकार पाप की परस्परा में हुए) ऐसे पांडवों का गुण-गान करने से अक्षय्य पुण्य होता है (ऐसा धर्म-ग्रंथ कहते हैं), इसी से कहा गया है कि धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है (धर्म की गति को समझ पाना टेढ़ी खीर है)।"

---

१. देखिए, महाभारत, आदिपर्व।

२. देखिए, महभारत, आदिपर्व।

३. अमृते जारजः कुण्डो मृते भर्तरि गोलकः।

—अमरकोष, काण्ड २, मनुष्यवर्ग, पंक्ति ११४५

यातः क्ष्मामखिलां प्रदाय हरये पातालमूलं वलिः
सक्तुप्रस्थविसर्जनात्स च मुनिः स्वर्गं समारोपितः।
आबाल्यादसती सती सुरपुरीं कुन्ती समारोहयत्
हा सीता पतिदेवतागमदधो धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः ॥
—धर्मविवेक, २

"महाराज वलि ने विष्णु को सारी पृथ्वी दान कर दी और उसे पाताल में जाना पड़ा। थोड़ा-सा सत्तू दान करने से वह मुनि स्वर्ग में बिठा दिया गया। कुमारी अवस्था से ही असती का जीवन बिताने वाली कुन्ती देवपुरी जा पहुँची और हा शोक! महती पतिव्रता सीता को पृथ्वी के गर्भ में विलीन होना पड़ा। इन विरोधी बातों को देखकर कहना ही पड़ता है कि धर्म की गति अबूझ है।"

इस कवि की भाषा बड़ी प्रवाहमयी और लोकोक्तियों-मुहावरों के कारण अत्यन्त प्रभावशालिनी हो गई है। भावों का निखार अपनी सुन्दरता में अनूठा है। इसकी गीतियाँ इसी कारण पण्डितों की जिह्वा पर रहती हैं।

अन्य स्तुति-गीतियाँ

संस्कृत-साहित्य में स्तोत्र-गीतियों का विशाल भाण्डार है। भगवान् शिव, विष्णु, हनूमान्, सूर्य, राम, कृष्ण, आदि देवों और देवपुरुषों तथा भगवती पार्वती, लक्ष्मी, गङ्गा, यमुना आदि देवियों पर प्रभूत साहित्य की सृष्टि हुई है। सब का विवरणात्मक उल्लेख एक पृथक् महान् ग्रन्थ का विषय है। प्रमुख स्तुति-संग्रहों का उल्लेख ऊपर हुआ है। उनके अतिरिक्त महाकवि मूक का पञ्चस्तव, नारायणाचार्य की 'शिवस्तुति', गोकुलनाथ का 'शिवशतक' भट्टनारायण का 'स्तव चिन्तामणि', शिह्लव मिश्र का 'शान्तिशतक', श्री सत्य-ज्ञानानन्द तीर्थयति का 'गङ्गाष्टक' और 'काशीस्तोत्र', गंगाधर कवि का 'मणि-कर्णिका स्तोत्र', महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा का 'मारुतिशतक', श्री वत्साङ्क की 'पञ्चष्टवी' आदि अनेकानेक स्तुति-संग्रह भरे पड़े हैं। इधर आधुनिक युग में पं० रामावतार शर्मा के अतिरिक्त महाराज जयनारायण घोषाल[१] का 'शङ्करी संगीत' अपने माधुर्य और लालित्य में जयदेव के

१. महाराज जयनारायण घोषाल का जन्म १८५१ ई० में कलकत्ता के गोविन्द-पुर मुहल्ले में हुआ था। इनके पिता का नाम कृष्णचन्द्र तथा पितामह का

गीतगोविन्द से होड़ लेता है। यह अपनी सुबोधता में भी अप्रतिम है। उसकी सङ्गीतात्मकता को दिखाने के लिए एक गीति यहाँ दिए देता हूँ—

मृदुल समीरे कुञ्जकुटीरे युवतिविमोहनवेशम्।
अधिगतमिन्दुविमलमुखि! सत्वरमनुचर तं परमेशम्॥
विकसितकुसुमे राजति विपिने चिन्तितश्रीभुवनेशम् (ध्रुवम्)
त्वदुपगमनपरमाकुलहृदयो दिशि दिशि विकिरति नेत्रम्।
दिग्वनिताजनललितवतंसनमिव विकसितशतपत्रम्॥
कुञ्जं प्रविशति मुहुरपि विहरति बहिरतिचञ्चलनयनः।
ध्वनति समदने मधुकरमिथुने शङ्कितनूपुररवणः॥
चिरविरहैरतितापितमानसमर्हसि रक्षितुमेतम्।
श्री जयनारायण इति गीतं भणति सतामभिरामम्॥

—शाङ्करी सङ्गीत

स्पष्ट है कि घोषाल महोदय 'गीतगोविन्द' से विशेष प्रभावित थे। इस प्रकार आज भी संस्कृत भाषा-बद्ध स्तुतियाँ लिखी जा रही हैं और आगे भी लिखी जाती रहेंगी।

ऊपर जिन स्तोत्रों का नाम लिया गया है, वे आस्तिक भक्तों द्वारा निर्मित्त हैं। इनके अतिरिक्त बौद्ध और जैन कवियों ने भी स्तोत्र-साहित्य की समृद्धि में महान् योग दिया है। उनका उल्लेख संक्षिप्त रूप में आगे किया जा रहा है।

—०—

नाम कन्दर्प घोषाल था। ये बँगला, संस्कृत और हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे। इन्होंने काशी के दुर्गाकुण्ड मुहल्ले में 'गुरुधाम', सेण्ट्रलजेल के पास 'कोढ़िया अस्पताल' और रामापुरा मुहल्ले में 'जयनारायण महाविद्यालय' की स्थापना (१८१४ ई० में) की थी।

—पं० रामबालक शास्त्री द्वारा सङ्कलित 'वाणी प्रकाश', द्वितीय किरण से गृहीत।

बौद्ध और जैनियों की स्तुति-गीतियाँ

मातृचेट की गीतियाँ

बौद्ध धर्माचार्य मातृचेट की ख्याति बौद्ध-जगत् में बहुत विस्तृत है। ये स्तुतिकार के रूप में ही वहाँ विशेष सम्मान्य हैं। इनके जीवन-वृत्त का अभी पूरा-पूरा पता नहीं चल पाया है, किन्तु यह प्रसिद्ध है कि ये कुशाण-सम्राट् कनिष्क के समकालीन थे। कनिष्क ने इन्हें अपने यहाँ बुलवा भेजा था, किन्तु वृद्धावस्था के कारण इन्होंने आने में असमर्थता प्रकट की थी और एक पद्यात्मक पत्र लिखकर भेज दिया था, जिसमें बौद्धधर्म के सम्मान्य सिद्धान्तों का उल्लेख था। इस पत्र में ८५ छन्द हैं, जिसके अन्त में बड़ी करुणापूर्ण पदावली में महाराज को धर्म-पालन का उपदेश है। यह पत्र अपने मूल रूप में आज उपलब्ध नहीं है, केवल इसका तिब्बती अनुवाद प्राप्त है।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ये प्रथम शती ईस्वी में थे।

इनके लिखे दो स्तुति-ग्रन्थ आज प्राप्त होते हैं—

१. चतुःशतक, और

२. अध्यर्धशतक।

चतुःशतक का मूल रूप प्राप्त नहीं हुआ है, हाँ तिब्बती अनुवाद अवश्य ही प्राप्त है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद भी हो चुका है।[2] मध्य-एशिया से मूल स्तोत्र का जो अन्तिम भाग प्राप्त हुआ है, उससे पता चलता है कि इसका मूल नाम 'वर्णनार्ह-वर्णन' है, यही नाम तिब्बती अनुवाद में भी है। इसी के अनुकरण पर नागार्जुन ने माध्यमिक कारिका' तथा उनके शिष्य आर्यदेव ने 'चतुःशतक' लिखा। जैन विद्वान् कवि हरिभद्र की वीस विंशतिकाओं का प्रेरणा-स्रोत यही स्तोत्र ग्रन्थ है।

'अध्यर्धशतक' में १५० अनुष्टुप् हैं, जिनमें बुद्धदेव की स्तुति बड़ी भक्ति-भावना के साथ की गई है। यह स्तोत्र इतना लोकप्रिय हुआ कि

---

१. इस पत्र का अंग्रेजी अनुवाद डॉ० एफ० टामस ने किया है। देखिए, इण्डियन एण्टिक्वेरी, भाग ३२, पृ० ३४५, सन् १९०३ ई०।

२. देखिए, इण्डियन एण्टिक्वेरी, भाग ३४, पृ० १४५ (सन् १९०५)।

इसका अनुवाद चीनी, तिब्बती और तोखारी भाषा तक में हुआ। तोखारी भाषाबद्ध रूपान्तर पूर्णरूप में आज उपलब्ध नहीं है। इस ग्रन्थ से भी अनेक पश्चाद्वर्ती कवि-भक्तों को प्रेरणा प्राप्त हुई थी। आचार्य दिङ्नाग ने इसकी प्रत्येक गीति के साथ अपनी गीतियाँ भी जोड़ दीं और दोनों के सम्मिलित रूप का नाम रखा 'मिश्र स्तोत्र' इसका भी अनुवाद तिब्बती भाषा में हुआ। जैन कवियों में अनेकों ने इसके अनुकरण पर स्तोत्र लिखे, जिनमें समन्तभद्र का स्वयम्भू स्तोत्र (इसमें १४३ गीतियाँ हैं), सिद्धसेन की पाँच विंशतिकाएँ (जिनमें १६० गीतियाँ हैं) और आचार्य हेमचन्द्र का 'वीतरागस्तोत्र' (१८७ पद्यों में बद्ध)[1] विशेष प्रसिद्ध और जैनियों में विशेष आदृत हैं। मातृचेट की स्तुतियों में पाण्डित्य का प्रदर्शन नहीं है, निश्छल भक्त-हृदय का करुणापूर्ण हृदयोद्‍गार अत्यन्त सरल भाषा में निबद्ध है। इसका मूल संस्कृत-रूप आज उपलब्ध है।[2] स्वयमागत अलंकारों की छटा इसमें दर्शनीय है। अनेक विद्वान् इन्हें 'स्तुतिकाव्य का जनक' कहते हैं। स्तुतियों में कवि की यही मूल भावना काम कर रही है कि बौद्ध धर्म का विश्व में व्यापक रूप से प्रचार हो और सारा विश्व सुख-शान्ति का जीवन व्यतीत करे। इनकी गीतियाँ इस प्रकार की हैं—

परार्थैकान्तकल्याणी कामं स्वाश्रयनिष्ठुरा।
त्वय्येव केवलं नाथ करुणाऽकरुणाभवत्॥

—अध्यर्धशतक, ६४

"हे देव! आप की करुणा एकमात्र परोपकार में ही लीन रहती है किन्तु अपने आश्रम-स्थल (शरीर) के प्रति नितान्त निष्ठुर है, अतः आपकी करुणा केवल आप ही के प्रति निष्ठुरा हो गई।"

यहाँ महाकवि ने विरोधाभास अलंकार का कितना सुन्दर रूप प्रस्तुत किया है और सत्यता पर पूर्ण आधृत भावाभिव्यक्ति में कहीं उलझन भी नहीं है। दूसरी गीति लीजिए—

अव्यापारितसाधुस्त्वं त्वमकारणवत्सलः।
असंस्तुतसखश्च त्वं त्वमसम्बन्धबान्धवः॥

—अध्यर्ध०, ११

---

१. मातृचेट और हेमचन्द्र के भाव-साम्य के लिए देखिए,
—विश्वभारती पत्रिका, खण्ड ५, संख्या २००२, भाग १, पृ० ३३८–३४२

२. देखिए, बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च मैगजीन, भाग २३, खण्ड ४, सन् १९३७।

"हे तथागत ! तुम स्वयंप्रेरित साधु हो (दूसरों के कल्याण के लिए स्वयं करुणार्द्र होकर दौड़ पड़ते हो), तुम बिना किसी कारण के ही दूसरों पर स्नेह पूर्ण दृष्टि रखते हो (तुम्हारा स्नेह स्वार्थ-विहीन है, जब कि संसार के 'अन्य जीव किसी स्वार्थ मूलक कारण से प्रेरित होकर दूसरे के प्रति स्नेह रखते हैं), तुम अप्रार्थित मित्र भी हो (जिसे सहायता की आवश्यकता होती है तुम बिना बुलाए उसकी सहायता के लिए पहुँच जाते हो) और जिससे तुम्हारा कोई भी सम्बन्ध नहीं होता, उसके भी तुम बन्धु बन जाते हो (दूसरों की बिगड़ी को स्वतः बना देते हो)।"

इस प्रकार मातृचेट की गीतियाँ नितान्त भावपूर्ण, भक्ति रस से प्लावित और लोक-मङ्गल-कारिणी हैं। स्तुतिकारों में वे आदि स्तुति-ग्रन्थकार हैं। स्तुतियाँ तो रामायण, महाभारत और कालिदास के रघुवंश में भी मिलती हैं किन्तु स्तुतिपरक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखनेवालों में इनका नाम प्रथम आता है, अतः इनका महत्त्व गीतिकारों में सर्वाधिक माना जायगा।

बौद्ध गीतिकारों में नागार्जुन और आर्यदेव का उल्लेख पहले हो चुका है। नागार्जुन के चतुः स्तवः' का तिब्बती भाषा में रूपान्तर तो प्राप्त हुआ है, किन्तु उसके दो स्तोत्र मूल संस्कृत में भी उपलब्ध हुए हैं। एक का नाम है 'निरौपम्यस्तव' और दूसरे का 'अचिन्त्यस्तव'। दोनों ही उच्च कोटि के स्तोत्र हैं और दोनों भाव तथा भाषा की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर और प्रभावपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ दो श्लोक देखिए—

नामयो नाशुचिः काये क्षुत्तृष्णासम्भवो न च।
त्वया लोकानुवृत्त्यर्थं दर्शिता लौकिकी क्रिया ॥—चतुःस्तव

"हे प्रभो ! आपके शरीर में न कोई रोग है और न किसी प्रकार की अपवित्रता ही है। न आपको भूख लगती है, न प्यास लगती है। आपने तो केवल अपना मानव रूप दिखाने के लिए सामान्य लोक का-सा काम किया है (जिससे लोग आपके वास्तविक स्वरूप को समझ न सकें)।"

नित्यो ध्रुवः शिवः कायस्तव धर्ममयो जिन।
विनेयजनहेतोश्च दर्शिता निर्वृतिस्त्वया ॥—चतुःस्तव

"आपका शरीर नित्य, ध्रुव, शिव और धर्ममय है, किन्तु आपने केवल विनेय जनों के लिए निवृत्ति (मरण) दिखाया (अन्यथा परमात्म-स्वरूप आपका मरण कैसे हो सकता है ?)।

कितने स्पष्ट और सहज रूप में कवि ने अपनी दृढ़ भक्ति प्रकट की है। स्पष्ट है कि यह कवि कवि-गुरु कालिदास के पथ का अनुवर्ती है।[1]

जैन कवियों की स्तुति-गीतियाँ

जैन मतानुयायी विद्वान् आरम्भ से ही संस्कृत भाषा के उपासक होते आए हैं। इनमें भक्तों ने स्तोत्र-साहित्य प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत किया है। इनके स्तोत्रों की संख्या बहुत बड़ी है, कतिपय महान् स्तोत्रों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

'भक्तामर स्तोत्र' की गीतियाँ

इसके रचयिता मानतुङ्गाचार्य हैं। इनका समय महाकवि बाणभट्ट और मयूर कवि का माना जाता है। भक्ति का प्रधान लक्षण प्रणति है, महान् भक्तों में विनयशीलता भी महती मिलती है। इस महान् आचार्य ने अपनी प्रणति जिस रूप में प्रकट की है उससे उसकी 'जिन' के प्रति महती भक्ति की अभिव्यक्ति होती है और वही कवि की अलौकिकी प्रतिभा को भी प्रकट करती है—

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति
तच्चारुचूतकलिका निकरैकहेतुः॥

'हे प्रभो! मैं नितान्त अल्पज्ञ हूँ और इसीसे विद्वज्जनों के परिहास का पात्र हूँ, तथापि तुम्हारी भक्ति ही बलात् मुझे मुँह खोलने को बाध्य कर रही है। देखिए न, कोकिल जो वसन्त ऋतु में गाने लगता है, वह अपनी इच्छा से थोड़े ही गाता है, अपितु सुन्दर आम की मञ्जरियाँ ही उसे गाने के लिए विवश कर देती हैं।"

व्यंग्यार्थ वा ध्वन्यर्थ यह है कि कौवे अपनी चातुरी के गर्व में इतना काँव-काँव मचाते हैं कि कोकिल को मौन धारण करना पड़ता है, किन्तु वसन्तागम के साथ जब कोकिल की मधुर स्वर लहरी दिशाओं में छाने लगती है तो कौवों के मुँह पर मूकता का ताला पड़ जाता है। इसी प्रकार मेरी भक्ति-

१. कवि-कुल-गुरु कालिदास ने अपने आराध्य देव शिव के प्रति जो अनन्य, अतलस्पर्शिनी, विराट् और प्रणतिमयी श्रद्धा प्रकट की है, वही इस कवि ने अपने उपास्य जिन देव के प्रति दिखाई है। —लेखक

प्रेरित गीतियाँ लोक-सम्मान्य होकर रहेंगी और उन्हें सुनकर मुखर पण्डित-मानी जन बगलें झाँकने लगेंगे। अलङ्कार से वस्तुध्वनि का कितना सुन्दर उदाहरण है। दृष्टान्त अलङ्कार की शोभा दर्शनीय है।

'कल्याणमन्दिर' स्तोत्र की गीतियाँ

'कल्याणमन्दिर' के निर्माता सिद्धसेन दिवाकर हैं। इनका समय पाँचवीं शती ईस्वी माना जाता है। 'भक्तामर-स्तोत्र' की भाँति ही जैनियों में 'कल्याण-मन्दिर' का अत्यन्त आदर है। इसमें कुल ४४ गीतियाँ हैं। इनमें सहजता के साथ चमत्कार-गुण भी विद्यमान है। अलङ्कार भावोत्कर्षी और रमणीय है। ये दोनों ही स्तोत्र स्तोत्र-साहित्य के रत्न कहे जाते हैं। एक गीति लीजिए—

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन संस्तवस्ते
नामापि पाति भवतो भयतो जगन्ति ।
तीव्रातपोपहतपान्थजनान् निदाघे
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि ॥

—कल्याणमन्दिर

"हे जिनवर! आप का अचिन्त्य महिमामय परिचय तो दूर रहे, आप का नाम ही लोक की संसार-सागर से रक्षा करता है। ग्रीष्म ऋतु में तीक्ष्ण आतप से झुलसे पान्थजनों का ताप कमलों से शोभित सरोवर का सरस पवन ही दूर कर लेता है।"

कितनी स्निग्ध भावना है, कितना मनःपावनी भक्ति है और कथन की शैली कितनी चमत्कृति-कारिणी है। दृष्टान्त अलङ्कार 'सौन्दर्यमलङ्कारः' को अक्षरशः चरितार्थ कर रहा है।

इतर जैन स्तोत्र

उपरिलिखित दोनों स्तोत्र-ग्रन्थों के अतिरिक्त, जैसा कि पहले ही कह आए हैं, जैनियों ने सैकड़ों स्तोत्रग्रन्थ निर्मित किए हैं। उनमें जम्बू गुरु का 'जिनशतक' विशेष प्रसिद्ध है। इसकी रचना १०० स्रग्धरा वृत्तों में हुई है। बड़े वृत्त के चुनने के कारण इसका नाद-सौन्दर्य प्रशंसनीय है। वादिराज का 'एकीभाव स्तोत्र' सोमप्रभाचार्य की 'सूक्तिमुक्तावलि', आचार्य हेमचन्द्र का अन्ययोगव्यच्छेदिका द्वात्रिंशिका' काव्य आदि प्रमुख जैन-स्तोत्र हैं। हेमचन्द्र की शिष्य-परम्परा में अनेक स्तोत्रकार कवि हुए। 'हेमचन्द्र' का 'वीतराग स्तोत्र' भी एक उत्तम स्तोत्र-ग्रन्थ है।

—:०:—

हिन्दी गीतियों की परम्परा का मूल स्रोत

किसी मत, सम्प्रदाय वा धर्म को लोकप्रिय बनाने के लिए अत्यावश्यक कार्य है, लोक-भाषा में उसके सिद्धान्तों को जनता तक पहुँचाने का यत्न करना। यही दूरदर्शी महापुरुषों, महात्माओं, विद्वानों और नेताओं ने किया और अपनी उद्देश्य-सिद्धि में सफल हुए। भगवान् बुद्ध ने लोक भाषा का आश्रय ग्रहण किया और उनके सिद्धान्तों को जन-सामान्य ने अपने हृदय में स्थान दिया, किन्तु परवर्ती बौद्ध विद्वानों ने संस्कृत-भाषा का व्यापक प्रचार और उसका आदर देखकर संस्कृत को अपनाना आरम्भ किया। अश्वघोष, दिङ्नाग आदि इसके प्रमाण हैं। आगे चलकर बौद्ध धर्म की विकृति के रूप में वज्रयान शाखा का उदय हुआ। वज्रयानियों का विस्तार बिहार प्रान्त से आसाम तक था। ये वाममार्गी तान्त्रिक थे। अपना सिक्का जनता पर जमाने के लिए इसके सिद्धों ने लोक-भाषा को अपनाया। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने चौरासी सिद्धों की नामावली दी है। आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल[1] ने तथा डॉ० रामकुमार वर्मा ने[2] उन नामों को अपने इतिहास-ग्रन्थों में दिया है। इन सिद्धों में अनेक कवि भी थे, जिन्होंने कविता के माध्यम से अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों को जनता तक पहुँचाने का यत्न किया था। इसी के परिणामस्वरूप जनता के बीच सिद्धों का सिक्का जम गया था। जिस प्रकार प्राकृत-काल में गाथा छन्द सर्वाधिक मान्य था उसी प्रकार अपभ्रंश-काल में दूहा वा दोहा छन्द को सर्वाधिक आदर प्राप्त हुआ। इतना होते हुए भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि लोक-हृदय आदि काल से गीतियों में निवास करता आया है। किसी देश की संस्कृति का अध्ययन करने के लिए हमें लोक गीतियों के पास अवश्य ही जाना होगा। गीतों को जनता अपने हृदय में

---

१. देखिए, हिन्दी-साहित्य का इतिहास (ले० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), अपभ्रंश काल, पृ० ६–१० (संशोधित और प्रवर्द्धित संस्करण)

२. हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (ले० डा० रामकुमारवर्मा), सन्धिकाल, पृ० ५३–५४ (तृतीय संस्करण)

स्थान देती है, यह बात सिद्धों से भी छिपी नहीं थी। इसीलिए उन्होंने लोक भाषा के साथ-साथ गीतों को भी चुना और उनमें अपने भावी को गुम्फित करके जनता तक पहुँचाने लगे। अनेक सिद्धों ने संस्कृत में भी रचनाएँ की हैं, किन्तु लोक भाषा मिश्रित अपभ्रंश ही इनकी मुख्य विचार-प्रकाशिका भाषा थी, इसमें सन्देह नहीं। बिहार के दो प्रसिद्ध विद्यापीठ, नालन्दा और विक्रमशिला इनके प्रधान आवास-स्थान थे, इसलिए इनके गीतों की भाषा पुरानी बिहारी या पूरबी बोली मिली अपभ्रंश है'।[1] इन्हीं गीतों का आदर्श आगे चलकर कबीर आदि सन्तों ने ग्रहण किया, किन्तु गीत चाहे सिद्धों के चर्या पद हों, चाहे गीतगोविन्द की अष्टपदियाँ, अथवा विद्यापति के पद, सबके मूल आदर्श हैं लोकगीत ही, यद्यपि संगीत के आचार्यों ने इन्हें तालों और स्वरों में बाँधकर शास्त्रीय सङ्गीत का रूप आगे चलकर दे दिया। इनकी भाषा के विषय में भिन्न-भिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं, किन्तु आचार्य शुक्ल ने व्याकरण-सम्बन्धी छानबीन करके जो निष्कर्ष दिया है वह निर्विवाद रूप में मान्य है। इनके पूर्व श्री विनय तोष भट्टाचार्य ने सिद्धों की भाषा को उड़िया[2] महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री ने बँगला,[3] और महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने मगही[4] कहा था। डा० प्रबोधचन्द्र बागची[5] और डा० सुनीतिकुमार चटर्जी[6] इनकी भाषा को अपभ्रंश ही कहते हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है, "यह भाषा मागधी अपभ्रंश से निकली हुई मगही है।"[7] सिद्धों ने अपनी भाषा को 'संधा भाषा' वा 'संध्याभाषा' कहा था। सन्ध्या भाषा के अनेक पण्डितों ने अनेक अर्थ किए हैं, जिनमें तीन मुख्य हैं—

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी-साहित्य का इतिहास, अपभ्रंश काल, पृष्ठ २५।

२. साधनमाला—गायकवाड़ ओरिएन्टल सिरीज, संख्या ४१, पृ० ५३।

३. बौद्धगान ओ दोहा, पृ० २४।

४. गंगा, पुरातत्त्वाङ्क, पृ० २५४।

५. Oriental Jernal, Part I, Page 252, October 1933–September 1934 (Calcutta).

६. The origin and development of the Bengali language, Page 112.

७. हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, सन्धि काल, पृ० ५७।

१. जो रचना स्पष्टता और अस्पष्टता लिए हुए सन्ध्या की भाँति हो,

२. जिस रचना में बिहारी और बंगला भाषा का मिश्रण हो, और

३. वह भाषा जो रहस्यात्मक अर्थ रखती हो।

डाक्टर रामकुमार वर्मा का कहना है कि उपरिलिखित तीनों ही अर्थ भ्रामक हैं। उन्होंने अर्थ किया कि 'संध्या भाषा' वह है जो अपभ्रंश के सन्ध्या-काल में लिखी गई हो।[1] जो हो, उपर्युक्त सभी विद्वानों के अर्थों में सत्यता का अंश है और सबने अपने मनोनुकूल अर्थ करने की चेष्टा की है।

रस की दृष्टि से सिद्ध-साहित्य में शृङ्गार और शान्त रस की प्रधानता है। इतना तो प्रत्येक सच्चा साहित्यिक मानेगा कि सिद्धों की रचनाएँ जीवन की स्वाभाविक सरणि पर नहीं चली हैं, उनकी दृष्टि उनके साम्प्रदायिक सिद्धान्तों से ही बँधी रही। इधर गतानुगतिकता के कारण सिद्धों की रचनाओं का पूर्णतया अनुशीलन करने वाले और अधकचरे सभी ने उनमें अलौकिक आनन्द पाना शुरू कर दिया और उन सिद्धों के समान ही उन काव्य-लक्षणों को तिलाञ्जलि दे दी जो स्वाभाविक काव्य को लक्ष्य मानकर निर्मित हुए थे। इस प्रकार की अनुत्तरदायित्वपूर्ण बातों का साहित्य-जगत् में प्रचार उसके लिए हानिकर ही सिद्ध होता है, लाभकर नहीं। साहित्य का परीक्षण और उसका विवेचन प्रमुख रूप में लोक-सामान्य हृदय तथा लोक-मङ्गल की ही दृष्टि से होना चाहिए, कुछ चुने हुए साम्प्रदायिकों की सीमित मान्यताओं के विचार से नहीं। अन्यथा नवीन किन्तु सच्चे साहित्य-साधकों में कुण्ठा की वृद्धि के साथ साहित्य का ह्रास होता है। कुछ जनों को खुश करने के फेर में पड़कर समूह की हानि नहीं करनी चाहिए और न होने देनी चाहिए।

मुझे सिद्धों के विषय में यही कहना है कि इन्होंने जनता से सम्पर्क स्थापित करने के जो साधन अपनाए उनमें गीतों का प्रमुख स्थान है। सिद्धों में कतिपय अच्छे पण्डित और लोकदर्शी थे। सिद्धों के समय से गीति-काव्य सङ्गीत के निकट सम्पर्क में आ गया, लोक-सङ्गीत और शास्त्राय सङ्गीत दोनों के ही। सिद्धों से पूर्व गीतिकाव्य के इस प्रकार का लिखित रूप हमें नहीं मिलता। सिद्धों के पदों में हमें गीतों का वह रूप दिखाई पड़ता है जो युगों से लोक-जीवन के साथ-साथ चलता चला आ रहा था। चौरासी

---

१. वही, सन्धिकाल, पृ० ६५ और ६७।

सिद्धों में सरहपाद वा सरहपा सबसे पहले आते हैं। इनके साथ-साथ कतिपय प्रमुख सिद्धों की गीतियों को हम यहाँ रखेंगे।

सरहपा के पद

सरहपा सब से पुराने और सिद्धों में प्रथम हैं। डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य ने इनका समय संवत् ६९० माना है[1] और राहुल जी इन्हें ७६० के आस-पास मानते हैं।[2] इनके दो अन्य नाम राहुल भद्र और सरोजवज्र भी हैं। ये ब्राह्मण थे और बौद्ध भिक्षु बनने के पश्चात् इन्होंने अध्ययन द्वारा अच्छी विद्वत्ता प्राप्त की। इन्होंने कई वर्ष नालन्दा में निवास किया। तान्त्रिकों के प्रभाव में आकर इन्होंने एक सर (बाण) बनाने वाले की कन्या को महामुद्रा बनाया और उससे साथ वर्षों वन में निवास करते रहे। वन में रहते समय भी ये बाण बनाया करते थे, इसी कारण इनका पहला नाम लुप्त हो गया और ये सरहपाद नाम से ख्यात हो गए। इनके दो प्रमुख शिष्य हुए, शबरपा और नागार्जुन। राहुल जी के कथनानुसार इनके ३२ ग्रन्थों का अनुवाद भोटिया तन्-जूर में उपलब्ध है।[3] इनकी गीति-बद्ध रचनाएँ हैं—

अमृत वज्र गीति, चित्तकोव-अज-वज्रगीति, डाकिनी-गुह्य-वज्रगीति, उपदेशगीति, और सरहपाद गीतिका।

इनकी गीतियाँ साम्प्रदायिक मान्यताओं के उद्‌गार रूप में हैं, जिनमें रहस्यवाद, प्राचीन मान्यताओं का खण्डन, सहजमार्ग, योग की महत्ता और उसके द्वारा महासुख की प्राप्ति, गुरु की महिमा का गान आदि है। भाषा सरल और मुहावरेदार है। इनकी गीतियों का नमूना देखिए —

एत्थु से सुरसरि जमुणा, एत्थु से गंगा साअरु।
एत्थु पआग बणारसि, एत्थु से चन्द दिवाअरु॥
खेत्तु पीठ उपपीठ, एत्थु महँ भमइ परिठ्ठओ।
देहा सरिसउ तित्थ, महँ सुह अण्णाण दिठ्ठओ॥

—दोहा कोष

---

१. बुद्धिस्ट एसोटेरियम

२. पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १६९ (१९३७ ई०)।

३. वही।

अर्थात् इस शरीर में ही गंगा, यमुना, गंगासागर, प्रयाग, वाराणसी, चन्द्र, सूर्य आदि सभी हैं (बाहर के तीर्थों में भटकने की आवश्यकता ही नहीं है)। क्षेत्र, पीठ, उपपीठ सब इसी में अवस्थित हैं। देह के सदृश तीर्थ में जिस महासुख की उपलब्धि होती है, उसे अन्यत्र कहीं देखने का सुयोग मुझे नहीं मिला।

इनके चर्यापद की एक गीति देखिए—

राग भैरवी

काअ णावडि खाँटि यण केडुआल।
सद्गुरु वअणे धर पतवाल॥
चीअ थिर करि धरहु रे नाइ।
आण उपाय पार ण जाइ॥
नौआही नौका टाणअ गुणे।
मेलि मेलि सहजें जाउ ण आणें॥
बाटत भअ खाँट वि बलआ।
भव उलोलें सव वि बोलिआ॥
कुल लइ खुरे सोत्तें उजाअ।
सरह भणइ गअणे समाअ॥ —चर्यापद ३८

"काया की सुन्दर नाव में, मन का केतुपाल बनाकर, सद्गुरु के उपदेश की पतवार के सहारे, चित्त को स्थिर करके नाव चलाओ (तभी नाव तुम्हें पार पहुँचाएगी।) किसी अन्य उपाय से (नाव) पार नहीं जा सकती। केवट नाव को गुण की रस्सी से खींचता है। सहज (मार्ग से) ही (नाव) चलाओ-चलाओ, दूसरे (उपाय) से नहीं जा सकते। बाट में भय भी अधिक बलवान् है। सांसारिक लहरों से सभी काँप रहा है। खर धारा में किनारे से चलाओ, सरह कहता है (तभी) गगन में (शून्य लोक में) समाधिस्थ हो सकोगे।"

शबरपा की गीतियाँ

पहले कहा जा चुका है कि शबरपा के एक प्रमुख शिष्य थे। राहुल जी के कथनानुसार ये जाति के क्षत्रिय थे। इनके शिष्य लुइपा आगे चलकर सिद्ध कहलाए। शबर नामक जंगली जाति वालों की-सी वेश-भूषा में रहने के

कारण ही सम्भवतः इनका नाम शबरपा पड़ा। राहुल जी ने कहा है कि तन्जूर में इनके लिखे २६ ग्रन्थों के अनुवाद हैं।[1] चित्तगुह्य, गम्भीरार्थ गीति, महामुद्रा वज्र गीति आदि इनकी गीतियों के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। ग्रन्थों के नाम से ही स्पष्ट है कि इन्होंने शुद्ध साम्प्रदायिक भावनाओं को ही गीतियों में बाँधा है। एक गीति लीजिए—

राग वलाड्डि

ऊँचा ऊँचा पावत नहिं वसइ सवरी बाली।[2]
मोरंगि पीच्छ परहिण सवरी गिवत गुंजरी माली॥
उमत सवरो पागल सवरो मा कर गुली गुहाडा तोहोरि।
णिअ घरिणी नामे[3] सहज सुन्दरी॥
नाना तरुवर मोउलिल रे गअणत लागे ली डाली।
एक ली सवरी ए वण हिण्डई कर्ण कुण्डल वज्र धारी॥
तिअ धाउ खाट पडिला सवरो महासुखे सेजे छाइली।
सवरो भुजंग नैरामणि दारी पेम्ह राति पोहाइली॥
हिअ ताँबोला महासुहे कापुर खाइ।
सुन नैरामणि कंठे लइआ महासुहे राति पोहाइ॥
गुरुवाक् पुंछिआ विन्ध मिअमण बाणे।
एके शरसन्धाने विन्धह विन्धह परमणिवाणे॥
उमत सवरो गरुआ रोषे।
गिरिवर सिहर सन्धि पइसन्ते सवरो लोडिब कइसे॥

—चर्यापद, २८

"वह जो अत्यन्त ऊँचा पर्वत है वहीं शबर-बालिका (नैरात्मा) रहती है। वह मोर-पंख पहने हुए और गले में गुञ्ज (घुँघुँची) की माला धारण की हुई है। शबर उसके लिए उन्मत्त है, पागल है (साधक उससे मिलने के लिए व्याकुल है)। शबर, तू पागल होकर शोर न मचा, वह तेरी गृहिणी सहज ही तुमसे मिलने को आ रही है। भाँति-भाँति के तरुवर मुकुलित हैं (पुष्पित हैं), उनकी शाखाएँ आकाश से जा लगी हैं। कानों

१. पुरातत्व निबन्धावली (इण्डियन प्रेस लिमि०, प्रयाग, १९३७)
२. सवरीवाली—शबर-बालिका अर्थात् नैरात्मा।
३. नामे—उतरती है (बँगला)

में कुण्डल और हाथ में वज्र लिए हुए अकेली शबरी सारे वन-प्रान्त में घूम रही है। वहीं धातु-निमित खट्वा पड़ी हुई है। उस शय्या पर सभी सुख शोभित हैं। उस नैरात्मा रूपी बालिका ने सारी रात प्रेमपूर्वक बिताई उस शबर के साथ। साधक (शबर) अपने मन रूपी बाण में गुरु-वाक्य का पंख जोड़कर एक ही बार शर-सन्धान करके परम निर्वाण का भेदन कर देता है। जब शबर उन्मत्त होकर रोष में भरकर उस गिरि-शिखर पर पहुँच जाता है तब उसे वहाँ से लौटाना सम्भव नहीं।"

यहाँ भी हम देखते हैं कि शबरपा ने अपने सम्प्रदाय की साधना का बँधा-बँधाया रूप ही उपस्थित किया है, लोक-साधारण की अनुभूति से सम्बद्ध काव्य के स्वाभाविक स्वरूप का दर्शन यहाँ भी दुर्लभ ही है। नारी रूप में ईश्वर की कल्पना, जिसे सूफियों ने अपनाया, यहीं से उद्भूत और गृहीत प्रतीत होती है।[१]

लुहिपा या लुइपा की गीतियाँ

लुइपा जाति के कायस्थ थे। प्रसिद्ध सिद्ध शबरपा से प्रभावित होकर ये उनके शिष्य हो गए। चौरासी सिद्धों में इनकी भी गणना है। इनके समय के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है तथापि विशेष सम्भावना यही है कि ये विक्रम की नवीं शती में थे। ये पहले महाराज धर्मपाल के यहाँ मुंशी का काम करते थे। वज्रयान में दीक्षित होने के अनन्तर ये बड़े प्रभावशाली सिद्ध कहलाए। इनकी रचना में रहस्यात्मकता विशेष पाई जाती है। अपने कथन के महत्त्व को सुरक्षित रखने के लिए इन्होंने साध्यवसान रूपक का आश्रय ग्रहण करने की पटुता दिखाई है। इनका एक प्रसिद्ध पद नीचे दिया जा रहा है—

काआ तरुबर पंच विडाल। चंचल चीए पइट्ठा काल ॥[२]

दिढ़ करिअ महासुह परिणाम। लुई भणइ गुरु पुच्छिय जाण ॥

---

१. अपभ्रंश-साहित्यः प्रो० हरिवंश कोछड़, (भारतीय साहित्य मन्दिर, फटवारा, दिल्ली द्वारा प्रकाशित), अपभ्रंश मुक्तक काव्य (२) धार्मिक-बौद्धधर्म सम्बन्धी, पृ० ३१०।

२. खड़ी बोली की छायावादी धारा में रहस्यवाद का आश्रय ग्रहण करने वाले कवियों ने भी इसी प्रकार के रूपक बांधे हैं। सिद्धों की अनेक मान्यताओं को बाद के रहस्यवादियों ने बिना हिचक ले लिया है। कुछ दिनों तक तो बहुतों ने इसी को कविता का चरमोत्कर्ष मान लिया था और कविता अपने उच्चासन से गिरकर पहेली बनकर रह गई थी। —लेखक

सअल समाहिअ काहि करिअइ । सुख दुखे त निचित मरिअइ ॥
ए डिएउ छान्दक बान्ध करण कपटेर आस ।
सुनु पाख भिडि लेहु रे पास ॥
भणइ लुई आम्हे भाड़े दिउठा । धमण चमण वेणि पाण्डि बइठा ॥

—चर्यापद, १

अर्थात् यह शरीर एक वृक्ष है और इसमें पाँच शाखाएँ (बौद्ध शास्त्र के पंच प्रतिबन्ध (आलस्य, हिंसा, काम, विचिकित्सा और मोह) हैं । चंचल चित्त में अन्धकार ने डेरा डाल दिया है । लुई कहते हैं कि गुरुदेव से पूछकर ज्ञान प्राप्त करो और फिर महासुख को दृढ़तापूर्वक प्राप्त कर लो । सुख और दुख में तो मरना निश्चित ही है, फिर लौकिक पदार्थों का समाधान कैसा ? अपनी इन्द्रियों को बाँधो, कपट की आशा छोड़ो । नैरात्मा का सान्निध्य प्राप्त करो । लुई कहते हैं कि मैंने ध्यान में देखा है, वह नैरात्मा सूर्य और चन्द्र दोनों के ऊपर बैठा हुआ है ।

कण्हपा की गीतियाँ

इसका जन्म-स्थान कर्णाटक था । इसलिए इनका नाम कर्णपा पड़ा । कुछ लोग कहते हैं कि इनके श्याम वर्ण के कारण लोग इन्हें कृष्णपा या कण्हपा कहने लगे । महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इन्हें ब्राह्मण कुलोत्पन्न कहा है, किन्तु श्री भट्टाचार्य इन्हें जुलाहा के कुल में उत्पन्न मानते हैं ।[1] महाराज देवपाल के समय में (८०६-८४९ ई०) ये एक ब्राह्मण भिक्षु थे । बहुत दिनों तक ये सोमपुरी बिहार (पहाड़पुर, जिला राजशाही) में रहते रहे । बाद में ये ख्यात सिद्ध जालन्धरपा के शिष्य हुए । कवित्व-शक्ति और विद्या में ये चौरासी सिद्धों में सर्वश्रेष्ठ माने गए हैं । सात से अधिक सिद्ध इनके शिष्य ही हुए थे । राहुल जी के कथनानुसार इनके दर्शन पर लिखे गए ६ और तन्त्र पर चौहत्तर ग्रन्थ भोटिया तन्जूर में विद्यमान हैं । जालन्धर पाद तथा कृष्णपाद दोनों ही शैव सिद्ध माने गए हैं, अतः इनका महत्त्व सर्वाधिक माना गया है । राहुल जी ने इनके मगही भाषा में लिखे छः ग्रन्थ बतलाए हैं । 'कान्हपाद गीतिका' और 'वज्र गीति' में इनकी प्रसिद्ध गीतियाँ हैं । उदाहरण लीजिए—

---

१. साधनमाला, भाग २, प्रस्तावना, पृ० ५३ ।

राग भैरवी

भव निर्वाणे पडह मादला ।
मण पवण वेणि करण्ड कसाला ॥
जअ जअ दुन्दुहि साद उचछिला ।
कान्ह डोम्बी विवाहे चलिला ॥

डोम्बी विवाहिआ अहारिउ जाम ।
जउतुके किउ आणुतु धाम ॥
अह निसि सुरअ पसंगे जाअ ।
जोइणि जाले रअणि पोहाअ ॥
डोम्बिएर संगे जो जोइ रत्तो ।
खणह ण छाड़अ सहज उन्मत्तो ॥

—चर्यापद १९

अर्थात् डोमिन के साथ कराह का जब विवाह होने लगा तब पटह, मादल आदि बाजे बजने लगे। मन पवन भी बाजों के समान बजने लगे। दुन्दुभी बजने लगी, जय-जय का शब्द होने लगा, कृष्ण डोमिन के साथ विवाह करके चल पड़ा। उसे दहेज में अनुत्तर धाम मिला। अब वह दिन-रात उसके साथ सुरत-प्रसङ्ग में रहता है। इस प्रकार जो-जो लोग उस डोमनी के साथ अनुरक्त हुए, उन्होंने क्षण भर के लिए उसे छोड़ा नहीं और सहज ही उन्मत्तावस्था में पड़े रहे।

शान्तिपा की गीतियाँ

ये ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए थे। सिद्धों में ये सबसे प्रकाण्ड विद्वान् थे। इन्होंने दूर-दूर तक भ्रमण किया था। उड़न्तपुरी, विक्रमशिला, सोमपुरी, मालवा और सिंहल आदि स्थानों में जाकर इन्होंने ज्ञान प्राप्त किया और सर्वत्र अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य के ही कारण ये "कलिकाल सर्वज्ञ" कहे जाते थे। इनका समय १००० ई० के आसपास माना गया है। एक गीति देखिए—

राग शबरी

तुला धुणि धुणि आँसु रे आँसु ।
आँसु धुणि धुणि णिरवर सेसु ॥

तुला धुणि धुणि सुणे अहारिउ ।
पुण लइआ अपणा चटारिउ ॥
बहल बढ़ दुइ मार न दिसअ ।
सान्ति भणइ बालाग न पइसअ ॥
काज न कारण ज सहु जुगति ।
सअ संवेअण बोलथि सान्ति ॥

—चर्यापद २६

अर्थात् जिस प्रकार रुई को धुनते ही चले जाओ तो अन्त में कुछ भी शेष नहीं रह जाता, उसी प्रकार मन को धुनते जाओ तो अन्त में कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाएगा । अतःमन को धुनकर उसे स्वभावहीन बनाकर महाशून्य को प्राप्त करना चाहिए ।

निष्कर्ष यह कि सिद्धों ने अपनी साम्प्रदायिक भावनाओं को फैलाने के लिए ही देशभाषा और गीतियों का आश्रय ग्रहण किया था । आगे चलकर लोकदर्शी महाकवियों ने इन्हीं गीतियों को लिया और उनमें लोकानुभूतियों को गुम्फित करके उन्हें वास्तविक काव्य का रूप दिया । इन गीतियों को भाषा-साहित्य में लाने का श्रेय सिद्धों को ही है, जो लोक के सम्पर्क में रहते थे । महाकवियों के समान राज-दरबारों की शोभा नहीं बनते थे । राजशेखर की 'कर्पूरमञ्जरी' से स्पष्ट है कि जनता पर सिद्धों का कितना व्यापक प्रभाव था, वह दसवीं शती थी ।

हिन्दी-साहित्य का गीतिकाव्य

हम अभी कह आये हैं कि गीतियों का आदिम लिखित रूप हमें सिद्धों के चर्यापदों में मिलता है। हमारा अनुमान है कि सिद्धों के चर्यापदों में लोक-गीतियों का ही आकार गृहीत हुआ है। सङ्गीतज्ञ विद्वानों ने उसे संगीत के ताल और स्वरों पर तोलकर शास्त्रीय रूप दिया है, किन्तु भाषा और गीतियों का रूप जनता के बीच से ही गृहीत हुआ है, इसमें सन्देह नहीं। सातवाहन हाल के पश्चात् लोक-भाषा में लिखित काव्य की यथोचित प्रतिष्ठा करने वाला अन्य कोई नरेश नहीं हुआ, अन्यथा लोकगीतियों का मूल रूप भी हमें देखने को मिलता। गीतियों का जो रूप हम चर्यापदों में पाते हैं, वही लोक-जीवन में विकसित होता रहा। संस्कृत कवियों में महाकवि क्षेमेन्द्र ही ऐसे हुए जिन्होंने नारियों द्वारा प्राकृत में गाए जाने वाले गीति-प्रकार को संस्कृत रूप दिया। यह उनका प्रथम प्रयास था। उनके अनन्तर संस्कृत में इसे विकसित किया गीत-गोविन्दकार ने। सिद्धों के दोहों और पदों का अनुसरण किया हिन्दी के सन्तों ने; जिनमें कबीर, नानक, दादू आदि प्रमुख हैं। कबीर तो काव्य के केवल बाह्य स्वरूप में ही नहीं, अपितु अभिव्यक्ति की शैली में भी सिद्धों के ही अनुकर्त्ता थे। गीतियों का स्वरूप आगे चलकर हिन्दी के कवियों ने वही रखा जो सिद्धों से होकर चला आ रहा था। जयदेव की अष्टपदियों का रूप हिन्दी-वालों ने नहीं अपनाया, उनका भाव-क्षेत्र अवश्य ही हिन्दीवालों पर प्रभाव डालता रहा।

निर्गुण पंथी सन्तों ने सिद्धों से बाह्य-पूजा, जाति-पाँति, तीर्थ-व्रत आदि का विरोध-भाव, रहस्यदर्शिता और शास्त्रज्ञ विद्वानों का उपहास, घट के भीतर चक्र, नाड़ियों, शून्य देश आदि की मान्यता, नाद-बिन्दु-सुरति-निरति आदि शब्दों के प्रयोग ज्यों-के-त्यों अपना लिए थे। नाथ-पंथ तो वज्रयान से निकला ही हुआ था, अतः उन्हें ये सब चीजें वरासत में स्वतः प्राप्त थीं। निर्गुण पंथ सिद्धों की मान्यताओं तक ही सीमित न रहा, उसने वेदान्त का ज्ञानवाद, सूफियों के प्रेमवाद तथा वैष्णवों के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद को भी अपनी पूर्व उपलब्धियों में मिला लिया और एक नई चीज तैयार करके जनता के समक्ष उपस्थित हुए। मनमाने रूपक और उलटवासियाँ भी

सिद्धों वाली ही रहीं। सिद्ध साहित्य के समक्ष निर्गुणसन्त-साहित्य को रख कर कोई भी स्पष्ट रूप में इन सब बातों को देख सकता है। भाषा के विषय में भी यही पाते हैं। सिद्धों की भाषा, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, देश-भाषा-मिश्रित अपभ्रंश है। वह गुजरात, राजपूताना और व्रजप्रान्त से लेकर बिहार तक शिष्ट जनों द्वारा व्यवहृत काव्यभाषा ही है। इसे हम पुरानी हिन्दी भी कह सकते हैं। कबीर आदि सन्तों ने अपनी साखियों में खड़ी बोली और राजस्थानी मिश्रित सामान्य भाषा को अपनाया है, किन्तु रमैनी के गीतों की भाषा कहीं साहित्यिक व्रजभाषा है और कहीं मगही है। सिद्धों का प्रभाव सुशिक्षित वर्ग पर भी छा गया था, किन्तु निर्गुणिए सन्त अपना प्रभाव समाज के निम्नवर्ग पर ही डाल सके। यहाँ हम कतिपय सन्त-कवियों के गीत देकर उनका स्वरूप उपस्थित करेंगे।

कबीर के पद

कबीर निर्गुण सम्प्रदाय के प्रमुख सन्त थे। सिद्धों की साम्प्रदायिक मान्यताओं से इनका प्रारम्भ से ही प्रगाढ़ परिचय था। ऊपर सिद्धों से निर्गुणियों द्वारा गृहीत जिन बातों का उल्लेख किया गया है, वे सभी कबीर में मिलती हैं। इनके कतिपय पद हम यहाँ दे रहे हैं—

अनगढ़िया देवा कौन करै तेरी सेवा।
गढ़े देव को सब कोई पूजै, नित ही लावै सेवा।
पूरन ब्रह्म अखंडित स्वामी, ताको न जानै भेवा॥
दस औतार निरंजन कहिए, सो अपना ना होई।
यह तो अपनी करनी भोगैं, कर्ता और हि कोई॥
जोगी जती तपी संन्यासी, आप आप में लड़ियाँ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, राग लखै सो तरियाँ॥

—हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर-वाणी, १३

स्पष्ट है कि कबीर ने सगुण भक्ति और मूर्ति-पूजा का विरोध किया है तथा निर्गुण ब्रह्म की उपासना का तार्किक ढंग से समर्थन किया है। नीचे के पद में कबीर अज्ञान को दूर करके ब्रह्म का साक्षात्कार करने का उपदेश दे रहे हैं। सिद्धों के शून्य महल और अनहद ढोल तथा अनमोल पिय यहाँ भी देखे जा सकते हैं—

तोको पीव मिलैंगे घूँघट के पट खोल रे।
घट घट में वही साईं रमता, कटुक वचन मत बोल रे।
धन जोबन को गरब न कीजे, झूठा पंचरंग चोल रे।
सुन्न महल में दियना बार ले, आसा सों मत डोल रे।
जोग जुगत सों रंगमहल में, पिय पाई अनमोल रे।
कहैं कबीर आनंद भयो है, बाजत अनहद ढोल रे॥
—वही, २२४

शरीर की क्षणिकता के साथ क्रोध का त्याग, प्रेम का ग्रहण और घट के भीतर ईश्वर-दर्शन की बात कबीर ने बताई है। ईश्वर-साक्षात्कार ही जीव का परम लक्ष्य और उसी में परमानन्द की प्राप्ति का सन्देश दिया गया है। ऐसी ही बातें हमने सिद्धों द्वारा भी सुनी हैं, इसमें कबीर की अपनी कोई नई बात नहीं है। इड़ा और पिंगला नाड़ियों की मध्यवर्तिनी सुषुम्ना के मार्ग से प्राणवायु को मेरु के शिखर पर ले जा कर महासुख की प्राप्ति की शिक्षा सिद्धों ने बराबर दी है।[1]

संत रैदास वा रविदास

रैदास का जन्म काशी में हुआ था। ये जाति के चमार थे, जैसा कि इन्होंने स्वयं अपने अनेक पदों में कहा है। इनकी जातिवाले 'ढेढ' नाम से प्रसिद्ध थे और ढोरों का व्यवसाय करते थे। किन्तु ये इतने महान् भक्त हुए कि ब्राह्मणों तक ने इन्हें दंडवत् प्रणाम किया।[1] इन्होंने संत सेन नाई और कबीर की प्रशंसा करते हुए उनके तरने का उल्लेख किया है, इससे स्पष्ट है

---

१. भव निर्वाणे पडह मादला।
मण पवण वेणि करण्ड कसाला॥
जअ जअ दुन्दुहि नाद उछलिला।
कान्ह डोम्बी विवाहे चलिला॥
डोम्बी विवाहिया अहारिउ जाम।
जउतुके किउ आणुतु धाम॥ —कण्हपा, चर्यापद, १९

१. मेरी जाति कुटवाँ ढला ढोर ढोवतां नितहि बानारसी आसपासा।
अब बिप्र परधान तिहि करहिं डंडउति तेरे नाम सरनाई रविदासदासा॥
—ग्रंथ साहब, रागु मलार, पद १

कि ये उनके परवर्ती थे।[1] इन्हें स्वामी रामानन्द का शिष्य कहा जाता है, किन्तु इस बात का उल्लेख इनकी रचनाओं में कहीं भी नहीं हुआ है और जन-श्रुति के अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं मिलता। पंडित परशुराम चतुर्वेदी ने भी इसके लिए सन्देह प्रकट किया है।[2] सन्त धन्ना और प्रसिद्ध भक्त मीराँबाई ने इनका नाम बड़े सम्मान के साथ लिया है। मीराँबाई और झाली रानी ये दोनों इनकी शिष्याएँ कही जाती हैं। इनकी सारी रचनाओं का कोई प्रामाणिक संग्रह अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है। 'रैदास की बानी' नाम से इनकी रचनाओं का एक लघु संग्रह प्रयाग के 'वेलेवेडियर' प्रेस से प्रकाशित हुआ है। 'ग्रन्थ साहब' में इनके बहुत से पद संकलित हैं। ये शिक्षित नहीं थे, किन्तु कबीर की भाँति बहुश्रुत अवश्य थे। हृदय के सरल भाव सीधी भाषा में इन्होंने उतार दिए हैं। ये निर्गुणवादी कवि थे, ऐसा इनकी रचनाओं से प्रतीत होता है। एक पद इनका यहाँ दिया जा रहा है—

अखिल खिलै नहिं, का कह पंडित,
कोइ न कहै समुझाई।
अबरन बरन रूप नहिं जाके,
कहँ लौ लाइ समाई॥
चंद सूर नहिं, राति दिवस नहिं,
धरनि अकास न भाई।
करम अकरम नहिं, सुभ असुभ नहिं,
का कहि देहुँ बड़ाई॥

स्पष्ट शब्दों में निर्गुण मत का प्रतिपादन रैदास ने किया है। यही उस समय के पूरे सन्त-समुदाय की मान्यता थी, चाहे वह कोई पंथ हो। इन सन्तों ने घट-घट में परिव्याप्त ब्रह्म के साक्षात्कार की बातें अनेक बार कही हैं, सब की साधनाएँ प्रायः एक ही प्रकार की थीं।

गुरु नानक

गुरु नानक का जन्म पंजाब के लाहौर जिला के तिलवंडी ग्राम में कार्तिकी

---

१. नामदेव कबीर तिलोचन सधना सेन तरै।
कह रविदास सुनहु रे संतहु हरि जिउ तें सबहि सरै॥ —रैदास

२. उत्तरी भारत की संत-परम्परा, कबीर साहब के समसामयिक संत, पृ० २३७–२३८।

पूर्णिमा सम्वत् १५२६ ई० को हुआ था। इनकी रचनाओं का संग्रह 'ग्रन्थ साहब' में है। इनके कुछ भजन पञ्जाबी भाषा में हैं और कुछ तत्कालीन हिन्दी-काव्य-भाषा में। कवि-सम्राट् पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय का कहना है कि गुरु नानक के कुछ ही पद्य ऐसे हैं जो पन्द्रहवीं सदी की हिन्दी से सादृश्य रखते हैं, किन्तु उनमें भी पञ्जाबीपन का रंग अधिक है। भ्रान्ति इससे उत्पन्न हुई कि उनके बाद जो नौ गुरु और गद्दी पर बैठे उनमें पाँच गुरुओं ने जितनी रचनाएँ कीं उन्होंने अपनी पदावली में नानक नाम ही दिया। गुरु तेग बहादुर, जो नवें गुरु थे, सत्रहवीं शती ईस्वी में हुए, उनकी रचनाएँ उस समय की हिन्दी में हैं और वे ही अधिक प्रचलित हैं। उन्हीं की रचनाओं को लोग गुरु नानक की रचना मान बैठे।[1] यहाँ हिन्दी-मिश्रित गुरु नानक का एक पद दिया जाता है—

गुरु परसादी बूझिले तउ होइ निवेरा।
घर घर नाम निरञ्जना सो ठाकुर मेरा।
बिन गुरु सबद न छूटिये देखहु बीचारा।
जे लख करम कमावहीं बिनु गुरु अँधियारा।
अंधे अकेली बाहरे क्या तिन सों कहिए।
बिनु गुरु पन्थ न सूझई किस बिध निरबहिए।
आवत को जाता कहैं जाते को आया।
परकी को अपनी कहैं अपनो नहिं भाया।
मीठे को कड़ुआ कहैं कड़ुए को मीठा।
राते की निन्दा करहिं ऐसा कलि महि दीठा।
चेरी की सेवा करहिं ठाकुर नहिं दीसै।
पोखरु नीरु बिरोलिये माखनु नहिं रीसै।
इसु पद को अरथाइ ले सो गुरू हमारा।
नानक चीने आप को सो अपर अपारा॥

—ग्रन्थसाहब

गुरु नानक सच्चे सन्त थे, इनमें कबीर के समान अक्खड़पन नहीं था। इनकी शिक्षा कम थी। अपनी सरल भाषा में अपने साधु भावों को गूँथकर

१. पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, तीसरा प्रकरण, हिन्दी साहित्य का माध्यमिक काल, पृ० १९३-१९४।

इन्होंने रख दिया है। ये शास्त्रज्ञ विद्वानों का सम्मान करते थे; कबीर की भाँति स्वयं सर्वज्ञ बनकर उनका मुँह नहीं चिढ़ाते थे। सिद्धों के पदों का अटपटापन कबीर ने ग्रहण किया किन्तु नानक देव ने ऐसा कभी नहीं किया। पञ्जाबी और हिन्दी की सभी रचनाओं में इनके स्वभाव की साधुता स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

धर्मदास

धर्मदास बाँधव गढ़ में निवासी और परम भक्त थे। इनका प्रारम्भिक जीवन साकार की उपासना में व्यतीत हुआ। ये जाति के वणिक् और अत्यन्त सम्पत्तिशाली थे। पहले ये तिलक और तुलसी की माला का व्यवहार करते थे। इन्होंने द्वारका पुरी, जगन्नाथ पुरी, मथुरा आदि तीर्थों का भ्रमण किया था। एक बार काशी में सन्त कबीर से इनकी भेंट हुई और ये उनसे इतने प्रभावित हुए कि तुरत उनकी शिष्यता स्वीकार कर ली। कबीर के प्रधान शिष्य होने के कारण उनके मरणोपरान्त उनकी गद्दी इन्हें ही मिली। इन्होंने अपनी पहले की सारी सम्पत्ति दान कर दी और काशी में ही रहने लगे। कबीर की मृत्यु के बीस वर्ष उपरान्त इनका देहान्त हुआ। इस प्रकार सोलहवीं विक्रमी के अन्त में इनका परलोक-वास हुआ।

इनके शब्दों का कबीरपंथियों में बहुत आदर है। इनकी रचना परिमाण में कबीर से बहुत कम है, तथापि इनकी भाषा साफ और भाव सरलता से पूर्ण हैं। इनकी अन्योक्तियाँ बड़ी चुटीली हैं। इनकी रचनाओं में प्रेम-तत्त्व का प्राधान्य है। एक पद देखिए—

झरि लागै महलिया गगन घहराय।
खन गरजै, खन बिजुली चमकै, लहरि उठै सोभा बरनि न जाय।
सुन्न महल से अमृत बरसैं, प्रेम अनन्द ह्वै साधु नहाय॥
खुली केवरिया, मिटी अँधियरिया, धनि सतगुरु जिन दिया लखाय।
धरमदास बिनवै कर जोरी, सतगुरु चरन में रहत समाय॥

—सुखनिधान

कबीरदास की रहस्यात्मक भावना का ही प्राधान्य इनकी रचनाओं में भी मिलता है। ऐसे पदों की रचना के साथ-साथ इन्होंने सोहर, होली, बारहमासा आदि लोक-गीत भी लिखे हैं, पर सब में भाव अपने सम्प्रदाय के ही रखे गए हैं। एक सोहर इस प्रकार है—

सूतल रहलौं मैं सखियाँ तो विषकर आगर हो।
सतगुर दिहलैं जगाइ, पायौं सुख सागर हो॥
जब रहलीं जननी के ओदर, परन सम्हारल हो।
तब लौं तन में प्रान, न तोहि बिसराइब हो॥
एक बुंद से साहेब मँदिल बनावल हो।
बिना नेव कै मँदिल, बहु कल लागल हो॥

भाषा पूरबी ही सर्वत्र मिलती है। खण्डन-मण्डन वाली प्रवृत्ति से दूर रहकर इन्होंने अपनी बातें स्पष्ट शब्दों में कही हैं। कबीरके प्रधान शिष्य होने पर भी दोनों की प्रकृति में महान् अन्तर था, जो इनकी रचनाओं से स्पष्ट हो जाता है।

सन्त दादूदयाल

सन्त-परम्परा में दादूदयाल का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका जन्म सं० १६०१ में गुजरात के अहमदाबाद नामक स्थान में हुआ था। इनकी जाति के विषय में अनेक विद्वानों ने अनेक मत प्रकट किए हैं। इनके पन्थ वाले इनकी जन्म-कथा कबीर के समान ही मानते हैं। उनका कहना है कि ये शिशु-दशा में साबरमती नदी में लोदीराम नामक ब्राह्मण को मिले थे। अतः वे इन्हें ब्राह्मण जाति का मानते हैं। मोहसिन फानी के अनुसार ये धुनियाँ थे और म० म० पंडित सुधाकर द्विवेदी ने इन्हें मोची जाति का माना है। ये पहले चौदह वर्ष तक आमेर में रहे, फिर मारवाड़ बीकानेर आदि स्थानों में पर्यटन करते हुए सं० १६५९ में जयपुर से ४० मील दूर स्थित नराना नामक स्थान में आकर स्थायी रूप से रहने लगे। फिर अन्तिम समय में वहाँ से कुछ दूर स्थित भराना नामक पहाड़ी पर रहते समय सं० १६६० में इन्होंने शरीर त्याग किया।

इनका मत कबीर से मिलता-जुलता है। यह पता नहीं चलता कि ये किसके शिष्य थे। इन्होंने अपना पृथक् पन्थ चलाया जो 'दादूपंथ' नाम से प्रसिद्ध है। दादूपंथी लोग अपने को 'निरंजन' का उपासक बताते हैं। 'सत्तनाम' कहकर अभिवादन की प्रणाली इनमें प्रचलित है। दादू ने साखियाँ (दोहे) अधिक कही हैं, पदों की संख्या कम है। इनकी भाषा राजस्थानी मिली पच्छिमी हिन्दी है। इसकी कुछ रचनाएँ गुजराती और पंजाबी में भी

हैं। कविता में निर्गुण-सम्प्रदाय की ही बातें मिलती हैं। इनकी रचना में प्रेमभाव की व्यञ्जना बड़ी सुन्दरता से हुई है। इनका एक पद देखिए—

भाई रे ऐसा पंथ हमारा।
द्वै पख रहित पंथ गह पूरा अबरन एक अधारा।
बाद बिबाद काहु सौं नाहीं मैं हूँ जग थें न्यारा।।
समदृष्टी सूं भाई सहज में आपहि आप बिचारा।
मैं, तैं, मेरी यह मति नाहीं निरबैरी निबिकारा।।
काम कल्पना कदे न कीजे पूरन ब्रह्म पियारा।
एहि पथ पहुँचि पार गहि दादू सो तत सहज सँभारा।।

—दादूदयाल की बानी (पं० सुधाकर द्विवेदी)

सन्त सुन्दरदास

ये दादूदयाल के शिष्यों में सब से कम वय के किन्तु सर्वाधिक योग्य और प्रसिद्ध शिष्य थे। जयपुर की प्राचीन राजधानी द्यौसा में सं० १६५३ में इनका जन्म हुआ था। ये खंडेलवाल बनिया जाति के थे। एक बार सन्त दादू जब इनके नगर में पधारे थे तब इनका बाल-हृदय उनकी और आकृष्ट हो गया और ये उनके साथ हो लिए। दादू ने इनकी सुन्दर आकृति को देखकर इनका नाम सुन्दर रख दिया था। सन्त दादू का देहावसान सं० १६६० में हुआ, फिर ये अपने जन्म-स्थान द्यौसा चले आए। सं० १६६३ में ये जगजीवन नामक साधु के साथ काशी आए। यहाँ तीस वर्ष की आयु तक इन्होंने व्याकरण, वेदान्त, काव्य-शास्त्र आदि का गम्भीर अध्ययन किया। ये फारसी भाषा के भी अच्छे ज्ञाता थे। काशी से आने पर राजपूताना के फतहपुर शेखावाटी स्थान पर रहने लगे। इन्हों सं० १७४६ की कार्तिक शुक्ला ८ को देह-त्याग किया।

इनका सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सुन्दर विलास' है। इन्हें कवि की सहज प्रतिभा प्राप्त थी। विद्वान् होने के कारण और सन्तों के समान इन्होंने यतिभंग और गतिभंग से पूर्ण, छन्दःशास्त्र की मर्यादा तोड़ने वाले पदों और दोहों में ही अपनी रचना नहीं की अपितु एक सिद्धहस्त कवि के समान कवित्त, सवैये आदि अपनाए, जिनमें काव्य-कौशल पूरी-पूरी मात्रा में विद्यमान है। इन्होंने पूरे भारत का भ्रमण किया था, अतः इनका अनुभव बहुत बढ़ा-चढ़ा था। इनकी रचनाओं में विनोद की भी उत्तम सामग्री मिलती है। 'दसो

दिशा के सवैया' हास्य-व्यंग्य की उत्तम रचना है। गीतियों की रचना 'पद' नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें २७ राग-रागिनियों में पदों की रचना की गई है। इनके ग्रन्थों की संख्या ३७ है और सभी ग्रन्थ 'सुन्दर ग्रन्थावली' में सङ्कलित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये अपढ़ सन्तों की कविता तोड़ने की अनधिकार चेष्टा से बड़े दुःखी और चिढ़े हुए थे, इसीलिए फटकार भरे शब्दों में ये कहते हैं—

बोलिए तो तब जब बोलिबे की बुद्धि होय,
ना तौ मुख मौन गहि चुप होय रहिए।
जोरिए तौ तब जब जोरिबे की रीति जानै,
तुक छंद अरथ अनूप जामें लहिए।
गाइए तौ तब जब गाइबे को कण्ठ होय,
श्रवन के सुनत ही मनै जाय गहिए।
तुकभंग छंदभंग अरथ मिलै न कछु,
'सुन्दर' कहत ऐसी बानी नहिं कहिए॥

—सुन्दर विलास

सुन्दरदास जी का एक पद नीचे दिया जा रहा है—

देखहु दुर्मति या संसार की।
हरि सो हीरा छाँड़ि हाथ ते बाँधत मोट विकार की।
नाना विधि के करम कमावत खबर नहीं सिर भार की।
झूठे सुख में फूलि रहे हैं फूटी आँख गँवार की।
कोई खेती कोइ बनिजी लागे कोई आस हथ्यार की।
अंध धुंध में चहुँ दिसि धाए सुधि बिसरी करतार की।
नरक जानि कै मारग चालै सुनि सुनि बात लबार की।
अपने हाथ गले में बाहीं फासी माया जार की।
बारम्बार पुकार कहत हौं सौंहैं सिरजनहार की।
सुन्दरदास बिनस करि जैहै देह छिनक में धार की॥—पद

सुन्दरदास जी विद्वत्ता और ज्ञान से सम्पन्न कवि थे। इसीलिए स्पष्ट शब्दों में सच्ची बातें कह देना इन्हें प्रिय था। अपढ़ पद-जोड़नेवालों की भाँति ऊट-पटांग बातें करना इन्हें प्रिय नहीं था। उपरिलिखित पद में भी ज्ञान-मार्ग की सच्ची परिचिति दी गई है।

———

सगुण धारा के कवियों की गीतियाँ

ऊपर जिन सन्तों की गीतियों की चर्चा की गई है वे गीतियाँ स्वानुभूति-परक गीति की श्रेणी में आती हैं। कविवर विद्यापति की चर्चा पहले हो चुकी है। महात्मा सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास के साथ कतिपय अन्य कृष्ण-भक्त कवियों की परोक्षानुभूतिपरक गीतियों का उल्लेख भी हम पहले ही कर आए हैं, यहाँ हम उनकी तथा अन्य कवियों की स्वानुभूतिपरक गीतियाँ देंगे। इन भक्त कवियों की स्वानुभूतिपरक गीतियों को श्रोता इनका इष्टदेव ही है, उसी के समक्ष ये अपने दैन्य, आत्मनिवेदन, आदि विनीत भावों तथा उसकी महत्ता और समर्थता का गान सरल हृदय से करते हैं।

'सूरदास' की स्वानुभूतिपरक गीतियाँ

'सूरसागर' के भीतर जो विनय के तथा प्रथम स्कंध के अधिकांश पद हैं, वे ही स्वानुभूतिपरक हैं। कुछ पद देखिए—

राग देवगंधार

मेरो मन अनत कहाँ सचु पावै।
जैसे उड़ि जहाज कौ पंछी, फिरि जहाज पर आवै।[1]
कमलनैन को छाँड़ि महातम, और देव को धावै?
परम गंग को छाँड़ि पियासो, दुर्मति कूप खनावै॥
जिन मधुकर अंबुज-रस चाख्यौ, क्यों करील फल खावै?
'सूरदास' प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै॥

—सूरसागर, विनय १६८

इस पद में महात्मा सूरदास ने भगवान् कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य भक्ति का परिचय दिया है। कृष्ण की सर्वोत्कृष्टता प्रदर्शित करने के लिए इन्होंने

---

१. 'जहाज को पंछी' की नूतन उपमा महात्मा सूरदास को सम्भवतः सिद्धों द्वारा मिली है। देखिए—

विसअ विसुद्धे पाउ रमइ, केवल सुण्ण चरेइ।
उड्डी वोहिअ काउ जिमु, पलुटिअ तह वि पड़ेइ॥—सरहपा

उपमाओं की लड़ी बाँध दी है। संसार को असार बताते हुए भक्ति को ही सार-स्वरूप बताकर उसे ही ग्रहण करने पर भक्तजन बल देते आए हैं। अद्वैतवादियों ने इसी प्रकार संसार को नश्वर और ज्ञान को सार पदार्थ बताया था। देखिए सूरदास कहते हैं—

सुआ, चलु वा बन को रसु लीजै।
जा बन कृष्न-नाम-अमरित-रस स्रवन-पात्र भरि पीजै॥
को तेरो पुत्र पिता तू काकौ, मिथ्या भ्रम जग केरो।
काल-मँजार लै जैहै तोकों, तूँ कहै 'मेरो-मेरो'॥
हरि नाना रस मुकति-छेत्र चलु, तोकों हौं दिखराऊँ।
'सूरदास' साधुनि की संगति, बड़े भाग्य को पाऊँ॥
—सूरसागर, प्रथम स्कंध, ३४०

'कृष्णचरित के गान में गीत-काव्य की जो धारा पूरब में जयदेव और विद्यापति ने बहाई, उसी का अवलम्बन व्रज के भक्त कवियों ने भी किया,'[1] इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है, किन्तु यह भी निर्विवाद है कि गीत-काव्य ने सूरदास के हाथों का सहारा पाकर चरम उत्कर्ष प्राप्त कर लिया। गीत-काव्य और व्रजभाषा दोनों ही सूरदास के आश्रय से उन्नति के अन्तिम शिखर पर जा पहुँचे। स्वानुभूतिपरक गीत हो चाहे परानुभूतिपरक, दोनों ही क्षेत्रों में सूरदास के समक्ष खड़ा करने योग्य तुलसीदास के अतिरिक्त दूसरा कोई भी कवि नहीं हुआ। स्वानुभूतिपरक गीतकारों में गोस्वामी तुलसीदास अपनी 'विनयपत्रिका' के कारण अवश्य सूरदास से बीस पड़ते हैं, किन्तु परोक्षानुभूतिपरक गीतियों में सूरदास अप्रतिम हैं।

गोस्वामी तुलसीदास

गोस्वामी जी के हृदय से निकली हुई पुनीत वाणी गीत के माध्यम से कानों में पहुँचकर हृदय-प्रान्त पर पीयूष-वर्षा कर जाती है। मन सचमुच ही अलौकिक आनन्द-लोक में जा पहुँचता है। हृदय का आनन्द-रस आँखों से छलक पड़ता है। तुलसीदास जी ने जो कुछ कहा है वह उनके हृदय की पुकार है, सहज है कृत्रिम नहीं, इसीलिए श्रोता पर उसका प्रभाव अमोघ होता है। इनके कतिपय पद दिए जाते हैं—

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० १६६।

माधव ! अब द्रवहु केहि लेखें ?
प्रनतपाल पन तोर, मोर पन जियउँ कमल-पद देखें ॥
जब लगि मैं न दीन, दयाल तैं, मैं न दास, तैं स्वामी ।
तब लगि जे दुख सहेउँ कहेउँ नहिं, जद्यपि अंतरजामी ।
तैं उदार मैं कृपन, पतित मैं, तैं पुनीत स्रुति गावै ।
बहुत नात रघुनाथ तोहिं मोहिं, अब न तजे बनि आवै ॥
जनक जननि, गुरु बंधु, सुहृद, पति सब प्रकार हितकारी ।
द्वैत रूप तम-कूप परौं नहिं सो कछु जतन बिचारी ॥
सुनु अदभ्र-करुना, वारिज-लोचन, मोचन-भव-भारी ।
तुलसिदास प्रभु तव प्रकास बिनु संसय टरै न टारी ॥

—विनयपत्रिका, ११३

दैन्य और आत्मसमर्पण की आगाध भाव-धारा में भाषा अपने आप वैभववती हो उठी है। भावों के अनुरूप भाषा स्वयं ढलती गई है, महाकवि को कही प्रयास करना ही नहीं पड़ा है।

भक्ति का प्रधान लक्षण है, अपने इष्टदेव के प्रति अटूट विश्वास और प्रणति का समन्वय।[1] यह बात सभी महान् भक्तों में पाई जाती है और गोस्वामी जी के विषय में तो फिर कहना ही क्या ! गोस्वामी जी ने अपनी गीतियों में वेदान्त और दर्शन को प्रतिष्ठित किया है। लोक-मर्यादा की रक्षा के साथ-साथ लोक-रक्षा के लिए भी वे सतत यत्नशील हैं, यह इनकी स्वकीय विशेषता है। गीतियों को देखिए—

जानत प्रीति रीति रघुराई ।
नाते सब हाते करि राखत राम–सनेहु–सगाई ॥
नेह निबाहि देह तजि दसरथ कीरति अचल चलाई ।
ऐसेहुँ पितु तें अधिक गीध पर ममता गुन गरुआई ॥
तिय-बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रानप्रिया बिसराई ।
रन परयो बंधु बिभीषन ही को सोचु हृदय अधिकाई ॥

---

१. भक्तिस्तु निरतिशयानन्दप्रियानन्यप्रयोजनसकलेतरवैतृष्ण्यवज्ज्ञानविशेष एव । —सर्वदर्शनसंग्रह, रामानुजदर्शन, ४७ ।
—सा परानुरक्तिरीश्वरे ॥ —शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र, २ ।

घर गुरगृह प्रियसदन सासुरे भई जब जब पहुनाई।
तब तब कहैं सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई॥
सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई।
केवट-मीत कहे सुख मानत, बानर बन्धु बड़ाई॥
प्रेम कनौड़ो राम सो प्रभु तिभुअन तिहुँ काल न भाई।
तेरो रिनी हौं कह्यौ कपि सों ऐसी मानिहि को सेवकाई॥
'तुलसी' राम सनेह शील सुनि जौं न भगति उर आई।
तौ तोहिं जनमि जाय जननी जड़ तनु-तरुनता गँवाई॥

—विनयपत्रिका, १६४

अपने इष्टदेव के गुणों का जो यथार्थ चित्र गोस्वामी जी ने प्रस्तुत किया है, वह सारी मानव-जाति के लिए आदर्श और विश्वजनीनता से पूर्ण है। कौन देश और कौन जाति मानवता के इन लोकोत्तर गुणों का तिरस्कार कर सकती है? गोस्वामी जी की वाणी में वह शक्ति है जो पत्थर को भी पिघला सकती है। गोस्वामीजी के जीवन-काल में एक ऐसा समय भी आया था जब समाज की मर्यादाएँ छिन्न-भिन्न होने लगी थीं, प्रजा-जन विपत्ति-सागर में डूबने लगे थे, दुर्जन सुख भोगते थे और सज्जनों के दुःख का अन्त ही नहीं था। अकाल की विभीषिका जनता को ग्रसने के लिए मुँह बाए खड़ी थी, बोने पर धरती से अन्न ही नहीं उपजता था। ऐसी सन्तापमयी लोक-दशा देखकर गोस्वामीजी का साधु-हृदय टुकड़े-टुकड़े होने लगा। उन्होंने अपने उपास्य के चरणों में लोक की ओर से निवेदन किया और भगवान् राम ने प्रार्थना सुन ली। सुकृत का हारता सैन्य उनकी कृपा से विजयी हुआ और लोक का संकट कट गया। सच्चे सन्त जनों का कार्य ही यही है। गोस्वामीजी के समान लोक-मङ्गल की उदात्त कामना हमें अन्य किसी सन्त कवि में नहीं मिलती। अपनी इसी लोकोत्तर मङ्गलमयी भावना के कारण गोस्वामीजी आज सारे देश में पूज्य हैं। उनका स्थान कवि-समाज में सब से बहुत ऊँचा है और ऊँचा है इसलिए कि वे सबके अत्यन्त निकट हैं। वह गीति यह है—

दीनदयाल दुरित दारिद दुख दुनी दुसह तिहुँ ताप तई है।
देव-दुआर पुकारत आरत सबकी सब सुखहानि भई है॥
दीजै दादि देखि नातो बलि, मही-मोद-मंगल-रितई है।
भरे भाग अनुराग लोग कहैं राम कृपा चितवनि चितई है॥

बिनती सुनि सानन्द हेरि हँसि करुना-बारि भूमि भिजई है।
राम-राजु भयो काजु सगुन शुभ, राजा राम जगत-विजई है॥
—विनयपत्रिका, १३६।

जिसके व्यक्तिगत निवेदन में समष्टिगत निवेदन मुखरित हो उठा है, उस महामानव के काव्य की तुलना वैयक्तिक दैन्य, आत्म-निवेदन, अनन्य भक्ति आदि के गायक कवियों से की ही कैसे जा सकती है? 'मही-मोद-मंगल' में ही जिसे सच्चा सन्तोष और आनन्द प्राप्त होता हो, जो सबको सुखी देखकर सुखी होता हो, वही सत्यार्थ में महाकवि और लोक-प्रतिनिधि महापुरुष है। भाषा की दृष्टि से देखें तो भी भाषा पर इतना चतुर्मुखी अधिकार रखने वाला महाकवि आज तक हिन्दी-जगत् में हुआ नहीं, यह निस्सङ्कोच कहा जा सकता है। 'साधुता सोचति' और 'हुलसति खलई है' के प्रयोग कितने ध्वनिपूर्ण हैं। मुहावरों के सटीक प्रयोग, भावोत्कर्षिणी अलङ्कार-योजना और शब्दों की स्वच्छता अनुकरणीय हैं। सब के ऊपर है कविशिरोमणि तुलसी की लोक-व्यापिनी दृष्टि। इस प्रकार स्वानुभूतिपरक गीतिकारों में तुलसीदास सर्व-श्रेष्ठ कवि ठहरते हैं।

मीराँबाई

मीराँ मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री थीं। इन्हीं के प्रपितामह राव जोधा जी ने जोधपुर का नगर बसाया था। इनका जन्म चौकड़ी नामक गाँव में सं० १५७३ में हुआ और विवाह उदयपुर के राणा भोजराज के साथ हुआ। विवाह के कुछ ही दिनों पश्चात् ये विधवा हो गईं। बचपन में ही कृष्ण-भक्ति इनके हृदय में अङ्कुरित हो गई थी। वैधव्य के पश्चात् इनकी भक्ति-भावना इतनी बलवती हो गई कि ये मन्दिर में साधु-सन्तों के सामने भाव-विभोर होकर कीर्तन और नृत्य किया करती थीं। इस कार्य से इनके परिवार वाले रुष्ट हुए, उन्होंने इन्हें वंश की मर्यादा का ध्यान रखते हुए भजन करने को कहा, किन्तु इन्होंने सबकी बातें अनसुनी कर दीं। अन्त में इन्होंने घर छोड़ दिया और मथुरा-वृन्दावन की यात्रा पर चली गईं। इनका आदर लोग देवी के समान करते थे। इनकी मृत्यु द्वारकापुरी में संवत् १६०३ में हुई।

इनकी गणना सर्वश्रेष्ठ भक्तों में की जाती है। ये माधुर्य भाव की उपासिका थीं। कहीं-कहीं इनके गीतों में रहस्यवाद की झलक भी मिलती है।

कहते हैं कि सन्त रैदास इनके गुरु थे। नाभादास, ध्रुवदास, मलूकदास आदि सन्तों ने इनकी बड़ी प्रशंसा की है। इनके रचे चार ग्रन्थ कहे जाते हैं, नरसी जी का मायरा, गीतगोविन्द टीका, राग गोविन्द और राग सोरठ के पद।[1] इनकी भाषा राजस्थानी है, किन्तु इनके कतिपय पद शुद्ध साहित्यिक व्रजभाषा में भी मिलते हैं। इनके कुछ पद देखिए—

म्हाणें चाकर राख्यो जी।
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठि दरसन पासूँ।
वृन्दाबन की कुंजगलिन में तेरी लीला गासूँ॥
हरे हरे सब बनहिं बनाऊँ बिच बिच राखूँ बारी।
साँवलिया के दरसन पाऊँ पहिरि कुसुम्भी सारी॥
जोगी आया जोग करन कूँ तप करने संन्यासी।
हरी भजन कूँ साधू आए वृन्दावन के वासी॥
मीराँ के प्रभु गहिर गँभीरा हृदय रहो जी धीरा।
आधी रात प्रभु दरसन दीन्हा प्रेमनदी के तीरा॥

—मीराँ की प्रेम-वाणी, ७६

मीराँ की साधना का पूरा-पूरा रूप इस पद में प्रस्तुत कर दिया गया है। भाषा भी उनकी अपनी राजधानी के मेल में है। मीराँ के पदों की विशेषता है उनके आंतरिक भावों की गम्भीरता। वैयक्तिक प्रेम की पीड़ा, विरह-मिलन की सहज अनुभूति इनके गीतों में मूर्तिमती हो उठी है।

सारे विश्व की वेदना को अपनी वेदना बना लेना सर्वसाधारण का काम नहीं है। पर के दुःख में दुःखी होना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है, किन्तु जब मनुष्य स्वार्थमय व्यावहारिक जगत् का जीव बन जाता है तब उसकी मानवता का प्रकृत रूप दब जाता है, उसकी प्राकृतिक बुद्धि कृत्रिमता के आवरण में ढक जाती है, मनुष्य आत्म-हित के समक्ष परार्थ को उपेक्षित कर देता है। उसमें केवल अपने सुख-दुःख को समझने की शक्ति और अपनी सङ्कुचित सीमा की ही अनुभूति रह जाती है। यही कारण है कि जब कोई कवि अपनी वैयक्तिक पीड़ा का उद्‌घाटन करता है, जिसमें कि वह स्वयं सन्तप्त होता रहता है तब उसकी अनुभूति अपनी सत्यता में प्रखर होने के कारण तदनुकूल परिस्थिति में पड़े हुए सामान्य व्यक्तियों को विशेष प्रभावित

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' से जीवन-परिचय गृहीत है। —लेखक

करती हैं। अभी भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो पं० सुमित्रानन्दन पन्त के 'पल्लव' को 'गुञ्जन' और 'युगान्त' से ऊँची रचना मानते हैं। अस्तु, मीराँबाई ने जो कुछ लिखा है, उसमें उनकी स्वानुभूतिगत वेदना की प्रखरता अपनी सचाई में समुज्ज्वल है और जब उसे व्यक्तिगत प्रेम की अनुभूति में प्रवण व्यक्ति सुनता है तब उसे अपनी तन्मयता की दशा में जो शान्ति मिलती है वह जीवन के अन्य पक्षों से आगत वेदना का गान करने वाली वाणी से नहीं मिल सकती। किन्तु किसी व्यक्ति में पूर्ण मानवता का विकास तो तभी माना जायगा जब वह जीवन के अधिक मूल्यवान् पक्षों की वेदनाओं को, जो एक की न होकर बहुतों की होती हैं, समझ सके, उन्हें अपना सके और पर-पीड़ा के दर्पण में अपना मुख देख सकने की क्षमता प्राप्त कर सके। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि व्यक्तिगत पीड़ा सर्वथा उपेक्ष्य है, उसकी भी ख़ासी क़ीमत है, किन्तु लोक से अलग हटकर। वहाँ हम अकेले ही रह जाते हैं, सारा समाज हमारे साथ नहीं होता। यही व्यक्तिगत प्रेम का रहस्यात्मक क्षेत्र है और लोक-हित की दृष्टि से इस रहस्य से जितना ही अलग रहा जाय उतना ही अच्छा। मीराँबाई की भक्ति ही इस कैंड़े की है जहाँ रहस्य से छुटकारा मिलना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। प्रेम की महत्ता प्रेम-पात्र के व्यक्तित्व पर बहुत कुछ आश्रित होती है। यदि प्रेमपात्र के व्यक्तित्व के अन्तर्गत समस्त विश्व समाहित हो जाय तो प्रेमी का प्रेम उस व्यक्ति-विशेष पर ही केन्द्रित न होकर सारे विश्व पर फैल जायगा अर्थात् तब सारा विश्व उसके प्रेम का पात्र बन जायगा। संसार की सारी वस्तुएँ उसे प्रिय हो जायँगी। तब प्रेमी को प्रेम-पात्र से एकान्त-मिलन की कामना नहीं रह जायगी। जो प्रेम नारी और पुरुष के सम्बन्ध पर आधृत होता है, वह एकान्त-मिलन के बिना टिक ही नहीं सकता। इसलिए ऐसे प्रेमियों को रहस्यमार्गी होना ही पड़ता है। मीराँ जो आधीरात को (सारे संसार से छिपकर) प्रेम-नदी के तीर पर प्रभु से मिलन की कामना करती हैं, उसका यही रहस्य है। अपने व्यक्तिगत प्रेम का जो गीत मीराँ के कण्ठ से निकलता है वह उनके हृदय की गहराई से उद्भूत होता है, उसमें कहीं भी कृत्रिमता के दर्शन नहीं होते। इसीलिए उनके गीत अत्यन्त मर्मस्पर्शी होते हैं। प्रेम की मीठी पीर का जो अनुभव मीराँ के हृदय ने किया था वही उनके गीतों से मुखरित हुआ है। व्यक्तिगत प्रेम के ऐसे प्रभावपूर्ण गीत हिन्दी में अन्यत्र कम ही मिलेंगे। एक गीत और सुनिए—

राग भैरवी

आली री मेरे नैनन बान पड़ी।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरि मूरत, उर बिच आन अड़ी॥
कब की ठाढ़ी पन्थ निहारूँ, अपने भवन खड़ी।
कैसे प्रान पिया बिन राखूँ जीवन मूल जड़ी॥
मीराँ गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहैं बिगड़ी।

—मीराँ की प्रेम-वाणी, पृ० ७७-७८

ऊपर से देखने पर लोक-सामान्य प्रेम का ही रूप दिखाई पड़ रहा है, केवल 'गिरधर' शब्द के कारण इसे विशेष कहा जायगा। इसी प्रकार अपनी प्रेम-दशा का स्पष्ट शब्दों में साहस के साथ प्रकाशन ही मीराँ की स्वकीय विशेषता है और इसीलिए उनके गीत लोकानुभूति के विषय बन जाते हैं। प्रेम की अनन्यता, स्पष्टवादिता, लोक-मर्यादा का साहसपूर्ण त्याग, प्रेममार्ग के विरोधियों को फटकार आदि कतिपय ऐसी विशेषताएँ मीराँ की कविता में मिलती हैं, जिनके कारण इनके गीत अत्यन्त लोक-प्रिय हो उठे हैं। प्रेमी सन्तों के अतिरिक्त आजकल के स्वच्छन्दतावादियों को भी ये विशेष प्रिय हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सन्तों के लिए ये गीत अत्यन्त मूल्यवान् हैं। मीराँ का यह गीत अत्यन्त प्रसिद्ध है—

राग भैरवी

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।
जाके सिर मोरमुकुट, मेरो पति सोई।
तात मात भ्रात बन्धु, आपनो न कोई॥
छोड़ दई कुल की कान, का करिहैं कोई।
सन्तन ढिग बैठि बैठि, लोक-लाज खोई॥
चुनरी के किए टूक, ओढ़ लीन्हीं लोई।
मोती मूँगे उतार, बनमाला पोई॥
अँसुवन जल सींच-सींच, प्रेम-बेलि बोई।
अब तो बेलि फैलि गई, होनी हो सो होई॥
दूध की मथनियाँ बड़े, प्रेम से बिलोई।
माखन जब काढ़ि लियो, छाछ पिये कोई॥
आई मैं भगति काज, जगत देख मोही।
दासि मीरा गिरधर प्रभु, तारो अब मोही॥ वही, पृ० ७८

हितहरिवंश

हितहरिवंश जी का जन्म मथुरा से ४ मील दक्षिण स्थित 'बाद' नामक ग्राम में हुआ था। इनके जन्म-संवत् के विषय में दो मत पाये जाते हैं, कोई इनका जन्म सं० १५३० में और कोई सं० १५५९ में मानते हैं। ये गौड़ ब्राह्मण थे। इन्होंने 'राधावल्लनीय' सिद्धान्त का प्रवर्तन किया था। इनके पिता का नाम केशवदास मिश्र उपनाम व्यासजी और माता का नाम तारावती था। कहते हैं कि इन्होंने स्वप्न में श्री राधा से मन्त्र दीक्षा पाई थी। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी ये विरक्त का-सा जीवन बिताते थे। इनके चार पुत्र और एक पुत्री थी। इन्होंने श्री राधावल्लभ का विग्रह वृन्दावन में स्थापित किया था। ये संस्कृत भाषा के भी उत्तम कवि थे। इनका १७० श्लोकों का 'राधासुधानिधि' काव्य प्रसिद्ध है। कोई-कोई इस ग्रन्थ को प्रबोधानन्द सरस्वती-कृत मानते हैं। इनके व्रजभाषा में लिखित दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, 'श्री गोसाईं जी के सिद्धांत' और 'हितचौरासी'।

हरिवंश जी कृष्ण की वंशी के अवतार माने जाते है। श्री वियोगीहरि ने इनके पदों में जयदेव के 'गीत गोविन्द' के समान माधुर्य माना है।[1] ये अत्यन्त ऊँचे कवि थे। इनकी भाषा में संस्कृत पदावली का माधुर्य अनूठा है। परानुभूतिपरक रचनाओं के अतिरिक्त इनकी स्वानुभूतिपरक रचनाएँ भी काफी हैं। कुछ ऐसे पद नीचे दिए जाते हैं—

सिद्धान्त-सम्बन्धी पद

बिलावल

मोहनलाल के रँग राँची।
मेरे ख्याल परौ जिन कोऊ, बात दसौं दिसि माची॥
अन्त अनन्त करौ किन कोऊ, नाहिं धारना साँची॥
यह जिय जाहु भले सिर ऊपर, हौं तु प्रगट ह्वै नाचो॥
जाग्रत सवन रहत ऊपर मनि, ज्यों कञ्चन सँग पांची॥
'हित हरीवंश' डरौं काके डर, हौं नाहिन मति कांची॥

यह हित जी का सिद्धान्त-पद है। कृष्ण के प्रति भक्ति ही मानव का शृंगार है। कहते हैं कि महाराज नरवाहन जी को इन्होंने दो पदों द्वारा उपदेश

---

१. ब्रजमधुरीसार, पृ० ६५।

दिया था, जिनमें से एक पद यही है। बाद में महाराज नरवाहन इनके पट्ट शिष्यों में गिने जाने लगे।[1]

श्री हित चौरासी से

विहाग

प्रीति न काहु की कानि विचारै।
मारग अपमारग बिथकित मन, को अनुसरत निवारै॥
ज्यों पावस सलिता-जल उमगति, सनमुख सिंधु सिधारै।
ज्यों नादहि मन दिये कुरंगनि, प्रगट पारथी मारै॥
(जैश्री) 'हितहरिवंसहिं' लग सारँग ज्यों, सलभ सरीरइ जारै।
नाइक निपुन नवलमोहन बिनु कौन अपनपौ हारै॥

भाव की गम्भीरता के साथ भाषा का जो माधुर्य हितहरिवंश जी के पदों में मिलता है, वह पूरे व्रज-साहित्य में कम ही मिलेगा। इनके पदों को पढ़ते सचमुच ही गीतकार जयदेव के पद सामने आ जाते हैं। ऐसी ढली हुई, प्रवाहमयी प्राञ्जल भाषा का मिलना अन्यत्र कठिन है। 'हित चौरासी' में कुल चौरासी कविताएँ हैं, किन्तु उसकी रचना व्रजभाषा का श्रृंगार है।

गदाधर भट्ट

प्रसिद्ध भक्त श्री गदाधर भट्ट के जन्म-काल और जन्म-स्थान का ठीक-ठीक पता नहीं है। ये दक्षिणी ब्राह्मण थे और इनका जन्म दक्षिण भारत में ही हुआ था। महाप्रभु चैतन्य देव को ये श्रीमद्भागवत सुनाया करते थे और उन्हीं से दीक्षा ग्रहण की थी। महाप्रभु का समय संवत् १५४२ से संवत् १५८४ तक है। अतः इनका रचना-काल संवत् १५८४ से पहले से माना जायगा। इस प्रकार ये सूरदास के समसामयिक ठहरते हैं।[2] ये संस्कृत के

---

१. वही, पृ० ६७ की पाद-टिप्पणी।

२. आचार्य शुक्ल कहते हैं, "यदि जीव गोस्वामी के उस श्लोकवाली बात ठीक मानें (जिसे पढ़कर ये वृन्दावन में आकर महाप्रभु के शिष्य हो गए थे), तो इनकी रचनाओं का आरम्भ १५८० से मानना पड़ता है और अंत संवत् १६०० के पीछे। इस हिसाब से इनकी रचना का प्रादुर्भाव सूरदास जी के रचनाकाल के साथ-साथ अथवा उससे भी कुछ पहले से मानना होगा।"
—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, कृष्ण भक्ति शाखा, पृ० २२१–२२२।

बहुत बड़े विद्वान् थे। महाप्रभु के ६ प्रधान शिष्यों में, जिन्होंने संस्कृत में रचनाएँ प्रस्तुत की थीं, भट्ट जी का भी स्थान है। भाषा पर इनका अधिकार बहुत विस्तृत था, इनकी भाषा संस्कृतगर्भा है। इनकी स्वानुभूति-परक रचना देखिए—

विहाग

जो मन श्याम–सरोवरि न्हाहि।
बहुत दिनन को जर्यौ बर्यौ तूँ, तबहीं भले सिराहि॥
नयन बयन कर चरन-कमल से, कुण्डल मकर समान।
अलकावली सिवाल-जाल तहँ, भौंह मीन मो जान॥
कमठ-पीठ दोउ भाग उरस्थल, सोभित दीप नितंब।
मनि मुकुता-आभरन बिराजत, ग्रह नछत्र प्रतिबिंब॥
नाभि-भँवर त्रिबली-तरंग, झलकत सुन्दरता-बारि।
पीत बसन फहरानि उठी जनु पदुम-रेनु छबि धारि॥
सारस-सरिस सरस रसना-रव, हंसक-धुनि कलहंस।
कुमुद दाम बग-पंगति बैठी, कबि-कुल करत प्रसंस॥
क्रीड़ा करति जहाँ गोपीजन, बैठि मनोरथ-नाँव।
बारबार यह कहत 'गदाधर', देह सँवारौ दाँव॥

'स्याम-सरोवर' का समस्त-वस्तु-विषयक सावयव रूपक भट्ट जी के पाण्डित्य और कवित्व दोनों का सुन्दर प्रमाण है। इनकी संस्कृत-पदावली-गुम्फित रचना गोस्वामी तुलसीदास जी की 'विनयपत्रिका' के आरम्भ में आए उन पदों के समान है, जो उन्होंने भिन्न-भिन्न देवों की स्तुति में रचे हैं। इनकी कविता के द्वारा ब्रजभाषा की शक्ति बढ़ी है। इनकी गणना ब्रजभाषा के उच्च कोटि के कवियों में की जाती है।

हरिराम व्यास

ब्रज-मण्डल में ये व्यास जी के नाम से ही विशेष प्रसिद्ध हैं। ये ओरछा के निवासी शुक्ल उपाधिधारी सनाढ्य ब्राह्मण थे। ये तत्कालीन ओरछा-नरेश महाराज मधुकर शाह के राजगुरु थे। पहले ये गौड़ सम्प्रदाय के अनुयायी थे, बाद में स्वामी हितहरिवंश से प्रभावित होने पर राधावल्लभीय सम्प्रदाय के हो रहे। इनकी रचना परिमाण में अधिक है। श्री वियोगी हरि जी को इनके

८०० पदों का संग्रह हस्तगत हुआ था, जिसमें सिद्धान्त और विहार दोनों से सम्बन्धित पद तथा १४५ दोहे भी कहे गए हैं।[1] ये उच्च कोटि के कवि थे। इनके पदों की प्रशंसा नीलसखी जी ने मुक्तकण्ठ से की है। इन्हें व्रज-भूमि से इतना प्रेम था कि महाराज मधुकरशाह की प्रार्थना इन्होंने ठुकरा दी और ओरछा नहीं गए। इनका यह प्रेम इनके अनेक पदों में द्रष्टव्य है। ये जाति-पाँति के भेद-भाव से अत्यन्त ऊँचे उठे हुए महात्मा थे। इन्होंने अपने मनोभावों को निश्छल भाव से पदों में रखा है। इनका एक पद लीजिए—

सारंग

ऐसैं हीं बसिए व्रज-बीथिन।
साधुन के पनवारे चुनि-चुनि, उदर पोषिए सीथिन॥
घूरन में के बीन चिनगटा, रच्छा कीजै सीतन।
कुंज-कुंज-प्रति लोटि लगै उड़ि, व्रज-रज की अंगीतन॥
नितप्रति दरस स्याम-स्यामा कौ, नित जमुना-जल-पीतन।
ऐसेहिं 'व्यास' रचै तन पावत, ऐसेहिं मिलत अतीतन॥

—व्रजमाधुरीसार, पृ० १२१–१२२

श्रीहितहरिवंश के शरीर-त्याग के पश्चात् इन्होंने अपनी व्याकुलता और अनन्य गुरु-भक्ति एक शोकगीत लिखकर प्रकट की, वह अत्यन्त मर्मस्पर्शी पद इस प्रकार है—

हुतो रस-रसिकन कौ आधार।
बिन हरिवंसहिं सरस रीति कौ, कापै चलिहै भार॥
को राधा दुलरावै, गावै, बचन सुनावै चार।
वृन्दावन की सहज माधुरी, कहिहै कौन उदार॥
पद-रचना अब कापै ह्वै है, निरस भयौ संसार।
बड़ौ अभाग अनन्य सभा कौ, उठिगो ठाठ सिंगार॥
जिन बिन दिन-छिन जुग सम बीतत, सहज रूप आगार।
'व्यास' एक कुल-कुमुद-चन्द्र बिनु, उडुगन जूठौ थार॥

इससे स्पष्ट है कि व्यास जी दूरगामिनी दृष्टि रखने वाले अत्यन्त सहृदय कवि थे। इनकी 'रास-पंचाध्यायी' सूरदास की रासविषयक रचना के टक्कर की होने के कारण सम्पादकों द्वारा भ्रमवश 'सूरसागर' में रख दी गई है।

१. व्रजमाधुरी-सार, पृ० ११८।

श्रीभट्ट

निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान् केशव काश्मीरी के ये प्रधान शिष्य थे। जन्म अनुमानतः संवत् १५६५ और कविता-काल सं० १६२५ के आस-पास है। इनके सौ पदों का संग्रह 'युगलशतक' भक्तों में विशेष आदृत है। ये भावावेश में भगवान् कृष्ण का साक्षात्कार करनेवाले कहे गए हैं। इनके पद छोटे किन्तु बड़े भावपूर्ण हैं। इनके अधिकांश पद आत्मानुभूतिपरक हैं। भाषा और भाव दोनों ही सीधे और साधु हैं। देखिए—

मलार

भीजत कब देखौं इन नैना।
स्यामा जू की सुरँग चूनरी, मोहन को उपरैना॥
स्यामा-स्याम कुंज तर ठाढ़े, जतन कियो कछु मैं ना।
श्रीभट उमड़ि घटा चहुँ दिसि तें, घिरि आइ जल सेना॥

कहते हैं कि इस पद का गान ज्यों ही भट्ट जी ने आरम्भ किया था, त्यों ही युगल-मूर्ति ने इन्हें इनकी कामना के अनुरूप दर्शन दिया जिसका उल्लेख पद के उत्तरार्ध भाग में है।[1]

वसौ मेरे नैननि में दोउ चन्द।
गौर-बदनि वृषभानु-नन्दिनी, स्याम बरन नँदनंद॥
गोलक रहे लुभाय रूप में, निरखत आनँदकन्द।
जय श्रीभट्ट प्रेमरस बन्धन, क्यों छूटै दृढ़ फन्द॥
—युगलशतक (व्रजमाधुरी सार, पद सं० १५)

रीतिकाल

भगवान् कृष्ण के भक्तजन व्रजमण्डल में गीतिकाव्य की सरिता अजस्र-गति से प्रवाहित कर रहे थे और हिन्दी-साहित्य का सागर अनुपम पद-रत्नों से पूर्ण होता जा रहा था। इसी बीच विदेशी शासन इस देश में जड़ जमाने लगा था। छोटे-छोटे नृपति मुस्लिम शासकों को कर देकर सुख-भोग में तृप्त रहने लगे थे। इनकी सभा की शोभा बढ़ाने वाले कवि-जन इनके मनोनुकूल दरबारी ढंग की काव्य-रचना में प्रवृत्त होकर उनकी मनस्तुष्टि करने लगे। कविता कला के बाने में सजने लगी। कवि-जन गीति-रचना से दूर हो गये,

---

१. व्रज माधुरीसार, पृ० १०६।

सवैये और कवित्तों की धूम मच गई। काव्य का विषय हुआ स्थूल शृङ्गार और उसका कलात्मक परिधान हुई रीति। इसीलिए इस काल को कुछ विद्वानों ने 'रीति काल' कहा और कुछ ने शृंगार-काल। काव्य में कृत्रिमता का बोलबाला हुआ। इस बीच कुछ ऐसे स्वच्छन्द कवि अवश्य हुए, जिन्होंने काव्य के प्रकृत स्वरूप की रक्षा की और सच्चे काव्य का सर्जन करते रहे। इस काल में गीतियों की रचना बहुत कम कवियों ने की। भाव-गाम्भीर्य और कथन के अनूठेपन की दृष्टि से घनानन्द वा आनन्दघन जैसे दो-चार कवियों की रचनाएँ अपनी प्रभविष्णुता में गीतियों के टक्कर की अवश्य हैं। रीतिकाल तथा उसके अनन्तर व्रज-भाषा में गीति-रचयिताओं का उल्लेख यहाँ करके हम आधुनिक काल की गीति-धारा के स्वरूप पर विचार करेंगे।

नागरीदास

नागरीदास नाम के अनेक कृष्णभक्त हो गए हैं। काव्य-रचना की दृष्टि से जो भक्तवर नागरीदास प्रख्यात हैं, वे कृष्णगढ़ के महाराज राजसिंह के पुत्र थे और इनका नाम सावन्तसिंह था। ये वल्लभ-परम्परा के शिष्य थे। राज्य प्राप्त करने के अनन्तर अपने भाई बहादुरसिंह के साथ इन्हें अनेक बार युद्ध करना पड़ा। अन्त में मराठों की सहायता से बहादुरसिंह को परास्त करके इन्होंने राज्य प्राप्त किया। किन्तु इस गृह-कलह के फल-स्वरूप इनका मन संसार से विरक्त हो गया। अन्त में राजसी जीवन को लात मारकर आप वृन्दावन में सदा के लिए जा बसे।

इनका जन्म पौष कृष्णा १२, सं० १७५६ में और गोलोक-वास भाद्रपद शुक्ला ३, संवत् १८२१ को हुआ। विप्रलम्भ शृंगार और व्रजभाषा के सर्व-श्रेष्ठ कवि आनन्दघन इनके घनिष्ठ मित्र थे। इनकी उपपत्नी बनीठनी जी इनके साथ ही रहती थीं और वे भी 'रसिकविहारी' के नाम से काव्य-रचना करती थीं।

इन्होंने छोटे-बड़े कुल मिलाकर ७५ ग्रन्थ रचे हैं, जिनमें से 'वैन-विलास' और 'गुप्त रसप्रकाश' दो ग्रंथ आजकल नहीं मिलते। इनके सभी ग्रंथों का संग्रह 'नागर समुच्चय' नाम से श्री श्रीधर शिवलाल के ज्ञानसागर यन्त्रालय से प्रकाशित हो चुका है, जिसमें 'वैराग्य सागर', 'सिंगार सागर' और 'पद सागर' नामक तीन भाग हैं। इनकी भाषा साहित्यिक व्रज भाषा है और

उसमें कहीं-कहीं फारसी की शब्दावली भी प्रयुक्त हुई है। ये एक उच्च कोटि के कवि थे, इसमें सन्देह नहीं। इनके दो-एक पद देखिए—

जो मेरे तन होते दोय।
मैं काहू तें कछु नहिं कहतो, मोतें कछु कहतो नहिं कोय॥
एक जु तन हरि-बिमुखनि के सँग रहतो देस–बिदेस।
बिबिध भाँति के जग-दुख-सुख जहँ, नहीं भक्ति लवलेस॥
एक जु तन सतसंग-रंग रँगि, रहतो अति सुख पूरि॥
जनम सफल करि लेतो ब्रज बसि, जहँ ब्रज जीवनमूरि॥
द्वै तन बिन द्वै काज न ह्वै हैं, आयु सु छिन-छिन छीजै।
'नागरिदास' एक तन में अब, कहा कहा करि लीजै॥

—वैराग्य सागर

दास जी का कहना है कि इस शरीर का पूरा उपयोग हरि-भक्ति में ही होना चाहिए, सांसारिक उलझनों में नहीं। मेरे एक ही देह है, उससे दोनों काम नहीं हो सकते। भगवान् पर इनका प्रगाढ़ विश्वास था और उनकी सर्वशक्तिमत्ता का उल्लेख ये इन शब्दों में करते हैं—

हरि जू अजुगत जुगत करेंगे।
परबत ऊपर बहल काँच की नीके लै निकरेंगे॥
गहिरे जल पाषान-नाव बिच, आछी भाँति तरेंगे।
मैन-तुरंग चढ़े पावक बिच, नाहीं पघरि परेंगे॥
याहू ते असमंजस हो किन, प्रभु दृढ़ करि पकरेंगे।
'नागर' सब आधीन कृपा के, हम इन डर न डरेंगे॥

—वैराग्य सागर

वृन्दावन से इन्हें प्रगाढ़ प्रेम था। कहते हैं कि एक बार बरसात की चढ़ी यमुना को इन्होंने तैर कर रात में पार किया था, किन्तु वृन्दावन से बाहर रहना इनके लिए असह्य था। पदों के अतिरिक्त इन्होंने कवित्त, सवैया, दोहा, रोला आदि अनेक छन्दों में उत्तम रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। होली आदि उत्सवों पर इन्होंने अत्यन्त सुन्दर काव्य रचा है। इनकी व्यंग्यप्रधान रचनाएँ बड़ी ही चुटीली और विनोदपूर्ण हैं। कहने का तात्पर्य यह कि एक से एक उत्तमोत्तम रत्नों से इन्होंने हिन्दी-साहित्य का शृङ्गार किया है। इन्होंने आत्मानुभूतिपरक बहुत से पद रचे हैं।

रीतिकालीन कवियों के बीच भक्तवर अलबेली-अलि, चाचा हित वृन्दावन, भगवत रसिक, हर्ष आदि ने जो पद रचे हैं उनमें स्वानुभूतिपरक गीतियाँ भी अच्छी हैं किन्तु परोक्षानुभूतिपरक गीतियों का ही प्राधान्य उनमें पाया जाता है। ललितकिशोरी जी के स्वानुभूतिपरक पद अवश्य अच्छे हैं। पर उच्च कोटि के स्वानुभूतिपरक गीत जितने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखे उतने दूसरे किसी कवि ने नहीं लिखे। उनके कतिपय गीत देकर हम आधुनिक गीत-काव्य में प्रवेश करेंगे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

हरिश्चन्द्र का जन्म काशी में एक अग्रवाल वैश्य-वंश में संवत् १६०७ की भाद्रपद शुक्ला ७ को हुआ था। इनके पिता गोपाल चन्द्र अच्छे कवि थे और हरिश्चन्द्र के कथनानुसार उन्होंने चालीस ग्रन्थ रचे थे। पिता के संसर्ग से कवित्व-शक्ति का स्फुरण इनमें बचपन में ही हो गया था। जब ये नौ वर्ष के थे तभी पिता का देहावसान हो गया। पिता की मृत्यु के अनन्तर इनमें स्वच्छन्दता की भावना बलवती हो गई। विद्यालय में कुछ ही दिनों शिक्षा प्राप्त करने के अनन्तर इन्होंने उस शिक्षा से मुँह मोड़ लिया। घर पर ही संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू आदि भाषाएँ सीखने लगे। राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' ने इन्हें अंग्रेजी-शिक्षा दी। आगे चलकर भाषा के स्वरूप पर इनसे और राजा जी से मतभेद हो गया। मनस्वी हरिश्चन्द्र के ही हाथों हिन्दी-गद्य का स्वरूप स्थिर हुआ और इनकी बहुमुखी प्रतिभा से प्रभावित होकर तत्कालीन हिन्दी-सेवियों ने इन्हें 'भारतेन्दु' की उपाधि से भूषित किया। संवत् १६४२ में इनका काशीवास हुआ। इतनी अल्पवय में ही इन्होंने छोटे-बड़े कुल १७२ ग्रन्थ लिख डाले। इन्हें लिखने का बड़ा भारी व्यसन था और इसीलिए डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र इन्हें लेखन-यन्त्र (राइटिंग मैशीन) कहा करते थे।

भारतेन्दु जी ने गद्य और पद्य दोनों ही क्षेत्रों में बहुत बड़ा काम किया। नाटक, निबन्ध, इतिहास, काव्य आदि विविध विषयों पर सफलतापूर्वक लेखनी चलाई। काव्य-रचना व्रज भाषा में और गद्य खड़ी बोली में लिखा। विश्वनाथपुरी में रहते हुए भी ये वंश-परम्परानुसार वल्लभकुल के अनन्य वैष्णव थे। इस अनन्यता का परिचय इन्होंने एक पद में स्पष्ट रूप में इस प्रकार दिया है—

हम तो मोल लिए या घर के।
दास-दास श्रीबल्लभ-कुल के चाकर राधाबर के॥
माता श्रीराधिका पिता हरि बन्धु दास गुन-करके।
'हरीचन्द' तुम्हरे ही कहावत नहिं विधि के नहिं हर के॥
—प्रेममालिका, ३५ (भारतेन्दु-ग्रन्थावली, खण्ड २, पृ० ५६)

इनकी काव्य-सृष्टि विविध छन्दों में है। कवित्त, सवैया, रोला, छप्पय, दोहा, पद आदि सभी अपनाए गए हैं, किन्तु पद-रचना सभी छंदों से परिमाण में बहुत अधिक है। प्राचीन भक्तों और महाकवियों के भाव इन्होंने अधिकाधिक मात्रा में ग्रहण किए हैं किन्तु अपनी प्रखर प्रतिभा के द्वारा उन्हें बिल्कुल नूतन रूप दे दिया है। इन्होंने कवित्त-सवैये बड़े सरस और भावपूर्ण लिखे हैं, जिनका विषय शृङ्गार ही है, जैसा कि रीतिकालीन कवियों का होता था; किन्तु पद-रचना दो और विषयों को लेकर की गई है, एक है भक्ति और दूसरा है स्वदेश-प्रेम। भक्ति-परक पदों में ये सूरदास आदि भक्त कवियों की पंक्ति में बैठे दिखाई पड़ते हैं और देश-प्रेमपरक पदों में ये देश-वासियों को जगाते हुए दृष्टि आते हैं। इनका वास्तविक रूप देखना हो तो हमें इनके पद ही विशेष सहायक होंगे! पदों में इनका हृदय उतर आया है और कवित्त सवैयों में पुरानी परम्परा का पालन मात्र हो दिखाई पड़ता है। पद-रचना इन्होंने बँगला, गुजराती आदि अन्य भाषाओं में भी की है। संस्कृत के दो-तीन पद कविवर जयदेव की अष्टपदियों के अनुकरण पर लिखे गए हैं।

इनके निम्नलिखित ग्रन्थों में गीति-रचना का प्राचुर्य देखा जा सकता है—

१. प्रेम-तरङ्ग (इसमें बँगला भाषा के पद तथा उर्दू ग़ज़लें भी सम्मिलित हैं।),

२. प्रेम-प्रलाप (इसमें हिन्दी-पदों के अतिरिक्त जयदेव की अष्टपदियों की छाया पर रचित संस्कृत गीत और साथ ही गुजराती भाषा का गीत भी है।)

३. प्रेम-मालिका (इसमें मारवाड़ी भाषा के पद भी सम्मिलित हैं।),
४. कार्तिक-स्नान,
५. प्रेमाश्रु-वर्षण,
६. जैन-कौतूहल,

७. होली,

८. मधु मुकुल (होली के व्याज से देश-दशा का चित्रण भी कई पदों में हुआ है। संस्कृत-गीत भी दिया गया है। इसमें पंजाबी, मारवाड़ी भाषा बद्ध गीत भी हैं।),

९. राग-संग्रह,

१०. वर्षा-विनोद (प्राचीन इतिहास की कतिपय घटनाओं को गीत का विषय चुना गया है। इसमें 'तरजीह-बंद' गीत भी है।),

११. विनय-प्रेम-पचासा,

१२. फूलों का गुच्छा (उर्दू ग़ज़लों का संग्रह)

१३. प्रेम-फुलवारी (परोक्षानुभूतिपरक पद)

१४. कृष्ण-चरित्र,

१५. देवी-छद्म-लीला,

१६. दैन्य-प्रलाप (भक्तिपरक पद),

१७. उरहना (भक्तिपरक पद),

१८. तन्मय लीला,

१९. संस्कृत लावनी (संस्कृत भाषा-बद्ध) और

२०. नाटकों के गीत।

इन ग्रन्थों के देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतेन्दु ने गीतों की नूतन धारा प्रवाहित कर दी है। ब्रजभाषा के परिष्कार द्वारा इन्होंने अपने पदों को सर्वजन–सुलभ बना दिया है। गीति–रचना की दृष्टि से भी इनका नाम उच्च कोटि के गीतिकारों में सर्वदा सुरक्षित रहेगा और हिन्दी साहित्य-जगत् इनकी युग-निर्मात्री प्रतिभा का सदा ऋणी रहेगा।

भारतेन्दु जी ने विदेशी शासन को लम्बी परम्परा में पिसते हुए देश की दुर्दशा को भली भाँति समझा, देश की नाड़ी पहचानी और रोग के प्रशमन के लिए अपनी काव्य-वाणी का सदुपयोग किया। इस प्रकार गीति-लेखन के प्राचीन विषयों (भक्ति, ज्ञान) में ही न उलझे रहकर इन्होंने काव्य के लिए एक नया क्षेत्र चुना और इस क्षेत्र में भी भावी सुकवियों का पथ-निर्देशन किया। स्वानुभूतिपरक गीतों की विषय-नूतनता के विचार से हम इनकी व्यापक दृष्टि को दिखाने के लिए इनके कतिपय गीत यहाँ दे रहे हैं—

अहो हरि वेहू दिन कब ऐहैं ।
जा दिन में तजि और संग सब हम व्रज-बास बसैहैं ॥
संग करत नित हरि-भक्तन को हम नेकहु न अघैहैं ।
सुनत श्रवन हरि-कथा सुधारस महामत्त ह्वै जैहैं ॥
कब इन दोउ नैनन सों निसि-दिन नीर निरंतर बहिहैं ।
'हरीचंद' श्रीराधे राधे कृष्ण कृष्ण कब कहिहैं ॥[1]

—प्रेम-मालिका, ३७

भगवान् की शरण में सब प्रकार से आत्म-समर्पण की भावना सच्चे भक्त के ही हृदय में उत्पन्न होती है । ऐहिक सुख-भोग का चाहने वाला ऐसी बात सोच भी नहीं सकता, उसे तो घर छोड़ने की बात मन में लाते महान् कष्ट होगा । भक्ति का उद्रेक जब हृदय में होता है तब सारा विश्व-बन्धन निस्तत्त्व एवं सारहीन प्रतीत होने लगता है और भगवान् की शरण ही सर्व-सुखदायिनी प्रतीत होती है । भक्ति-क्षेत्र में उतरने पर भक्त अपने को सब से हीन, अधम और पातकी समझने लगता है । यही प्रणति शुद्ध भक्ति का लक्षण है, जहाँ प्रणति नहीं वहाँ भक्ति नहीं । सभी भक्तों ने ऐसा ही अनुभव किया है । भारतेन्दु जी कहते हैं—

बही मैं ठाम न नैकु रही ।
भरि गई लिखत लिखत अघ मेरे बाकी तबहु रही ॥
चित्रगुप्त हारे अति थकि कै बेसुध गिरे मही ।
जमपुर मैं हरताल परी है कछु नहिं जात कही ॥
जम भागे कछु खोज मिलत नहिं सब ही बही बही ।
'हरीचंद' ऐसे को तारो तौ तुम नाम सही ॥[2]

—प्रेम-मालिका, ८७

१. भाव मिलाइए—
कदा निलिम्पनिर्झरीनिकुञ्ज कोटरे वसन्
विमुक्त - दुर्मतिः सदा शिरस्थमञ्जलिं वहन् ।
विलोललोल - लोचनाललामभाललग्नकं
शिवेति मन्त्रमुच्चरन् सदा सुखी भवाम्यहम् ॥ —शिवताण्डव, १०

२. पण्डितराज जगन्नाथ ने गंगा जी से ऐसी ही बात कही थी—
बधान द्रागेव द्रढिमरमणीयं परिकरं
किरीटे बालेन्दुं नियमय पुनः पन्नगगणैः ।

होली-वर्णन में भारतेन्दु जी ने तत्कालीन देश-दशा का चित्र उपस्थित करते हुए देशवासियों को उद्‌बुद्ध किया है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए सन्नद्ध होने के लिए ललकारा है, उस समय जब ब्रिटिश शासन का जुआ देश के कंधे पर था। गीत भी काफी लम्बा है—

होली

भारत मैं मची है होरी ॥
इक ओर भाग अभाग एक दिसि होय रही झकझोरी।
अपनी अपनी जय सब चाहत होड़ परी दुहुँ ओरी ॥
दुन्द सखि बहुत बढ़ोरी ॥
धूर उड़त सोइ अबिर उड़ावत सब को नयन भरो री।
दीन दसा अँसुवन पिचकारिन सब खिलार भिंजयो री ॥
भींजि रहे भूमि लटोरी ॥
भइ पतझार तत्व कहुँ नाहीं सोइ बसन्त प्रगटो री।
पीरे मुख भई प्रजा दीन ह्वै सोइ फूली सरसों री ॥
सिसिर को अन्त भयो री ॥
बौराने सब लोग न सूझत आम सोई बौर्‌यो री।
कुहू कहत कोकिल ताही तें महा अँधार छयो री ॥
रूप नहिं काहु लख्यो री ॥
हार्‌यो भाग अभाग जीत लखि विजय-निसान ह्यो री।
तब स्वाधीनपनो धन-बुधि-बल फगुआ माहिं लयो री ॥
शेष कछु रहि न गयो री ॥
नारी बकत पुकार जीति दल तासु न सोच लयो री।
मूरख कारो काफिर आधो सिच्छित सबहि भयो री ॥
उतर काहू न दयो री ॥

न कुर्यास्त्वं हेलामितरजनसाधारणधिया
जगन्नाथस्यायं सुरधुनि समुद्धारसमयः ॥ —गङ्गालहरी

कुछ इसी प्रकार की बात भारतेन्दु ने गङ्गाजी से कही है कि मेरे जैसे व्यक्ति को तुमने आज तक कभी तारा नहीं, मुझे तार कर संसार में महतो यशस्विनी बनो। देखिए—

कृष्ण-चरित्र, पद-संख्या ३४।

उठौ उठौ भैया क्यौं हारौ अपुन रूप सुमिरो री।
राम युधिष्ठिर विक्रम की तुम झटपट सुरत करो री॥
दीनता दूर धरो री॥
कहां गए छत्री किन उनके पुरुषारथहि हरो री।
चूड़ी पहिरि स्वांग बनि आए धिक-धिक सबन कह्यो री॥
भेस यह क्यों पकरो री॥
धिक वह मात-पिता जिन तुम सो कायर पुत्र जन्यो री।
धिक वह घरी जनम भयो जामैं यह कलंक प्रगटो री॥
जनमत ही क्यों न मरो री॥
खान-पियन अरु लिखन-पढ़न सों काम न कछू चलो री।
आलस छोड़ि एक मन ह्वै कै साँची बुद्धि करो री॥
समय नहिं नेकु बचो री॥
उठौ उठौ सब कमरन बाँधौ शस्त्रन सान धरो री।
विजय-निसान बजाइ बावरे आगेइ पाँव धरो री॥
छबीलिन रँगन रँगो री॥

—इत्यादि

मधुमुकुल, ४७

यह है भारतेन्दु जी की स्वानुभूति। आधुनिक युग में राष्ट्रीयता का उद्घोष करने वाले ये ही हैं। भारतीय समाज के बीच रहकर इन्होंने देश का पूरा-पूरा अध्ययन किया था और निर्भीक शब्दों में राष्ट्रीयता का गान गाया था, जागर्ति का मन्त्र फूँका था। मन की चपलता का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हुए उसे शान्त बनाने का उपाय भी भारतेन्दु जी अपने ढङ्ग से बताते हैं—

यह मन पारद हूँ सों चंचल।
एक पलक मैं ज्ञान विचारत, दूजे मैं तिय-अंचल॥
ठहरत कतहुँ न डोलत इत-उत रहत सदा बौरानो।
ज्ञान ध्यान की आन न मानत याको लंपट बानो॥

तासों याको कृष्ण-विरह-तप जो कोउ ताप तपावै ।
'हरीचंद' सो जीति याहि हरि भजन रसायन पावै ॥'

—कृष्ण-चरित, ४३

भारतेन्दु का रोग-निदान अपने ढङ्ग का है, भक्तों की श्रेणी का आधुनिक युग की परिस्थिति में पला हुआ कवि अपने ढंग के औषधि का विधान करेगा।

भारतेन्दु ने देश के पतन के मूल कारणों पर भी दृष्टि डाली थी और लोगों को उन कारणों से बचने के लिए सावधान भी किया था। सामान्य लोक-भाषा में लोक गीत प्रस्तुत करके लोगों को जाग्रत किया था। जब वे अन्तर्निविष्ट होकर विचार करते थे तब उन्हें सच्चा कवि-कर्म यथार्थ मार्ग-प्रदर्शन के लिए प्रेरित करता था और तब उनका हृदय पारस्परिक फूट के परिणाम-स्वरूप देश के पतन को देखकर चीत्कार कर उठता था। कर्तव्य-विमुख देशवासियों को उन्होंने फटकारा है, कायरों की भर्त्सना की है, सोए सिंहों को जगाने का प्रयत्न किया है। देश-द्रोही जयचंद को और उसके व्याज से वैसा ही देश-द्रोह का काम करने वालों को फटकारते हुए भारतेन्दु ने कहा था—

काहे तू चौका लगाय जयचँदवा ।
अपने स्वारथ भूलि लुभाए
काहे चोटी-कटवा बुलाए जयचँदवा ।
अपने हाथ से अपने कुल कै
काहे तैं जड़वा कटाए जयचँदवा ।
फूट के फल सब भारत बोए
बैरी कै राह खुलाए जयचँदवा ।
और नासि तैं आपो विलाने
निज मुँह कजरी पुताए जयचँदवा ॥

— वर्षा-विनोद, ४९

---

१. गीता आदि प्राचीन ग्रन्थों ने भी ऐसी बात कही है—
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याऽहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥
—गीता

इन्होंने सोमनाथ के टूटे मन्दिर का भी स्मरण किया और हिन्दुओं की क्लीबता के लिए उन्हें फटकार बताई है। इसके साथ ही साथ इन्होंने भारत की प्राचीन वीरता का गान भी गाया है। भारत के क्षत्रियत्व की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हुए ये कहते हैं—

धन धन भारत के सब छत्री जिनकी सुजस-धुजा फहराय।
मारि मारि कै सत्रु दिए हैं लाखन बेर भगाय॥
महानंद की फौज सुनत ही डरे सिकन्दर राय।
राजा चन्द्रगुप्त ले आए बेटी सिल्यूकस की जाय॥
मारि बलूयिन बिक्रम रहे शकारी पदवी पाय।
बापा कासिम-तनय मुहम्मद जीत्यो सिन्धु दियौ उतराय॥
आयो मामूँ चढ़ि हिन्दुन पै चौबिस बेरा सैन सजाय।
खुम्मानराय तेहि बाप-सार लखि सब बिधि दियो हराय॥
लाहौर-राज जयपाल गयो चढ़ि खुरासान पर धाय।
दीनो प्रान अनन्दपाल पर छाँड्यौ देस धरम नहिं जाय॥

—वर्षा-विनोद, ५१

इस प्रकार राष्ट्रीयता का उच्च स्वर हमें भारतेंदु की गीतियों में सुनाई पड़ता है। इसके लिए उन्होंने गीति को ही उपयुक्त समझा था। ये गीत देश में राजनीतिक विचार-क्रान्ति के बहुत पहले लिखे गए हैं।

प्रसिद्ध गीतिकार जयदेव के अनुकरण पर अनेक कवियों ने रचनाएं प्रस्तुत कीं। पहले कहा जा चुका है कि हिन्दी में गीति-रचना सिद्धों के चर्यापदों के आदर्श पर आरम्भ हुई। हिन्दी-गीतियों का बाह्य रूप वही है, जयदेववाला नहीं। विद्यापति और महात्मा सूरदास ने गीतियों में वर्ण्य विषय वही जयदेव वाला अर्थात् राधा-कृष्ण-प्रेम ही ग्रहण किया; किन्तु उनका बाह्य आकार सिद्धों वाला ही रखा। मेरा विश्वास है कि यही लोक-गीतियों का बाह्य रूप था, जिसे सर्वप्रथम वज्रयानी सिद्ध-सम्प्रदाय ने अपनाया। वह गीतियों का संस्कृत रूप है जिसे पहले क्षेमेन्द्र ने दिखाया और बाद में जयदेव ने उसे विशेष रूप से विकसित कर दिया। चैतन्य महाप्रभु के प्रधान शिष्य रूप गोस्वामी ने जयदेवीय शैली में प्रभूत परिमाण में गीतियाँ लिखीं। उन्होंने नई-नई गीतियों की रचनाएँ भी कीं। उनकी रचित 'स्तवमाला' काव्यमाला के अन्तर्गत निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित भी हो

चुकी है। उसका 'रास' भाग जयदेव की शैली में ही रचित है।[1] श्री भारतेन्दु ने भी दो-चार वैसी ही गीतियाँ रचने का प्रयास किया था। एक गीति देखिए --

रासे रमयति कृष्णं राधा।
हृदि निधाय गाढ़ालिङ्गनकृत हृत-विरहातप-बाधा॥
आश्लिष्यति चुम्बति परिम्भति पुनः पुनः प्राणेशम्।
सात्विकभावोदय-शिथिलायित-मुक्ताकुञ्चित-केशम्॥
भुजलतिका-बन्धनमाबद्धं कामकल्पतरुरूपम्।
सीमन्तिनी-कोटिशतमोहन-सुन्दर - गोकुलभूपम्॥
स्वालिङ्गनकण्टकित-तनु---स्पर्शोदितमदन---विकारम्।
स्खलित वचन-रचनश्रवणस्खलितीकृतरतरति-मारम्॥
रतिविपरीतलालसालस-रस लसित-मोहिनीवेशम्।
निजसीत्कारमोहित-प्रमदा-दत्त-माधवावेशम्॥ ....इत्यादि

—प्रेम-प्रलाप, ५७

कहने का तात्पर्य यह कि भारतेन्दु का प्रमुख कवि-कर्म पद-रचना ही है। उपरिलिखित ग्रन्थों के अतिरिक्त निम्नलिखित लघु पुस्तिकाओं में भी गीतियाँ देखी जा सकती हैं—

१. निवेदन पंचक,
२. वेणगीत,
३. रामलीला,
४. भीष्मस्तवराज और
५. स्फुट कविताएँ।

इसके छोटे-बड़े रूपक-ग्रन्थों में भी महत्त्व की गीतियाँ हैं। भारतेन्दु हिन्दी-साहित्य के महान् गीतिकार हैं।

———

१. रूप गोस्वामी : स्तवमाला, पृ० २७०–२८५

आधुनिक गीतियाँ

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के युग में व्रजभाषा के स्थान पर खड़ी-बोली काव्यासन पर प्रतिष्ठित हुई। समर्थ कवियों द्वारा वह छन्दों के विविध साँचों में ढलने लगी। कविजन खड़ी बोली की ओर वेग से झुके। द्विवेदीजी खड़ी बोली को अपनाने के साथ ही साथ नूतन छन्दों को भी अपनाने के लिए कवियों को बराबर प्रोत्साहित करते रहे। खड़ी बोली के पैर जब काव्य-क्षेत्र में जम गए तब कवियों की दृष्टि उस विदेशी काव्य-साहित्य पर टिकी जिसके सम्पर्क में वे आ चुके थे। धीरे-धीरे काव्य का बाह्य और आभ्यंतर रूप-रंग बदलने लगा। विदेशी भाषा में अभिव्यक्ति की जो प्रगल्भता देखने को मिली उसने हिन्दी-कवियों को बहुत प्रभावित किया। कुछ कवि तो उस विदेशी भाषा, उसकी अभिव्यञ्जनाओं और वर्ण्य विषयों पर इतने लट्टू हो गए कि पराई वस्तु को लेकर उसे अपनी कहने में उन्हें तनिक भी झिझक न हुई। गीतियाँ भारतीय काव्य की प्राचीन सम्पत्ति हैं, किन्तु उनकी अति-परिचिति किंवा अपरिचिति के कारण हमारे कवियों का ध्यान उधर न जाकर विदेशी वस्तुओं की ही ओर गया। विदेशी काव्य के अनुकरण पर उन हिन्दी छन्दों का ग्रहण होने लगा जो अब तक प्रायः अप्रयुक्त वा अल्पप्रयुक्त थे। गीतिकाव्य का स्वरूप पहले से बदल गया। कुछ कवियों ने बँगला भाषा की कविता से आदर्श ग्रहण किया और कुछ ने अंग्रेजी से। कहने की आवश्यकता नहीं कि बँगला बहुत पहले से ही अंग्रेजी-काव्य से प्रभावित हो चुकी थी। जिस प्रकार अंग्रेजी भाषा के काव्य में गीतियों का आगमन इटालियन और फ्रान्सीसी काव्य-साहित्य से हुआ, उसी प्रकार हिन्दी के काव्य में (खड़ी बोली-बद्ध काव्य में) नूतन गीतियों का प्रादुर्भाव बँगला और अंग्रेजी के साहित्य-संसर्ग से हुआ। आने के कारण भी प्रायः वे ही थे।[1]

---

1. The lyric was already a lilerary force both in Italy and France; but until 1580 it did not impress itself upon English imagination, what brougt about the sudden flowering of the

खड़ी बोली को अपनाने के पश्चात् हमारे नवागत कवि सूर, तुलसी और मीरा की गीति-पद्धति से विरक्त हो गए। अब जो गीतियाँ लिखी जाने लगीं उन्हें प्रगीतियाँ (Lyrics) कहना ही समुचित होगा। इन प्रगीतियों का प्रचलन द्विवेदी-काल में ही हो चुका था। छायावाद के उतर आने पर प्रगीतियों का बाहुल्य हो गया और छायावादी कवि प्रबन्ध-रचना से विरत-से हो गए। जो प्रबन्ध इनके हाथों निर्मित हुए वे भी प्रगीतात्मक ही हुए। पं० बदरीनाथ भट्ट सन् १९१२ से ही प्रगीति लिखने लगे थे। उसके पश्चात् श्री मैथिलीशरण गुप्त, और पं० मुकुटधर पाण्डेय बराबर प्रगीति-मुक्तकों की रचना करते रहे। पं० बदरीनाथ भट्ट और श्री मैथिलीशरण गुप्त ने तो बँगला से प्रभावित होकर प्रगीतियाँ रचीं किन्तु पाण्डेयजी ने अंग्रेजी से सीधा सम्बन्ध स्थापित किया और बराबर प्रगीतियों की ही सृष्टि करते रहे। खेद की बात है कि पाण्डेय जी प्रगीतियों का कोई उत्तम संग्रह अब तक प्रकाशित नहीं हुआ। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भी सन् १९१५ और १९१६ के आसपास कुछ प्रगीतियों की रचना की थी। अतः आधुनिक युग में प्रगीतियों को हिन्दी में प्रतिष्ठित करने का श्रेय इन्हीं कविवरों को प्राप्त है। इन्होंने काव्य में साम्प्रदायिक भावना के स्थान पर सार्वभौम भावना को प्रतिष्ठित किया। इनके गीतों में रहस्यात्मक सङ्केत भी बड़ी स्वाभाविकता के साथ अङ्कित मिलते हैं। सन् १९१४ से १९१८ ई० तक के बीच मैथिलीशरण जी गुप्त ने बँगला की प्रगीतियों की भाँति बहुत-सी गीतियों लिखी थीं। एक गीति का अंश देखिए—

निकल रही है उर से आह, ताक रहे सब तेरी राह।
चातक खड़ा चोंच खोले है, संपुट खोले सीप खड़ी,
मैं अपना घट लिए खड़ा हूँ, अपनी-अपनी हमें पड़ी।

—'स्वयं आगत' से (१९१८ ई०)

पं० मुकुटधर पाण्डेय तो इस पथ के सबसे मौलिक प्रथम कवि हैं। इनकी रचनाओं में रहस्यात्मक सङ्केत बड़े मार्मिक ढंग से स्वाभाविकता के साथ अङ्कित मिलते हैं। एकाध देखिए—

---

lyric ? To some extent the persistent study of foriegn poetry, but chiefly the growing popularity of music.

—Arthur Compton-Rickett : A History of English Literature, page 126.

हुआ प्रकाश तमोमय मग में,
मिला मुझे तू तत्क्षण जग में,
दम्पति के मधुमय विलास में,
शिशु के स्वप्नोत्पन्न हास में,
वन्य कुसुम के शुचि सुवास में,
था तव क्रीड़ा-स्थान।

—'आँसू' (सन् १९१७)

जब सन्ध्या को हट जावेगी भीड़ महान्
तब जाकर मैं तुम्हें सुनाऊँगा निज गान।
शून्य कक्ष के अथवा कोने में ही एक
बैठ तुम्हारा करूं वहाँ नीरव अभिषेक।

—'उद्गार' (सन् १९२०)

इसी काल के कुछ पहले से श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रगीत-मुक्तकों की बंगाल में धूम मच चुकी थी। उनकी कविताओं में आध्यात्मिक रहस्यवाद की पुट बराबर रहती थी और गुप्त जी तथा पाण्डेय जी की बहुत-सी रचनाओं में वह रहस्यवाद झाँकता मिलेगा।[1]

जब आधुनिकों के हाथ में पड़कर हिन्दी-कविता ने 'छायावाद' का अभिधान ग्रहण किया, तब वह साम्प्रदायिक सीमा में ही सिमटकर रह गई और उसकी अर्थ-भूमि संकुचित सीमा से आगे न जा सकी। छायावादयुग के पूर्ववर्ती प्रगीतकारों की अर्थ-भूमियाँ अत्यन्त विस्तृत थीं। काव्य तब साम्प्रदायिकता के बन्धन से मुक्त था। इसी कारण छायावाद अधिक दिनों

---

१. मिलाइए—

आषाढ़ सन्ध्या घनिये एलो, गेलो रे दिन बये।
बाँधनहारा वृष्टिधारा झरछे रये रये॥
एकला बसे घरेर कोने की भावि जे आपन मने।
सजल हावा जूथीर वने की कथा जाय कये॥
हृदये आज ढेउ दियेछे, खुँजे ना पाइ कूल;
सौरभे प्राण कांदिये तुले भिजे वनेर फूल।
आंधार राते प्रहरगुलि कोन सुरे आज भरिये तुलि,
कोन भुले आज सकल भुलि आछि आकुल हये॥

—सञ्चयिता ('आषाढ़' सन्ध्या, बँगला सन १३१६) पृ० ४७३।

तक कवियों को अपने मोह-पाश में जकड़े न रह सका। यह दूसरी बात है कि अब भी यत्र-तत्र कतिपय गीतियाँ छायावादी ढंग की देखने में आ जाया करती हैं, पर वह प्रवाह तो कभी का समाप्त हो गया।

प्राच्य काव्य में प्रकृति

आधुनिक काल में हिन्दी-काव्य में कवि का जो झुकाव हम प्रकृति की ओर पाते हैं, यह अंग्रेजी-साहित्य का—विशेषतः अंग्रेजी के 'स्वच्छन्दता-काल' (Romantic Age) की काव्य-धारा का प्रभाव है। इसमें दो मत नहीं हो सकते। संस्कृत-साहित्य के आदि काल में कवियों में जो प्रकृति-प्रेम था, उस आदर्श को माध्यमिक काल के कवियों ने छोड़ दिया था, क्योंकि उस समय कवि का दृष्टि-विस्तार सिमट कर राज-सभाओं में ही बद्ध हो गया था, प्रकृति का अञ्चल उसके हाथ से छूट चुका था। ऋषि वाल्मीकि के हृदय में जो सहज प्रकृति-प्रेम था, वह उत्तरकालीन कवियों के हृदय में उत्तरोत्तर कम होता गया। आदिकवि प्रकृति के असाधारण रूप पर ही मुग्ध नहीं हुए थे, अपितु उनकी दृष्टि में प्रकृति का साधारण रूप भी उतना ही आकर्षक था जितना कि असाधारण रूप। उनका प्रकृति-वर्णन शुद्ध और अलङ्काराश्रित दोनों प्रकार का है। जहाँ किसी नूतन प्रकृति-खण्ड का चित्र वे पाठक के सामने लाना चाहते हैं, वहाँ अप्रस्तुत-विधान की ओर भी उनकी दृष्टि रहती है। जिस पाठक या श्रोता ने उस दृश्य को न देखा हो, उसके लिए सामान्य अप्रस्तुत की योजना करते हैं। विशेषता यह है कि उनका अप्रस्तुत भी प्रकृति-क्षेत्र से ही गृहीत होता है और वह सर्वविदित तो होता ही है। इसीलिए श्रोता वा पाठक की चित्त-वृत्ति प्रकृति-क्षेत्र से बाहर भटकने को बाध्य नहीं होती। उसका मन प्रकृति के ही आँगन के विविध दृश्यों में रमता रहता है। एकाध स्थल देखिए—

> एतच्च वनमध्यस्थं कृष्णाभ्रशिखरोपमम्।
> पावकस्याश्रमस्थस्य धूमाग्रं सम्प्रदृश्यते॥
>
> —रामायण, अरण्य काण्ड, ११।५१

"वह देखो लक्ष्मण! वन के बीच में काले बादल के अग्र भाग के समान आश्रम की अग्नि से उठते हुए धुएँ का ऊपरी छोर दिखाई पड़ रहा है।" अप्रस्तुत ऐसा कि प्रस्तुत देखने पर उसका भ्रम सहज ही हो सकता है।

कष्टकारी और दूर की कौड़ी लाने वाली कल्पना का आश्रय नहीं लिया गया है—

मयूखैरुपसर्पद्भिर्हिमनीहारसंवृतैः ।
दूरमभ्युदितः सूर्यः शशाङ्क इव लक्ष्यते ॥

— रामा०, अरण्य कां०, १६।१८।

"सूर्य शीत और कुहरे से आच्छन्न ऊपर की ओर छिटकती हुई अपनी किरणों से चन्द्रमा-सा उदित हुआ दिखाई पड़ रहा है।" महर्षि को अप्रस्तुत खोजने के लिए कहीं दूर जाना नहीं पड़ा। हेमन्त के सूर्योदय को देखकर ऐसा लगता है मानो चन्द्रोदय हुआ हो। शीत और घने कुहरे ने रात्रि का-सा वातावरण भी प्रस्तुत कर दिया है।

शुद्ध प्रकृति-चित्रण के उदाहरणों का तो प्राचुर्य्य ही है—कहीं-कहीं अप्रस्तुत भी प्रस्तुत के पास ही समासीन है, मानो वह भी प्रस्तुत का ही अङ्ग हो—

ज्योत्स्नातुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते ।
सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न च शोभते ॥

—रामा०, अरण्य कां०, १६।१४

"है तो पूनो चाँदनी, किन्तु घनी ओस की वर्षा से ढक गई है, इसलिए वह ऐसी विश्री हो गई है जैसे आपके पास ही बैठी सीता आज वन में धूप से साँवली पड़ गई हैं।"

कोई नगर-निवासी यदि कुछ दिनों ग्राम के मुक्ताकाशीय वातावरण में जाकर रह जाय तो उसका रंग साँवला पड़ जाता है, यह तो सर्वविदित बात है।

शुद्ध प्रकृति का दर्शन कीजिए—

प्रकृत्या शीतलस्पर्शो हिमविद्धश्च साम्प्रतम् ।
प्रवाति पश्चिमो वायुः काले द्विगुणशीतलः ॥

—रामा०, अर०, १६।१५।

पछुवा हवा तो यों ही ठण्ढी होती है और इस समय तो वह बर्फ में नहाई हुई है इसलिए उसमें दूनी ठण्ढक का आ जाना स्वाभाविक है।

आगे चलकर कालिदास, भवभूति आदि के समय प्रकृति के क्षेत्र में

जब हम प्रविष्ट होते हैं, तब ऐसा लगता है जैसे हम नगर से वनाश्रम में आ गए हों। प्रकृति आह्लाददायिनी है पर ऐसो जैसे हम वर्षों से बिछुड़े मित्र के पास आ गए हों और मन कहता है कि तुमसे दुर्भाग्यवश दूर तो हो गए थे पर अब तुम्हारा साथ हम नहीं छोड़ेंगे। वहाँ मानव-जीवन से नित्य सम्बद्ध साधारण प्रकृति के दर्शन नहीं होते; वह असाधारण है, विशिष्ट है। हाँ, सन्ध्या, प्रभात, ऋतु-विशेष आदि सामान्य शुद्ध प्रकृति के चित्र अवश्य ही उनके यहाँ भी दिखाई पड़ते हैं, किन्तु बीहड़, पर्वत, व्योमावतरण, ऋषि-आश्रम के दृश्य आज के लिए असामान्य ही हैं। कालिदास के काव्य में प्रकृति के शुद्ध स्वरूप का अभाव नहीं है। मेघदूत इसका ज्वलन्त प्रमाण है। कवि-गुरु की प्रतिभा प्रकृति-वर्णन के समय अप्रस्तुत विधान किए बिना मानती नहीं, यही कारण है कि उनकी चित्रित प्रकृति उनकी भावच्छाया में अवगुण्ठनवती प्रायः दिखाई पड़ती है। मेघदूत काव्य में हम देखते हैं कि कवि प्रकृति को देख रहा है खुली आँखों निरावृत रूप में, पर उसके हृदय की भावच्छाया उस पर अपनी रेशमी ओढ़नी डालने से चूकती नहीं। देखिए, पर्वतस्थ आम्रवन पके हुए पीले फलों से भारावनत दिखाई पड़ रहा है। आषाढ़ी कादम्बिनी वायु की नौका पर सवार उस पर्वत शिखर से जा टकराती है। महाकवि की दृष्टि उस पर पड़ी तो वे न तो वहाँ पर्वत देखते हैं, न आम्र-वन, उन्हें तो वहाँ हृदयस्था चम्पकवार्णी सुन्दरी के उत्तुङ्ग उरोज ही दृष्टि आने लगे—

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै—
स्त्वय्यारूढ़े शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः॥

—पूर्वमेघ, १८

महाकवि कालिदास के मेघदूतीय प्रकृति-चित्र यद्यपि बिम्बात्मक या बिम्बग्राही हैं तथापि उद्दीपन-क्षमता भी उनमें सञ्चित दिखाई पड़ती है। इनकी प्रकृति शुद्ध, स्वच्छन्द और आत्मस्थ होते हुए भी उद्दीपन विभाव का सिंहासन छोड़ना नहीं चाहती। चतुर चातक बादल से गिरती बूँदें ऊपर चोंच उठाए पी रहे हैं, श्वेत बगुले पाँत बाँधकर उड़ते चले जा रहे हैं और बादल मन्द्र-ध्वनि में गर्जन कर रहे हैं; पर इस रमणीय वर्षा-काल की सार्थ-

कता तो तब है जब मेघ-गर्जन से संभीत कामिनी अपने प्रिय को आलिङ्गन-पाश में बाँध ले—

अम्भोबिन्दुग्रहणचतुराँश्चातकान्वीक्षमाणाः
श्रेणीभूताः परिगणनया निर्दिशन्तो बलाकाः ।
त्वामासाद्य स्तनितसमये मानयिष्यन्ति सिद्धाः
सोत्कम्पानि प्रियसहचरीसम्भ्रमालिङ्गितानि ॥
—पूर्वमेघ, २३

जहाँ ये आदिकवि के समान किसी वर्णनीय प्रकृति-खण्ड के रूपसाम्य, प्रभावसाम्य, वर्णसाम्य अथवा क्रियासाम्य के लिए अप्रस्तुत भी प्रकृति से ही ग्रहण करते हैं, वहाँ प्रकृति अपनी स्वतन्त्र सत्ता में प्रतिष्ठित वर्णनातीत आह्लाददायिनी हो जाती है। वर्णनीय प्रकृति का अङ्ग है, तो अवर्णनीय पुरुष का। कस्तूरी मृगों के बैठने से सुगन्धित शिलाओं वाले तुषार-गौर गङ्गा के पिता शैलराज हिमालय के शिखर की नोक पर बैठा मेघ ऐसा लगता है जैसे जगत्पिता देवाधिदेव शिव के श्वेत नन्दी बैल के सींग पर, उसके ओखड़ने से, काली-काली कीचड़ लग गई हो—

आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां
तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः ।
वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खात पङ्कोपमेयाम् ॥
—पूर्वमेघ, ५६

महाकवि भवभूति का नाम भी प्रकृति-वर्णन में कवि-गुरु कालिदास के बाद ही आता है। इनकी एक स्वकीय विशेषता यह है कि इनकी वाणी प्रकृति के स्वर में ही स्वर मिलाती चलती है। आलम्बन रूप में स्वतन्त्र प्रकृति के चित्रों का इनके काव्य में प्राचुर्य है। जहाँ विश्व-वन्द्य महाकवि कालिदास के साहचर्य में प्रकृति सौम्य, शान्त, रमणीय, आह्लादमयी, प्रेममयी और लावण्यमयी दिखाई पड़ती है, वहाँ भवभूति के साथ वह यथावसर उग्र और भीषण रूप में भी गतिमती दृष्टि आती है। आलम्बन-स्वरूप प्रकृति का एक चित्र यह है--

व्योम्नस्तापिच्छगुच्छावलिभिरिव तमोवल्लरीभिर्व्रियन्ते,
पर्यस्ताः प्रान्तवृत्त्या पयसि वसुमती नूतने मज्जतीव ।

वात्या संवेगविष्वग्विततवलयितस्फीतधूम्याप्रकाशं
प्रारम्भेऽपि त्रियामा तरुणयति निजं नीलिमानं वनेषु ॥
– मालतीमाधव, ५।६

"सूर्य चले गए, रात आ रही है। आकाश के छोरों से अन्धकार-लता उसे घेरती हुई चारों ओर फैल रही है, धरती किसी अपूर्व जल में डुबकी लगाने जा रही है। वेगवान् पवन के झोंके से जैसे धुआँ चारों ओर फैल कर वातावरण को आच्छन्न कर लेता है, वैसे ही सन्ध्या हुई नहीं कि रजनी नीली चादर को वन-प्रान्त पर फैलाने लगी है।" यहाँ भी एक नहीं अनेक अप्रस्तुतों की योजना कवि ने की है, किन्तु वे सब-के-सब प्रकृति के ही अभिन्न अङ्ग और वर्णनीय के ही सहज सहधर्मी हैं।

प्रकृतिपरक काव्य वही कहा जायगा, जिसे पढ़कर पाठक का मन सब कुछ भूलकर वर्ण्य प्रकृति-खण्ड में ही रम जाय। उसे छोड़कर, भूलकर यदि पाठक का मन कहीं और भटकने लगा, वर्ण्येतर क्षेत्र में चला गया तो उसे प्रकृतिपरक काव्य नहीं कहा जायगा। प्रकृतिपरक काव्य में प्रकृति का प्रामुख्य अनुपेक्षणीय होता है। जहाँ कवि, 'रास्ते चलते गए और लगे हाथ घास नोचते गए' (पन्थानं गच्छँस्तृणं स्पृशति), वाली कहावत चरितार्थ करते हैं, अर्थात् मन तो कहीं और है और उस अन्य कार्य-सिद्धि के लिए प्रकृति का उपयोग साधन के रूप में यों ही कर लेते हैं, वहाँ आनुषङ्गिक रूप में आए हुए प्रकृति-चित्र को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रकृति-चित्रण है। इसी प्रकार यदि कवि का वर्ण्य-प्रकृति है और उसकी चित्र-पूर्ति के लिए कवि अन्य उपादानों को अप्रस्तुत रूप में ग्रहण करता है तो उसे प्रकृति-चित्रण ही कहा जायगा और कुछ नहीं। इसके लिए प्रकृति-क्षेत्र में रमणशील हृदय होना चाहिए। पूर्वकालीन हिन्दी-कवियों में केवल गोस्वामी तुलसीदास ही ऐसे कवि दिखाई पड़ते हैं, जिन्हें प्रकृति में रमणशील हृदय प्राप्त था। उनका हृदय भी प्रकृति में विसुध रमता हुआ तभी दिखाई पड़ता है जब कि वे चित्रकूट में रहते हैं। अन्यत्र उनका हृदय लोक-मङ्गल-विधायी चिन्तन में ही खोया मिलता है। कविवर सेनापति के 'कवित्त-रत्नाकर' में प्रकृति के अनेक ऋतु-चित्र ऐसे हैं, जिनमें वर्ण्य प्रकृति ही है, वहाँ विरहिणी का यत्र-तत्र नामोल्लेख आनुषङ्गिक ही कहा जायगा।

संस्कृत-साहित्य में उत्तरोत्तर कवि प्रकृति से दूर हटता दिखाई पड़ता है। धीरे-धीरे वह प्रकृति से मुँह मोड़कर अपना मन लक्षण-ग्रन्थों के अनुशीलन

में रमाने लगा। इसी प्रक्रम में उसका मन काव्य के अङ्गी से हटकर अङ्ग पर जा टिका। कवि की इस पथ-भ्रष्टता को लक्षित करके महान् आचार्यों ने उसे बीच-बीच में सचेत करने का प्रयास भी किया, दण्ड-विधान रचा,[1] पर तब तक वह गलत राह पर काफी आगे बढ़ चुका था; उसका मन 'मुँहजोर तुरङ्ग' हो चुका था। कालिदास और भवभूति ने तो नाटकों में भी प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र दिए, भले ही अभिनेयता को कुछ आघात पहुँचे। कादम्बरीकार भट्ट बाण प्रकृति को ललचाई आँखों ध्यान से देखते तो हैं, किन्तु रीति और अलङ्कार के फन्दे से अपने को छुड़ा नहीं पाते। जब कवि अपनी भावना के रंग में प्रकृति को रँगी देखता है, शुद्ध प्रकृति से निरपेक्ष हो कर मनोनुकूल उसका मानवीकरण (Personification) करता है अथवा प्रकृति को देखते-देखते उसके माध्यम से किसी अन्य मनचीती वस्तु पर जा पहुँचता है, तब हम उसे अन्य-निरपेक्ष प्रकृति-प्रेमी नहीं कह सकते और न तद्वृत्तिपरक प्रकृति-चित्रण को उच्च कोटि का प्रकृति-चित्रण ही कहेंगे। शुद्ध और श्रेष्ठ प्रकृति-चित्रण तो तभी माना जायगा जब कवि का मन अनन्य भाव से प्रकृति में ही रम जायगा, जब वही एक मात्र उसकी आराध्या हो जायगी। ऋग्वेद में उषा के ऐसे अनेक चित्र हैं, जहाँ ऋषि उषा का रूप-चित्रण करते-करते उसे ही अपनी आराध्या देवी घोषित कर देते हैं—

"उषा के आविर्भूत होते ही अग्नि समिद्ध हो गई, सूर्य उदित हुए और उन्होंने द्विपदों और चतुष्पदों को कर्म के लिए प्रेरित किया। देव-नियमों की अधिष्ठात्री, मनुष्यों की आयु-क्षयकरी गतिमती उषा प्रकट हो गई। अनुवर्तिनी उषाओं में यह ज्येष्ठा है (प्रतिदिन ऐसी ही उषाएँ आती रहेंगी)। सहसा

---

१. आचार्य आनन्दवर्धन ने बार-बार कवियों को सावधान किया है। एक स्थान पर वे कहते हैं—

प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन्बन्धुमिच्छता।
यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम्॥
विरोधि--रस--सम्बन्धि--विभावादि—परिग्रहः।
विस्तरेणान्वितस्याऽपि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम्॥
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम्।
परिपोषं गतस्याऽपि पौनःपुन्येन दीपनम्॥
रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्यनौचित्यमेव च॥ —ध्वन्या०, ३।१९

आगत इस आकाश-कन्या के वस्त्र कितने ज्योतिर्मय हैं। सभी दिशाओं की यह परिचिता एवं रक्षिका है।......गृह-पत्नी के समान यह स्वयं सर्वप्रथम जागकर फिर सबको जगाती है। इसके तेज की ध्वजा आकाश में फहरा उठी। यह सबकी मङ्गलकारिणी है.......आदि।[1]"

यहाँ उषा ही वर्ण्य है, उपास्या है। इसी प्रकार लोक-मङ्गल विधायिनी प्रकृति ही जहाँ कवि की वर्ण्य और आराध्या हो जाय उसे ही प्रकृति-वर्णन कहा जायगा और इस प्रकार का वर्णयिता कवि ही प्रकृति का कवि कहा जायगा।

मनुष्य जिसे अपना हृदय समर्पित करता है, उस अपने ही समान् सहृदय देखने का अभिलाषी भी होता है। अपने सुख-दुःख में उसे भी सुखी और दुखी देखने की कामना करता है। यदि आराध्य ऐसा नहीं है तो वह हमारे किस काम का ? जिसमें हमारे हृदय को छीन लेने की क्षमता है, वह हमारी बात अवश्य सुनेगा, समझेगा, कम-से-कम हम उससे यह अपेक्षा अवश्य रखते हैं। इसीलिए हम पाषाण की भी पूजा करते हैं तो उसमें प्राण-प्रतिष्ठा अवश्य कर लेते हैं, निष्प्राण पाषाण हमारी क्या सुनेगा और क्या समझेगा ! यही कारण है कि ऋषियों ने उषा को दिव्य नारी-रूप में धरित्री पर अवतरित होते देखा। उषा उन्हें देवी, माता, भगिनी और कन्या के विविध रूपों में दिखाई पड़ी थी। यह भावना ही उनके शुद्ध-प्रबुद्ध, लोक-मङ्गला-

---

१. उषा उच्छन्ती समिधाने अग्ना उद्यन्त्सूर्य उर्विया ज्योतिरश्रेत्।
देवो नो अत्र सविता न्वर्थं प्रासावीद् द्विपत्प्र चतुष्पदित्यै ॥
अमिनती दैव्यानि व्रतानि प्रमिनती मनुष्या युगानि।
ईयुषीणामुपमा शश्वतीनामायतीनां प्रथमोषा व्यद्यौत् ॥
एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात्।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति ॥
उपो अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षो नोधा इवाविरकृत प्रियाणि।
अद्मसन्न ससतो बोधयन्ती शश्वत्तमागात्पुनरेयुषीणाम् ॥
पूर्वे अर्धे रजसो अप्त्यस्य गवां जनित्र्यकृत प्र केतुम्।
व्यु प्रथते वितरं वरीय ओभा पृणन्ती पित्रोरुपस्था ॥
एवेदेषा पुरुतमा दृशे कं नाजामिं न परि वृणक्ति जामिम्।
अरेपसा तन्वा शाशदाना नार्भादीषते न महो विभाती ॥

—ऋक्, १।१८।१२५

कांक्षी और निष्कलुष अन्तःकरण का प्रमाण है। हाँ, आगे चलकर लौकिक काव्य में कविजन अवश्य प्रकृति के खण्ड-विशेष को प्रेयसी या रमणी के रूप में देखने लगे थे। विरही कालिदास को रेवा, निर्विन्ध्या, गम्भीरा आदि विरहिणी के ही रूप में दिखाई पड़ी थीं।[1] इससे यह स्पष्ट हो गया कि कवि प्रकृति को अपने हृदय की भाव-प्रभा में अनुरञ्जित देखता रहा है और इसी रूप में उसे देखने का अभ्यासी है। किन्तु ऐसा वह तब करता रहा है जब विरह-वेदना में उसकी दृष्टि चेतनाचेतन-ज्ञान-शून्य हो जाती थी। अन्यत्र वह प्रकृति को सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र ही देखता रहा है और उस दशा में प्रकृति उसके रंग में नहीं रँगती थी, वह स्वयं प्रकृति के रंग में रँग जाता रहा है। ऐसी स्थिति में प्रकृति काव्य में आलम्बन बन कर आती रही, उद्दीपन या अप्रस्तुत बन कर नहीं। और जब प्रकृति आलम्बन रूप में गृहीत हुई है, तब कवि की भावना ही अप्रस्तुत बनकर आई है। अतः यह स्पष्ट हो गया कि प्रथम कोटि का प्रकृति-चित्रण वह कहा जायगा जहाँ प्रकृति आलम्बन रूप में गृहीत हो, द्वितीय कोटि का प्रकृति-चित्रण वह हुआ जहाँ प्रकृति का ग्रहण अप्रस्तुत रूप में हो और अधम कोटि के अन्तर्गत प्रकृति का उद्दीपनादि रूप में ग्रहण होगा।

कवि-हृदय की पहचान उसके विस्तार से होती है। जिस हृदय का प्रसार मानव-जीवन को पार करके क्षितिज तक विस्तीर्ण प्रकृति-क्षेत्र तक होता है वही सच्चे अर्थों में कवि है। तदितर कविजन द्वितीय और अन्तिम श्रेणी के अन्तर्गत परिगणित होंगे।

पाश्चात्य काव्य में प्रकृति

पाश्चात्य कवियों का प्रकृति-प्रेम बहुत कुछ प्राच्य कवियों के ही ढाँचे का है। अन्तर है तो केवल देश-स्थिति का। भारत में प्रकृति मानव के ऊपर माता के समान अपने स्नेहाञ्चल की छाया किए हुए है। उसका रूप सौम्य है, शान्त है, प्रभाव स्निग्ध है और दान उसका अमृत है। पश्चिमी देशों में प्रकृति का रूप सौम्य है तो कभी उग्र भी हो जाता है। प्रभाव स्निग्ध और भयङ्कर दोनों ही प्रकार का है और दान में वह जीवन देती है तो कभी-कभी मृत्यु देने में भी नहीं हिचकती। इसीलिए भारतीय सभ्यता और संस्कृति का

१. मेघदूत, पूर्वमेघ, २०,३०,४५।

विकास प्रकृति के विस्तृत उन्मुक्त प्राङ्गण में हुआ, किन्तु पाश्चात्य सभ्यता का पालन-पोषण प्रकृति से दूर ले जाकर नगर में ही हो सका। अंग्रेजी काव्य-भूमि में जब स्वच्छन्दतावाद का अवतरण हुआ, तब कवि नगर के बँधे घेरे से बाहर निकले और उन्होंने प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र को खुली आँखों देखा। अब व्यक्तित्व पुराने शास्त्रीय विधानों में बद्ध नहीं था, वे अपनी इच्छा या भावना द्वारा सञ्चालित थे जो पुराने बाँध को तोड़कर बाहर आ गई थी। अब कवि के साथ उसकी भावना थी और उस भावना की छाया-सी कल्पना भी साथ-साथ लगी रही। अंग्रेजी काव्य-क्षेत्र में स्वच्छन्दतावादी युग (Romantic period) भावना एवं कल्पनाप्रधान होने के कारण स्वच्छन्द गीतियों या प्रगीत मुक्तकों (Lyrics) का ही युग रहा है। जब परम्परागत नियमों से बद्ध समाज से कवि के मुक्त हृदय का मेल नहीं खाया तब विवश होकर उसे प्रकृति से मित्रता करनी पड़ी, क्योंकि मानव-मन एकाकी तो कहीं रम नहीं सकता। अतः उस युग के महान् कवि वर्ड्स्वर्थ, कालेरिज और शैली के काव्य में पाश्चात्य प्रकृति भावनाभिषिक्त रूप में सामने आई। वर्ड्स्वर्थ की कविता में प्रकृति का साधारण, सहज और दैनंदिन रूप सामने आया, शैली का मन उसके विपरीत प्रायः असाधारण, उग्र, गंभीर, प्रभावशाली प्रकृति-रूप पर ही रीझा। कालेरिज भी असाधारण, विशिष्ट का ही उपासक रहा। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वच्छन्दता-युगीन अंग्रेजी कवियों ने प्रकृति को शुद्ध आत्मस्थ रूप में न देखकर अपनी कल्पना और भावना के ही चश्मे से देखा। इसलिए वे सर्वसामान्य न होकर विशिष्ट हो गए हैं। वर्ड्स्वर्थ वास्तव में अधिकांश स्थलों पर इसका अपवाद है, भावुकता का प्रसार तो उसमें भी है, पर वह असाधारण वा असामान्य नहीं है। इसीलिए उसकी कविता में साधारणीकरण की मात्रा सर्वाधिक है, जब कि शैली में उसकी असाधारण कल्पना का चमत्कार ही प्रधान हो उठा है। उसके चमत्कार का जादू आरम्भ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और पं० सुमित्रानन्दनपन्त को विशेष रूप से आकृष्ट करने में सफल हुआ था।

हिन्दी के छायावादी कवियों में प्रकृति के प्रति प्रेम जगाने की प्रेरणा और अपनी भावना के रंग में रँग कर उसे देखने की विशेष दृष्टि वर्ड्स्वर्थ और शैली में ही प्रमुख रूप में मिली। इन दोनों अंग्रेजी के कवियों ने प्रकृति से शिक्षा ग्रहण की है और प्रकृति का यथार्थ चित्र अङ्कित किया है। ये प्रकृति से प्रेरणा ग्रहण करने वाले कवि थे। यों तो अंग्रेजी-साहित्य के स्वच्छन्दतावादी

युग (Romantic period) के सभी कवियों ने प्रकृति-क्षेत्र में मन रमाया है किन्तु ये दोनों ही सच्चे अर्थ में प्रकृति के पुजारी थे। वर्ड्स्वर्थ की 'अकेली खेत काटनेवाली' (Solitary Reaper), डैफोडिल्स (एक जंगली फूल) 'अनश्वरता का गीत' (Ode to Immortality), इन्द्रधनुष (Rainbow), कोकिल (Cuckoo) आदि प्रकृतिपरक रचनाएँ उसके प्रकृति-प्रेम का उद्‌घाटन करती हैं और बताती हैं कि वह किस प्रकार की प्रकृति का उपासक था। इसी प्रकार शैली (Shelley) की 'पछुवा का गीत' (Ode to Westwind), अग्नि पक्षी (Skylark), बादल (Cloud) आदि प्रतिनिधि कविताएँ उसके प्रकृति-प्रेम के स्वरूप की निर्देशिका हैं। शैली के व्यक्तित्व की असाधारणता उसकी रचनाओं के माध्यम से प्रकट हो जाती है, इसी प्रकार वर्ड्स्वर्थ का सीधा-सादापन या सारल्य प्रत्यक्ष हो जाता है। दोनों के प्रकृति-प्रेम के आलम्बन पृथक् भले ही हों जैसे कि एक गहन कान्तार, दुर्दान्त प्रभञ्जन का प्रेमी है तो दूसरा ग्राम-पथ के आस-पास बिखरी सहज सामान्य प्रकृति का, किन्तु हैं दोनों ही प्रकृति के कवि। इन दोनों के काव्य में प्रकृति आलम्बन बन कर उतरी है। इन दोनों के अतिरिक्त कीट्स (Keats), टेनीसन (Tennyson), बायरन (Byron) आदि के काव्य में भी प्रकृति की शीतल छाया मिलती है।

आधुनिक हिन्दी छायावादी कवियों का प्रकृति-प्रेम

शताब्दियों भारतीय काव्य में दासी का जीवन बिताने के बाद छायावादी काव्य में प्रकृति रानी के सिंहासन पर अभिषिक्त हुई। प्रकृति को सिंहासन पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय सुकुमार कवि सुमित्रानन्दन पन्त को है। तत्कालीन कवियों में पन्त ने बड़े मनोनिवेश से अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावादी काव्य और रवीन्द्र-काव्य का अध्ययन किया उस अध्ययन की तल्लीनता में वे प्रायः आत्म-विस्तृत हो गए हैं और अपने के साथ ही अपने वातावरण को भी भूल बैठे हैं। उस काल की उनकी रचनाएँ उनकी मुग्धावस्था या अबोध दशा को व्यक्त करती हैं। उनकी प्रकृति से मेल न खाने वाली 'परिवर्तन' नामक 'पल्लव' की लम्बी कविता भी शैली (Shelley) की अनुकृति की ही परिणति प्रतीत होती है। शैली का सेन्सी (Canci) नामक काव्य-रूपक जिसका पर्यवसान विषाद में होता है, कुछ अंग्रेजी पाठकों को इतना खटका कि उन्होंने उसे सदा के लिए बहिष्कृत करने की तीव्र इच्छा भी

व्यक्त की।[1] कविवर पन्त की तत्कालीन कविता का 'बादल' भी भारतीय आकाश का बादल नहीं है, इसीलिए उसमें भूत, प्रेत के विकट आकार, लोक-भयकारी तड़प-कड़क और इन्द्राजल की लीला ही विशेष रूप में देखी जा सकती है। हाँ, आगे चलकर अनुकृति का आवेग थम जाने पर भारतीय प्रकृति में उन्होंने अपना मन रमाया है, किन्तु प्रकृति-क्षेत्र में उतरे वे पश्चिम की ही सीढ़ी से। 'पावस के पर्वत-प्रदेश'[2] को उन्होंने अपनी आँखों देखा है। नौका-विहार,[3] एक तारा,[4] झंझा में नीम, दो मित्र,[5] चींटी आदि कविताएँ उनकी प्रकृतिस्थ दशा की रचनाएँ हैं। यह प्रकृति-चित्रण का आदर्श उन्हें अंग्रेजी साहित्य से मिला, भारत के प्राचीन साहित्य से नहीं। आगे चलकर उन्होंने कालिदास, भवभूति, वाल्मीकि के काव्य का भी परिचय प्राप्त किया, इसमें सन्देह नहीं। आज काव्य में प्रकृति की चर्चा छिड़ने पर हिन्दी-कवियों में पन्त जी ही सबके आगे खड़े दिखाई देते हैं। अन्य छायावादी कवियों के काव्य में प्रकृति उपसर्ग बनकर आई है। प्रसाद, निराला, महादेवी, रामकुमार वर्मा आदि प्रकृति के सच्चे उपासक कवि नहीं हैं। वे मन और मानव-जीवन के कवि हैं। छायावाद की सीमा से परे रहनेवाले श्री गुरुभक्त सिंह 'भक्त' की 'वनश्री' अवश्य ही सच्चे अर्थ में प्रकति-गीतिका है। कविवर गोपाल सिंह 'नेपाली' की कतिपय रचनाओं में

---

1. "It had been better had Shelley's Cenci remained forever banned. It represents three hours of unrelieved, agonising misery............what excuse is there for the depicting of horrors such as these? There must be some, for the house packed with literary celebrities fiercely applouded. If the function of theatre is to amuse, then in the presentation of the Cenci it has missed its aim............'

–Principles of Literary Criticism: I.A. Richards: p. 68.

२. आधुनिक कवि, पृ० १३

३. वही, पृ० ५६

४. वही पृ० ५३

५. युगवाणी

उनका सच्चा प्रकृति-प्रेम झलकता है। अन्य कवियों ने प्रायः प्रतीक-विधान, अप्रस्तुत-योजना, उद्दीपन आदि के ही लिए प्रकृति की ओर हाथ पसारे हैं। पन्तजी की 'मोह' कविता में उनका प्रकृति-प्रेम छलकता दिखाई पड़ता है—

ऊषा-सस्मित किसलय-दल, सुधा-रश्मि से उतरा जल,
ना, अधरामृत ही के मद में कैसे बहला दूँ जीवन ?
भूल अभी से इस जग को !
—आधुनिक कवि, पृ० १

पुराने शास्त्रीय शब्दों में कहें तो पन्त जी कालिदास के समान भाषा के क्षेत्र में वैदर्भी मार्ग के कवि हैं। उन्होंने खड़ी बोली में जो माधुर्य ला दिया वह औरों से नहीं बन पड़ा। भाषा का यह माधुर्य संस्कृत की तत्सम शब्दावली में निहित है, जो पन्तजी को निसर्ग-सिद्ध है। प्रसादजी का मार्ग वैदर्भी का नहीं, पाञ्चाली का है और निराला जी का मार्ग गौड़ीय है। निराला जी की 'खुला आसमान' कविता के आरम्भ में प्रकृति का सुन्दर रूप आया है—

बहुत दिनों बाद खुला आसमान।
निकली है धूप हुआ खुश जहान।।
दिखीं दिशाएँ, झलके पेड़,
चरने को चले ढोर-गाय-भैंस-भेड़।
—अनामिका, पृ० १३८

प्रकृति की इस पृष्ठभूमि में अब हम कतिपय कवियों की गीतियों को देखेंगे।

———

छायावाद युग की गीतियाँ

छायावाद-युग को गीति-युग के नाम से स्मरण किया जायगा। इस युग में गीति-काव्य अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा दिखाई पड़ता है। इस युग के बहुसंख्यक कवियों की प्रवृत्ति गीति-रचना की ही ओर रही। इस काल के प्रमुख कवि अंग्रेजी के स्वच्छन्तावादी युग के कवियों से विशेष प्रभावित हुए और बहुत-से लोग तो यह भी कहने लगे थे कि अब प्रबन्ध काव्य की चर्चा कल की वस्तु हो गई, आज के कर्म-सङ्कुल जगत् में प्रबन्ध पढ़ने का अवकाश ही कहाँ रहा! किन्तु यह केवल क्षणिक भावावेश में कही गई बात थी, जहाँ विचार-गाम्भीर्य का अभाव ही रहता है। इस बात का पुष्ट प्रमाण तत्कालीन रचना 'कामायनी' ही है। जिस प्रकार छोटी-छोटी कहानियों के निर्माण के साथ ही साथ बड़े-बड़े उपन्यासों का सर्जन बराबर हो रहा है उसी प्रकार गीतियों के साथ-साथ प्रबन्ध-रचना बराबर होती रहेगी। प्रबन्धकार को काव्य-रचना के लिए पर्याप्त समय की अपेक्षा होती है और आज के बहुसंख्यक कवियों को जीविका-निर्वाह के लिए कोई न कोई नौकरी अपेक्षित होती है। अतः उनका कवि-कर्म गौण हो जाता है और वे अपने शेष समय में से थोड़ा-बहुत समय निकाल कर जब-तब मुक्तक रचनाएँ कर लिया करते हैं। इसके अतिरिक्त सभी कवियों की प्रतिभा भी प्रबन्ध के उपयुक्त नहीं होती। संस्कृत और प्राकृत कालों में भी मुक्तक गीतियों की रचना अधिक कवियों ने की, प्रबन्ध अपेक्षाकृत कम ही कवियों द्वारा निर्मित हुए![1] काल्पनिक भावुकता के लोक में विचरण करने वाले युवकों को प्रगीत मुक्तकों में विशेष शान्ति मिलती रही है। छायावादी-युग में कवि और कविता-प्रेमी दोनों ही की मनःस्थिति एक-सी थी। दोनों ही को व्यावहारिक जगत् के बन्धन अपने मार्ग को रोककर खड़े पर्वतों-से दिखाई पड़ते थे। इसलिए काल्पनिक भावुकता की वह सृष्टि इन्हें विशेष रुचिकर रही, जहाँ इन बन्धनों से दूर चलकर खुल खेलने का पूरा-पूरा अवकाश था और जहाँ इन बन्धनों के प्रति खुल कर विद्रोह करने की पुकार सुनाई पड़ती थी। इन गीतों में सौन्दर्य का ही चयन विशेष था, असुन्दर के लिए वहाँ स्थान नहीं

१. किन्तु आज प्रबन्ध की अपेक्षा गीतियाँ कम ही उपलब्ध हैं। —लेखक

था। बुद्धि से दूर ही दूर कतराकर चलने वाली बाल-भावुकता जहाँ खुल खेलने के लिए मुक्त थी, वहीं इस काल की गीतियों की विहार-स्थली थी। जगती का कटु कर्म-कोलाहल वहाँ बाहर ही रोक दिया जाता था, वह यथार्थ जीवन की सर्वथा उपेक्षा थी। पश्चिम के कलावाद का सिद्धान्त भी लोगों को विशेष आकृष्ट करने लगा था। फलतः वह सस्ती भावुकता, जो वास्तविकता के धरातल पर आने के पहले उसी प्रकार उड़ जाती है जैसे बिहारी की विरहिणी के शरीर पर पहुँचने के पहले ही गुलाब-जल उड़ जाता था, आधुनिक गीतियों में प्रायः सर्वत्र दृष्टि आने लगी। इस प्रकार काव्य को एक सङ्कीर्ण घेरे में रुद्ध होते देख तदानीन्तन तत्कालीन आचार्यों की दृष्टि में छायावादी कविता बड़ी हल्की जँची और उन्होंने छायावादी कवियों को विस्तृत दृष्टि रखने की बराबर सलाह दी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसीलिए कविवर सुमित्रानन्दन पन्त की उत्तरकालीन रचनाओं में उत्तरोत्तर उनका दृष्टि-प्रसार देखकर अपना सन्तोष व्यक्त किया था।[1] छायावादी कविता का मुख्यविषय 'करुण विप्रलम्भ' था। एकाध कवियों की कविताओं में अस्वाभाविक कल्पना रसाभास उत्पन्न करती दिखाई पड़ी। कला और कल्पना की चकाचौंध में उस अस्वाभाविकता को ढकने का प्रयत्न भी दिखाई पड़ा। यही कारण है कि छायावादी कवियों की बहुत-सी कविताएँ लोकप्रिय नहीं बन पाईं। अंग्रेजी भाषा के सुन्दर लाक्षणिक प्रयोगों के शाब्दिक हिन्दी-रूपान्तरों, अस्वाभाविक अनुभूतियों, निराधार कल्पनाओं और विभाव-पक्ष की अव्यक्ति के कारण छायावाद-काल की अधिकांश कविताएँ उपहसित एवं उपेक्षित हुईं। जिन कविताओं में विभाव-पक्ष स्पष्ट रहा, वे बराबर सहृदयों में आदृत रहीं। 'प्रसाद', 'निराला', पन्त, महादेवी, रामकुमार वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि उस काल के प्रमुख गीतिकार हैं। इन कविवरों ने गीतिकाव्य को नए-नए रूप-रंग देकर उसे सजाया और सँवारा है। चतुर्वेदी जी और 'नवीन' जी के गीतों का प्रमुख विषय स्वदेश-प्रेम ही रहा और इन्होंने मुक्तकण्ठ देश-प्रेम के मर्मस्पर्शी गीत गाए। 'प्रसाद' जी की गीतियाँ अधिकतर शृंगारपरक, पन्त जी की प्रकृतिपरक, निरालाजी की दर्शन

---

१. "पन्त जी को 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' से निकलकर स्वाभाविक स्वच्छन्दता (True-Romanticism) को ओर बढ़ते देख हमें अवश्य सन्तोष होता है।"

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास : नई धारा, पृ० ८६२

और प्रकृतिपरक और महादेवी जी की गीतियाँ अरूपपरक हैं। हिन्दी का गीति-काव्य इन कवियों द्वारा विशेष समृद्ध हो उठा, इसमें सन्देह नहीं। दिग्दर्शनार्थ यहाँ कतिपय गीतियों के अंश हम दे रहे हैं। 'निराला' जी ने अपनी 'गीतिका' की भूमिका में लिखा है—

"खड़ी बोली में नये गीतों के भी प्रथम सृष्टिकर्ता 'प्रसाद' जी हैं। उनके नाटकों में अनेक प्रकार के नए गीत हैं।"

जयशंकर 'प्रसाद'

महाकाव्य या प्रबन्ध काव्य के लिए कवि में यदि सम्बन्ध-निर्वाह की क्षमता अपेक्षित होती है तो गीतिकार में समाहार-कौशल की शक्ति का होना अपरिहार्य है। असावधानी काव्य के किसी भी प्रकार में घातक सिद्ध होती है। इन दोनों प्रकार की शक्तियों का नाम है औचित्य-विचार। प्रबन्ध-निर्माता कवि के औचित्य की भूमि विस्तृत होती है। वहाँ अनुभव या लोक-ज्ञान की व्यापकता दिगन्तव्यापिनी होनी चाहिए। गीतिकार के लिए वह सब अपेक्षित नहीं। हाँ, गीतिकार अपनी गीतियों के लिए जिस भूमि को चुनता है, उसके कोने-कोने से उसका घनिष्ट परिचय होना ही चाहिए, वहाँ सतही अनुभव मोती या रत्न नहीं दे सकता। महाकाव्य-रचना के लिए हृदय बहुत विशाल—इतना कि जिसमें सभी रुचियों के हृदय समा सकें—होना चाहिए। ऐसे हृदय को हम असाधारण कह सकते हैं। गीतिकार में भावुकता (Sentimentality) का प्राधान्य होता है। भावुकता वह, आत्म-विस्मृति जिसकी अनुगामी होती है। प्रबन्धकार के लिए उतनी भावुकता असफलता की जनयित्री हो जाती है। वहाँ व्यक्तिविशेष की रुचि का महत्त्व नहीं होता, वहाँ लोक-सामान्य रुचि का शासन होता है। इसीलिए महाकाव्यकार उच्च कोटि के गीतिकार तो हुए, किन्तु महान् गीतिकार सफल प्रबन्धकार नहीं हुए। गीतिकार जयदेव ने अपने जान तो 'गीतगोविन्द' को प्रबन्ध ही बनाया, उसकी सर्गबद्ध रचना की, किन्तु वह प्रबन्ध न होकर रह गया गीतिकाव्य ही। स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद ने 'कामायनी' को सफल प्रबन्ध बनाने की भरपूर चेष्टा की, अथक प्रयास किया, किन्तु उनकी ही सर्वातिशायिनी भावुकता अन्त तक प्रबन्ध को आघात पहुँचाती गई। लज्जा और काम के लिए सर्ग के सर्ग खपाने पड़े, सौन्दर्य की परिभाषा में पृष्ठ के पृष्ठ रँगे गए। परिणाम यह हुआ कि उसमें गीतिकाव्य की रस-मग्नता तो आई किन्तु प्रबन्ध

की आधिकारिक कथा-धारा बीच-बीच में खो-सी गई। 'लाज भरे सौन्दर्य' के हाथों हृदय सौंपकर वे महाकाव्य के, लोक के बीच से होते हुए निकलने वाले, राजपथ का संगति-सातत्य बनाए नहीं रख सके। कहते हैं, 'आँसू' को भी कामायनी का एक सर्ग ही बना देने की कामना उनके मन में पहले जगी भी थी। कामायनी के बहुत से छन्द स्वतन्त्र गीतियाँ हैं। आधिकारिक कथावस्तु का वैसा ही हल्का-सा जाल आद्यन्त बुना गया है जैसा कि हम कवि-गुरु कालिदास के मेघदूत में देखते हैं।

नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास-रजत-नग-पग-तल में,
पीयूष-स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में। —लज्जा

श्रद्धा और विश्वास को पाणिग्रहण की शिक्षा देनेवाली यह कविता स्वतंत्र गीति ही है। इसी प्रकार—

छूने में हिचक, देखने में
पलकें आँखों पर झुकती हैं,
कलरव-परिहास भरी गूँजें
अधरों तक सहसा रुकती हैं।
स्मित बन जाती है तरल हँसी
भर कर नयनों में बाँकपना,
प्रत्यक्ष देखती हूँ सब जो
वह बनता जाता है सपना। —लज्जा

आदि मुग्धा नायिका का चित्र प्रस्तुत करने वाले छन्द प्रबन्ध-काव्य की अपेक्षा स्वच्छन्द गीतियों के अधिक निकट हैं। बात स्पष्ट है कि स्वर्गीय 'प्रसाद' मूल रूप में गीतिकार थे, प्रबन्धकार नहीं। कामायनी में सबन्ध गीतिकाव्य के तत्व अधिक हैं।

प्रसाद जी ने अपने नाटकों में जिन गीतियों को स्थान दिया है, वे सङ्गीत की राग-रागिनियों के साँचे में ढले हुए हैं। इसीलिए नाटकों के अन्त में उन्होंने 'मुनीमजी' द्वारा रचित स्वर-तालिकाएँ भी दे दी थीं। 'प्रसाद' जी की गीतियों का मुख्य विषय जैसा कि पहले कहा जा चुका है प्रेम है। इसके अतिरिक्त कर्म-जगत् की कठोरता, देश-भक्ति आदि विषयों पर भी इनकी

गीतियाँ बड़ी भावपूर्ण और मनोहर हैं । 'प्रसाद' जी की मनोवृत्ति रहस्योन्मुखी थीं, इसीलिए लौकिक प्रेम की गीति गाते-गाते ये पारलौकिक प्रेम तक पहुँच जाया करते थे । देखिए—

भरा नयनों में मन में रूप,
किसी छलिया का अमल अनूप ।
जल-थल मारुत व्योम में जो छाया है सब ओर,
खोज-खोज कर खो गई मैं, पागल प्रेम-विभोर ।।

—स्कन्दगुप्त

यह है 'प्रसाद' जी की रहस्यपरक प्रेमगीति । लौकिक प्रेमगीतियों में भी कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग करने से ये नहीं चूकते जो पूरी गीति को रहस्योन्मुख करने लगते हैं—

माझी साहस है खे लोगे ?
अनजाने तट की मदमाती,
लहरें क्षितिज चूमती आतीं,
ये झिटके झेलोगे ?[1] —स्कन्दगुप्त

इस कविता का 'अनजाने' शब्द पूरी कविता को रहस्यमयी बना रहा है । आगे एक लौकिक प्रेम का गीति देखिए—

तुम कनक किरण के अन्तराल में
लुक-छिप कर चलते हो क्यों ?

---

१. मिलाइए रवीन्द्रनाथ टैगोर के इस गीत से—
कथा छिल एक-तरीते केवल तुमि आमि
जाबो अकारणे भेसे केवल भेसे;
त्रिभुवने जानबे ना केउ आमरा तीर्थगामी
कोथाय जेतेछि कोन देशे से कोन देशे ।
कूलहारा सेइ समुद्र-माझखाने
शोनाबो गान एकला तोमार काने,
टेउयेर मतन भाषा-बाँधन-हारा
आमार सेइ रागिनी शुनबे नीरव हेसे ।
—गीताञ्जलि, ८३

नतमस्तक गर्व वहन करते,
जीवन के घन रस-कन ढलते,
हे लाज-भरे सौन्दर्य, बता दो
मौन बने रहते हो क्यों ?

—चन्द्रगुप्त, अं० १, पृ० ११

इनकी देश-प्रेम-सम्बन्धी गीतियाँ भी बड़ी ही मनोहर हैं और हैं सङ्गीत-शास्त्र की तुला पर तुली हुई। इनकी यह गीति अत्यन्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है—

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को
मिलता एक सहारा।
सरस तामरस-गर्भ विभा पर
नाच रही तरु-शिखा मनोहर,
छिटका जीवन—हरियाली पर
मङ्गल कुंकुम सारा। — चन्द्रगुप्त

यों तो खड़ी बोली में देश-प्रेम पर सैकड़ों गीतियाँ लिखी गई हैं पर 'प्रसाद' जी की लेखनी का यह लावण्य जो गीति का जीवन है, अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। 'प्रसाद' जी की गीतियाँ अन्तःस्फुरित होती हैं और उनकी प्रतिभा इतनी ऊर्जस्विनी है कि वह भाषा में लाक्षणिक वक्रता, नव्य आलङ्कारिकता स्वतः ला देती है। इनका 'आँसू' काव्य, जो एक विच्छृङ्खल आख्यानबद्ध गीति-काव्य है, नूतन छन्द को लेकर निर्मित हुआ है और कवियों ने उसे अपनी गीतियों में अपनाया है। इस गीतिकाव्य में कवि की कल्पना कहीं भूतल से उड़ती हुई अनन्त अकाश का चक्कर लगाती दिखाई पड़ती है और कहीं समुद्र के अन्तिम तल में गोते लगाती घूम रही है। इन अश्रु-विन्दुओं में कवि के हृदय की अपार वेदना झलक मार रही है, उसका कहीं ओर-छोर ही नहीं दिखाई पड़ता। कवि-कल्पना देखिए—

सूखे सिकता-सागर में
यह नैया मेरे मन की,
आँसू की धार बहा कर
खे चला प्रेम बेगुन की।

यह पारावार तरल हो
फेनिल हो गरल उगलता,
मथ डाला किस तृष्णा से
तल में वड़वानल जलता।

निश्वास मलय में मिलकर
छायापथ छू आएगा,
अन्तिम किरणें बिखरा कर
हिमकर भी छिप जाएगा।

चमकूँगा धूल कणों में
सौरभ हो उड़ जाऊँगा,
पाऊँगा कहीं तुम्हें तो
ग्रह-पथ में टकराऊँगा।

—आँसू. पृ० ४२-४३

वैयक्तिक प्रेम-वेदना का यह दिगन्तव्यापी प्रसार छायावाद-युग की एक प्रमुख विशेषता है, जो विश्व साहित्य में अन्यत्र कहीं स्यात् मिलेगी। सम्भव है, इस महती पीड़ा के मूल में सामाजिक कारण के अतिरिक्त परोक्षतः अन्य कारण भी हों, पर यान्त्रिक जीवन के प्रति असन्तोष ही स्पष्ट दिखाई पड़ता है। 'प्रसाद जी के शब्दों में—

निर्मम जगती को तेरा
मङ्गलमय मिले उजाला,
इस जलते हुए हृदय की
कल्याणी शीतल ज्वाला।

—आँसू पृ० ६३

कवि को पूरी जगती ही 'निर्मम' दिखाई पड़ती है और वह अपनी 'शीतल ज्वाला' से उसे मङ्गलमय प्रकाश मिलने की शुभ कामना प्रकट करता है, जिससे जगती निर्ममत्व के अभिशाप से मुक्त हो जाय।

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

निराला जी विमुक्त छन्दों के अतिरिक्त अनेक नूतन गेय छन्दों के भी आविष्कर्त्ता हैं। कवि होने के साथ-साथ ही ये सङ्गीत के भी अच्छे ज्ञाता हैं। बँगला भाषा और बँगलाभाषी साहित्यिकों एवं गायकों के निकट सम्पर्क में अधिक दिनों तक रहने के कारण, इन्हें भारतीय सङ्गीत के साथ-साथ पश्चिमी सङ्गीत के स्वरूप को देखने-समझने का अच्छा अवसर मिलता रहा था, क्योंकि श्री द्विजेन्द्रलाल राय और श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बहुत पहले ही बँगला गीतियों में पश्चिमी सङ्गीत को ढालने का अच्छा प्रयास किया था। इसीलिए 'निराला' जी ने जहाँ छन्दों को बन्धन से मुक्ति देने का प्रयत्न किया, वहीं सच्छन्दों का निर्माण करके सैकड़ों गीतियों और प्रगीत मुक्तकों को बाँधा भी। इस प्रकार 'निराला' जी के प्रयास से आधुनिक गीतिकाव्य सङ्गीत के अधिक निकट लाया गया है। किन्तु सङ्गीत के स्वरों की रक्षा के प्रयास का फल यह हुआ कि इनकी गीतियों में बहुतेरे स्थलों पर न्यूनपदत्व दोष आ गया है और कवि की अभिप्रेत अर्थाभिव्यक्ति में बाधा पहुँची है। इनकी गीतियों के विषय लौकिक और पारलौकिक व्यक्तिगत प्रेम, प्रकृति प्रेम, व्यापक जीवन-दर्शन आदि हैं। वास्तव में 'निराला' जी की दृष्टि कभी एकाङ्गी वा सीमित-क्षेत्रबद्ध नहीं रही, यही इनकी सबसे प्रमुख विशेषता और महत्ता है। ये नितान्त स्व-निष्ठ कभी नहीं रहे, इसीलिए इनकी गीतियों में भारतीय संस्कृति का निर्मल रूप देखने को मिलता है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी 'निराला' जी की कविता में रहस्यवाद ढूँढते हुए एक साँस में ही 'अस्ति'-'नास्ति' दोनों ही बातें कह जाते हैं। उनका कहना है—

"इनमें अनहोनी परिस्थितियाँ नहीं हैं, संयमित जीवन-सौन्दर्य का आलेखन है, यद्यपि इनमें कोई रहस्य प्रकट नहीं तथापि रहस्यवादी कवि का स्वर सर्वत्र व्याप्त है।" —गीतिका, समीक्षा, पृ० ७

सच तो यह है कि 'निराला' जी की कवि-वाणी में रहस्य (गोप्य) कुछ भी नहीं है, जो कुछ है स्पष्ट है, प्रकट है। इनका हृदय कभी-कभी कोलाहलपूर्ण जगत् से हटकर अध्यात्म के क्षेत्र में शान्ति पाता रहा है। वेदान्त दर्शन इनका प्रिय विषय रहा है, इस विषय को लेकर इनके कण्ठ से समय-समय पर गीतियाँ निःसृत होती रही हैं। यदि हम रहस्य का अर्थ उपनिषत्-परक रखें तो अवश्य 'निराला' जी रहस्यवादी भी कहे जा सकेंगे; किन्तु हिन्दी-

काव्य के क्षेत्र में प्रचलित रहस्यवाद का यह अर्थ नहीं रहा है, इसे हिन्दी का विद्वद्वर्ग जानता है। 'निराला' जी की कतिपय गीतियों के अंश देखिए—

जीवन प्रात-समीरण-सा लघु
विचरण निरत करो।
तरु-तोरण-तृण-तृण की कविता
छवि-मधु-सुरभि भरो।
अंचल-सा न करो चंचल
क्षणभंगुर,
नत नयनों में स्थिर दो बल
अविचल उर;
स्वर-सा कर दो अविनश्वर
ईश्वर-मज्जित,
शुचि चन्दन-वन्दन-सुन्दर
मन्दर-सज्जित;
मेरे गगन-मगन मन में, अयि
किरणमयी विचरो।

—परिमल

जो सज्जन ऐसे गीतों में भी रहस्यवाद देखते हैं, वे यदि सम्पूर्ण हिन्दी-काव्य को ही रहस्यवादी कह डालें तो कोई आश्चर्य नहीं। वे महात्मा सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास को भी रहस्यवादी कहने में हिचकेंगे नहीं, क्योंकि 'रहस्यवाद' नाम ही उनके लिए पूज्य एवं इष्ट बन चुका है। 'निराला' जी कभी साम्प्रदायिक अर्थ में 'प्रयुक्त' रहस्यवाद के भक्त नहीं रहे। वे वादों से सर्वथा पृथक् रहनेवाले विशुद्ध अर्थ में कवि हैं। उन्हीं की एक दूसरी भक्ति-परक गीति लीजिए, इस प्रार्थना-गीति में वे कहते हैं—

मेरे प्राणों में आओ!
शत-शत शिथिल भावनाओं के
उर के तार सजा जाओ!

गाने दो प्रिय, मुझे भूल कर
अपनापन अपार जग सुन्दर,

खुली करुण उर की सीपी पर
स्वाती जल नित बरसाओ !
मेरी मुक्ताएँ प्रकाश में
चमकें अपने सहज हास में,
उनके अचपल भ्रू-विलास में
लास-रङ्ग-रस सरसाओ !
मेरे स्वर की अनल-शिखा से
जला सकल जग दीर्ण दिशा से
हे अरूप, नव-रूप-विभा के
चिर स्वरूप पाके जाओ !

—गीतिका, ११

यहाँ स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि कवि 'अरूप' को भी स्वरूपवान् बनाने के लिए कितना उत्सुक है। सच तो यह है कि 'अरूप' काव्य का विषय हो ही नहीं सकता। इस प्रकार की गीतियों पर रवि ठाकुर की गीति-शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। कहीं-कहीं रवि ठाकुर के रहस्यवाद का छींटा भी पड़ता दिखाई पड़ जाता है, पर बहुत कम स्थलों पर—जैसे,

हुआ प्रात प्रियतम, तुम जावगे चले ?
कैसी थी रात बन्धु थे गले-गले !
फूटा आलोक,
परिचय-परिचय पर जग गया भेद, शोक !
छलते सब चले एक अन्य के छले !—
जावगे चले ?

बाँधो यह ज्ञान,
पार करो, बन्धु, विश्व का यह व्यवधान !
तिमिर में मुँदे जग, आओ भले-भले !

—गीतिका, ९१

खड़ी बोली में जब 'निराला' जी ने गीति-रचना आरम्भ की उस समय इस भाषा की शैशवावस्था ही थी। गीतिकाव्य के लिए भाषा का-

लचीलापन विशेष सहायक होता है और जब वह शास्त्रीय संगीत के साँचे में उतारी जाती है, तब उसका लचीलापन ही विशेष अपेक्षित होता है। इसका अनुभव गीति-रचना के समय संगीतज्ञ कवि को ही होता है। 'निराला' जी ने इसके लिए विशेष साधना की है। किन्तु जो मार्दव बँगला में श्री द्विजेन्द्रलाल राय और रवि बाबू को मिला वह खड़ी बोली में इन्हें कहाँ से मिल पाता? इसीलिए इन्हें शब्द-चयन में बहुत कतर-ब्यौंत से काम लेना पड़ा है, जिसके कारण अर्थ-बोध में जगह-जगह बाधा पहुँची है। विशेषतः अर्थ-बोध के मार्ग के कुहासे के ही कारण ये भी रहस्यवादी कवियों के बीच प्रतिष्ठित किए जाने लगे। उत्तरोत्तर खड़ी बोली में भी लोच बढ़ती जा रही थी और आगे चलकर कवियों को उतनी परेशानी न हुई।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

पन्तजी का तत्कालीन गीतिकारों ने प्रमुख स्थान है। इनके हाथों खड़ी बोली को नव जीवन प्राप्त हुआ है। व्रजभाषा के तत्कालीन हिमायती जो खड़ी बोली की कर्कशता की. हँसी उड़ाया करते थे, पन्त जी की कविता को देखकर दिङ्मूढ़ होकर ताकते ही रह गये। शब्द और अर्थ का जैसा सामञ्जस्य पन्त जी की गीतियों में उस समय मिला वैसा किसी अन्य कवि की गीतियों में दिखाई नहीं पड़ा। तत्कालीन कविता के आलोचकों पर जो व्यंग्यात्मक प्रहार इन्होंने किए, उनमें माधुर्य का चुटीलापन कठोर शब्दावली से कहीं बढ़कर है। एक उदाहरण लीजिए—

बना मधुर मेरा जीवन!
नव नव सुमनों से चुन चुन कर
धूलि, सुरभि, मधुरस, हिमकण,
मेरे उर की मृदु कलिका में
भर दे, कर दे विकसित मन!

बना मधुर मेरा भाषण!
बंशी-से ही कर दे मेरे
सरल प्राण औ' सरस वचन,
जैसा जैसा मुझको छेड़ें,
बोलूँ अधिक मधुर मोहन;

जो अकर्ण अहि को भी सहसा
कर दे मन्त्र-मुग्ध नत-फन,
रोम रोम के छिद्रों से मा !
फूटे तेरा राग गहन !
बना मधुर मेरा तन, मन !

—पल्लविनी : याचना, पृ० ५५

इस प्रकार पन्त जी की भाषा का माधुर्य भाव के माधुर्य से तनिक भी घट-कर नहीं है। भाषा की ओर जैसी सावधानी इन्होंने बरती है, वैसी किसी अन्य कवि ने नहीं बरती। गीतिकारों में पन्त जी का शब्दचयन सर्वाधिक श्लाध्य है; और गीतियों में भाषा अगर सब कुछ नहीं तो बहुत कुछ अवश्य है। इस युग में प्रकृति के साथ जैसी आत्मीयता इनकी देखी गई किसी दूसरे कवि की नहीं। प्रकृति के जो रमणीय दृश्य-खण्ड इन्होंने अपनी लेखनी-तूलिका से उरेहे हैं, वे उन पाठकों को भी आत्मसात् कर लेते हैं, जो सम्भवतः वैसे दृश्य-खण्डों का साक्षात्कार करने पर भी उनकी ओर उतने आकृष्ट नहीं हो पाते। बुद्धि-प्रधान कविता-निर्माण की ओर झुक जाने के समय में भी इन्होंने जो प्रकृतिपरक गीतियाँ लिखीं उनका काव्य-सौन्दर्य भी ज्यों-का-त्यों अक्षत है। हम कह सकते हैं कि पन्त जी प्रकृति के बाल-सखा हैं। किन्तु भीषण प्रकृति से ये आँखें नहीं मिला सकते, क्योंकि ये प्रकृत्या कोमल हैं। रमणीय प्रकृति के दर्शन ये बड़े ही मनोनिवेश के साथ करते हैं, इसलिए पूरा दृश्य अपने रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और वर्ण के साथ इनकी गीतियों में उतर आया है। उन्मद नारी-प्रेम इनकी कम ही गीतियों का विषय बन पाया है। इनकी गीतियों के कुछ अंश देखें—

गिरि का गौरव गाकर झर-झर
मद से नस-नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों-से सुन्दर
झरते हैं झाग भरे निर्झर

गिरिवर के उर से उठ-उठकर
उच्चाकांक्षाओं-से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर
अनिमेष, अटल, कुछ चिन्तापर !

उड़ गया अचानक, लो, भूधर
फड़का अपार पारद के पर !
रव-शेष रह गए हैं निर्झर !
लो टूट पड़ा भू पर अम्बर !

धँस गए धरा में सभय शाल !
उठ रहा धुआँ, जल गया ताल !
—यों जलद यान में विचर-विचर,
था इन्द्र खेलता इन्द्रजाल !

—पल्लविनी : 'उच्छ्वास', पृ० १४९-१५०
(रचनाकाल, सित०, १९२२)

इस प्रकृति-चित्र को हम कोरे उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत नहीं ले सकते, क्योंकि इस प्रकृति-खण्ड से कवि की पूरी-पूरी आत्मीयता स्पष्ट झलकती है और उसने पूरे ब्यौरे के साथ उसका बिम्बग्राही चित्र प्रस्तुत किया है। प्रकृति के प्रति उसकी हर्ष, विस्मय आदि भावनाएँ स्वतः उद्भूत हैं, उनका आरोप मात्र नहीं किया गया है। इनकी 'चाँदनी' नाम्नी गीति का अवलोकन कीजिए—

नीले नभ के शतदल पर
वह बैठी शारद-हासिनि,
मृदु-करतल पर शशि-मुख धर
नीरव, अनिमिष, एकाकिनि।

वह शशि-किरणों से उतरी
चुपके मेरे आँगन पर,
उर की आभा में खोई
अपनी ही छवि से सुन्दर।

वह है, वह नहीं 'अनिर्वच'
जग उसमें, वह जग में लय,
साकार चेतना-सी वह
जिसमें अचेत जीवाशय।

—गुञ्जन, पृ० ८१, ८३

पन्त जी की प्रकृतिपरक गीतियों का पर्यवसान प्रायः दार्शनिक परिवेश में हुआ है, जैसे अंग्रेज कवि वर्ड्स्वर्थ की गीतियों का : जैसे, प्रकृति के चाक्षुष सौन्दर्य को सूक्ष्मता से देख लेने के पश्चात् कवि आँखें मूँद कर मनोदेश में प्रविष्ट हो गया हो। उदाहरण के लिए गुञ्जन की ही 'एकतारा' और 'नौका-विहार' कविताएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। इस प्रकार कवि श्रोता को बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् की ओर मोड़ देता है।

श्रीमती महादेवी वर्मा

छायावादी कवि-मण्डली में श्रीमती महादेवी वर्मा कई कारणों से अपना अलग स्थान बनाए औरों से असम्पृक्त ही रही हैं। पहली बात तो यह कि इनके काव्य का आलम्बन कोई अव्यक्त व्यक्तित्व रहा है और व्यक्त जगत् केवल अप्रस्तुत रूप में ही गृहीत हुआ है। जगत् के कर्म-कोलाहल की आँधी से बचाकर ये अपने दीप को निष्कम्प रखने में सदा ही सचेष्ट रही हैं। इसीलिए इन्होंने रात्रि से ही सदा प्रेम रखा है, दिन से नहीं। दिन में भी ये रात्रि का आह्वान करती रही हैं—

धीरे-धीरे उतर क्षितिज से
आ वसन्त—रजनी !

—नीरजा, यामा : पृ० १३०

दीप की सार्थकता को रात की खोज रहेगी ही। दूसरी बात यह कि इन्होंने कवि-रूप में जो कुछ कहना चाहा है, गीतियों में कहा है। जैसा कि मध्यकालीन साधिका एवं महान् कवयित्री मीराँ के काव्य में हम देखते हैं कि उन्होंने अपने उद्गार पदों में ही बाँधे हैं, इन्होंने भी अपने भाव आधुनिक गीतियों के माध्यम से व्यक्त किए हैं। तीसरी बात इनका विशिष्ट कला-प्रेम है। गीतिकार के भावोच्छ्वास के क्षणों में वह आत्म-विस्मृति आ जाती है, जब कि कला (बुद्धि-पक्ष) गौण हो जाती है और भाव (हृदय) का प्राधान्य सामने काव्य बनकर उतर आता है। ऐसी कविता श्रोता के हृदय को प्रभावित करती है, उसकी बुद्धि को चमत्कृत करने का आयास नहीं करती। कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि की इस मनःस्थिति के ही क्षणों में गीति का जन्म होता है। महादेवी जी की विशेषता यह है कि भावलीनता के क्षणों में भी कला उनका साथ नहीं छोड़ती। जब कवयित्री का आलम्बन अव्यक्त है तब व्यक्त जगत् के परोक्ष में ही उसके साक्षात्कार की कामना की जा

सकती है। इसीलिए रात्रि का शान्त वातावरण काम्य हो गया है। दिन का लोक-जीवन तो जी उबानेवाला है, खीझ पैदा करने वाला है। जब यह असह्य हो उठा है, तब कवयित्री का वाक्संयम टूट गया है—

रूप—रेखा—उलझनों में;
कठिन सीमा—बन्धनों में,
जग बँधा निष्ठुर क्षणों में;
अश्रुमय कोमल कहाँ तू
आ गई परदेशिनी री!

—सान्ध्यगीत : यामा, पृ० २४५

कवि के हृदय में जो पीड़ा वा वेदना होती है उसे वह वाच्य रूप में नहीं कहता; वह तो मनःस्थिति का ऐसा चित्रण करता है कि पाठक और श्रोता का हृदय स्वयं उसकी वेदना में डूब जाता है। अतः यह वेदना वाच्य न होकर व्यंग्य होती है। कवि का कर्म है अपनी मनोदशा का याथातथ्य चित्रण, वही पाठक पर अपना प्रभाव डालता है। मीराँ कहती हैं—

जब से मोहि नन्द-नन्दन दृष्टि पड़्यो माई।
तब से परलोक लोक कछु ना सोहाई।

—मीरा की पदावलीः परशुराम चतुर्वेदी : पृ० ४२

उनका यह कथन ही पाठन को रस-मग्न कर देता है। महादेवी जी बहुत से स्थलों पर अपनी 'पीड़ा-पीड़ा' की रटन से रसाभिनिवेश के लिए अवकाश ही नहीं रखतीं—

पीड़ा का साम्राज्य बस गया
उस दिन दूर क्षितिज के पार;

—नीहार : यामा, पृ० ३

मेरी आहें सोती हैं
इन ओठों की ओटों में;

—वही, पृ० १०

तुम मुझ में अपना सुख देखो
मैं तुमसें अपना दुख प्रियतम!

—नीरजा : यामा, पृ० १६८

मैं नीरभरी दुख की बदली
स्पन्दन में चिर निस्पन्द बसा,
क्रन्दन में आहत विश्व हँसा,
नयनों में दीपक से जलते
पलकों में निर्झरिणी मचली !

—सान्ध्यगीत: यामा, पृ० २८७

इनकी गीतियों में अप्रस्तुत-विधान प्रायः इतना बोझिल है, कि प्रस्तुत पक्ष उससे बिल्कुल ही दब गया है। वहाँ ऐसा लगता है कि कवयित्री की दृष्टि केवल कला की चमत्कार-सृष्टि पर ही विशेष है, भावना पीछे ही कहीं छूट गई। गीतिकार की रचना में शासन भाव का होना चाहिए, बुद्धि का नहीं। देवी जी की कतिपय गीतियाँ देखिए बात स्पष्ट हो जायगी—

प्रिय मेरे गीले नयन बनेंगे आरती !
श्वासों में सपने कर गुम्फित
बन्दनवार वेदना — चर्चित
भर दुख से जीवन का घट नित
मूक क्षणों में मधुर भरूँगी भारती !

—सान्ध्यगीत : यामा : पृ० २०४

प्रिय ! सान्ध्य गगन मेरा जीवन !
यह क्षितिज बना धुँधला विराग,
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग,
छाया सी काया वीतराग
सुधि-भीने स्वप्न रँगीले घन !

—सां० गी० : यामा : पृ० २०३

ऐसी रचनाओं में अप्रस्तुत ही प्रमुख भूमिका में आ जाते हैं, काव्य की आत्मा—वर्णनीय गौण हो जाता है। अतः पाठक में रस-दशा की स्थिति आने ही नहीं पाती, अलङ्कार-प्रेमी की किञ्चित् तुष्टि भले ही हो जाय। सावयव रूपक लाने के झोंक में न तो अप्रस्तुत के स्वरूप का ध्यान रह जाता है और न प्रस्तुत के। यह सही है कि ये अप्रस्तुत काफी मानसिक या बौद्धिक व्यायाम की अपेक्षा रखते हैं। यहाँ अन्तिम पंक्ति में आए प्रस्तुत और अप्रस्तुत, पर थोड़ा विचार कीजिए। काया है प्रस्तुत और छाया है अप्रस्तुत। साधारण

धर्म कहा गया है 'वीतरागता' को। वीतरागता धर्म है मन का, काया का नहीं। काया में राग कहाँ? वह तो मन में होता है। इसी प्रकार प्रथम चरण में अप्रस्तुत क्षितिज का साधारण धर्म धुँधलापन अवश्य है, किन्तु विराग में धुँधलापन कहाँ? वह तो स्वच्छ, निर्मल और निर्लेप होता है। ऊपर की गीति में गीले नयन, श्वास, सपने, वेदना, दुःख, और मूक क्षण सबको एकत्र कर दिया गया है। किन्तु जिस भावभरी गीति को पढ़कर पाठक की आँखें आर्द्र हो जायँ, उसका तत्त्व इस गीति में कहाँ है?

प्रेम-मूर्ति मीराँ का एक ही वाक्य, उनकी एक ही बात रस की धारा तरङ्गित कर देती है, यद्यपि उन्होंने न कहीं साङ्ग रूपक लाने का प्रयास किया है और न रूपकातिशयोक्ति, सहज ढंग से कोई अलंकार भाव-धारा में तैरते फूल-सा आ जाय तो बात दूसरी है। प्रेम की सतत जाग्रत भावना मौन के तट-बन्ध को तोड़कर जब वाणी में व्यक्त होती है, तब अपना प्रभाव दिखाए बिना नहीं रहती। स्वच्छन्दतावादो' युग में सभी स्वेच्छया सब कुछ करने को स्वतंत्र थे, किन्तु भाव या रस की उपेक्षा किसी भी युग में काव्य को ऊँचे आसन पर आसीन नहीं करा सकती। जब कवि के हृदय में अपने भावों को व्यक्त करने की उद्दाम कामना हो और तदितर साज-सजा, कला-कौशल को वह सहायक मात्र समझे तभी वह कवि-कर्म में सफल हो सकता है। भाव-व्यञ्जना की ओर से हटकर यदि कवि-दृष्टि अन्त तक साङ्ग-रूपक के निर्वाह पर टिक गई तो कविता अवश्य ही अपना स्वरूप खो देगी। भाव-निबन्धन में रूपकादि की अति-निर्वहण-कामना खतरनाक है। इससे तो आनन्दवर्धन ने बहुत पहले सावधान कर दिया था।[1] वे स्वयं महाकवि थे और काव्य को हर पहलू से उन्होंने परखा था। उनकी कसौटी शाश्वत है। सच तो यह है कि जब अङ्गी छूट गया तब अंग को सजाकर कोई क्या पाएगा?

---

१. ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम्॥
विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कथञ्चन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादेरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्॥
ध्वन्यालोक, २।१८–२०।

अतः अंग-प्रत्यंग के अप्रस्तुतों की तलाश में कहीं रस और भाव हाथ से न निकल जाय, कवि इसका ध्यान रखता है। मीराँबाई यदि रूपक का कहीं ग्रहण भी करती हैं तो अन्त तक निर्वहणैषिता को पकड़े नहीं रहतीं। उनके रूपक भाव को चमका कर अपनी राह लगते हैं। वे इतना कहके आगे बढ़ती हैं—

अँसुवन जल सींच-सींच प्रेम-बेलि बोई।
अब तो बेलि फैलि गई, होनी हो सो होई॥

—मीराँ की प्रेम-वाणी, पृ० ७८

प्रेम के प्रकरण में प्रकृति का ग्रहण उद्दीपन की ही दृष्टि से होना चाहिए। लौकिक प्रेम प्रकृति का दास बनकर नहीं रहता, वह निखिल भूमण्डल में प्रकृति को दासी बनाकर रहता है। वहाँ प्रकृति हृदय का चित्र बनती है, हृदय प्रकृति का चित्र नहीं बनता। पावस के पर्वत-प्रदेश किंवा पर्वत-प्रदेश के पावस का बिम्बग्राही चित्र प्रस्तुत करके अन्त में पन्तजी भी यही कहते हैं—

'इस तरह मेरे चितेरे हृदय की
बाह्य प्रकृति बनी चमत्कृत चित्र थी।'

—आधुनिक कवि : पर्वत-प्रदेश में पावस

पन्त जी ने प्रकृति में अपने भावों की छाया देखी, किन्तु दोनों को इस प्रकार पृथक्-पृथक् रखा कि प्रत्येक अपने स्थान पर पूर्ण दिखाई पड़ता है। उन्होंने दोनों के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को आमने-सामने प्रस्तुत-अप्रस्तुत के रूप में रख निभाने का भोंड़ा प्रयास नहीं किया, इसीलिए कविता से रस छलका पड़ता है। रस-सिद्ध कवयित्री मीरा भी प्रकृति को पृथक् उद्दीपन के ही स्थान पर रखती हैं और काव्य की प्रभविष्णुता द्विगुणित हो उठती है—

दादुर मोर पपीहा बोलै, कोयल सबद सुणावै।
घुमड़ घटा ऊलर होइ आई, दामिनि दमकि डरावै!
नैन झर लावै।

—मीराबाई की पदावली: परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २९।

विरही कवि प्रकृति में अपने हृदय की छाया देखता है, यह नितान्त स्वाभाविक है। प्रकृति-क्षेत्र के कार्य-व्यापार का कभी-कभी वह अपने को ही

कारण मान लेता है और तदनुकूल अप्रस्तुत में प्रस्तुत का आरोप करता है। विप्रलब्ध शृङ्गार और करुण के लिए ऐसी भावना विशेष उपकारक होती है। पाठक का हृदय आर्द्र हो जाता है। कवि-शिरोमणि कालिदास ने भी प्रकृति को अपनी वेदना से प्रभावित होकर रोते देखा था।[1] भाव-विवर्धन का यह माध्यम बहुत प्राचीन है और अच्छी तरह हृदय की कसौटी पर कसा जा चुका है। महादेवी जी के हृदय में भी अनेक बार ऐसी भावना जगी है। एक स्थल देखिए—

प्राण हँसकर ले चला जब चिर व्यथा का भार!
उभर आए सिन्धु-उर में
वीचियों के लेख,
गिरि-कपोलों पर न-सूखी
आँसुओं की रेख,
धूलि का तब से न रुक पाया कसक व्यापार!

—दीपशिखा, गीति ४

पर जैसा कि ऊपर कहा गया है, रूपक की रेलगाड़ी में डब्बे-पर-डब्बे जोड़कर उसे खूब लम्बी बनाने का शौक इनकी गीतियों के करुण भाव-प्रकाशन में विशेष बाधक हुआ है।

साहित्य में जब-जब अरूप के गीत गाए गए, चाहे वे गीत श्रद्धा-निवेदन के हों अथवा प्रेम के, साधारणीकरण के लिए उस अरूप को भी स्वरूप के माध्यम से व्यक्त किया गया। या तो अरूप को रूपवान् बनाया गया अथवा रूपवान् अप्रस्तुत के माध्यम से उसे समझने-समझाने का प्रयास किया गया। भारतीय पद्धति में पहली विधि काम में लाई गई, दर्शन एवं वेदान्त के क्षेत्र में भी और साहित्य के क्षेत्र में भी। वैदिक साहित्य में भी ऐसा प्रयास स्पष्ट दिखाई पड़ता है। विराट् पुरुष की कल्पना इसी मनोभावना की परिणति है। मुख,

---

१. मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसन्दर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति॥

—मेघदूतः उत्तरमेघ, ४८।

हाथ, पैर, आँखें, मन आदि सभी अन्तः एवं बाह्य करणों की उसमें प्रतिष्ठा की गई। वह अरूप और निराकार अद्वैतवादियों का था, जब उसे विशिष्ट रूप में देखने के इच्छा हुई तब उसे सामान्य मानव के बीच उन्हीं में से एक बना दिया गया।[१] निर्गुण विर्विकार ब्रह्म को सोपाधिक बनाकर उसकी उपासना की जाने लगी। पैगम्बरी मज़हबों में निर्गुण की रूप-कल्पना का अनवकाश होने के कारण प्रतीक पद्धति अपनाई गई। वहाँ लोक-जीवन के व्यावहारिक माध्यम से परोक्ष सत्ता की ओर सङ्केत किया जाता रहा है। साहित्य वा काव्य वहाँ साध्य नहीं साधन था, प्रस्तुत नहीं अप्रस्तुत रहा है। इसलिए वहाँ पाठक को काव्यानन्द से मोड़ कर ब्रह्मानन्द की ओर ले जाना ही ध्येय रहा। व्यक्त जगत् वा प्रकृति को उसके प्रतिबिम्ब रूप में उपस्थित करके प्रतिबिम्बी का साक्षात्कार कराने का प्रयास किया जाता रहा। भारतीय पद्धति में काव्य—जिसकी आत्मा आनन्द है—स्वतः साध्य रहा है। अतः व्यक्त जगत् को छोड़कर न कवि कहीं जाता रहा और न पाठक को ले जाने का प्रयास करता रहा।

अस्तु, गीति की संकुचित सीमा में काव्यानन्द के शिखर पर पहुँचते-पहुँचते कवि जब पाठक को दूसरी ओर मोड़ने की (बिराने देश ले चलने की) चेष्टा करता है, तब लोकनिष्ठ सामान्य पाठक के मन में वैरस्य की जागर्ति होती है और गीति का समन्वित प्रभाव बिखर कर तितर-बितर हो जाता है। जब तक कवि लोक के मेल में चलता है, तब तक पाठक उसके साथ रहता है, फिर कवि को विपथ होते देख—अनजाने पथ पर अग्रसर होते देख—साथ छोड़ देता है। देवी जी की गीतियों में बहु-संख्यक स्थल ऐसे मिलते हैं।

---

१. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत
चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत्।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्॥

—ऋग्वेद, १०।६०।११

२. एकमेव ब्रह्म नानाभूतचिदचित्प्रकारं नानात्वेनावस्थितम्।

—सर्वदर्शनसंग्रह : रामानुजदर्शनम्, ३०।

लोक और लोक-जीवन के प्रति इनकी निराशा लोक-मङ्गल-विधायी काव्य के लिए स्वस्थ वातावरण का निर्माण नहीं करती। जैसे इन गीतियों में—

सजनि कौन तम में परिचित-सा,
सुधि-सा, छाया सा आता ?
सूने में सस्मित चितवन से
जीवन – दीप जला जाता !
घन तम में सपने -.सा आकर
अलि कुछ करुण स्वरों में गाकर
किसी अपरिचित देश बुलाकर
पथ-व्यय के हित अंचल में कुछ
बाँध अश्रु के कन जाता !

—रश्मिः यामा, पृ० ६८

तम हो तुम हो और विश्व में
मेरा चिर परिचित सूनापन।

नीरजाः यामा, पृ० १६२

कहीं-कहीं तो देवी जो स्पष्ट लोक-विराग की निराशामयी बात कह कर काव्य के प्रोज्ज्वल उद्देश्य से दूर जा पड़ी हैं—

रूप-रेखा-उलझनों में, जग बँधा निष्ठुर क्षणों में,
अश्रुमय कोमल कहाँ तू आ गई परदेशिनी री।

—सान्ध्यगीतः यामा, पृ० २४५

विकसते मुरझाने को फूल, उदय होता छिपने को चन्द,
शून्य होने को भरते मेघ, दीप जलता होते को मन्द
यहाँ किसका अनन्त यौवन ?

—नीहारः यामा, पृ० ४२

यौवन और जीवन की सार्थकता लोक-हित के लिए आत्म-विसर्जन में है, यदि इस लोक-मङ्गलकारी भावना की अभिव्यक्ति उपर्युक्त अप्रस्तुतों द्वारा होती, तो ये ही पंक्तियाँ उत्तम गीतियों में परिणत हो जातीं। किन्तु यहाँ भी

कवयित्री की दृष्टि केवल मुरझाने, छिपने, शून्य होने और मन्द होने पर ही गई; सौरभ-दान, प्रकाश-वितरण, जीवनदान और दृष्टि-दान की लोक-संग्रही सार्थकता की ओर नहीं गई। संसार को माया का देश समझने की बद्धमूल भावना ने ही आनन्द का सन्देश देने, हँसते जीने का विश्वास जगाने से उसे विरत कर दिया। भारतीय काव्य-परम्परा में हमने देखा है कि इस प्रकार के अस्वस्थ भाव कभी भी अपनाए नहीं गए। बौद्ध कवियों ने भी कभी ऐसी भावना को संश्रय नहीं दिया। नागानन्द नाटक की गीतियाँ करुणा से पूर्ण होती हुई भी विसर्ग का सन्देश देती हैं और उनकी परिणति आनन्द में होती है। यहाँ आनन्द कुछ नहीं चारों ओर विषाद ही विषाद है।

कहीं-कहीं कवयित्री ने अपने मन को सान्त्वना देने का यत्न किया है और क्षणिक जीवन के सार्थक पक्ष की ओर भी उसकी दृष्टि घूम गई है, यद्यपि वह नश्वरता-जन्य निराशावादिता की भावना सर्वथा मिटी नहीं है। प्रकृति के क्षेत्र में जो उल्लास की लहर एक छोर से दूसरे छोर तक दौड़ती दिखाई पड़ रही है, उसका कारण कवयित्री की दृष्टि में वेसुधी है—

हँस देता नव इन्द्रधनुष को
स्मित में घन मिटता-मिटता;
रँग जाता है विश्व राग से
निष्फल दिन ढलता-ढलता;
कर जाता संसार सुरभिमय
एक सुमन झरता-झरता;
भर जाता आलोक तिमिर में
लघु दीपक बुझता-बुझता;
मिटनेवालों की हे निष्ठुर!
बेसुध रँगरलियाँ देखो।
—यामा: नीरजा, पृ० १५०

किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि परार्थ में आत्म-विसर्जन को यदि वेसुधी कहा जायगा तो क्या परार्थ से मुँह मोड़कर लोक-बाह्य केवल आत्म-कल्याण साधन को ही बुद्धिमत्ता कहा जायगा! बात यह है कि दृष्टिविशेष के वरण से यही भावना देवी जी की गीतियों में सर्वत्र उलट-फेर कर मिलती है।

लघु-लघु गीतियों की रचना के लिए कवि में भाषा की समाहार-शक्ति का होना अनिवार्यतः आवश्यक है, यह हम प्राकृत-संस्कृत आदि भाषाओं की गीतियों में देख आए हैं। वहाँ तो प्रत्येक शब्द-प्रयोग अन्वर्थ होता है और प्रत्येक शब्द अपने भीतर विस्तृत अर्थ समेटे रहता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि छायायुगीन कवियों में यह शक्ति सर्वाधिक मात्रा में 'प्रसाद' में मिली। स्वच्छन्द गीति के क्षेत्र में उनके 'आँसू' काव्य तथा नाटकों की गीतियों को देख लेना पर्याप्त होगा। गीतिकार पन्त की भाषा भी कम शक्तिमती नहीं है। देवी जी ने शब्द-चयन में बड़ी सावधानी बरती है। इनका शब्द-प्रयोग सुचिन्तित, पदावली कोमल और ललित होती है, किन्तु कहीं-कहीं शब्द-चयन की असावधानी खटकती है। इसके लिए उपरिलिखित गीति को देख जाना काफी होगा। मानव-जीवन के आमने-सामने चार अप्रस्तुत प्रस्तुत किए गए हैं : घन, दिन, सुमन और दीपक। इन चारों में धर्मैकता दिखाने का यत्न किया गया है। इनमें दो तो विशिष्ट बताए गए: दिन को निष्फल कहा गया और दीपक को लघु, किन्तु घन और सुमन के लिए तद्भाव-बोधक कोई विशेषण नहीं मिला। सुमन के लिए विशेषण खोजा गया तो मिला 'एक', जो उस पंक्ति में बैठा अपनी व्यर्थता की घोषणा स्वयं कर रहा है, क्योंकि 'कर जाता' क्रिया-पद उसका कार्य पूरी क्षमता से कर ही रहा है। यदि लघुता या हीनता-बोधक विशेषण लाना ही था तो 'अबुध' या 'मुग्ध' कोई शब्द रखा जा सकता था। इसी प्रकार 'इन्द्रधनुष' के लिए 'नव' विशेषण कोई अर्थ नहीं रखता। आगे आकर 'दीपशिखा' में अवश्य ही भाषा पहले से अधिक मँज-सँवर गई है और इस संग्रह की अनेक गीतियाँ भाषा की प्राञ्जलता और भाव की रमणीयता एवं तीक्ष्णता की दृष्टि से उत्तम हैं। एक गीति का एक पद (Stanza) लीजिए—

पन्थ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला !

× × ×

अन्य होंगे चरण हारे,
और हैं जो लौटते दे शूल को संकल्प सारे;
दुखव्रती निर्माण-उन्मद,
यह अमरता नापते पद,
बाँध देंगे अङ्क-संसृति से तिमिर में स्वर्ण वेला !

—दीपशिखा, पृ० ६६

एक दूसरी गीति, जिसमें जीवन को शिशु रूप में देखा गया है, बड़ी ही सुन्दर एवं हृद्य है—

तू धूल भरा ही आया !
ओ चंचल जीवन-बाल मृत्यु-जननी ने अङ्क लगाया !
× × ×
पलकों पर धर-धर अगणित शीतल चुम्बन,
अपनी साँसों से पोंछ वेदना के क्षण
हिम-स्निग्ध करों से बेबुध प्राण सुलाया !

नूतन प्रभात में अक्षय गति का वर दे,
तन सजल घटा-सा, तड़ित-छटा-सा उर दे,
हँस तुझे खेलने जग में फिर पहुँचाया !

—दीपशिखा, पृ०, ६२-६३

इस गीति में अप्रस्तुत-योजना इतनी सुन्दर है कि वह प्रस्तुत को विशेष रमणीय बना देती है। जीवात्मा के अमरत्व की दार्शनिक मान्यता कविता बनकर उतर आई है।

अन्य गीतिकार

खड़ी बोली में छायावादी महाकवियों के हाथों गीतिकाव्य का पूरा-पूरा विकास हो चुका था। उनके आदर्श पर आगे के कवियों ने काव्य की यही विधा प्रमुख रूप में अपनाई, और क्षेत्र प्रायः सबने शृंगार का ही चुना। श्री माखनलाल चतुर्वेदी, स्वर्गीय बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान और श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' ने देश-प्रेम को प्रमुख रूप में वर्ण्य-विषय चुना। यह विषय 'भारतेन्दु' द्वारा बहुत पहले चुना गया था, उनके नाटकों की देश-प्रेम-परक गीतियाँ बड़ी मार्मिक हैं। चतुर्वेदीजी की ये पंक्तियाँ तो किसी समय शत-शत कण्ठों में गूँजती रहीं—

मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर फिर देना फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जाएँ वीर अनेक॥

—हिमकिरीटिनी : 'एक फूल की चाह'

ऐसी ही लोकप्रियता 'नवीन जी' की इन पंक्तियों को प्राप्त थी—

कवि कुछ ऐसी तान सुना दे, जिससे उथल-पुथल मच जाए।
एक हिलोर इधर से आए, एक हिलोर उधर से आए॥
—कुंकुम : विप्लव गायन

सुभद्राकुमारी चौहान के 'मुकुल' संग्रह की 'झाँसी की रानी' कविता तो अब भी वैसी ही लोकप्रिय है। कविवर 'दिनकर' के 'रेणुका' नामक संग्रह की 'हिमालय के प्रति' कविता विद्यार्थियों में अत्यन्त आदृत रही और आज भी है। 'रेणुका' और 'हुंकार' की वीर रसात्मक गीतियाँ ओज से भरी हुई हैं। गीतियों के इस क्षेत्र में वे निश्चय ही अद्वितीय रहे।

श्री रामकुमार वर्मा की दृष्टि आरम्भ से ही प्रबन्ध और गीतिकाव्य दोनों पर गई है। आरम्भ में इन्होंने 'चित्तौड़ की चिता' नामक आख्यान काव्य की रचना की थी और इधर आकर 'एकलव्य' नामक एक बड़े काव्य का सर्जन किया। यह होंने पर भी ये प्रकृत्या गीतिकार ही हैं। अञ्जलि, चित्ररेखा, चन्द्रकिरण आदि इनकी गीतियों के संग्रह हैं। इन संग्रहों में आई गीतियाँ करुण रस की छोटी-छोटी पिचकारियाँ हैं। जीवन की क्षणिकता से उत्पन्न विषाद ही इन गीतियों का जनक है। एक गीति देखिए—

किसने मरोड़ डाला बादल
जो सजा हुआ था सजल वीर!
केवल पल भर में दिया हाय,
किसने विद्युत् का हृदय चीर!!
इतना विस्तृत होने पर भी
क्यों रोता है नभ का शरीर,
वह कौन व्यथा है, जिस कारण
है सिसक रहा तरु में समीर! —चित्ररेखा

वर्मा जी ने रहस्यवाद के घेरे में रहकर गीतियाँ लिखी हैं, इसीलिए इन्हें सारी प्रकृति प्रियतम के वियोग में व्यथित दिखाई पड़ी है। यदि कोई ऐसा प्रकृति-खण्ड आँखों में उतरा, जहाँ उल्लास ही उल्लास के दर्शन हुए तो वर्मा जी के गीतिकार के आश्चर्य ही हुआ है—

उषे, बतला यह सीखा हास कहाँ ?
इस नीरस नभ में पाया है ?
तूने यह मधुमास कहाँ ?
× × ×
यदि तेरा जीवन जीवन है
तो फिर है उच्छ्वास कहाँ ? —चित्ररेखा

श्री भगवतीचरण वर्मा आरम्भ में कवि हैं, बाद में उपन्यासकार। जैसी कि उस जमाने की हवा थी, इन्होंने भी प्रेम की गीतियाँ खुलखिलकर गाईं। 'प्रेमसङ्गीत' इनकी ऐसी ही गीतियों का संग्रह है। इन्होंने प्रेम के संयोग और वियोग दोनों पक्षों को बड़ी सहृदयता से अपनी गम्भीर अनुभूति द्वारा सजाया है।

देखो वियोग की शिशिर रात
दिन का रक्तांचल छोड़ चली,
ज्योत्स्ना भी वह ठंढी उदास
आँसू का हिम-जल छोड़ चली। —प्रेमसङ्गीत

आगे चलकर इनके व्यक्तिगत प्रेम ने लोक-प्रेम का रूप धारण कर लिया। अपने आस-पास के लोक-जीवन को विपन्न देखकर इन्हें अपनी प्रेम-वेदना भूल गई। सङ्कुचित हृदय विकसित हो गया। उस काल की 'भैंसा गाड़ी' नामक इनकी गीति बड़ी ही लोक-प्रिय हो गई। इनकी इस प्रकार की भावना से संवलित गीतियों का संग्रह 'मानव' है।

श्री नरेन्द्र शर्मा अपनी पीढ़ी के गीतिकारों में ऊँचा स्थान रखते हैं। इनकी गीतियों के संग्रह प्रभात फेरी, प्रवासी के गीत, पलाश-वन आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। इनका नाम प्रमुख गीतिकारों में आदर के साथ लिया जायगा। व्यक्तिगत प्रेम और मानव-प्रेम दोनों ही को काव्य-विषय बनाकर इन्होंने मुक्त-कण्ठ से गीत गाए हैं। इनका 'प्रवासी के गीत' काव्य-प्रेमियों में पूर्ण समादृत है।

साँझ होते ही न जाने
छा गई कैसी उदासी,

क्या किसी की याद आई
ओ विरह व्याकुल प्रवासी !
जल प्रिया की याद में जल
चिर लगन बनकर प्रवासी !
स्नेह की बन ज्योति जग में
दूर कर उर की उदासी !

—प्रवासी के गीत

इनकी यह गीति तो आज भी काव्य-प्रेमियों के जिह्वाग्र पर रहती है।

इसी समय कविवर हरिवंशराय 'बच्चन' की गीतियों के स्वर लोगों को अपनी ओर खींचने लगे थे। आरम्भ में तो ये हाला, प्याला और मधुबाला से सुसज्जित 'मधुशाला' की गीतियों में ही अपने मन को भरमाते रहे, किन्तु उत्तरोत्तर हृदय के साथ उनकी गीतियों का भी परिष्कार होता गया। 'निशा-नियन्त्रण' और 'एकान्त सङ्गीत' नामक संग्रहों में उनकी श्रेष्ठ गीतियाँ उतरी हैं। गीतिकाव्य के लिए जो काव्य-तत्त्व अपेक्षित हैं, वे सब उनमें बड़ी सहजता से उतरे हैं। उनकी गीतियों की अन्तिम पंक्ति पर पहुँचकर पाठक वा श्रोता का चित्त चमत्कृत हो उठता है। उनकी ये लघुकाय गीतियाँ मधुर भावों से भरी हुई हैं। विप्रलम्भ श्रृंगार और करुण रस का जैसा परिपाक इनकी गीतियों में हुआ है, थोड़े-बहुत तत्कालीन कवियों की कम ही गीतियों में मिलता है—

मेरे पूजन, आराधन को
मेरे सम्पूर्ण समर्पण को,
जब मेरी कमजोरी कह कर मेरा पूजित पाषाण हँसा,
तब रोक न पाया मैं आँसू।

एकान्त सङ्गीत

'आज मुझसे दूर दुनिया', 'दिन जल्दी-जल्दी ढलता है', 'सन्ध्या सिन्दूर लुटाती है', आदि गीतियाँ प्रगीत मुक्तक के क्षेत्र में प्रथम श्रेणी की हैं। इनकी भाषा की लाक्षणिकता अत्यन्त सहज है, सर्वसाधारण के लिए भी बोधगम्य है। गीतियों की भाषा पर इनका बड़ा अधिकार है। सतरंगिणी, मिलनयामिनी आदि इनकी गीतियों के अन्य संग्रह हैं।

पं० जानकीवल्लभ शास्त्री का स्थान गीतिकारों में बहुत ऊँचा है। रूप-अरूप, तीर तरङ्ग, शिप्रा, प्रेमगीत, अवन्तिका आदि इनके गीतिकाव्य हैं। इनकी भाषा भावानुकूल प्राञ्जल, श्रुतिमधुर और हृदयावर्जक है। इनकी गीतियों में सङ्गीत तत्त्व भरा हुआ है, जो इनके संगीतज्ञ होने का परिचय देता है। भाषा की लाक्षणिकता अपनी पृथक् विशेषता रखती है। एक गीति लीजिए—

मैं न चातकी !
दरस सरस - विन्दु भी न
माँग हा ! सकी
शूल विजन का जीवन,
फूल, तूल - सा तनु तन,
गुन - गुन प्रिय - गुण अगणन,
विकल मन थकी !
मिलन, विरह का इङ्गित,
प्रेम सतत ही शङ्कित,
दुख-उर पर सुर अङ्कित,
मैं सुखी सखी ! —मेघगीत

श्री गोपाल सिंह 'नेपाली'

ये उत्तम गीतिकार हैं। सामान्य जनता भी इनकी गीतियों को सुनकर भाव-विभोर हो उठती है। जन-साधारण की भाषा ही इसका प्रमुख कारण है। पत्र-पत्रिकाओं में इनकी गीतियाँ प्रायः आया करती हैं, किन्तु अद्यावधि इनकी गीतियों की कोई अच्छा संग्रह प्रकाश में नहीं आ सका है। इनकी कतिपय उच्चकोटि की प्रकृतिपरक गीतियाँ इनकी विशाल सहृदयता की साक्षी हैं। इस पीढ़ी के कवियों में इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि इनका हृदय एक-विषयवस्तुनिष्ठ नहीं रहा, वह बहुवस्तु-स्पर्शी रहा है। प्रकृति-प्रेम, लोक-प्रेम, देश-प्रेम, व्यक्तिनिष्ठ नारी-प्रेम आदि सभी इनकी गीतियों के विषय रहे हैं। इनकी गीतियों की भाषा प्रसन्न और प्रवाहमयी है। लाक्षणिक प्रयोग दूरारूढ़

नहीं, वे अपनी सहजता में भाषा को और बलवती बना देते हैं। एक गीतांश देखें—

तन का दिया, प्राण की बाती,
दीपक जलता रहा रात भर।

छिपने दिया नहीं फूलों को, फूलों के उड़ते सुवास ने,
रहने दिया नहीं अनजाना, शशि को शशि के मंद हास ने,
भरमाया जीवन को दर-दर, जीवन की हर मधुर आस ने,
मुझको मेरी आँखों का ही,
सपना छलता रहा रात भर!

इधर अद्यतन कवियों में कुछ में नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा दिखाई पड़ रही है। यह अवश्य है कि इनमें छायावाद-युगीन प्रमुख कवियों की गीतियों का-सा भाव-गाम्भीर्य अभी देखने में नहीं आ पाया है। कुछ में प्रतिभा तो है किन्तु व्युत्पत्ति का अभाव उन्हें उस उच्चता पर पहुँचने नहीं देता। वर्तमान गीतिकारों में हंसकुमार तिवारी, शिवमंगल सिंह 'सुमन', आरसी प्रसाद सिंह, भवानी प्रसाद मिश्र, रामदरश मिश्र, नीरज, गिरिजाकुमार माथुर, चन्द्रप्रकाश वर्मा, रवीन्द्र 'भ्रमर', रामान्द दोषी, वीरेन्द्र मिश्र, सुरेन्द्रकुमार श्रीवास्तव, रामाधार त्रिपाठी 'जीवन', रूपनारायण त्रिपाठी, सोहनलाल द्विवेदी, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', विद्यावती 'कोकिल', श्रीमती सुमित्राकुमारी सिनहा आदि के नाम लिए जा सकते हैं। इस समय लोक गीतियों की ओर भी कवियों की रुझान देखने में आ रही है। जो कवि लोकभाषा में नहीं लिख सकते वे लोकगीतियों की धुन पर ही खड़ी बोली में गीतियाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। इस प्रकार का प्रयास इधर कविवर बच्चन, नीरज आदि में देखा जा सकता है। लोकगीतिकारों में रूपनारायण त्रिपाठी, चन्द्रशेखर मिश्र, राहगीर, मोती बी०ए०, प्रभुनाथ मिश्र, हरिहरनाथ द्विवेदी आदि ऐसे हैं जिनकी गीतियों में भारत के गाँवों की आत्मा मुखरित हुई है। इधर प्रयोगवादी रचनाओं का विशेष शौक बढ़ जाने से गीतिकाव्य का कुछ मार्गावरोध अवश्य हो रहा है, किन्तु मार्ग के रोड़ों की पर्वाह न करती हुई मानव के साथ-साथ आदि युग से चली आती गीति-धारा अजस्र गतिमती रहेगी, इसका पूरा-पूरा विश्वास है। गीतियों के विना मानव रह नहीं सकता। विदेशी अनुकृति का चाव

प्रयोग-परीक्षण के पश्चात् मन्द पड़ जायगा और गीतियाँ अपने पथ पर उसी प्रकार चलती रहेंगी जैसे आज तक चलती आई हैं। मानस का विद्रव और क्लम दूर करने के लिए मानव को गीतिकाव्य की शरण में आना ही होगा। जब तक मानव के पास हृदय है तब तक गीतियाँ उसका साथ छोड़ नहीं सकतीं।

अनुक्रमणिका

पुस्तक में उल्लिखित ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों के नाम

– म –

– श –

– स –

●

—ह—

সং ২৭
[illegible]

इन की दृष्टि में—

●आप की पुस्तक 'गीतिकाव्य का विकास' पढ़ गया हूँ। आपने बड़े परिश्रम के साथ और बड़ी सूझ-बूझ से पुस्तक लिखी है।...संस्कृत और प्राकृत के साहित्य का इससे अच्छा परिचय मिल जाता है।...इस सुन्दर रचना के लिये मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें।

—हजारी प्रसाद द्विवेदी
(अध्यक्ष : हिन्दी-विभाग)
पंजाब विश्वविद्यालय (चंडीगढ़)

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

पो० बाक्स नं० ७०, ज्ञानवापी
वाराणसी–१

●

मूल्य : दस रुपये मात्र

क० मुद्रक : विद्यामन्दिर प्रेस (प्राइवेट) लि०, मानमन्दिर, वाराणसी–१